निग्गंथं पावयणं

दसवेआलियं

(मूलपाठ, संस्कृत छाया, हिन्दी अनुवाद तथा टिप्पण)

वाचना प्रमुख

आचार्य तुलसी

सम्पादक और विवेचक

मुनि नथमल

प्रकाशक

जैन विश्व भारती

लाडनूं (राजस्थान)

ाशक :
.न विश्व भारती
ाडनूं (राजस्थान)

आर्थिक सहायता
वेगराज भँवरलाल चोरड़िया
चेरिटेबल ट्रस्ट

प्रबन्ध-सम्पादक
श्रीचन्द रामपुरिया
निदेशक
आगम और साहित्य प्रकाशन
(जै० वि० भा०)

प्रथम संस्करण १९६४
द्वितीय संस्करण १९७४
प्रकाशन तिथि :
विक्रम संवत् २०३१
२५०० वां निर्वाण दिवस

पृष्ठांक :
६५०

मूल्य :
रु० ८५.००

मुद्रक :
उद्योगशाला प्रेस,
किंग्सवे, दिल्ली-९

DASAVEĀLIYAM

(Text, Sanskrit Rendering and Hindi Version with notes)

Vācanā Pramukha

ĀCĀRYA TULASI

Editor and Commentator

Muni Nathamal

[illegible]

JAIN VISHWA BHARATI

LADNUN (Raj.)

समर्पण

॥ १ ॥

पुट्ठो वि पण्णा-पुरिसो सुदक्खो,
आणा-पहाणो जणि जस्स निच्चं।
सच्चप्पओगे पवरासयस्स,
भिक्खुस्स तस्स प्पणिहाणपुव्वं॥

जिसका प्रज्ञा-पुरुष पुष्ट पटु,
होकर भी आगम प्रधान था।
सत्य-योग में प्रवरचित्त था,
उस भिक्षु को विमल भाव से॥

॥ २ ॥

विलोडियं आगमदुद्धमेव,
लद्धं सुलद्धं णवणीयमच्छं।
सज्झाय-सज्झाण-रयस्स निच्चं,
जयस्स तस्स प्पणिहाणपुव्वं॥

जिसने आगम-दोहन कर-कर,
पाया प्रवर प्रचुर नवनीत।
श्रुत-सद्ध्यान लीन चिर चिन्तन,
जयाचार्य को विमल भाव से॥

॥ ३ ॥

पवाहिया जेण सुयस्स धारा,
गणे समत्थे मम माणसे वि।
जो हेउभूओ स्स पवायणस्स,
कालुस्स तस्स प्पणिहाणपुव्वं॥

जिसने श्रुत की धार बहाई,
सकल संघ में मेरे मन में।
हेतुभूत श्रुत-सम्पादन में,
कालुगणी को विमल भाव से॥

अन्तस्तोष

अन्तस्तोष अनिर्वचनीय होता है उस माली का, जो अपने हाथों से उप्त और सिंचित द्रुम-निकुंज को पल्लवित, पुष्पित और फलित हुआ देखता है, उस कलाकार का, जो अपनी तूलिका से निराकार को साकार हुआ देखता है और उस कल्पनाकार का, जो अपनी कल्पना को अपने प्रयत्नों से प्राणवान् देखता है। चिरकाल से मेरा मन इस कल्पना से भरा था कि जैन-आगमों का शोध-पूर्ण सम्पादन हो और मेरे जीवन के बहुश्रमी क्षण उसमें लगें। संकल्प फलवान् बना और वैसा ही हुआ। मुझे केन्द्र मान मेरा धर्म-परिवार उस कार्य में संलग्न हो गया। अतः मेरे इस अन्तस्तोष में मैं उन सबको समभागी बनाना चाहता हूँ, जो इस प्रवृत्ति में संविभागी रहे हैं। संक्षेप में वह संविभाग इस प्रकार है :

सम्पादक और विवेचक :: मुनि नथमल

सहयोगी :: मुनि मीठालाल

:: मुनि दुलहराज

संविभाग हमारा धर्म है। जिन-जिन ने इस गुरुतर प्रवृत्ति में उन्मुक्त भाव से अपना संविभाग समर्पित किया है, उन सबको मैं आशीर्वाद देता हूँ और कामना करता हूँ कि उनका भविष्य इस महान् कार्य का भविष्य बने।

आचार्य तुलसी

प्रकाशकीय

दसवेआलियं (दशवैकालिक) का यह दूसरा संस्करण जनता के हाथों में है। इसका प्रथम संस्करण सरावगी चेरिटेबल फण्ड के अनुदान से स्वर्गीय श्री महादेवलालजी सरावगी एवं उनके दिवंगत पुत्र पन्नालालजी सरावगी (एम० पी०) की स्मृति में श्री जैन श्वेताम्बर तेरापन्थी महासभा, कलकत्ता की ओर से माघ-महोत्सव, वि० सं० २०२० (सन् १९६४) में प्रकाशित हुआ था। वह संस्करण कभी का समाप्त हो गया था। उसके दूसरे संस्करण की मांग थी और वह 'जैन विश्व भारती', लाडनूं के द्वारा प्रकाशित किया जा रहा है।

परमपूज्य आचार्यवर एवं उनके इंगित और आकार पर सब कुछ न्यौछावर कर देने वाले मुनि-वृन्द की यह समवेत कृति आगमिक कार्यक्षेत्र में युगान्तरकारी है, इस कथन में अतिशयोक्ति नहीं, पर तथ्य है। बहुमुखी प्रवृत्तियों के केन्द्र प्राणपुञ्ज आचार्य श्री तुलसी आर-क्षितिज के महान् तेजस्वी रवि हैं और उनका मण्डल भी शुभ्र-नक्षत्रों का तपोपुञ्ज है, यह इस श्रम-साध्य कृति से स्वयं फलीभूत है।

आचार्यश्री ने आगम-सम्पादन के कार्य के निर्णय की घोषणा सं० २०११ की चैत्र सुदी १३ को की। उसके पूर्व से ही श्रीचरणों में विनम्र निवेदन रहा— आपके तत्त्वावधान में आगमों का सम्पादन और अनुवाद हो— यह भारत के सांस्कृतिक अभ्युदय की एक मूल्यवान् कड़ी के रूप में अपेक्षित है। यह अत्यन्त स्थायी कार्य होगा जिसका लाभ एक, दो, तीन ही नहीं अपितु अविच्छिन्न भावी पीढ़ियों को प्राप्त होता रहेगा। इस आगम-ग्रन्थ के प्रकाशन के साथ मेरी मनोभावना अंकुरित ही नहीं, फलवती और रसवती भी हुई थी। इसका प्रकाशन अत्यन्त समादृत हुआ और मांग की पूर्ति के लिए यह अपेक्षित दूसरा संस्करण प्रकाशित हो रहा है।

मुनिश्री नथमलजी तेरापंथ संघ के अप्रतिम मेधावी सन्त हैं। उनका श्रम पग-पग पर मुखरित हुआ है। आचार्यश्री तुलसी की दृष्टि और मुनिश्री नथमलजी की सृष्टि का यह मणि-कांचन योग है। आगम का यह प्रथम पुष्प होने के कारण मुनिश्री को इसके विवेचन में अनेकों ग्रंथ देखने पड़े हैं। इनके दृढ़ अध्यवसाय और पैनी दृष्टि के कारण ही यह ग्रन्थ इतना विशद और विस्तृत हो सका है।

मुनिश्री दुलहराजजी ने आद्योपान्त अवलोकन कर इस संस्करण को परिष्कृत करने में बड़ा श्रम किया है। उनके अथक परिश्रम के बिना इतना शीघ्र पुनःप्रकाशन कठिन ही नहीं असम्भव होता।

इस आगम ग्रन्थ के अर्थ-व्यय की पूर्ति केशरदेव भंवरलाल चेरिटेबल ट्रस्ट के अनुदान से हो रही है। इसके लिए संस्थान चोरड़िया बन्धु एवं उक्त न्यास के प्रति कृतज्ञ है।

जैन विश्व भारती के अध्यक्ष श्री खेमचन्दजी सेठिया, मन्त्री श्री सम्पतरायजी भूतोड़िया आदि के प्रति भी मैं कृतज्ञ हूं, जिनका सहज सहयोग मुझे निरन्तर मिलता रहा।

श्री देवीप्रसाद जायसवाल (कलकत्ता) एवं श्री मन्नालालजी बोरड़ के प्रति भी मेरी कृतज्ञता है जिनके सहयोग से कार्य समय पर सम्पन्न हो पाया है।

आशा है, इस दूसरे संस्करण का पूर्ववत् ही स्वागत होगा।

दिल्ली
कार्तिक कृष्णा १४, २०३१
(२५००वाँ महावीर निर्वाण दिवस)

श्रीचन्द रामपुरिया
निदेशक
आगम एवं साहित्य प्रकाशन

सम्पादकीय

सम्पादन का कार्य सरल नहीं है—यह उन्हें सुविदित है, जिन्होंने इस दिशा में कोई प्रयत्न किया है। दो-ढाई हजार वर्ष पुराने ग्रन्थों के सम्पादन का कार्य और भी जटिल है, जिनकी भाषा और भाव-धारा आज की भाषा और भाव-धारा से बहुत व्यवधान पा चुकी है। इतिहास की यह अपवाद-शून्य गति है कि जो विचार या आचार जिस आकार में आरब्ध होता है, वह उसी आकार में स्थिर नहीं रहता - या तो वह बड़ा हो जाता है या छोटा। यह ह्रास और विकास की कहानी ही परिवर्तन की कहानी है। कोई भी आकार ऐसा नहीं है, जो कृत है और परिवर्तनशील नहीं है। परिवर्तनशील घटनाओं, तथ्यों, विचारों और आचारों के प्रति अपरिवर्तनशीलता का आग्रह मनुष्य को असत्य की ओर ले जाता है। सत्य का केन्द्र-बिन्दु यह है कि जो कृत है, वह सब परिवर्तनशील है। कृत या शाश्वत भी ऐसा क्या है, जहां परिवर्तन का स्पर्श न हो? इस विश्व में जो है, वह वही है जिसकी सत्ता शाश्वत और परिवर्तन की धारा से सर्वथा विमुक्त नहीं है।

शब्द की परिधि में बंधने वाला कोई भी सत्य क्या ऐसा हो सकता है जो तीनों कालों में समान रूप से प्रकाशित रह सके? शब्द के अर्थ का उत्कर्ष या अपकर्ष होता है—भाषा-शास्त्र के इस नियम को जानने वाला यह आग्रह नहीं रख सकता कि दो हजार वर्ष पुराने शब्द का आज वही अर्थ सही है जो वर्तमान में प्रचलित है। 'पाषण्ड' शब्द का जो अर्थ आगम-ग्रन्थों और अशोक के शिलालेखों में है, वह आज के श्रमण-साहित्य में नहीं है। आज उसका अपकर्ष हो चुका है। आगम-साहित्य के सैकड़ों शब्दों की यही कहानी है कि वे आज अपने मौलिक अर्थ का प्रकाश नहीं दे रहे हैं। इस स्थिति में हर चिन्तनशील व्यक्ति अनुभव कर सकता है कि प्राचीन साहित्य के सम्पादन का काम कितना दुरूह है।

मनुष्य अपनी शक्ति में विश्वास करता है और अपने पौरुष से खेलता है, अतः वह किसी भी कार्य को इसलिए नहीं छोड़ देता कि वह दुरूह है। यदि यह पलायन की प्रवृत्ति होती तो प्राप्य की सम्भावना नष्ट ही नहीं हो जाती किन्तु आज जो प्राप्त है, वह अतीत के किसी भी क्षण में विलुप्त हो जाता। आज से हजार वर्ष पहले नवांगी टीकाकार अभयदेवसूरि के सामने अनेक कठिनाइयां थीं। उन्होंने उनकी चर्चा करते हुए लिखा है—

१. सत् सम्प्रदाय (अर्थ-बोध की सम्यक् गुरु-परम्परा) प्राप्त नहीं है।

२. सत् ऊह (अर्थ की आलोचनात्मक कृति या स्थिति) प्राप्त नहीं है।

३. अनेक वाचनाएं (आगमिक अध्यापन की पद्धतियां) हैं।

४. पुस्तकें अशुद्ध हैं।

५. कृतियां सूत्रात्मक होने के कारण बहुत गंभीर हैं।

६. अर्थ विषयक मतभेद भी है।[1]

इन सारी कठिनाइयों के उपरान्त भी उन्होंने अपना प्रयत्न नहीं छोड़ा और वे कुछ कर गए।

कठिनाइयां आज भी कम नहीं हैं, किन्तु उनके होते हुए भी आचार्यश्री तुलसी ने आगम-सम्पादन के कार्य को अपने हाथों में ले लिया। उनके शक्तिशाली हाथों का स्पर्श पाकर निष्प्राण भी प्राणवान् बन जाता है तो भला आगम-साहित्य, जो स्वयं प्राणवान् है, उसमें प्राण-संचार करना क्या बड़ी बात है? बड़ी बात यह है कि आचार्यश्री ने उसमें प्राण-संचार मेरी और मेरे सहयोगी साधु-साध्वियों की असमर्थ अंगुलियों द्वारा कराने का प्रयत्न किया है। सम्पादन कार्य में हमें आचार्यश्री का आशीर्वाद ही प्राप्त नहीं है किन्तु मार्ग-दर्शन और सक्रिय योग भी प्राप्त है। आचार्यवर ने इस कार्य को प्राथमिकता दी है और इसकी परिपूर्णता के लिए अपना पर्याप्त समय दिया है। उनके मार्ग-दर्शन, चिन्तन और प्रोत्साहन का संबल पा हम अनेक दुस्तर धाराओं का पार पाने में समर्थ हुए हैं।

प्रस्तुत पुस्तक के प्रथम संस्करण का विद्वानों ने जो स्वागत किया, वह उनकी उदार भावना का परिणाम है। आगम-सम्पादन कार्य के लिए आचार्यश्री तुलसी द्वारा स्वीकृत तटस्थ नीति तथा सम्पादन-कार्य में संलग्न साधु-साध्वियों का श्रम भी इसका हेतु है। द्वितीय संस्करण में सामान्य संशोधनों के सिवाय कोई मुख्य परिवर्तन नहीं किया गया है। हमें विश्वास है कि यह द्वितीय संस्करण भी पाठकों के लिए उतना ही स्मरणीय होगा।

हमारे सम्पादन-क्रम में सब से पहला कार्य है संशोधित पाठ का संस्करण तैयार करना, फिर उसका हिन्दी अनुवाद करना। प्रस्तुत पुस्तक दशवैकालिक सूत्र का द्वितीय संस्करण है। इसमें मूल पाठ के साथ संस्कृत छाया, हिन्दी अनुवाद और टिप्पण हैं। इसके प्रथम संस्करण में शब्द-सूची थी, पर शब्द-सूची मूल पाठ के संस्करण के साथ रखी गई है, इसलिए इस संस्करण में उसे नहीं रखा गया है। प्रस्तुत सूत्र के अनुवाद और संपादन कार्य में जिनका भी प्रत्यक्ष-परोक्ष योग रहा, उन सबके प्रति मैं विनम्र भाव से आभार व्यक्त करता हूं।

मुनि नयमल

अणुव्रत विहार
नई दिल्ली
२५०० वां निर्वाण दिवस

---

१. स्थानांगवृत्ति, प्रशस्ति १, २ :

सत्सम्प्रदायहीनत्वात् सदूहस्य वियोगतः ।
सर्वस्वपरशास्त्राणामदृष्टेरस्मृतेश्च मे ॥ १ ॥
वाचनानामनेकत्वात्, पुस्तकानामशुद्धितः ।
सूत्राणामतिगाम्भीर्याद्, मतभेदाश्च कुत्रचित् ॥ २ ॥

भूमिका

श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार आगमों का वर्गीकरण

ज्ञान पाँच हैं— मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यव और केवल। इनमें चार ज्ञान स्थाप्य हैं—वे केवल स्वार्थ हैं। परार्थज्ञान केवल एक है, वह है श्रुत। उसी के माध्यम से सारा विचार-विनिमय और प्रतिपादन होता है।[1] व्यापक अर्थ में श्रुत का प्रयोग शब्दात्मक और संकेतात्मक— दोनों प्रकार की अभिव्यक्तियों के अर्थ में होता है। अतएव उसके चौदह विकल्प बनते हैं[2]—

(१) अक्षर-श्रुत।
(२) अनक्षर-श्रुत।
(३) संज्ञी-श्रुत।
(४) असंज्ञी-श्रुत।
(५) सम्यक्-श्रुत।
(६) मिथ्या-श्रुत।
(७) सादि-श्रुत।
(८) अनादि-श्रुत।
(९) सपर्यवसित-श्रुत।
(१०) अपर्यवसित-श्रुत।
(११) गमिक-श्रुत।
(१२) अगमिक-श्रुत।
(१३) अंगप्रविष्ट-श्रुत।
(१४) अनंगप्रविष्ट-श्रुत।

संक्षेप में 'श्रुत' का प्रयोग शास्त्र के अर्थ में होता है। वैदिक शास्त्रों को जैसे 'वेद' और बौद्ध शास्त्रों को जैसे 'पिटक' कहा जाता है, वैसे ही जैन-शास्त्रों को 'आगम' कहा जाता है। आगम के कर्ता विशिष्ट ज्ञानी होते हैं। इसलिए शेष साहित्य से उनका वर्गीकरण भिन्न होता है।

कालक्रम के अनुसार आगमों का पहला वर्गीकरण समवायांग में मिलता है। वहाँ केवल द्वादशाङ्गी का निरूपण है। दूसरा वर्गीकरण अनुयोगद्वार में मिलता है। वहाँ केवल द्वादशाङ्गी का नामोल्लेख मात्र है। तीसरा वर्गीकरण नन्दी का है, वह विस्तृत है। जान पड़ता है कि समवायांग और अनुयोगद्वार का वर्गीकरण प्रासंगिक है। नन्दी का वर्गीकरण आगम की सारी शाखाओं का निरूपण करने के ध्येय से किया हुआ है। वह इस प्रकार है—

१—अनुयोगद्वार सूत्र २ : तत्थ चत्तारि नाणाइं ठप्पाइं ठवणिज्जाइं णो उद्दिसंति णो समुद्दिसंति णो अणुण्णविज्जंति, सुय-नाणस्स उद्देसो ·· अणुओगो य पवत्तइ।

२—नन्दी सूत्र ५१ : से किं तं सुयनाणपरोक्खं ? चोद्दसविहं पण्णत्तं तं जहा—अक्खरसुयं · अणंगपविट्ठं।

६. अर्थ विषयक मतभेद भी हैं।[1]

इन सारी कठिनाइयों के उपरान्त भी उन्होंने अपना प्रयत्न नहीं छोड़ा और वे कुछ कर गए।

कठिनाइयां आज भी कम नहीं हैं, किन्तु उनके होते हुए भी आचार्यश्री तुलसी ने आगम-सम्पादन के कार्य को अपने हाथों में ले लिया। उनके शक्तिशाली हाथों का स्पर्श पाकर निष्प्राण भी प्राणवान् बन जाता है तो भला आगम-साहित्य, जो स्वयं प्राणवान् है, उसमें प्राण-संचार करना क्या बड़ी बात है? बड़ी बात यह है कि आचार्यश्री ने उसमें प्राण-संचार मेरी और मेरे सहयोगी साधु-साध्वियों की असमर्थ अंगुलियों द्वारा कराने का प्रयत्न किया है। सम्पादन कार्य में हमें आचार्यश्री का आशीर्वाद ही प्राप्त नहीं है किन्तु मार्ग-दर्शन और सक्रिय योग भी प्राप्त है। आचार्यवर ने इस कार्य को प्राथमिकता दी है और इसकी परिपूर्णता के लिए अपना पर्याप्त समय दिया है। उनके मार्ग-दर्शन, चिन्तन और प्रोत्साहन का संबल पा हम अनेक दुस्तर धाराओं का पार पाने में समर्थ हुए हैं।

प्रस्तुत पुस्तक के प्रथम संस्करण का विद्वानों ने जो स्वागत किया, वह उनकी उदार भावना का परिचायक है। आगम-सम्पादन कार्य के लिए आचार्यश्री तुलसी द्वारा स्वीकृत तटस्थ नीति तथा सम्पादन-कार्य में संलग्न साधु-साध्वियों का श्रम भी उसका हेतु है। द्वितीय संस्करण में सामान्य संशोधनों के सिवाय कोई मुख्य परिवर्तन नहीं किया गया है। हमें विश्वास है कि यह द्वितीय संस्करण भी पाठकों के लिए उतना ही स्मरणीय होगा।

हमारे सम्पादन-क्रम में सबसे पहला कार्य है संशोधित पाठ का संस्करण तैयार करना, फिर उसका हिन्दी अनुवाद करना। प्रस्तुत पुस्तक दशवैकालिक सूत्र का द्वितीय संस्करण है। इसमें मूल पाठ के साथ संस्कृत छाया, हिन्दी अनुवाद और टिप्पण हैं। इसके प्रथम संस्करण में शब्द-सूची थी, पर शब्द-सूची मूल पाठ के संस्करण के साथ रखी गई है, इसलिए इस संस्करण में उसे नहीं रखा गया है। प्रस्तुत सूत्र के अनुवाद और संपादन कार्य में जिनका भी प्रत्यक्ष-परोक्ष योग रहा, उन सबके प्रति मैं विनम्र भाव से आभार व्यक्त करता हूँ।

मुनि नथमल

अणुव्रत विहार
नई दिल्ली
२५०० वां निर्वाण दिवस

---

१. स्थानांगवृत्ति, प्रशस्ति १, २ :

सत्सम्प्रदायहीनत्वात् सदूहस्य वियोगतः ।
सर्वस्वपरशास्त्राणामदृष्टेरस्मृतेश्च मे ॥ १ ॥
वाचनानामनेकत्वात्, पुस्तकानामशुद्धितः ।
सूत्राणामतिगाम्भीर्याद्, मतभेदाश्च कुत्रचित् ॥ २ ॥

भूमिका

श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार आगमों का वर्गीकरण

ज्ञान पाँच हैं— मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यव और केवल। इनमें चार ज्ञान स्थाप्य हैं—वे केवल स्वार्थ हैं। परार्थज्ञान केवल एक है, वह है श्रुत। उसी के माध्यम से सारा विचार-विनिमय और प्रतिपादन होता है।[1] व्यापक अर्थ में श्रुत का प्रयोग शब्दात्मक और संकेतात्मक— दोनों प्रकार की अभिव्यक्तियों के अर्थ में होता है। अतएव उसके चौदह विकल्प बनते हैं[2]—

(१) अक्षर-श्रुत।
(२) अनक्षर-श्रुत।
(३) संज्ञी-श्रुत।
(४) असंज्ञी-श्रुत।
(५) सम्यक्-श्रुत।
(६) मिथ्या-श्रुत।
(७) सादि-श्रुत।
(८) अनादि-श्रुत।
(९) सपर्यवसित-श्रुत।
(१०) अपर्यवसित-श्रुत।
(११) गमिक-श्रुत।
(१२) अगमिक-श्रुत।
(१३) अंगप्रविष्ट-श्रुत।
(१४) अनंगप्रविष्ट-श्रुत।

संक्षेप में 'श्रुत' का प्रयोग शास्त्र के अर्थ में होता है। वैदिक शास्त्रों को जैसे 'वेद' और बौद्ध शास्त्रों को जैसे 'पिटक' कहा जाता है, वैसे ही जैन-शास्त्रों को 'आगम' कहा जाता है। आगम के कर्ता विशिष्ट ज्ञानी होते हैं। इसलिए शेष साहित्य से उनका वर्गीकरण भिन्न होता है।

कालक्रम के अनुसार आगमों का पहला वर्गीकरण समवायांग में मिलता है। वहाँ केवल द्वादशाङ्गी का निरूपण है। दूसरा वर्गीकरण अनुयोगद्वार में मिलता है। वहाँ केवल द्वादशाङ्गी का नामोल्लेख मात्र है। तीसरा वर्गीकरण नन्दी का है, वह विस्तृत है। ज्ञात पड़ता है कि समवायांग और अनुयोगद्वार का वर्गीकरण प्रासंगिक है। नन्दी का वर्गीकरण आगम की सारी शाखाओं का निरूपण करने के ध्येय से किया हुआ है। वह इस प्रकार है—

१—अनुयोगद्वार सूत्र २ : तत्थ चत्तारि नाणाइं ठप्पाइं ठवणिज्जाइं णो उद्दिसंति णो समुद्दिसंति णो अणुण्णविज्जंति, सुय-नाणस्स उद्देसो अणुओगो य पवत्तइ।

२—नंदी सूत्र ५१ : से किं तं सुयनाणपरोक्खं ? चोद्दसविहं पण्णत्तं तं जहा—अक्खरसुयं अणक्खरसुयं।

आगम
अंगप्रविष्ट
आचार
सूत्रकृत
स्थान
समवाय
व्याख्याप्रज्ञप्ति
ज्ञाताधर्मकथा
उपासकदशा
अन्तकृतदशा
अनुत्तरोपपातिकदशा
प्रश्नव्याकरण
विपाक
दृष्टिवाद
अंगबाह्य
आवश्यक
सामायिक
चतुर्विंशतिस्तव
वन्दना
प्रतिक्रमण
कायोत्सर्ग
प्रत्याख्यान
आवश्यक व्यतिरिक्त
कालिक
उत्तराध्ययन
दशाश्रुतस्कंध
कल्प
व्यवहार
निशीथ
महानिशीथ
ऋषिभाषित
जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति
द्वीपसागरप्रज्ञप्ति
चन्द्रप्रज्ञप्ति
क्षुल्लिका विमान-प्रविभक्ति
महल्लिका विमान-प्रविभक्ति
अङ्गचूलिका
वर्गचूलिका
विवाहचूलिका
अरुणोपपात
वरुणोपपात
गरुलोपपात
धरणोपपात
वेसमणोपपात
वेलन्धरोपपात
देविन्दोपपात
उत्थानश्रुत
समुत्थानश्रुत
नागपरियापनिका
निरयावलिका
कल्पिका
कल्पावतंसिका
पुष्पिका
पुष्पचूलिका
वृष्णिदशा
उत्कालिक
दशवैकालिक
कल्पिकाकल्पिक
चुल्लकल्पश्रुत
महाकल्पश्रुत
औपपातिक
राजप्रश्नीय
जीवाभिगम
प्रज्ञापना
महाप्रज्ञापना
प्रमादाप्रमाद
नन्दी
अनुयोगद्वार
देवेन्द्रस्तव
तन्दुलवैचारिक
चन्द्रकवेध्यक
सूर्यप्रज्ञप्ति
पौरुषीमण्डल
मण्डलप्रवेश
विद्याचरणविनिश्चय
गणिविद्या
ध्यानविभक्ति
मरणविभक्ति
आत्मविशोधि
वीतरागश्रुत
संलेखनाश्रुत
विहारकल्प
चरणविधि
आतुरप्रत्याख्यान
महाप्रत्याख्यान

परिकर्म[1]

(१) सिद्ध श्रेणिका

- मातृका पद
- एकार्थिक पद
- अर्थ पद
- पृथक् आकाश पद
- केतुभूत
- राशिबद्ध
- एकगुण
- द्विगुण
- त्रिगुण
- केतुभूत
- प्रतिग्रह
- संसार-प्रतिग्रह
- नन्दावर्त
- सिद्धावर्त

(२) मनुष्य श्रेणिका

- मातृका पद
- एकार्थिक पद
- अर्थ पद
- पृथक् आकाश पद
- केतुभूत
- राशिबद्ध
- एकगुण
- द्विगुण
- त्रिगुण
- केतुभूत
- प्रतिग्रह
- संसार-प्रतिग्रह
- नन्दावर्त
- मनुष्यावर्त

(३) पृष्ट श्रेणिका

- पृथक् आकाश पद
- केतुभूत
- राशिबद्ध
- एकगुण
- द्विगुण
- त्रिगुण
- केतुभूत
- प्रतिग्रह
- संसार-प्रतिग्रह
- नन्दावर्त
- पृष्टावर्त

(४) अवगाढ़ श्रेणिका

- पृथक् आकाश पद
- केतुभूत
- राशिबद्ध
- एकगुण
- द्विगुण
- त्रिगुण
- केतुभूत
- प्रतिग्रह
- संसार-प्रतिग्रह
- नन्दावर्त
- अवगाढावर्त

(५) उपसंपद् श्रेणिका

- पृथक् आकाश पद
- केतुभूत
- राशिबद्ध
- एकगुण
- द्विगुण
- त्रिगुण
- केतुभूत
- प्रतिग्रह
- संसार-प्रतिग्रह
- नन्दावर्त
- उपसंपदावर्त

१—नंदी सूत्र ९०-९७।

दृष्टिवाद

(६) विप्रहाण श्रेणिका

- पृथक् आकाश पद
- केतुभूत
- राशिवद्ध
- एकगुण
- द्विगुण
- त्रिगुण
- केतुभूत
- प्रतिग्रह
- संसार-प्रतिग्रह
- नन्दावर्त
- विप्रहाणावर्त

(७) च्युताच्युत श्रेणिका

- पृथक् आकाश पद
- केतुभूत
- राशिवद्ध
- एकगुण
- द्विगुण
- त्रिगुण
- केतुभूत
- प्रतिग्रह
- संसार-प्रतिग्रह
- नन्दावर्त
- च्युताच्युतावर्त

सूत्र[1]

- ऋजुसूत्र
- परिणतापरिणत
- वहुभंगिक
- विजय चरित
- अनन्तर
- परस्पर
- समान
- संयूथ
- संभिन्न
- यथात्याग
- सौवस्तिकघंट
- नन्दावर्त
- वहुल
- पृष्टापृष्ट
- यावर्त
- एवंभूत
- द्वयावर्त
- वर्तमान पद
- समभिरूढ़
- सर्वतोभद्र
- पन्यास
- दुष्प्रतिग्रह

पूर्वगत[2]

- उत्पाद
- अग्रायणीय
- वीर्य
- अस्तिनास्तिप्रवाद
- ज्ञानप्रवाद
- सत्यप्रवाद
- आत्मप्रवाद
- कर्मप्रवाद
- प्रत्याख्यान
- विद्यानुप्रवाद
- अवन्ध्य
- प्राणायु
- क्रियाविशाल
- लोकविन्दुसार

अनुयोग[3]

मूलप्रथमानुयोग

गंडिकानुयोग[4]

- कुलकर गंडिका
- तीर्थंकर गंडिका
- चक्रवर्ती गंडिका
- दशार्ह गंडिका
- वलदेव गंडिका
- वासुदेव गंडिका
- गणधर गंडिका
- भद्रवाहु गंडिका
- तपःकर्म गंडिका
- हरिवंश गंडिका
- अवसर्पिणी गंडिका
- उत्सर्पिणी गंडिका
- चित्रान्तर गंडिका

चूलिका[5]

- उत्पादपूर्व — चार चूलिकायें
- अग्रायणीय — बारह चूलिकायें
- वीर्य — आठ चूलिकायें
- अस्तिनास्तिप्रवाद — दस चूलिकायें

१—नंदी सूत्र ९९। २—नंदी सूत्र १०१। ३—नंदी सूत्र ११६। ४—नंदी सूत्र ११८। ५—चार पूर्वो के चूलिकायें हैं. शेष पूर्वों के चूलिकायें नहीं हैं--नंदी सूत्र ११९।

दिगम्बर परम्परा के अनुसार आगमों का वर्गीकरण

दिगम्बर परम्परा के अनुसार आगमों का वर्गीकरण इस प्रकार है[1] :—

- आगम
  - अंगप्रविष्ट
    - आचार
    - सूत्रकृत्
    - स्थान
    - समवाय
    - व्याख्याप्रज्ञप्ति
    - ज्ञात धर्मकथा
    - उपासकदशा
    - अन्तकृतदशा
    - अनुत्तरोपपातिकदशा
    - प्रश्नव्याकरण
    - विपाक
    - दृष्टिवाद
      - परिकर्म
        - चन्द्रप्रज्ञप्ति
        - सूर्यप्रज्ञप्ति
        - जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति
        - द्वीपसागरप्रज्ञप्ति
        - व्याख्याप्रज्ञप्ति
      - सूत्र
      - प्रथमानुयोग
      - पूर्वगत
        - उत्पाद
        - अग्रायणीय
        - वीर्यानुप्रवाद
        - अस्तिनास्तिप्रवाद
        - ज्ञानप्रवाद
        - सत्यप्रवाद
        - आत्मप्रवाद
        - कर्मप्रवाद
        - प्रत्याख्यानप्रवाद
        - विद्यानुप्रवाद
        - कल्याण
        - प्राणावाय
        - क्रियाविशाल
        - लोकबिन्दुसार
      - चूलिका
        - जलगता
        - स्थलगता
        - मायागता
        - आकाशगता
        - रूपगता
  - अंगबाह्य
    - सामायिक
    - चतुर्विंशतिस्तव
    - वन्दना
    - प्रतिक्रमण
    - वैनयिक
    - कृतिकर्म
    - दशवैकालिक
    - उत्तराध्ययन
    - कल्प्यव्यवहार
    - कल्प्याकल्प्य
    - महाकल्प्य
    - पुंडरीक
    - महापुंडरीक
    - अशीतिका

---

१ – तत्त्वार्थ सूत्र १-२० (श्रुतसागरीय वृत्ति)।

आगम-विच्छेद का क्रम

आगमों के ये वर्गीकरण प्राचीन हैं। दिगम्बर परम्परा के अनुसार आज कोई भी आगम उपलब्ध नहीं है। वीर निर्वाण से ६८३ वर्ष के पश्चात् अंग साहित्य लुप्त हो गया। उसका क्रम इस प्रकार है[1]—

		तिलोयपण्णत्ती	धवला (वेदनाखंड)	जयधवला	आदिपुराण	श्रुतावतार	काल
केवली :	१.	गौतम	गौतम	गौतम	गौतम	गौतम	तीन केवली
	२.	सुधर्मा	लोहार्य	सुधर्मा	सुधर्मा	सुधर्मा	६२ वर्ष
	३.	जम्बू	जम्बू	जम्बू	जम्बू	जम्बू	
श्रुतकेवली	१.	नन्दि	विष्णु	विष्णु	विष्णु	विष्णु	चार श्रुतकेवली
	२.	नन्दिमित्र	नन्दि	नन्दिमित्र	नन्दिमित्र	नन्दि	१०० वर्ष
	३.	अपराजित	अपराजित	अपराजित	अपराजित	अपराजित	
	४.	गोवर्द्धन	गोवर्द्धन	गोवर्द्धन	गोवर्द्धन	गोवर्द्धन	
	५.	भद्रबाहु	भद्रबाहु	भद्रबाहु	भद्रबाहु	भद्रबाहु	
दशपूर्वधारी	१.	विशाख	विशाख	विशाखाचार्य	विशाख	विशाखदत्त	ग्यारह दशपूर्वधारी
	२.	प्रोष्ठिल	प्रोष्ठिल	प्रोष्ठिल	प्रोष्ठिल	प्रोष्ठिल	१८३ वर्ष
	३.	क्षत्रिय	क्षत्रिय	क्षत्रिय	क्षत्रिय	क्षत्रिय	
	४.	जय	जय	जयसेन	जय	जय	
	५.	नाग	नाग	नागसेन	नाग	नाग	
	६.	सिद्धार्थ	सिद्धार्थ	सिद्धार्थ	सिद्धार्थ	सिद्धार्थ	
	७.	धृतिसेन	वृतिसेन	वृतिसेन	धृतिसेन	धृतिषेण	
	८.	विजय	विजय	विजय	विजय	विजयसेन	
	९.	वुद्धिल	वुद्धिल	वुद्धिल	वुद्धिल	वुद्धिमान्	
	१०.	गंगदेव	गंगदेव	गंगदेव	गंगदेव	गंग	
	११.	सुधर्म	धर्मसेन	सुधर्म	सुधर्म	धर्म	
एकादशांगधारी	१.	नक्षत्र	नक्षत्र	नक्षत्र	नक्षत्र	नक्षत्र	पांच एकादशांगधारी
	२.	जयपाल	जयपाल	जयपाल	जयपाल	जयपाल	२२० वर्ष
	३.	पांडु	पांडु	पांडु	पांडु	पांडु	
	४.	ध्रुवसेन	ध्रुवसेन	ध्रुवसेन	ध्रुवसेन	द्रुमसेन	
	५.	कंसार्य	कंस	कंसाचार्य	कंसार्य	कंस	
आचारांगधारी	१.	सुभद्र	सुभद्र	सुभद्र	सुभद्र	सुभद्र	चार आचारांगधारी
	२.	यशोभद्र	यशोभद्र	यशोभद्र	यशोभद्र	अभयभद्र	११८ वर्ष
	३.	यशोबाहु	यशोबाहु	यशोबाहु	भद्रबाहु	जयबाहु	६८३
	४.	लोहार्य	लोहाचार्य	लोहार्य	लोहार्य	लोहार्य	

दिगम्बर कहते हैं कि अङ्ग-गत अर्द्धमागधी भाषा का वह मूल साहित्य प्रायः सर्व लुप्त हो गया। दृष्टिवाद अङ्ग के पूर्वगत-ग्रन्थ का कुछ अंश ईस्वी की प्रारम्भिक शताब्दी में श्रीधरसेनाचार्य को ज्ञात था। उन्होंने देखा कि यदि वह शेषांश भी लिपिबद्ध नहीं किया

---

१. —जय धवला—प्रस्तावना पृष्ठ ४९।

जाएगा तो जिनवाणी का सर्वथा अभाव हो जायगा। आ. उन्होंने श्री पुष्पदन्त और श्री भूतबलि सदृश मेधावी ऋषियों को बुलाकर गिरि-नार की चन्द्रगुफा में उसे लिपिबद्ध करा दिया। उन दोनों ऋषिवरों ने उस लिपिबद्ध श्रुतज्ञान को ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी के दिन सर्व संघ के समक्ष उपस्थित किया था। वह पवित्र दिन 'श्रुत पंचमी' पर्व के नाम से प्रसिद्ध है और शास्त्रोद्धार का प्रेरक कारण बन गया है[1]।

श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार भी आगमों का विच्छेद और ह्रास हुआ है फिर भी कुछ आगम आज भी उपलब्ध हैं। उनके विच्छेद और ह्रास का क्रम इस प्रकार है—

केवली:—

१ सुधर्मा
२ जम्बू

चौदह पूर्वी:—

१ प्रभव
२ शय्यंभव
३ यशोभद्र
४ सम्भूतविजय
५ भद्रबाहु—(वीर निर्वाण—१५६-१७०)
६ स्थूलभद्र (वीर निर्वाण १७०-२१५) } सूत्रतः चौदहपूर्वी, अर्थतः दसपूर्वी

दसपूर्वी:

१ महागिरी
२ सुहस्ती
३ गुणसुन्दर
४ श्यामाचार्य
५ स्कंदिलाचार्य
६ रेवतीमित्र
७ श्रीधर्म
८ भद्रगुप्त
९ श्रीगुप्त
१० विजयसूरि

तोसलिपुत्र आचार्य के शिष्य श्री आर्यरक्षित नौ पूर्व तथा दसवें पूर्व के २४ यविक के ज्ञाता थे[3]। आर्यरक्षित के वंशज आर्यनंदिल (वि० ५९७)[4] भी ९॥ पूर्वी थे ऐसा उल्लेख मिलता है[5]। आर्यरक्षित के शिष्य दुर्बलिका पुष्यमित्र नौ पूर्वी थे।

---

१. धवला टीका भा० १, भूमिका पृ० १३-३२।

(क) चौदह पूर्वी की तरह १३, १२, ११, पूर्वी की परम्परा रही हो—ऐसा इतिहास नहीं मिलता। सम्भव है वे चारों पूर्व एक साथ ही पढ़ाये जाते रहे हों। आचार्य द्रोण ने ओघनिर्युक्ति की टीका (पत्र ३) में यह उल्लेख किया है कि १४ पूर्वी के बाद १० पूर्वी ही होते हैं।

(ख) चतुःशरण गाथा ३३ की वृत्ति में ऐसा उल्लेख है कि ये चारों पूर्व (११ से १४) एक साथ व्युच्छिन्न होते हैं — अन्त्यानि चत्वारि पूर्वाणि प्रायः समुदितान्येव व्युच्छिद्यन्ते इति चतुर्दशपूर्वानन्तर दशपूर्विणोऽभिहिताः।

३ प्रभावक चरित्र—'आर्यरक्षित' श्लोक ८२-८४।

४. प्रबन्ध पर्यालोचन पृ० ६२।

५. प्रभावक चरित्र—'आर्यनन्दिल'।

दस पूर्वी या ९-१० पूर्वी के बाद देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण का एक पूर्वी के रूप में उल्लेख हुआ है। प्रश्न होता है कि क्या ९, ८, ७, ६ आदि पूर्वी भी हुए हैं या नहीं ? इस प्रश्न का समुचित समाधान उल्लिखित नहीं मिलता। परन्तु यत्र-तत्र के विकीर्ण उल्लेखों से यह संभाव्य है कि ८, ७, ६ आदि पूर्वो के धारक अवश्य रहे हैं। जीतकल्प सूत्र की वृत्ति में ऐसा उल्लेख है कि आचार प्रकल्प से आठ पूर्व तक के धारक को श्रुत-व्यवहारी कहा है। इससे संभव है कि आठ पूर्व तक के धारक अवश्य थे। इसके अतिरिक्त कई चूर्णियों के कर्त्ता पूर्व धर थे।[1]

"आर्य रक्षित, नन्दिलक्ष्मण, नागहस्ति, रेवतिनक्षत्र, सिंहसूरि—ये साढ़े नौ और उससे अल्प-अल्प पूर्व के ज्ञान वाले थे। स्कन्दिलाचार्य, श्री हिमवन्त क्षमाश्रमण, नागार्जुनसूरि—ये सभी समकालीन पूर्ववित् थे। श्री गोविन्दवाचक, संयमविष्णु, भूतदिन्न, लोहित्य सूरि, दुष्यगणि और देववाचक--ये ११ अंग तथा १ पूर्व से अधिक के ज्ञाता थे[2]।"

भगवती (२०.८) में यह उल्लेख है कि तीर्थङ्कर सुविधिनाथ से तीर्थङ्कर शान्तिनाथ तक के आठ तीर्थङ्करों के सात अन्तरों में कालिक सूत्र का व्यवच्छेद हुआ। शेष तीर्थङ्करों के नहीं। दृष्टिवाद का विच्छेद महावीर से पूर्व-तीर्थङ्करों के समय में होता रहा है।

इसी प्रकरण में यह भी कहा गया है कि महावीर के निर्वाण के बाद एक हजार वर्ष में पूर्वगत का विच्छेद हुआ और एक पूर्व को पूरा जानने वाला कोई नहीं बचा।

यह भी माना जाता है कि देवर्द्धिगणी के उत्तरवर्ती आचार्यों में पूर्व-ज्ञान का कुछ अंश अवश्य था। इसकी पुष्टि स्थान-स्थान पर उल्लिखित पूर्वो की पंक्तियों तथा विषय-निरूपण से होती है।[3]

प्रथम संहनन—वज्रऋषभनाराच, प्रथम संस्थान—समचतुरस्र और अन्तर् मुहूर्त्त में चौदह पूर्वो को सीखने का सामर्थ्य—ये तीनों स्थूलिभद्र के साथ-साथ व्युच्छिन्न हो गए।[4]

अर्द्धनाराच संहनन और दस पूर्वो का ज्ञान वज्रस्वामी के साथ-साथ विच्छिन्न हो गया[5]।

वज्रस्वामी के बाद तथा शीलांकसूरि से पूर्व आचारांग के 'महापरिज्ञा' अध्ययन का ह्रास हुआ। यह भी कहा जाता है कि इसी अध्ययन के आधार पर दूसरे श्रुतस्कंध की रचना हुई।

स्थानांग में वर्णित प्रश्न व्याकरण का स्वरूप उपलब्ध प्रश्न व्याकरण से अत्यन्त भिन्न है। उस मूल स्वरूप का कब, कैसे ह्रास हुआ, यह अज्ञात है।

इसी प्रकार ज्ञाताधर्मकथा की अनेक उपाख्यायिकाओं का सर्वथा लोप हुआ है।

इस प्रकार द्वादशांगी के ह्रास और विच्छेद का यह संक्षिप्त चित्र है।

उपलब्ध आगम

आगमों की संख्या के विषय में अनेक मत प्रचलित हैं। उनमें तीन मुख्य हैं—

(१) ८४ आगम

(२) ४५ आगम

(३) ३२ आगम

---

१. सिद्धचक्र, वर्ष ४, अंक १२, पृ० २८४।

२. जैन सत्य प्रकाश (वर्ष १, अंक १, पृ० १५)।

३. आव० नि० पत्र ५९६।

४. आव० नि० द्वितीय भाग पत्र ३९५।

५. आ० नि० द्वितीय भाग पत्र ३९६ : तम्मि य भयवं ते अद्धनारायं दस पुव्वा य वोच्छिन्ना।

आगम

श्रीमज्जयाचार्य के अनुसार ८४ आगम इस प्रकार हैं—

उत्कालिक :—

(१) दशवैकालिक
(२) कल्पिकाकल्पिक
(३) क्षुल्लकल्प
(४) महाकल्प
(५) औपपातिक
(६) राजप्रश्नीय
(७) जीवाभिगम
(८) प्रज्ञापना
(९) महाप्रज्ञापना
(१०) प्रमादाप्रमाद
(११) नंदी
(१२) अनुयोगद्वार
(१३) देवेन्द्रस्तव
(१४) तन्दुल वैचारिक
(१५) चन्द्रवेध्यक
(१६) सूर्यप्रज्ञप्ति
(१७) पौरसीमंडल
(१८) मंडलप्रवेश
(१९) विद्याचरणविनिश्चय
(२०) गणिविद्या
(२१) ध्यानविभक्ति
(२२) मरणविभक्ति
(२३) आत्मविशोधि
(२४) वीतरागश्रुत
(२५) संलेखनाश्रुत
(२६) विहारकल्प
(२७) चरणविधि
(२८) आतुरप्रत्याख्यान
(२९) महाप्रत्याख्यान

कालिक :—

(१) उत्तराध्ययन
(२) दशाश्रुतस्कंध
(३) बृहत्कल्प
(४) व्यवहार
(५) निशीथ
(६) महानिशीथ
(७) ऋषिभाषित
(८) जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति
(९) द्वीपसागरप्रज्ञप्ति
(१०) चन्द्रप्रज्ञप्ति
(११) क्षुल्लिकाविमानविभक्ति
(१२) महतीविमानविभक्ति
(१३) अंग चूलिका
(१४) वर्ग चूलिका
(१५) विवाह चूलिका
(१६) अरुणोपपात
(१७) वरुणोपपात
(१८) गरुडोपपात
(१९) धरणोपपात
(२०) वैश्रमणोपपात
(२१) वेलन्धरोपपात
(२२) देवेन्द्रोपपात
(२३) उत्थानश्रुत
(२४) समुत्थानश्रुत
(२५) नागपरिज्ञापनिका
(२६) कल्पिका
(२७) कल्पावतंसिका
(२८) पुष्पिका
(२९) पुष्प चूलिका
(३०) वृष्णी दशा

अंग :—

(१) आचार
(२) सूत्रकृत
(३) स्थान
(४) समवाय

(५) भगवती
(६) ज्ञाताधर्म-कथा
(७) उपासकदशा
(८) अन्तकृतदशा
(९) अनुत्तरोपपातिकदशा
(१०) प्रश्नव्याकरण
(११) विपाक
(१२) दृष्टिवाद
(२९+३०+१२=७१)
(७२) आवश्यक[1]
(७३) अन्तकृतदशा (अन्य वाचना का)
(७४) प्रश्नव्याकरणदशा
(७५) अनुत्तरोपपातिक दशा (अन्य वाचना का)
(७६) बन्धदशा
(७७) द्विगृद्धिदशा
(७८) दीर्घदशा[2]
(७९) स्वप्न भावना
(८०) चारण भावना
(८१) तेजोनिसर्ग
(८२) आशीविष भावना
(८३) दृष्टिविष भावना[3]
(८४) ५५ अध्ययन कल्याणफल विपाक
५५ अध्ययन पापफल विपाक।

४५ आगम[4]

अंग :—

(१) आचार
(२) सूत्रकृत
(३) स्थान
(४) समवाय
(५) भगवती
(६) ज्ञाताधर्म-कथा
(७) उपासकदशा
(८) अन्तकृतदशा
(९) अनुत्तरोपपातिकदशा
(१०) प्रश्नव्याकरण
(११) विपाक

उपांग :—

(१) औपपातिक
(२) राजप्रश्नीय
(३) जीवाभिगम
(४) प्रज्ञापना
(५) सूर्यप्रज्ञप्ति
(६) जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति
(७) चन्द्रप्रज्ञप्ति
(८) निरयावलिका
(९) कल्पावतंसिका
(१०) पुष्पिका
(११) पुष्प चूलिका
(१२) वृष्णिदशा

प्रकीर्णक :—

(१) चतुःशरण
(२) चन्द्रवेध्यक
(३) आतुरप्रत्याख्यान
(४) महाप्रत्याख्यान

---

१. उपरोक्त ७२ नाम नन्दी सूत्र में उपलब्ध होते है।
२. ये छह (७३ से ७८) स्थानांग (सूत्र २३४७) में हैं।
३. ये पांच (७९ से ८३) व्यवहार सूत्र में हैं।
४. सामाचारी शतक : आगमस्थापनाधिकार (३८ वां)—समयसुंदरगणि विरचित।

(५) भक्तप्रत्याख्यान
(६) तन्दुल वैतालिक (वैचारिक)
(७) गणिविद्या
(८) मरणसमाधि
(९) देवेन्द्रस्तव
(१०) संस्तारक

छेद :—

(१) निशीथ
(२) महानिशीथ
(३) व्यवहार
(४) बृहत्कल्प
(५) जीतकल्प
(६) दशाश्रुतस्कन्ध

मूल :—

(१) ओघनिर्युक्ति
अथवा
आवश्यकनिर्युक्ति
(२) पिण्डनिर्युक्ति
(३) दशवैकालिक
(४) उत्तराध्ययन
(५) नन्दी
(६) अनुयोगद्वार

३२ आगम

अंग :—

(१) आचार
(२) सूत्रकृत
(३) स्थान
(४) समवाय
(५) भगवती
(६) ज्ञाताधर्म-कथा
(७) उपासक-दशा
(८) अन्तकृत-दशा
(९) अनुत्तरौपपातिक दशा
(१०) प्रश्नव्याकरण
(११) विपाक

उपांग :—

(१) औपपातिक
(२) राजप्रश्नीय
(३) जीवाभिगम
(४) प्रज्ञापना
(५) सूर्यप्रज्ञप्ति
(६) जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति
(७) चन्द्रप्रज्ञप्ति
(८) निरयावलिका
(९) कल्पावतंसिका
(१०) पुष्पिका
(११) पुष्पचूलिका
(१२) वृष्णिदशा

मूल —

(१) दशवैकालिक
(२) उत्तराध्ययन
(३) नन्दी
(४) अनुयोगद्वार

छेद —

(१) निशीथ
(२) व्यवहार
(३) बृहत्कल्प
(४) दशाश्रुतस्कन्ध
(११+१२+४+४=३१)

(३२) आवश्यक

उपर्युक्त विभागों में स्वतः प्रमाण केवल ग्यारह अंग ही हैं। शेष सब परतः प्रमाण हैं।

(५) भगवती
(६) ज्ञाताधर्म-कथा
(७) उपासकदशा
(८) अन्तकृतदशा
(९) अनुत्तरोपपातिकदशा
(१०) प्रश्नव्याकरण
(११) विपाक
(१२) दृष्टिवाद
(२९+३०+१२=७१)
(७२) आवश्यक[1]
(७३) अन्तकृतदशा (अन्य वाचना का)
(७४) प्रश्नव्याकरणदशा
(७५) अनुत्तरोपपातिक दशा (अन्य वाचना का)
(७६) बन्धदशा
(७७) द्विगृद्धिदशा
(७८) दीर्घदशा[2]
(७९) स्वप्न भावना
(८०) चारण भावना
(८१) तेजोनिसर्ग
(८२) आशीविष भावना
(८३) दृष्टिविष भावना[3]
(८४) ५५ अध्ययन कल्याणफल विपाक।
५५ अध्ययन पापफल विपाक।

४५ आगम[4]

अंग :—

(१) आचार
(२) सूत्रकृत
(३) स्थान
(४) समवाय
(५) भगवती
(६) ज्ञाताधर्म-कथा
(७) उपासकदशा
(८) अन्तकृतदशा
(९) अनुत्तरोपपातिकदशा
(१०) प्रश्नव्याकरण
(११) विपाक

उपांग :—

(१) औपपातिक
(२) राजप्रश्नीय
(३) जीवाभिगम
(४) प्रज्ञापना
(५) सूर्यप्रज्ञप्ति
(६) जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति
(७) चन्द्रप्रज्ञप्ति
(८) निरयावलिका
(९) कल्पावतंसिका
(१०) पुष्पिका
(११) पुष्प चूलिका
(१२) वृष्णिदशा

प्रकीर्णक :—

(१) चतुःशरण
(२) चन्द्रवेध्यक
(३) आतुरप्रत्याख्यान
(४) महाप्रत्याख्यान

---

१. उपरोक्त ७२ नाम नन्दी सूत्र में उपलब्ध होते हैं।
२. ये छह (७३ से ७८) स्थानांग (सूत्र २३४७) में हैं।
३. ये पांच (७९ से ८३) व्यवहार सूत्र में हैं।
४. सामाचारी शतक : आगमस्थापनाधिकार (३८ वां)—समयसुंदरगणि विरचित।

अनुयोग

व्याख्याक्रम व विषयगत वर्गीकरण की दृष्टि से आर्यरक्षित सूरि ने आगमों को चार भागों में वर्गीकृत किया —

(१) चरण-करणानुयोग—कालिक श्रुत।

(२) धर्मानुयोग—ऋषि भाषित, उत्तराध्ययन आदि।

(३) गणितानुयोग—सूर्यप्रज्ञप्ति आदि।

(४) द्रव्यानुयोग—दृष्टिवाद या सूत्रकृत आदि।

यह वर्गीकरण विषय-सादृश्य की दृष्टि से है। व्याख्याक्रम की दृष्टि से आगमों के दो रूप बनते हैं—

(१) अपृथक्त्वानुयोग।

(२) पृथक्त्वानुयोग।

आर्यरक्षित से पूर्व अपृथक्त्वानुयोग प्रचलित था। उसमें प्रत्येक सूत्र की चरण-करण, धर्म, गणित और द्रव्य की दृष्टि से व्याख्या की जाती थी। यह व्याख्या-क्रम बहुत जटिल और बहुत बुद्धि-स्मृति सापेक्ष था। आर्यरक्षित ने देखा कि दुर्बलिका पुष्यमित्र जैसा मेधावी मुनि भी इस व्याख्या-क्रम को याद रखने में श्रान्त-क्लान्त हो रहा है तो अल्प मेधा वाले मुनि इसे कैसे याद रख पायेंगे। एक प्रेरणा मिली और उन्होंने पृथक्त्वानुयोग का प्रवर्तन कर दिया। उसके अनुसार चरण-करण आदि विषयों की दृष्टि से आगमों का विभाजन हो गया।[1]

सूत्रकृत चूर्णि के अनुसार अपृथक्त्वानुयोग काल में प्रत्येक सूत्र की व्याख्या चरण-करण आदि चार अनुयोग तथा सात सौ नयों से की जाती थी। पृथक्त्वानुयोग काल में चारों अनुयोगों की व्याख्या पृथक्-पृथक् की जाने लगी।[2]

वाचना

वीर निर्वाण के ९८० या ९९३ वर्ष के मध्य में आगम साहित्य के संकलन की चार प्रमुख वाचनाएँ हुईं:—

पहली वाचना

वीर निर्वाण की दूसरी शताब्दी में (वी० नि० के १६० के वर्ष पश्चात्) पाटलीपुत्र में बारह वर्ष का भीषण दुष्काल पड़ा। उस समय श्रमण संघ छिन्न-भिन्न हो गया। अनेक श्रुतधर काल-कवलित हो गए। अन्यान्य दुविधाओं के कारण यथावस्थित सूत्र-परावर्तन नहीं हो सका, अतः आगम ज्ञान की शृंखला टूट-सी गई। दुर्भिक्ष मिटा। उस काल में विद्यमान विशिष्ट आचार्य पाटलीपुत्र में एकत्रित हुए। ग्यारह अंग एकत्रित किए। उस समय बारहवें अंग के एकमात्र ज्ञाता भद्रबाहु स्वामी थे और वे नेपाल में महाप्राण-ध्यान की साधना कर रहे थे। संघ के विशेष निवेदन पर स्थूलिभद्र मुनि को बारहवें अंग की वाचना देना स्वीकार किया। उन्होंने दस पूर्व अर्थ सहित सीख लिए। ग्यारहवें पूर्व की वाचना चालू थी। बहिनों को चमत्कार दिखाने के लिए उन्होंने सिंह का रूप बनाया। भद्रबाहु ने इसे जान लिया। आगे वाचना बन्द कर दी। फिर विशेष आग्रह करने पर अन्तिम चार पूर्वों की वाचना दी, किन्तु अर्थ नहीं बताया। अर्थ की दृष्टि से अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु ही थे। स्थूलिभद्र शाब्दिक दृष्टि से चौदह पूर्वी थे किन्तु आर्थी-दृष्टि से दस पूर्वी ही थे।

१—आवश्यक निर्युक्ति गाथा ७७३-७७४ : अपुहुत्ते अणुओगो चत्तारि दुवार भासई एगो।
पहुत्ताणुओगकरणे ते अत्था तओ उ बुच्छिन्ना॥
देविंदवंदिएहिं महाणुभावेहिं रक्खिअअज्जेहिं।
जुममासज्ज विहत्तो अणुओगो ता कओ चउहा॥

२—सूत्रकृत चूर्णि पत्र ४ : जत्थ एते चत्तारि अणुयोगा पिहप्पिहं वक्खाणिज्जंति पुहुत्ताणुयोगो, अपुहुत्ताणुजोगो पुण जं एक्केक्कं सुत्तं एतेहिं चउहिं वि अणुयोगेहिं सत्तहिं णयसतेहिं वक्खाणिज्जति।

दूसरी वाचना

आगम-संकलन का दूसरा प्रयत्न वीर निर्वाण ८२७ और ८४० के मध्यकाल में हुआ।

उस समय में बारह वर्ष का भीषण दुर्भिक्ष हुआ। भिक्षा मिलना अत्यन्त दुष्कर हो गया। साधु छिन्न-भिन्न हो गए। वे आहार की उचित गवेषणा में दूर-दूर देशों की ओर चल पड़े। अनेक बहुश्रुत तथा आगमधर मुनि दिवंगत हो गए। भिक्षा की प्राप्ति न होने के कारण आगम का अध्ययन-अध्यापन, धारण और प्रत्यावर्तन सभी अवरुद्ध हो गए। धीरे-धीरे श्रुत का ह्रास होने लगा। अतिशायी श्रुत का नाश हुआ। अंग और उपांगों का भी अर्थ से ह्रास हुआ। उसका बहुत बड़ा भाग नष्ट हो गया। बारह वर्ष के इस दुष्काल के बाद सारा श्रमण संघ स्कन्दिलाचार्य की अध्यक्षता में मथुरा में एकत्रित हुआ। उस समय जिन-जिन श्रमणों को जितना-जितना स्मृति में था, उसका अनुसन्धान किया। इस प्रकार कालिक सूत्र और पूर्वगत के कुछ अंश का संकलन हुआ। मथुरा में होने के कारण उसे "माथुरी वाचना" कहा गया। युगप्रधान आचार्य स्कन्दिल ने उस संकलित-सूत्र के अर्थ की अनुशिष्टि दी, अतः वह अनुयोग उनका ही कहलाया। माथुरी वाचना को "स्कन्दिली वाचना" भी कहा गया।

मतान्तर के अनुसार यह भी माना जाता है कि दुर्भिक्ष के कारण किञ्चित् भी श्रुत नष्ट नहीं हुआ। उस समय सारा श्रुत विद्यमान था, किन्तु आचार्य स्कन्दिल के अतिरिक्त शेष सभी अनुयोगधर मुनि काल-कवलित हो गए थे। दुर्भिक्ष का अन्त होने पर आचार्य स्कन्दिल ने मथुरा में पुनः अनुयोग का प्रवर्तन किया, इसीलिए उसे "माथुरी वाचना" भी कहा गया और वह सारा अनुयोग "स्कन्दिल सम्बन्धी" गिना गया।[1]

तीसरी वाचना

इसी समय (वीर-निर्वाण ८२७-८४०) वल्लभी में आचार्य नागार्जुन की अध्यक्षता में संघ एकत्रित हुआ। उस समय जिन-जिन श्रमणों को जितना-जितना याद था उसका संकलन प्रारम्भ किया किन्तु यह अनुभव हुआ कि वे बीच-बीच में बहुत कुछ भूल चुके हैं। श्रुत की सम्पूर्ण व्यवच्छित्ति न हो जाए, इसलिए जो स्मृति में था उसे संकलित किया। उसे "वल्लभी वाचना" या "नागार्जुनीय वाचना" कहा गया।

चौथी वाचना

वीर निर्वाण की दसवीं शताब्दी (९८० या ९९३ वर्ष) में देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण की अध्यक्षता में वल्लभी में पुनः श्रमण संघ एकत्रित हुआ। स्मृति-दौर्बल्य, परावर्तन की न्यूनता, धृति का ह्रास और परम्परा की व्यवच्छित्ति आदि-आदि कारणों से श्रुत का अधिकांश भाग नष्ट हो चुका था, किन्तु एकत्रित मुनियों को अवशिष्ट श्रुत की न्यून या अधिक, त्रुटित या अत्रुटित जो कुछ स्मृति थी उसकी व्यवस्थित संकलना की गई। देवर्द्धिगणी ने अपनी बुद्धि से उसकी संयोजना कर उसे पुस्तकारूढ़ किया। माथुरी तथा वल्लभी वाचनाओं के कण्ठगत आगमों को एकत्रित कर उन्हें एकरूपता देने का प्रयास हुआ। जहाँ अत्यन्त मतभेद रहा वहाँ माथुरी वाचना को मूल मानकर वल्लभी वाचना के पाठों को पाठान्तर में स्थान दिया गया। यही कारण है कि आगम के व्याख्या-ग्रन्थों में यत्र-तत्र "नागार्जुनीयास्तु पठन्ति" ऐसा उल्लेख हुआ है।

विद्वानों की मान्यता है कि इस संकलना से सारे आगमों को व्यवस्थित रूप मिला। भगवान् महावीर के पश्चात् एक हजार वर्षों में घटित मुख्य घटनाओं का समावेश यत्र-तत्र आगमों में किया गया। जहाँ-जहाँ समान आलापकों का बार-बार पुनरावर्तन होता था, उन्हें संक्षिप्त कर एक दूसरे का पूर्ति-संकेत एक दूसरे आगम में किया गया।

वर्तमान में जो आगम उपलब्ध हैं वे देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण की वाचना के हैं। उसके पश्चात् उनमें संशोधन, परिवर्धन या परिवर्तन नहीं हुआ।

यहाँ यह प्रश्न होता है कि यदि उपलब्ध आगम एक ही आचार्य की संकलना है तो अनेक स्थानों में विसंवाद क्यों ?

१—(क) नंदी गा० ३३, मलयगिरि वृत्ति पत्र ५१।
(ख) नंदी चूर्णि पत्र ८।

अनुयोग

व्याख्याक्रम व विषयगत वर्गीकरण की दृष्टि से आर्यरक्षित सूरि ने आगमों को चार भागों में वर्गीकृत किया —

(१) चरण-करणानुयोग—कालिक श्रुत।

(२) धर्मानुयोग—ऋषि भाषित, उत्तराध्ययन आदि।

(३) गणितानुयोग—सूर्यप्रज्ञप्ति आदि।

(४) द्रव्यानुयोग—दृष्टिवाद या सूत्रकृत आदि।

यह वर्गीकरण विषय-सादृश्य की दृष्टि से है। व्याख्याक्रम की दृष्टि से आगमों के दो रूप बनते हैं—

(१) अपृथक्त्वानुयोग।

(२) पृथक्त्वानुयोग।

आर्यरक्षित से पूर्व अपृथक्त्वानुयोग प्रचलित था। उसमें प्रत्येक सूत्र की चरण-करण, धर्म, गणित और द्रव्य की दृष्टि से व्याख्या की जाती थी। यह व्याख्या-क्रम बहुत जटिल और बहुत बुद्धि-स्मृति सापेक्ष था। आर्यरक्षित ने देखा कि दुर्बलिका पुष्यमित्र जैसा मेधावी मुनि भी इस व्याख्या-क्रम को याद रखने में श्रान्त-क्लान्त हो रहा है तो अल्प मेधा वाले मुनि इसे कैसे याद रख पायेंगे। एक प्रेरणा मिली और उन्होंने पृथक्त्वानुयोग का प्रवर्तन कर दिया। उसके अनुसार चरण-करण आदि विषयों की दृष्टि से आगमों का विभाजन हो गया।[1]

सूत्रकृत चूर्णि के अनुसार अपृथक्त्वानुयोग काल में प्रत्येक सूत्र की व्याख्या चरण-करण आदि चार अनुयोग तथा सात सौ नयों से की जाती थी। पृथक्त्वानुयोग काल में चारों अनुयोगों की व्याख्या पृथक्-पृथक् की जाने लगी।[2]

वाचना

वीर निर्वाण के ९८० या ९९३ वर्ष के मध्य में आगम साहित्य के संकलन की चार प्रमुख वाचनाएँ हुईं:—

पहली वाचना

वीर निर्वाण की दूसरी शताब्दी में (वी० नि० के १६० के वर्ष पश्चात्) पाटलीपुत्र में बारह वर्ष का भीषण दुष्काल पड़ा। उस समय श्रमण संघ छिन्न-भिन्न हो गया। अनेक श्रुतधर काल-कवलित हो गए। अन्यान्य दुविधाओं के कारण यथावस्थित सूत्र-परावर्तन नहीं हो सका, अत: आगम ज्ञान की शृंखला टूट-सी गई। दुर्भिक्ष मिटा। उस काल में विद्यमान विशिष्ट आचार्य पाटलीपुत्र में एकत्रित हुए। ग्यारह अंग एकत्रित किए। उस समय बारहवें अंग के एकमात्र ज्ञाता भद्रबाहु स्वामी थे और वे नेपाल में महाप्राण-ध्यान की साधना कर रहे थे। संघ के विशेष निवेदन पर स्थूलिभद्र मुनि को बारहवें अंग की वाचना देना स्वीकार किया। उन्होंने दस पूर्व अर्थ सहित सीख लिए। ग्यारहवें पूर्व की वाचना चालू थी। बहिनों को चमत्कार दिखाने के लिए उन्होने सिंह का रूप बनाया। भद्रबाहु ने इसे जान लिया। आगे वाचना बन्द कर दी। फिर विशेष आग्रह करने पर अन्तिम चार पूर्वो की वाचना दी, किन्तु अर्थ नहीं बताया। अर्थ की दृष्टि से अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु ही थे। स्थूलिभद्र शाब्दिक दृष्टि से चौदह पूर्वी थे किन्तु आर्थी-दृष्टि से दस पूर्वी ही थे।

१—आवश्यक निर्युक्ति गाथा ७७३-७७४ : अपुहुत्ते अणुओगो चत्तारि दुवार भासई एगो।
पहुत्ताणुओगकरणे ते अत्था तओ उ वुच्छिन्ना ॥
देविंदवंदिएहिं महाणुभावेहिं रक्खिअअज्जेहिं।
जुममासज्ज विहत्तो अणुओगो ता कओ चउहा ॥

२—सूत्रकृत चूर्णि पत्र ४ : जत्थ एते चत्तारि अणुयोगा पिहप्पिहं वक्खाणिज्जंति पुहुत्ताणुयोगो, अपुहुत्ताणुजोगो पुण जं एक्केक्कं सुत्तं एतेहिं चउहिं वि अणुयोगेहिं सत्तहिं णयसतेहिं वक्खाणिज्जति।

दूसरी वाचना

आगम-संकलन का दूसरा प्रयत्न वीर निर्वाण ८२७ और ८४० के मध्यकाल में हुआ।

उस काल में बारह वर्ष का भीषण दुर्भिक्ष हुआ। भिक्षा मिलना अत्यन्त दुष्कर हो गया। साधु छिन्न-भिन्न हो गए। वे आहार की उचित गवेषणा में दूर-दूर देशों की ओर चल पड़े। अनेक बहुश्रुत तथा आगमधर मुनि दिवंगत हो गए। भिक्षा की प्राप्ति न होने के कारण आगम का अध्ययन-अध्यापन, धारण और प्रत्यावर्तन सभी अवरुद्ध हो गए। धीरे-धीरे श्रुत का ह्रास होने लगा। अतिशायी श्रुत का नाश हुआ। अंगों और उपांगों का भी अर्थ से ह्रास हुआ। उसका बहुत बड़ा भाग नष्ट हो गया। बारह वर्ष के इस दुष्काल के बाद सारा श्रमण संघ स्कन्दिलाचार्य की अध्यक्षता में मथुरा में एकत्रित हुआ। उस समय जिन-जिन श्रमणों को जितना-जितना स्मृति में था, उसका अनुसन्धान किया। इस प्रकार कालिक श्रुत और पूर्वगत के कुछ अंश का संकलन हुआ। मथुरा में होने के कारण उसे "माथुरी वाचना" कहा गया। युगप्रधान आचार्य स्कन्दिल ने उस संकलित-श्रुत के अर्थ की अनुशिष्टि दी, अतः वह अनुयोग उनका ही कहलाया। माथुरी वाचना को "स्कन्दिली वाचना" भी कहा गया।

मतान्तर के अनुसार यह भी माना जाता है कि दुर्भिक्ष के कारण किञ्चिद् भी श्रुत नष्ट नहीं हुआ। उस समय सारा श्रुत विद्यमान था, किन्तु आचार्य स्कन्दिल के अतिरिक्त शेष सभी अनुयोगधर मुनि काल-कवलित हो गए थे। दुर्भिक्ष का अन्त होने पर आचार्य स्कन्दिल ने मथुरा में पुन: अनुयोग का प्रवर्तन किया, इसीलिए उसे "माथुरी वाचना" भी कहा गया और वह सारा अनुयोग "स्कन्दिल सम्बन्धी" गिना गया।[1]

तीसरी वाचना

इसी समय (वीर-निर्वाण ८२७-८४०) वल्लभी में आचार्य नागार्जुन की अध्यक्षता में संघ एकत्रित हुआ। उस समय जिन-जिन श्रमणों को जितना-जितना याद था उसका संकलन प्रारंभ किया किन्तु यह अनुभव हुआ कि वे बीच-बीच में बहुत कुछ भूल चुके हैं। श्रुत की सम्पूर्ण व्यवच्छित्ति न हो जाए, इसलिए जो स्मृति में था उसे संकलित किया। उसे "वल्लभी वाचना" या "नागार्जुनीय वाचना" कहा गया।

चौथी वाचना

वीर निर्वाण की दसवीं शताब्दी (९८० या ९९३ वर्ष) में देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण की अध्यक्षता में वल्लभी में पुन: श्रमण संघ एकत्रित हुआ। स्मृति-दौर्बल्य, परावर्तन की न्यूनता, धृति का ह्रास और परम्परा की व्यवच्छित्ति आदि-आदि कारणों से श्रुत का अधिकांश भाग नष्ट हो चुका था, किन्तु एकत्रित मुनियों को अवशिष्ट श्रुत की न्यून या अधिक, त्रुटित या अत्रुटित जो कुछ स्मृति थी उसकी व्यवस्थित संकलना की गई। देवर्द्धिगणी ने अपनी बुद्धि से उसकी संयोजना कर उसे पुस्तकारूढ़ किया। माथुरी तथा वल्लभी वाचनाओं के कंठगत आगमों को एकत्रित कर उन्हें एकरूपता देने का प्रयास हुआ। जहाँ अत्यन्त मतभेद रहा वहाँ माथुरी वाचना को मूल मानकर वल्लभी वाचना के पाठों को पाठान्तर में स्थान दिया गया। यही कारण है कि आगम के व्याख्या-ग्रन्थों में यत्र-तत्र "नागार्जुनीयास्तु पठन्ति" ऐसा उल्लेख हुआ है।

विद्वानों की मान्यता है कि इस संकलना से सारे आगमों को व्यवस्थित रूप मिला। भगवान् महावीर के पश्चात् एक हजार वर्षों में घटित मुख्य घटनाओं का समावेश यत्र-तत्र आगमों में किया गया। जहाँ-जहाँ समान आलापकों का बार-बार पुनरावर्तन होता था, उन्हें संक्षिप्त कर एक दूसरे का पूर्ति-संकेत एक दूसरे आगम में किया गया।

वर्तमान में जो आगम उपलब्ध हैं वे देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण की वाचना के हैं। उसके पश्चात् उनमें संशोधन, परिवर्धन या परिवर्तन नहीं हुआ।

यहाँ यह प्रश्न होता है कि यदि उपलब्ध आगम एक ही आचार्य की संकलना है तो अनेक स्थानों में विसंवाद क्यों ?

१—(क) नंदी गा० ३३, मलयगिरि वृत्ति पत्र ५१।
(ख) नंदी चूर्णि पत्र ८।

इसके दो कारण हो सकते हैं—

(१) जो श्रमण उस समय जीवित थे और जिन्हें जो-जो आगम कण्ठस्थ थे, उन्हीं के अनुसार आगम संकलित किये गए। यह जानते हुए भी कि एक ही बात दो भिन्न आगमों में भिन्न प्रकार से कही गई है, देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण ने उनमें हस्तक्षेप करना अपना अधिकार नहीं समझा।

(२) नौवीं शताब्दी में सम्पन्न हुई माथुरी तथा वल्लभी वाचना की परम्परा के अवशिष्ट श्रमणों को जैसा और जितना स्मृति में था उसे संकलित किया गया। वे श्रमण बीच-बीच में अनेक आलापक भूल भी गये हों—यह भी विसंवादों का मुख्य कारण हो सकता है।[1]

ज्योतिष्करंड की वृत्ति में कहा गया है कि वर्तमान में उपलब्ध अनुयोगद्वार सूत्र माथुरी वाचना का है और ज्योतिष्करंड के कर्ता वल्लभी वाचना की परम्परा के आचार्य थे। यही कारण है कि अनुयोगद्वार और ज्योतिष्करण्ड के संख्या स्थानों में अन्तर प्रतीत होता है।[2]

अनुयोगद्वार के अनुसार शीर्षप्रहेलिका की संख्या १९३ अंकों की है और ज्योतिष्करण्ड के अनुसार वह २५० अंकों की।

ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी के प्रारम्भ (लगभग १७५-१८२) में उच्छिन्न अंगों के संकलन का प्रयास हुआ था। चक्रवर्ती खारवेल जैन-धर्म का अनन्य उपासक था। उसके सुप्रसिद्ध "हाथी गुम्फा" अभिलेख में यह उपलब्ध होता है कि उसने उड़ीसा के कुमारी पर्वत पर जैन श्रमणों का संघ बुलाया और मौर्य काल में जो अंग उच्छिन्न हो गये थे उन्हें उपस्थित किया।[3]

इस प्रकार आगम की व्यवस्थिति के लिए अनेक बार अनेक प्रयास हुए।

यह भी माना जाता है कि प्रत्येक अवसर्पिणी में चरम श्रुतधर आचार्य सूत्र-पाठ की मर्यादा करते हैं और वे दशवैकालिक का नवीन संस्करण प्रस्तुत करते हैं। यह अनादि संस्थिति है। इस अवसर्पिणी में अन्तिम श्रुतधर वज्रस्वामी थे। उन्होंने सर्वप्रथम सूत्र-पाठ की मर्यादा की। प्राचीन नामों में परिवर्तन कर मेघकुमार, जमालि आदि के नामों को स्थान दिया।[4]

इस मान्यता का प्राचीनतम आधार अन्वेषणीय है। आगम-संकलन का यह संक्षिप्त इतिहास है।

प्रस्तुत आगम : स्वरूप और परिचय

प्रस्तुत आगम का नाम दशवैकालिक है। इसके दस अध्ययन हैं और यह विकाल में रचा गया इसलिए इसका नाम दशवैकालिक रखा गया। इसके कर्ता श्रुतकेवली शय्यंभव हैं। अपने पुत्र शिष्य—मनक के लिए उन्होंने इसकी रचना की। वीर संवत् ७२ के आस-पास "चम्पा" में इसकी रचना हुई। इसकी दो चूलिकाएं हैं।

अध्ययनों के नाम, श्लोक संख्या और विषय इस प्रकार हैं—

अध्ययन	श्लोक संख्या	विषय
(१) द्रुमपुष्पिका[5]	५	धर्म-प्रशंसा और माधुकरी वृत्ति।
(२) श्रामण्यपूर्वक	११	संयम में धृति और उसकी साधना।
(३) क्षुल्लकाचार-कथा	१५	आचार और अनाचार का विवेक।
(४) धर्म-प्रज्ञप्ति या षड्जीवनिका	सूत्र २३ तथा श्लोक २८	जीव-संयम तथा आत्म-संयम का विचार।

१—सामाचारी शतक—आगम स्थापनाधिकार—३८ वां।

२—(क) सामाचारी शतक—आगम स्थापनाधिकार—३८ वां।
(ख) गच्छाचार पत्र ३-४।

३—जर्नल आफ दी बिहार एण्ड ओड़िसा रिसर्च सोसाइटी, भा० १३, पृ० २३६

४—प्रवचन परीक्षा, विश्राम ४, गाथा ६७, पत्र ३०७-३०९।

५—तत्त्वार्थ श्रुतसागरीय वृत्ति (पत्र ६७) में इसका नाम "वृक्षकुसुम" दिया है।

(५) पिण्डैषणा	१५०	गवेषणा, ग्रहणैषणा और भोगैषणा की शुद्धि।
(६) महाचार कथा	६८	महाचार का निरूपण।
(७) वाक्यशुद्धि	५७	भाषा-विवेक।
(८) आचार प्रणिधि	६३	आचार का प्रणिधान।
(९) विनय समाधि	श्लोक ६२ तथा सूत्र ७	विनय का निरूपण।
(१०) सभिक्षु	२१	भिक्षु के स्वरूप का वर्णन।
पहली चूलिका—रतिवाक्या	श्लोक १८ तथा सूत्र १	संयम में अस्थिर होने पर पुनः स्थिरीकरण का उपदेश।
दूसरी चूलिका—विविक्तचर्या	१६	विविक्तचर्या का उपदेश।

दशवैकालिक : विभिन्न आचार्यों की दृष्टि में

निर्युक्तिकार के अनुसार दशवैकालिक का समावेश चरण-करणानुयोग में होता है। इसका फलित अर्थ यह है कि इसका प्रतिपाद्य आचार है। वह दो प्रकार का होता है[1]—

(१) चरण—व्रत आदि।
(२) करण—पिंड-विशुद्धि आदि।

धवला के अनुसार दशवैकालिक आचार और गोचर की विधि का वर्णन करने वाला सूत्र है।[2]

अंगपण्णत्ति के अनुसार इसका विषय गोचर-विधि और पिंड-विशुद्धि है।[3]

तत्त्वार्थ की श्रुतसागरीय वृत्ति में इसे वृक्ष-कुसुम आदि का भेद कथक और यतियों के आचार का कथक कहा है।[4]

उक्त प्रतिपादन से दशवैकालिक का स्थूल रूप हमारे सामने प्रस्तुत हो जाता है, किन्तु आचार्य शय्यंभव ने आचार-गोचर की प्ररूपणा के साथ-साथ अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों का निरूपण किया है। जीव विद्या, योग-विद्या आदि के अनेक सूक्ष्म बीज इसमें विद्यमान हैं।

दशवैकालिक का महत्त्व

दशवैकालिक अति प्रचलित और अति व्यवहृत आगम ग्रन्थ है। अनेक व्याख्याकारों ने अपने अभिमत की पुष्टि के लिए इसे उद्धृत किया है।[5]

इसके निर्माण के पश्चात् श्रुत के अध्ययन क्रम में भी परिवर्तन हुआ है। इसकी रचना से पूर्व आचारांग के बाद उत्तराध्ययन सूत्र पढ़ा जाता था। किन्तु इसकी रचना होने पर दशवैकालिक के बाद उत्तराध्ययन पढ़ा जाने लगा।[6] यह परिवर्तन यौक्तिक था। क्योंकि साधु को

१—दशवैकालिक निर्युक्ति गाथा ४ : अपुहुत्तपुहुत्ताइं निद्दिसिउं एत्थ होइ अहिगारो।
चरण करणाणुओगेण तस्स दारा इमे हुंति ॥

२—धवला षट् खण्डागम पृ० ६७ : दसवेआलियं आयारगोयरविहिं वण्णेइ।

३—अंगपण्णत्ति चूलिका गाथा २४ : जदि गोचरस्स विहिं पिंडविसुद्धिं च जं परूवेहि।
दसवेआलिय सुत्तं दह काला जत्थ संवुत्ता ॥

४—तत्त्वार्थ श्रुतसागरीय वृत्ति पृ० ६७ : वृक्षकुसुमादीनां दशानां भेदकथकं यतीनामाचारकथकञ्च दशवैकालिकम्।

५—देखें उत्तरा० बृहद् वृत्ति, निशीथ चूर्णि आदि-आदि।

६—व्यवहार, उद्देशक ३, भाष्य गाथा १७६ (मलयगिरि-वृत्ति) : आयारस्स उ उवरिं उत्तरज्झयणाउ आसि पुव्वं तु।
दसवेआलिय उवरिं इयाणि किं ते न होंती उ ॥

पूर्वमुत्तराध्ययनानि आचारस्याचाराङ्गस्योपर्यासीरन् इदानीं दशवैकालिकस्योपरि पठितव्यानि। किं तानि तथारूपाणि न भवन्ति ? भवन्त्येवेति भावः।

सर्व प्रथम आचार का ज्ञान कराना आवश्यक होता है और उस समय वह आचारांग के अध्ययन-अध्यापन से कराया जाता था। परन्तु दशवैकालिक की रचना ने आचार-बोध को सहज और सुगम बना दिया और इसीलिए आचारांग का स्थान इसने ले लिया।

प्राचीन-काल में आचारांग के अन्तर्गत 'शस्त्र-परिज्ञा' अध्ययन को अर्थतः जाने-पढ़े बिना साधु को महाव्रतों की विभागतः उपस्थापना नहीं दी जाती थी, किन्तु बाद में दशवैकालिक सूत्र के चौथे अध्ययन 'षड्जीवनिका' को अर्थतः जानने-पढ़ने के पश्चात् महाव्रतों की विभागतः उपस्थापना दी जाने लगी।[1]

प्राचीन परम्परा में आचारांग सूत्र के दूसरे अध्ययन 'लोक विजय' के पांचवें उद्देशक 'ब्रह्मचर्य' के 'आमगन्धं' सूत्र को जाने-पढ़े बिना कोई भी पिण्ड-कल्पी (भिक्षाग्राही) नहीं हो सकता था। परन्तु बाद में दशवैकालिक के पांचवें अध्ययन 'पिण्डैषणा' को जानने-पढ़ने वाला पिण्ड-कल्पी होने लगा।[2] दशवैकालिक के महत्व और सर्वग्राहिता को बताने वाले ये महत्वपूर्ण संकेत हैं।

निर्यूहण कृति

रचना दो प्रकार की होती है—स्वतन्त्र और निर्यूहण। दशवैकालिक निर्यूहण कृति है, स्वतंत्र नहीं। आचार्य शय्यंभव श्रुतकेवली थे। उन्होंने विभिन्न पूर्वो से इसका निर्यूहण किया—यह एक मान्यता है।[3]

दशवैकालिक की निर्युक्ति के अनुसार चौथा अध्ययन आत्म प्रवाद पूर्व से; पाँचवाँ अध्ययन कर्मप्रवाद पूर्व से; सातवां अध्ययन सत्यप्रवाद पूर्व से और शेष सभी अध्ययन प्रत्याख्यान पूर्व की तीसरी वस्तु से उद्धृत किए गए हैं।

दूसरी मान्यता के अनुसार इसका निर्यूहण गणिपिटक द्वादशांगी से किया गया।[4] किस अध्ययन का किस अंग से उद्धरण किया गया. इसका कोई उल्लेख प्राप्त नहीं है। किन्तु तीसरे अध्ययन का विषय सूत्रकृतांग १।९ से प्राप्त होता है। चतुर्थ अध्ययन का विषय सूत्रकृतांग १।११।७,८, आचारांग १।१ का क्वचित् संक्षेप और क्वचित् विस्तार है। पांचवें अध्ययन का विषय आचारांग के दूसरे अध्ययन 'लोक विजय' के पाँचवें उद्देशक और आठवें 'विमोह' अध्ययन के दूसरे उद्देशक से प्राप्त होता है। छठा अध्ययन समवायांग १९ के 'वयछक्कं कायछक्कं' इस श्लोक का विस्तार है। सातवें अध्ययन के बीज आचारांग १।६।५ में मिलते हैं। आठवें अध्ययन का आंशिक विषय स्थानांग

१—व्यवहार भाष्य उ० ३ गा० १७५ : बितितंमि बंभचेरे पंचम उद्देसे आमगंधम्मि ।
सुत्तंमि पिंडकप्पी इह पुण पिंडेसणाए ओ ॥

मलयगिरि टीका—पूर्वमाचाराङ्गान्तर्गते लोकविजयनाम्नि द्वितीयेऽध्ययने यो ब्रह्मचर्याख्यः पञ्चम उद्देशकस्तस्मिन् यदामगन्धिसूत्रं सव्वामगंधं परिन्चयं इति तस्मिन् सूत्रतोऽर्थतश्चाधीते पिण्डकल्पी आसीत्। इह इदानीं पुनर्दशवैकालिकान्तर्गतायां पिण्डैषणायामपि सूत्रतोऽर्थतश्चाधीतायां पिण्डकल्पिकः क्रियते सोऽपि च भवति तादृश इति।

२—व्यवहार भाष्य उ० ३ गा० १७४ : पुव्वं सत्थपरिण्णा अधीयपढियाइ होउ उवट्ठवणा ।
इण्हि च्छज्जीवणया किं सा उ न होउ उवट्ठवणा ॥

मलयगिरि टीका—पूर्वं शस्त्रपरिज्ञायामाचाराङ्गान्तर्गतायामर्थतो ज्ञातायां पठितायां सूत्रत उपस्थापना अभूदिदानीं पुनः सा उपस्थापना किं षट्जीवनिकायां दशवैकालिकान्तर्गतायामधीतायां पठितायां च न भवति भवत्येवेत्यर्थः।

३—दशवैकालिक निर्युक्ति गा० १६-१७ : आयप्पवायपुव्वा निज्जूढा होइ धम्मपन्नत्ती ।
कम्मप्पवायपुव्वा पिंडस्स उ एसणा तिविहा ॥
सच्चप्पवायपुव्वा निज्जूढा होइ वक्कसुद्धी उ ।
अवसेसा निज्जूढा नवमस्स उ तइयवत्थूओ ॥

४—वही १८ : बीओऽवि अ आएसो गणिपिडगाओ दुवालसंगाओ ।
एअं किर णिज्जूढं मणगस्स अणुग्गहट्ठाए ।

८।११८,१०१,१११ से मिलता है। आंशिक तुलना अन्यत्र भी प्राप्त होती है।[1]

आचारचूला के पहले और चौथे अध्ययन से क्रमशः इसके पाँचवें और सातवें अध्ययन की तुलना होती है। किन्तु हमारे अभिमत में वह दशवैकालिक के बाद का निर्यूहण है। इसके सिवाय, नवें तथा दसवें अध्ययन का विषय उत्तराध्ययन के प्रथम और पन्द्रहवें अध्ययन में सूचित होता है, किन्तु यह सब बाह्य साम्य है।

यह सूत्र श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं में मान्य रहा है। श्वेताम्बर इसका समावेश उत्कालिक सूत्र में करते हुए अंग-बाह्यसूत्रों के विभाग में इसे स्थापित करते हैं। इसे मूलसूत्र भी माना गया है। इसके कर्तृत्व के विषय में भी श्वेताम्बर साहित्य में प्रामाणिक जानकारी है। श्वेताम्बर आचार्यों ने इस पर निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, टीका, दीपिका, अवचूरी आदि-आदि व्याख्या-ग्रन्थ लिखे हैं।

दिगम्बर परम्परा में भी यह सूत्र प्रिय रहा है। धवला, जयधवला, तत्त्वार्थ राजवार्तिक, तत्त्वार्थ श्रुतसागरीय वृत्ति आदि में इसके विषय का उल्लेख मिलता है, परन्तु इसके निश्चित कर्तृत्व तथा स्वरूप का कहीं भी विवरण प्राप्त नहीं होता। इसके कर्तृत्व का उल्लेख करते हुए "आरातीयैराचार्यैर्निर्यूढं"—इतना मात्र संकेत देते हैं। कब तक यह सूत्र उनको मान्य रहा और कब से यह अमान्य माना गया—यह प्रश्न आज भी असमाहित है।

व्याख्या-ग्रन्थ

दशवैकालिक की प्राचीनतम व्याख्या निर्युक्ति है। इसमें इसकी रचना के प्रयोजन, नामकरण, उद्धरण-स्थल, अध्ययनों के नाम, उनके विषय आदि का संक्षेप में बहुत ही सुन्दर वर्णन किया है। यह ग्रन्थ उत्तरवर्ती सभी व्याख्या-ग्रन्थों का आधार रहा है। यह पद्यात्मक है। इसकी गाथाओं का परिमाण टीकाकार के अनुसार ३७१ है। इसके कर्त्ता द्वितीय भद्रबाहु माने जाते हैं। इनका काल-मान विक्रम की पाँचवीं-छट्ठी शताब्दी है।

इसकी दूसरी पद्यात्मक व्याख्या भाष्य है। चूर्णिकार ने भाष्य का उल्लेख नहीं किया है। टीकाकार भाष्य और भाष्यकार का अनेक स्थलों में प्रयोग करते हैं।[2] टीकाकार के अनुसार भाष्य की ६३ गाथाएँ हैं। इसके कर्त्ता की जानकारी हमें नहीं है। टीकाकार ने भी भाष्यकार के नाम का उल्लेख नहीं किया है।[3] वे निर्युक्तिकार के बाद और चूर्णिकार से पहले हुए हैं।

हरिभद्रसूरि ने जिन गाथाओं को भाष्यगत माना है, वे चूर्णि में हैं। इससे जान पड़ता है कि भाष्यकार चूर्णिकार के पूर्ववर्ती हैं।

भाष्य के बाद चूर्णियाँ लिखी गईं। अभी दो चूर्णियाँ प्राप्त हैं। एक के कर्त्ता अगस्त्यसिंह स्थविर हैं और दूसरी के कर्त्ता

१—(क) आयारो, १।११८ :
संतिमे तसा पाणा, तंजहा—अंडया पोयया जराउया रसया संसेयया संमुच्छिमा उब्भिया ओववाइया।

(क) दसवे० ४ सू० ९ :
अंडया पोयया जराउया रसया संसेइमा सम्मुच्छिमा उब्भिया उववाइया।

(ख) आयारो, २।१०२ :
ण मे देति ण कुप्पेज्जा।

(ख) दसवे० ५।२।२८ :
अदेंतस्स न कुप्पेज्जा।

(ग) सूयगडो १।२।२।१८ :
सामाइयमाहु तस्स जं जो गिहिमत्तेऽसणं न भुंजति।

(ग) दसवे० ३।३ :
......गिहिमत्ते ... ।

२—(क) दसवै० हारिभद्रीय टीका प० ६४ : भाष्यकृता पुनरुपन्यस्त इति।

(ख) दसवै० हा० टी० प० १२० : आह च भाष्यकारः।

(ग) दसवै० हा० टी० प० १२८ : व्यासार्थस्तु भाष्यादवसेय। इसी प्रकार भाष्य के प्रयोग के लिए देखें—हा० टी० प० : १२३, १२५, १२६, १२९, १३१, १३४, १४०, १६१, १६२, १७८।

३—दसवै० हा० टी० प० १३२ : तामेव निर्युक्तिगाथां लेशतो व्याचिख्यासुराह भाष्यकारः।—एतदपि नित्यत्वादिप्रसाधकमिति निर्युक्तिगाथायामनुपन्यस्तमप्युक्तं सूक्ष्मधिया भाष्यकारेणेति गाथार्थः।

जिनदास महत्तर (वि० ७वीं शताब्दी)। मुनि श्री पुण्यविजयजी के अनुसार अगस्त्यसिंह की चूर्णि का रचना-काल विक्रम की तीसरी शताब्दी के आस-पास है।[1]

अगस्त्यसिंह स्थविर ने अपनी चूर्णि में तत्वार्थसूत्र, आवश्यक निर्युक्ति, ओघ निर्युक्ति, व्यवहार भाष्य, कल्प भाष्य आदि ग्रन्थ का उल्लेख किया है। इनमें अन्तिम रचनाएँ भाष्य हैं। उनके रचना-काल के आधार पर अगस्त्यसिंह का समय पुनः अन्वेषणीय है।

अगस्त्यसिंह ने पुस्तक रखने की औत्सर्गिक और आपवादिक—दोनों विधियों की चर्चा की है।[2] इस चर्चा का आरम्भ देवर्द्धिगणी ने आगम पुस्तकारूढ़ किए तब या उनके आस-पास हुआ होगा। अगस्त्यसिंह यदि देवर्द्धिगणी के उत्तरवर्ती और जिनदास के पूर्ववर्ती हों तो इनका समय विक्रम की पांचवीं-छठी शताब्दी हो जाता है।

इन चूर्णियों के अतिरिक्त कोई प्राकृत व्याख्या और रही है पर वह अब उपलब्ध नहीं है। उसके अवशेष हरिभद्रसूरि की टीका में मिलते हैं।[3]

प्राकृत युग समाप्त हुआ और संस्कृत युग आया। आगम की व्याख्याएँ संस्कृत भाषा में लिखी जाने लगीं। इस पर हरिभद्रसूरि ने संस्कृत में टीका लिखी। इनका समय विक्रम की आठवीं शताब्दी है।

यापनीय संघ के अपराजितसूरि (या विजयाचार्य—विक्रम की आठवीं शताब्दी) ने इस पर 'विजयोदया' नाम की टीका लिखी। इसका उल्लेख उन्होंने स्वरचित आराधना की टीका में किया है।[4] परन्तु वह अभी उपलब्ध नहीं है। हरिभद्रसूरि की टीका को आधार मान कर तिलकाचार्य (१३-१४ वीं शताब्दी) ने टीका, माणिक्यशेखर (१५ वीं शताब्दी) ने निर्युक्ति-दीपिका तथा समयसुन्दर (विक्रम १६११) ने दीपिका, विनयहंस (विक्रम १५७३) ने वृत्ति, रामचन्द्रसूरि (विक्रम १६७८) ने वार्तिक और पायचन्द्रसूरि तथा धर्मसिंह मुनि (विक्रम १८ वीं शताब्दी) ने गुजराती-राजस्थानी-मिश्रित भाषा में टब्बा लिखा। किन्तु इनमें कोई उल्लेखनीय नया चिन्तन और स्पष्टीकरण नहीं है। वे सब सामयिक उपयोगिता की दृष्टि से रचे गए हैं। इसकी महत्वपूर्ण व्याख्याएँ तीन ही हैं—दो चूर्णियां और तीसरी हरिभद्रसूरि की वृत्ति।

अगस्त्यसिंह स्थविर की चूर्णि इन सबमें प्राचीनतम है इसलिए वह सर्वाधिक मूल-स्पर्शी है। जिनदास महत्तर अगस्त्यसिंह स्थविर के आस-पास भी चलते हैं और कहीं-कहीं इनसे दूर भी चले जाते हैं। टीकाकार तो कहीं-कहीं बहुत दूर चले जाते हैं। इनका उल्लेख यथास्थान टिप्पणियों में किया गया है।

लगता है चूर्णि के रचना-काल में भी दशवैकालिक की परम्परा अविच्छिन्न नहीं रही थी। अगस्त्यसिंह स्थविर ने अनेक स्थलों पर अर्थ के कई विकल्प किए हैं। उन्हें देखकर सहज ही जान पड़ता है कि वे मूल अर्थ के बारे में असंदिग्ध नहीं हैं।

आर्य सुहस्ती ने इस बार जो आचारशैथिल्य की परम्परा का सूत्रपात किया वह आगे चल कर उग्र बन गया। ज्यों-ज्यों जैन आचार्य लोक-संग्रह की ओर अधिक झुके त्यों-त्यों अपवादों की बाढ़ सी आ गई। वीर निर्वाण की नवीं शताब्दी ८५० में चैत्य-वास का प्रारम्भ हुआ। इसके बाद शिथिलाचार की परम्परा बहुत ही उग्र हो गई। देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण (वीर निर्वाण की दसवीं शताब्दी)

१—बृहत्कल्प भाष्य, भाग ६, आमुख पृ० ४।

२—दशवैकालिक १।१ अगस्त्य चूर्णि पृ० १२ : उवगरणसंजमो—पोत्थएसु घेप्पंतेसु असंजमो महाधणमोल्लेसु वा दूसेसु, वज्जणं तु संजमो, कालं पडुच्च चरणकरणट्ठं अव्वोच्छित्तिनिमित्तं गेण्हंतस्स संजमो भवति।

३—हा० टी० प० १६५ : तथा च वृद्धव्याख्या—वेसादिगयभावस्स मेहुणं पीडिज्जइ, अणुवओगेणं एसणाकरणे हिंसा, पडुप्पायणे अन्नपुच्छणअवलवणाऽसच्चवयणं, अणणुण्णायवेसाइदंसणे अदत्तादाणं, ममत्तकरणे परिग्गहो, एवं सव्ववयपीडा, दव्वसामन्ने पुण संसयो उण्णिक्खमणे त्ति।

जिनदास चूर्णि (पृ० १७१) में इन आशय की जो पंक्तियां है, वे इन पंक्तियों से भिन्न हैं। जैसे—'जइ उण्णिक्खमइ तो सव्ववया पीडिया भवंति, अहवि ण उण्णिक्खमइ तोवि तग्गयमाणसस्स भावओ मेहुणं पीडियं भवइ, तग्गयमाणसो य एसणं न रक्खइ, तत्थ पाणाइवायपीडा भवति, जोएमाणो पुच्छिज्जइ—किं जोएसि? ताहे अवलवइ, ताहे मुसावायपीडा भवति, ताओ य तित्थगरेहिं णाणुण्णायाउत्तिकाउं अदिण्णादाणपीडा भवइ, तासु य ममत्तं करेंतस्स परिग्गहपीडा भवति।'

अगस्त्य चूर्णि पृ० १०२ की पंक्तियां इस प्रकार हैं—चागविचित्तीकतस्स सव्वमहव्वतपीला, अह उप्पव्वतति ततो वयच्छित्ती, अणुपव्वयतस्स पीडा वयाण, तासु गयचित्तो रियं ण सोहेत्तित्ति पाणातिवातो। पुच्छितो किं जोएसित्ति? अवलवति मुसावातो, अदत्तादाणमणणुण्णातो तित्थकरेहिं मेहुणे विगयभावो मुच्छाए परिग्गहो वि।

४—गाथा ११९७ की वृत्ति : दशवैकालिकटीकायां श्री विजयोदयायां प्रपंचिता उद्गमादिदोषा इति नेह प्रतन्यते।

ही आगमों की व्याख्या की जाए। आगम एक दूसरे से गुंथे हुए हैं। एक विषय कहीं संक्षिप्त हुआ है तो कहीं विस्तृत। दशवैकालिक की रचना संक्षिप्त शैली की है। कहीं-कहीं केवल संकेत मात्र है। उन सांकेतिक शब्दों की व्याख्या के लिए आयारचूला और निशीथ का उपयोग न किया जाये तो उनका आशय पकड़ने में बड़ी कठिनाई होती है। इस कठिनाई का सामना टीकाकार को करना पड़ा। निदर्शन के लिए देखिए ५।१।६६ की टिप्पणी। दशवैकालिक की सर्वाधिक प्राचीन व्याख्याग्रन्थ चूर्णि है। उसमें अनेक स्थलों पर वैकल्पिक अर्थ किए हैं। वहाँ चूर्णिकार का बौद्धिक विकास प्रस्फुटित हुआ है पर वे यह बताने में सफल न हो सके कि यहाँ सूत्रकार का निश्चित प्रतिपाद्य क्या है। उदाहरण के लिए देखिए ३।६ के उत्तरार्द्ध की टिप्पणी।

अनुवाद को हमने यथासम्भव मूल-स्पर्शी रखने का यत्न किया है। उसका विशेष अर्थ टिप्पणियों में स्पष्ट किया है। व्याख्याकारों के अर्थ-भेद टिप्पणियों में दिए हैं, कालक्रम के अनुसार अर्थ कैसे परिवर्तित हुआ है, हमें बताने की आवश्यकता नहीं हुई क्योंकि इसका इतिहास व्याख्या की पंक्तियां स्वयं बता रही हैं। कहीं-कहीं वैदिक और बौद्ध साहित्य से तुलना भी की है। जिन सूत्रों का पाठ-संशोधन करना शेष है, उनके उद्धरणों में सूत्रांक अन्य मुद्रित पुस्तकों के अनुसार दिए हैं। इस प्रकार कुछ-एक रूपों में यह कार्य सम्पन्न होता है।

यह प्रयत्न क्यों ?

दशवैकालिक की अनेक प्राचीन व्याख्याएँ हैं और हिन्दी में भी इसके कई अनुवाद प्रकाशित हो चुके हैं फिर नया प्रयत्न क्यों आवश्यक हुआ ? इसका समाधान हम शब्दों में देना नहीं चाहेंगे। वह इसके पारायण से ही मिल जाएगा।

सूत्र-पाठ के निर्णय में जो परिवर्तन हुआ है—कुछ श्लोक निकले हैं और कुछ नए आए हैं, कहीं शब्द बदले हैं और कहीं विभक्ति—उसके पीछे एक इतिहास है। 'धूवणेत्ति वमणे य' (३।६) इसका निर्धारण हो गया था। 'धूवणे' को अलग माना गया और 'इति' को अलग। उत्तराध्ययन (३५।४) में धूप से सुवासित घर में रहने का निषेध है। आयारचूला (१३।६) में धूपन-जात से पैरों को धूपित करने का निषेध है। इस पर से लगा कि यहाँ भी उपाश्रय, शरीर और वस्त्र आदि के धूप खेने को अनाचार कहा है। अगस्त्य चूर्णि में वैकल्पिक रूप में 'धूवणेत्ति' को एक शब्द माना भी गया है, पर उस ओर ध्यान आकृष्ट नहीं हुआ। एक दिन इसी सिलसिले में चरक का अवलोकन चल रहा था। प्रारम्भिक स्थलों में 'धूमनेत्र' शब्द पर ध्यान टिका और 'धूवणेत्ति' शब्द फिर आलोचनीय बन गया। उत्तराध्ययन के 'धूमणेत्त' की भी स्मृति हो आई। परामर्श चला और अन्तिम निर्णय यही हुआ कि 'धूवणेत्ति' को एक पद रखा जाए। फिर सूत्रकृतांग में 'णो धूमणेत्तं परियापिएज्जा' जैसा स्पष्ट पाठ भी मिल गया। इस प्रकार अनेक शब्दों की खोज के पीछे घटनाएँ जुड़ी हुई हैं। अर्थ-चिन्तन में भी बहुधा ऐसा हुआ है। मौलिक अर्थ को ढूंढ निकालने में तटस्थ दृष्टि से काम किया जाए, वहाँ साम्प्रदायिक आग्रह का लेश भी न आए—यह दृष्टिकोण कार्यकाल के प्रारम्भ से ही रखा गया और उसकी पूर्ण सुरक्षा भी हुई है। परम्परा-भेद के स्थलों में कुछ अधिक चिन्तन हो, यह स्वाभाविक है। 'नियाग' का अर्थ करते समय हमें यह अनुभव हुआ। 'नियाग' का अर्थ हमारी परम्परा में एक घर से नित्य आहार लेना किया जाता है। प्राचीन सभी व्याख्याओं में इसका अर्थ—'निमंत्रण पूर्वक एक घर से नित्य आहार लेना' मिला तो वह चिन्तन-स्थल बन गया। हमने प्रयत्न किया कि इसका समर्थन किसी दूसरे स्रोत से हो जाए तो और अच्छा हो। एक दिन भगवती में 'अनाहूत' शब्द मिला। वृत्तिकार ने उसका वही अर्थ किया है, जो दशवैकालिक की व्याख्याओं में 'नियाग' का है। श्रीमज्जयाचार्य की 'भगवती की जोड़' (पद्यात्मक व्याख्या) को देखा तो उसमें भी यही अर्थ मिला। फिर 'निमंत्रणपूर्वक' इस वाक्यांश के आगम-सिद्ध होने में कोई सन्देह नहीं रहा। इस प्रकार अनेक अर्थों के साथ कुछ इतिहास जुड़ा हुआ है।

हमने चाहा कि दशवैकालिक का प्रत्येक शब्द अर्थ की दृष्टि से स्पष्ट हो—अमुक शब्द वृक्ष-विशेष, फल-विशेष, आसन-विशेष, पात्र-विशेष का वाचक है, इस प्रकार अस्पष्ट न रहे। इस विषय में आज के युग की साधन-सामग्री ने हमें अपनी कल्पना को सफल बनाने का श्रेय दिया है।

साधुवाद

इस कार्य में तीन वर्ष लगे हैं। इसमें अनेक साधु-साध्वियों व श्रावकों का योगदान है। इसके कुछ अध्ययनों के अनुवाद व टिप्पणियाँ तैयार करने में मुनि मीठालाल ने बहुत श्रम किया है। मुनि दुलहराज ने टिप्पणियों के संकलन व समग्र ग्रन्थ के समायोजन में

१. देखिए—नियाग (३।२) शब्द का टिप्पण।

सम्पादित प्रकाश किया है। संस्कृत छाया में मुनि सुमेरमल (लाडनूं) का योग है। मुनि मधुकर तथा कहीं-कहीं हनुमान और बसन्त भी प्रतिलिपि करने में मुनि मानमल के सहयोगी रहे हैं। श्रीचन्द रामपुरिया ने इस कार्य में अपने नीचे अंकनकार का नियोजन कर रखा है। मदनचन्दजी गोठी भी इस कार्य में सहयोगी रहे हैं। इस प्रकार अनेक साधु-साध्वियों व श्रावकों के सहयोग से प्रस्तुत ग्रन्थ सम्पन्न हुआ है।

दसवैकालिक सूत्र के सर्वांगीण सम्पादन का बहुत कुछ श्रेय शिष्य मुनि नथमल को ही मिलना चाहिए, क्योंकि इस कार्य में अहर्निश वे जिस मनोयोग से लगे हैं, इसीसे यह कार्य सम्पन्न हो सका है अन्यथा यह गुरुतर कार्य बड़ा दुरूह होता। इनकी वृत्ति मूलतः योगनिष्ठ होने से मन की एकाग्रता सहज बनी रहती है, साथ ही आगम का कार्य करते-करते अन्तर्-रहस्य पकड़ने में इनकी मेधा काफी पैनी हो गई है। विनयशीलता, श्रम-परायणता और गुरु के प्रति पूर्ण समर्पण भाव ने इनकी प्रगति में बड़ा सहयोग दिया है। यह वृत्ति इनकी बचपन से ही है। जब से मेरे पास आए, मैंने इनकी इस वृत्ति में क्रमशः वर्धमानता ही पाई है। इनकी कार्य-क्षमता और कर्तव्य-परता ने मुझे बहुत सन्तोष दिया है।

मैंने अपने संघ के ऐसे शिष्य साधु साध्वियों के बल बूते पर ही आगम के इस गुरुतर कार्य को उठाया है। अब मुझे विश्वास हो गया है कि मेरे शिष्य साधु-साध्वियों के निःस्वार्थ, विनीत एवं समर्पणात्मक सहयोग से इस बृहत् कार्य को असाधारण रूप से सम्पन्न कर सकूंगा।

मुनि पुण्यविजयजी का समय-समय पर सहयोग और परामर्श मिला है उसके लिए हम उनके कृतज्ञ हैं। उनका यह संकेत भी मिला था कि आगम कार्य यदि अहमदाबाद में किया जाये तो साधन सामग्री की सुविधा हो सकती है।

हमारा साधु-साध्वी वर्ग और श्रावक-समाज भी चिरकाल से दसवैकालिक की प्रतीक्षा में है। प्रारम्भिक कार्य होने के कारण कुछ समय अधिक लगा। फिर भी हमें सन्तोष है कि इसे पढ़कर उनकी प्रतीक्षा सन्तुष्टि में परिणत होगी।

आजकल जन-साधारण में ठोस साहित्य पढ़ने की अभिरुचि कम है। उसका एक कारण उपयुक्त साहित्य की दुर्लभता भी है। मुझे विश्वास है कि चिरकालीन साधना के पश्चात् पठनीय सामग्री सुलभ हो रही है, उससे भी जन-जन लाभान्वित होगा।

इस कार्य-सकलन में जिनका भी प्रत्यक्ष-परोक्ष सहयोग रहा, उन सबके प्रति मैं विनम्र भाव से आभार व्यक्त करता हूं।

भिक्षु-बोधि स्थल
राजसमन्द
वि. सं. २०१६ फाल्गुन शुक्ला तृतीया

आचार्य तुलसी

विषय-सूची

श्लोक १३ गमन की विधि।
" १४ अविधि-गमन का निषेध।
" १५ शंका-स्थान के अवलोकन का निषेध।
" १६ मंत्रणागृह के समीप जाने का निषेध।
" १७ प्रतिक्रुष्ट आदि कुलों से भिक्षा लेने का निषेध।
" १८ साणी (चिक) आदि को खोलने का विधि-निषेध।
" १९ मल-मूत्र की बाधा को रोकने का निषेध।
" २० अंधकारमय स्थान में भिक्षा लेने का निषेध।
" २१ पुष्प, बीज आदि बिखरे हुए और अधुनोपलिप्त आंगण में जाने का निषेध—एषणा के नवें दोष—'लिप्त' का वर्जन।
" २२ मेष, वत्स आदि को लांघकर जाने का निषेध।
२३-२६ गृह-प्रवेश के बाद अवलोकन, गमन और स्थान का विवेक।

२. ग्रहणैषणा

भक्तपान लेने की विधि :—

श्लोक २७ आहार-ग्रहण का विधि-निषेध।
" २८ एषणा के दसवें दोष 'छर्दित' का वर्जन।
" २९ जीव-विराधना करते हुए दाता से भिक्षा लेने का निषेध।
" ३०,३१ एषणा के पाँचवें (संहृत नामक) और छट्ठे (दायक नामक) दोष का वर्जन।
" ३२ पुरःकर्म दोष का वर्जन।
" ३३,३४,३५ असंसृष्ट और संसृष्ट का निरूपण तथा पश्चात्-कर्म का वर्जन।
" ३६ संसृष्ट हस्त आदि से आहार लेने का निषेध।
" ३७ उद्गम के पन्द्रहवें दोष 'अनिसृष्ट' का वर्जन।
" ३८ निसृष्ट भोजन लेने की विधि।
" ३९ गर्भवती के लिए बनाया हुआ भोजन लेने का विधि-निषेध—एषणा के छट्ठे दोष 'दायक' का वर्जन।
" ४०,४१ गर्भवती के हाथ से लेने का निषेध।
" ४२,४३ स्तनपान कराती हुई स्त्री के हाथ से भिक्षा लेने का निषेध।
" ४४ एषणा के पहले दोष 'शंकित' का वर्जन।
" ४५,४६ उद्गम के बारहवें दोष 'उद्भिन्न' का वर्जन।
" ४७,४८ दानार्थ किया हुआ आहार लेने का निषेध।
" ४९,५० पुण्यार्थ किया हुआ आहार लेने का निषेध।
" ५१,५२ वनीपक के लिए किया हुआ आहार लेने का निषेध।
" ५३,५४ श्रमण के लिए किया हुआ आहार लेने का निषेध।
" ५५ औद्देशिक आदि दोष-युक्त आहार लेने का निषेध।
" ५६ भोजन के उद्गम की परीक्षा-विधि और शुद्ध भोजन लेने का विधान।
" ५७,५८ एषणा के सातवें दोष उन्मिश्र का वर्जन।
" ५९-६२ एषणा के तीसरे दोष 'निक्षिप्त' का वर्जन।
" ६३,६४ दायक-दोष-युक्त भिक्षा का निषेध।
" ६५,६६ अस्थिर शिला, काष्ठ आदि पर पैर रखकर जाने का निषेध और उसका कारण।
" ६७,६८,६९ उद्गम के तेरहवें दोष 'मालापहृत' का वर्जन और उसका कारण।

कषाय

ब्रह्मचर्य की साधना और उसके साधन

आमुख

भारतीय चिन्तन का निचोड़ है — 'अध्यात्मवाद'। 'आत्मा है' — यह उसका प्रथम घोष है। उसकी अन्तिम परिणति है—'मोक्षवाद'। 'आत्मा की मुक्ति सम्भव है' — यह उसकी चरम अनुभूति है। मोक्ष साध्य है। उसकी साधना है — 'धर्म'।

धर्म क्या है? क्या सभी धर्म मंगल हैं? अनेक धर्मों में से मोक्ष-धर्म - सत्य-धर्म की पहचान कैसे हो? ये चिर-नित्य प्रश्न रहे हैं। व्यामोह उत्पन्न करनेवाले इन प्रश्नों का समुचित समाधान प्रथम श्लोक के दो चरणों में किया गया है। जो आत्मा का उत्कृष्ट हित साधता हो वह धर्म है। जिससे यह हित नहीं सधता वे धर्म नहीं, धर्माभास हैं।

'धर्म' का अर्थ है — धारण करनेवाला। मोक्ष का साधन वह धर्म है जो आत्मा के स्वभाव को धारण करे। जो विजातीय तत्त्व को धारण करे वह धर्म मोक्ष का साधन नहीं है। आत्मा का स्वभाव अहिंसा, संयम और तप है। साधना-काल में ये आत्मा की उपलब्धि के साधन रहते हैं और सिद्धि-काल में ये आत्मा के गुण - स्वभाव। साधना-काल में ये धर्म कहलाते हैं और सिद्धि-काल में आत्मा के गुण। पहले ये साधे जाते हैं फिर वे स्वयं सध जाते हैं।

मोक्ष परम मंगल है, इसलिए इसकी उपलब्धि के साधन को भी परम मंगल कहा गया है। वही धर्म परम मंगल है जो मोक्ष की उपलब्धि करा सके।

'धर्म' शब्द का अनेक अर्थों में प्रयोग होता है और मोक्ष-धर्म की भी अनेक व्याख्याएँ हैं। इसलिए उसे कसौटी पर कसते हुए बताया गया है कि मोक्ष-धर्म वही है जिसके लक्षण अहिंसा, संयम और तप हों।

प्रश्न है — क्या ऐसे धर्म का पालन सम्भव है? समाधान के शब्दों में कहा गया है जिसका मन सदा धर्म में होता है उसके लिए उसका पालन भी सदा सम्भव है। जो इस लोक में निस्पृह होता है उसके लिए कुछ भी दुष्कर नहीं।

सिद्धि-काल में शरीर नहीं होता, वाणी और मन नहीं होते, इसलिए आत्मा स्वयं अहिंसा बन जाती है। साधना-काल में शरीर, वाणी और मन — ये तीनों होते हैं। शरीर आहार बिना नहीं टिकता। आहार हिंसा के बिना निष्पन्न नहीं होता। यह जटिल स्थिति है। अब भला कोई कैसे पूर्ण अहिंसक बने? जो अहिंसक नहीं, वह धार्मिक नहीं। धार्मिक के बिना धर्म कोरी कल्पना की वस्तु रह जाती है। साधना का पहला चरण इस उलझन से भरा है। शेष चार श्लोकों में इसी समस्या का समाधान किया गया है। समाधान का स्वरूप माधुकरी वृत्ति है। तात्पर्य की भाषा में इसका अर्थ है :

(१) मधुकर अवधजीवी होता है। वह अपने जीवन-निर्वाह के लिए किसी प्रकार का समारम्भ, उपमर्दन या हनन नहीं करता। वैसे ही श्रमण-साधक भी अवधजीवी हो—किसी तरह का पचन-पाचन और उपमर्दन न करे।

(२) मधुकर पुष्पों से स्वभाव-सिद्ध रस ग्रहण करता है। वैसे ही श्रमण-साधक गृहस्थों के घरों से, जहाँ आहार-जल आदि स्वाभाविक रूप से बनते हैं, प्रासुक आहार ले।

(३) मधुकर फूलों को म्लान किये बिना थोड़ा-थोड़ा रस पीता है। वैसे ही श्रमण अनेक घरों से थोड़ा-थोड़ा ग्रहण करे।

(४) मधुकर उतना ही रस ग्रहण करता है जितना कि उदरपूर्ति के लिए आवश्यक होता है। वह दूसरे दिन के लिए कुछ संग्रह कर नहीं रखता। वैसे ही श्रमण संयम-निर्वाह के लिए आवश्यक हो उतना ग्रहण करे—संचय न करे।

(५) मधुकर किसी एक वृक्ष या फूल से ही रस ग्रहण नहीं करता परन्तु विविध वृक्षों और फूलों से रस ग्रहण करता है। वैसे ही श्रमण भी किसी एक गाँव, घर या व्यक्ति पर आश्रित न होकर सामुदानिक रूप से भिक्षा करे।

इस अध्ययन में द्रुम-पुष्प और मधुकर उपमान हैं तथा यथाकृत आहार और श्रमण उपमेय। यह देश उपमा है[1]। निर्युक्ति के अनुसार मधुकर की उपमा के दो हेतु हैं—(१) अनियत-वृत्ति और (२) अहिंसा-पालन[2]।

अनियत-वृत्ति का सूचन—'जे भवंति अणिस्सिया'[3] (१.५) और अहिंसा पालन का सूचन—'न य पुप्फं किलामेइ, सो य पीणेइ अप्पयं' (१.२) से होता है। द्रुम-पुष्प की उपमा का हेतु है—सहज निष्पन्नता। इसका सूचक 'अहागडेसु रीयंति, पुप्फेसु भमरा जहा' (१.४) यह श्लोकार्द्ध है।

अहिंसा-पालन में श्रमण क्या ले और कैसे ले—इन दोनों प्रश्नों पर विचार हुआ है और अनियत-वृत्ति में केवल कैसे ले, इसका विचार है। कैसे ले—यह दूसरा प्रश्न है। पहला प्रश्न है—क्या ले? इससे मधुकर की अपेक्षा द्रुम-पुष्प का सम्बन्ध निकटतम है।

भ्रमर के लिए सहजरूप से भोजन प्राप्ति का आधार द्रुम-पुष्प ही होता है। माधुकरी वृत्ति का मूल केन्द्र द्रुम-पुष्प है। उसके बिना वह नहीं सधती। द्रुम-पुष्प की इस अनिवार्यता के कारण 'द्रुम-पुष्पिका' शब्द समूची माधुकरी-वृत्ति का योग्यतम प्रतिनिधित्व करता है। इस अध्ययन में श्रमण को भ्रामरी-वृत्ति से आजीविका प्राप्त करने का बोध दिया गया है। इस वृत्ति का सूचन द्रुम-पुष्पिका शब्द से अच्छी तरह होता है, अतः इसका नाम द्रुम-पुष्पिका है। यहाँ यह स्मरणीय है कि सूत्रकार का प्रधान प्रतिपाद्य है—धर्म के आचरण की सम्भवता। निःसन्देह यह अध्ययन अहिंसा और उसके प्रयोग का निर्दर्शन है। अहिंसा धर्म की पूर्ण आराधना करनेवाला श्रमण अपने जीवन-निर्वाह के लिए भी हिंसा न करे, यथाकृत आहार ले तथा जीवन को संयम और तपोमय बना कर धर्म और धार्मिक की एकता स्थापित करे।

धार्मिक का महत्त्व धर्म होता है। धर्म की प्रशंसा है वह धार्मिक की प्रशंसा है और धार्मिक की प्रशंसा है वह धर्म की प्रशंसा है। धार्मिक और धर्म के इस अभेद को लक्षित कर ही निर्युक्तिकार भद्रबाहु ने कहा है—"पढमे धम्मपसंसा" (नि० गा० २०) पहले अध्ययन में धर्म की प्रशंसा—महिमा है।

१—(क) नि० गा० ९६ : जह भमरोत्ति य एत्थं दिट्ठंतो होइ आहरणदेसे।

(ख) नि० गा० ९७ : एवं भमराहरणे अणिययवित्तित्तणं न सेसाणं। गहणं··············॥

२—नि० गा० १२६ : उवमा खलु एस कया पुव्वुत्ता देसलक्खणोवणया। अणिययवित्तिनिमित्तं अहिंसअणुपालणट्ठाए॥

३—हा० टी० प० ७२ : 'अनिश्रिताः' कुलादिषु अप्रतिबद्धाः।

पढमं अज्झयणं : प्रथम अध्ययन

दुमपुप्फिया : द्रुमपुष्पिका

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१—धम्मो[1] मंगलमुक्किट्ठं[2] अहिंसा संजमो तवो। देवा वि तं नमंसंति जस्स धम्मे सया मणो॥	धर्मः मङ्गलमुत्कृष्टम् अहिंसा संयमः तपः। देवा अपि तं नमस्यन्ति यस्य धर्मे सदा मनः॥ १॥	धर्म[1] उत्कृष्ट मंगल[2] है। अहिंसा[3], संयम[4] और तप[5] उसके लक्षण हैं[6]। जिसका मन सदा धर्म में रमा रहता है, उसे देव भी[8] नमस्कार करते हैं।
२—जहा दुमस्स पुप्फेसु भमरो आवियइ[9] रसं। न य पुप्फं किलामेइ सो य पीणेइ अप्पयं॥	यथा द्रुमस्य पुष्पेषु भ्रमर आपिबति रसम्। न च पुष्पं क्लामयति स च प्रीणाति आत्मकम्॥ २॥	जिस प्रकार भ्रमर द्रुम-पुष्पों से थोड़ा-थोड़ा रस पीता है,[9] किसी भी पुष्प को[10] म्लान नहीं करता[11] और अपने को भी तृप्त कर लेता है—
३—एमेए[12] समणा मुत्ता जे लोए संति साहुणो[14]। विहंगमा व पुप्फेसु दाणभत्तेसणे रया॥	एवमेते श्रमणा मुक्ताः ये लोके सन्ति साधवः। विहङ्गमा इव पुष्पेषु दानभक्तैषणे रताः॥ ३॥	उसी प्रकार लोक में जो मुक्त[12] (अपरिग्रही) श्रमण[13] साधु[14] हैं वे दानभक्त[15] (दाता द्वारा दिये जानेवाले निर्दोष आहार) की एषणा में रत[16] रहते हैं, जैसे—भ्रमर पुष्पों में।
४—वयं च वित्तिं लब्भामो न य कोइ उवहम्मई। अहागडेसु रीयंति पुप्फेसु भमरा जहा॥	वयं च वृत्तिं लप्स्यामहे न च कोऽप्युपहन्यते। यथाकृतेषु रीयन्ते पुष्पेषु भ्रमरा यथा॥ ४॥	हम[17] इस तरह से वृत्ति—भिक्षा प्राप्त करेंगे कि किसी जीव का उपहनन न हो। क्योंकि श्रमण यथाकृत[18] (सहज रूप से बना) आहार लेते हैं, जैसे—भ्रमर पुष्पों से रस।
५—महुकारसमा बुद्धा जे भवंति अणिस्सिया। नाणापिंडरया दंता तेण वुच्चंति साहुणो॥ त्ति बेमि	मधुकरसमा बुद्धाः ये भवन्त्यनिश्रिताः। नानापिण्डरता दान्ताः तेन उच्यन्ते साधवः॥ ५॥ इति ब्रवीमि	जो बुद्ध पुरुष मधुकर के समान अनिश्रित हैं[19]—किसी एक पर आश्रित नहीं, नाना पिंड में रत हैं[20] और जो दान्त हैं[21] वे अपने इन्हीं गुणों से साधु कहलाते हैं[22]। ऐसा मैं कहता हूं।

टिप्पण : अध्ययन १

श्लोक १

१. तुलना :

'धम्मपद' (धम्मट्ठवग्गो १९.६) के निम्नलिखित श्लोक की इससे आंशिक तुलना होती है :

यम्हि सच्चं च धम्मो च अहिंसा संयमो दमो ।
स वे वन्तमलो धीरो सो थेरो ति पवुच्चति ॥

इसका हिन्दी अनुवाद इस प्रकार है :

जिसमें सत्य, धर्म, अहिंसा, संयम और दम होता है ।
उस मल रहित धीर भिक्षु को स्थविर कहा जाता है ॥

२. धर्म (धम्मो^क) :

'धृ' धातु का अर्थ है—धारण करना । उसके अन्त में 'मन्' या 'म' प्रत्यय लगने से 'धर्म' शब्द बनता है[1] । उत्पाद, व्यय और स्थिति—ये अवस्थाएँ जो द्रव्यों को धारण कर रखती हैं—उनके अस्तित्व को टिकाए रखती हैं—'द्रव्य-धर्म' कहलाती हैं[2] । गति में सहायक होना, स्थिति में सहायक होना, स्थान देने में सहायक होना, मिलने और बिछुड़ने की शक्ति से सम्पन्न होना, जानने-देखने की क्षमता का होना, धर्म आदि पाँच अस्तिकायों के ये स्वभाव या लक्षण—जो उनके पृथक्त्व को सिद्ध करते हैं और उनके स्वरूप को स्थिर करते हैं—'अस्तिकाय-धर्म' कहे जाते हैं[3] । इसी तरह सुनना, देखना, सूंघना, स्वाद लेना और स्पर्श करना जो जिस इन्द्रिय का प्रचार—विषय—होता है वह उसका 'इन्द्रिय-धर्म' कहलाता है[4] । विवाह्याविवाह्य, भक्ष्याभक्ष्य और पेयापेयादि के नियम जो किसी स्थान की विवाह तथा खान-पान विषयक परम्परा के निर्णायक होते हैं 'गम्य-धर्म' कहलाते हैं । वस्त्राभूषणादि के रीति-रिवाज जो किसी देश की रहन-सहन विषयक प्रथा के आधारभूत होते हैं 'देश-धर्म' कहलाते हैं । करादि के विधान जो राज्य की आर्थिक-स्थिति को संतुलित रखते हैं 'राज्य-धर्म' कहलाते हैं । गणों की पारस्परिक व्यवस्था जो गणों को संगठित रखती है 'गण-धर्म' कहलाती है । दण्डादि की विधि जो राजसत्ता को सुरक्षित रखती है 'राज-धर्म' कहलाती है ।

इस तरह द्रव्यों के पर्याय और गुण, इन्द्रियों के विषय तथा लौकिक रीति-रिवाज, देशाचार, व्यवस्था, विधान, दण्डनीति आदि सभी धर्म कहलाते हैं, पर यहाँ उपर्युक्त द्रव्य आदि धर्मों, गम्य आदि सावद्य लौकिक धर्मों और कुप्रावचनिक धर्मों को उत्कृष्ट नहीं कहा है[5] ।

जो दुर्गति में नहीं पड़ने देता वह धर्म[6] यहाँ अभीष्ट है । ऐसा धर्म संयम में प्रवृत्ति और असंयम से निवृत्ति रूप है[7] तथा अहिंसा, संयम और तप लक्षणवाला है । उसे ही यहाँ उत्कृष्ट मंगल कहा है[8] ।

१—(क) जि० चू० पृ० १४ : 'धृञ् धारणे' अस्य धातोर्मन्प्रत्ययान्तस्येदं रूपं धर्म इति ।
(ख) हा० टी० प०२० : 'धृञ् धारणे' इत्यस्य धातोर्मप्रत्ययान्तस्येदं रूपं धर्म इति ।

२—नि० गा० ४० : दव्वस्स पज्जवा जे ते धम्मा तस्स दव्वस्स ।

३—जि० चू० पृ० १६ : अत्थि वेज्जति काया य अत्थिकाया, ते इमे पंच, तेसिं पंचण्हवि धम्मो णाम सब्भावो लक्खणंति एगट्ठा……।

४—जि० चू० पृ० १६ : पयारधम्मा णाम सोयाईण इन्दियाण जो जस्स विसयो सो पयारधम्मो भवइ…।

५—(क) नि० गा० ४०-४२ : दव्वं च अत्थिकायप्पयारधम्मो अ भावधम्मो अ । दव्वस्स पज्जवा जे ते धम्मा तस्स दव्वस्स ॥
धम्मत्थिकायधम्मो पयारधम्मो य विसयधम्मो य । लोइयकुप्पावयणिअ लोगुत्तर लोगऽणेगविहो ॥
गम्मपसुदेसरज्जे पुरवरगामगणगोट्ठिराईणं । सावज्जो उ कुतित्थियधम्मो न जिणेहि उ पसत्थो ॥
(ख) नि० गा० ४२, हा० टी० प० २२ : कुप्रावचनिक उच्यते—असावपि सावद्यप्रायो लौकिककल्प एव ।
(ग) जि० चू० पृ० १७ : वज्जो णाम गरहिओ, सह वज्जेण सावज्जो भवइ ।
(घ) नि० गा० ४२, हा० टी० प० २२ : अवद्यं—पापं, सह अवद्येन सावद्यम् ।

६—जि० चू० पृ० १५ : यस्माद् जीवं नरकतिर्यग्योनिकुमानुपदेवत्वेपु प्रपतंतं धारयतीति धर्मः । उक्तं च—
"दुर्गति-प्रसृतान् जीवान्, यस्माद् धारयते ततः ।
धत्ते चैतान् शुभे स्थाने, तस्माद् धर्म इति स्थितः ॥"

७—जि० चू० पृ० १७ : असंजम्माउ नियत्ती संजमंमि य पवित्ती ।

८—(क) नि० गा० ८९ : धम्मो गुणा अहिंसाइया उ ते परममंगल पइन्ना ।
(ख) जि० चू० पृ० १५ : अहिंसातवसंजमलक्खणे धम्मे ठिओ तस्स एस णिद्देसोत्ति ।

३ उत्कृष्ट मंगल (मंगलमुक्किट्ठं [क]) :

जिससे हित हो, कल्याण सधता हो, उसे मंगल कहते हैं[1]। मंगल के दो भेद हैं : (१) द्रव्य-मंगल—औपचारिक या नाममात्र के मंगल और (२) भाव-मंगल—वास्तविक मंगल। संसार में पूर्ण-कलश, स्वस्तिक, दही, अक्षत, शंख-ध्वनि, गीत, ग्रह आदि मंगल माने जाते हैं। इनसे धन प्राप्ति, कार्य सिद्धि आदि मानी जाती है। ये लौकिक मंगल हैं—लोक-दृष्टि में मंगल हैं, पर ज्ञानी इन्हें मंगल नहीं मानते, क्योंकि इनसे आत्मा का कोई हित नहीं सधता। आत्मा के उत्कर्ष के साथ सम्बन्ध रखनेवाला मंगल 'भाव-मंगल' कहलाता है। धर्म आत्मा की शुद्धि या सिद्धि से सम्बन्धित है, अतः वह भाव मंगल है[2]।

धर्म ऐकान्तिक और आत्यन्तिक मंगल है। वह ऐसा मंगल है जो सुख ही सुख देता है। साथ ही वह दुःख का आत्यन्तिक नाश करता है, जिससे उनके अंकुर नहीं रह पाते। द्रव्य मंगलों से ऐकान्तिक सुख व आत्यन्तिक दुःख-विनाश नहीं होता[3]। धर्म आत्मा की सिद्धि करने वाला, उसे मोक्ष प्राप्त करानेवाला होता है (सिद्धिं ति काऊण नि० ४८)। वह भव जन्म-मरण के बन्धनों को गलाने वाला—काटने वाला होता है (भवगालनादिति नि० ४८, हा० टी० प० २४)। संसार-बन्धन से बड़ा कोई दुःख नहीं। संसार-मुक्ति से बड़ा कोई सुख नहीं। मुक्ति प्रदान करने के कारण धर्म उत्कृष्ट मंगल—अनुत्तर मंगल है[4]।

४ अहिंसा (अहिंसा [ख]) :

हिंसा का अर्थ है दुष्प्रयुक्त मन, वचन या काया के योगों से प्राण-व्यपरोपण करना[5]। अहिंसा हिंसा का प्रतिपक्ष है। जीवों का अतिपात न करना अहिंसा है[6] अथवा प्राणातिपात-विरति अहिंसा है[7]। "जैसे मुझे सुख प्रिय है, वैसे ही सब जीवों को है। जैसे मैं जीने की कामना करता हूँ वैसे ही सब जीव जीने की इच्छा करते हैं, कोई मरने की नहीं। अतः मुझे किसी भी जीव को अल्प से अल्प पीड़ा भी नहीं पहुँचानी चाहिए"—ऐसी भावना को समता या आत्मौपम्य कहते हैं। 'सूत्रकृताङ्ग' में कहा है—'जैसे कोई बेंत, हड्डी, मुष्टि, कंकर, ठिकरी आदि से मारे, पीटे, ताड़े, तर्जन करे, दुःख दे, व्याकुल करे, भयभीत करे, प्राण हरण करे तो मुझे दुःख होता है, जैसे मृत्यु से लेकर रोम उखाड़ने तक से मुझे दुःख और भय होता है, वैसे ही सब प्राणी, भूत, जीव और सत्त्वों को होता है—यह सोच कर किसी भी प्राणी, भूत, जीव और सत्त्व को नहीं मारना चाहिए, उस पर अनुशासन नहीं करना चाहिए, उसे उद्विग्न नहीं करना चाहिए। यह धर्म ध्रुव, नित्य और शाश्वत है[8]।"

यहाँ 'अहिंसा' शब्द व्यापक अर्थ में व्यवहृत है। इसलिए मृषावाद-विरति, अदत्तादान-विरति, मैथुन-विरति, परिग्रह-विरति भी इसमें समाविष्ट है।

५ संयम (संजमो [ग]) :

जिनदास महत्तर के अनुसार 'संयम' का अर्थ है 'उपरम'। राग-द्वेष से रहित हो एकीभाव—समभाव में स्थित होना संयम है[9]। हरिभद्र सूरि ने संयम का अर्थ किया है—"आश्रवद्वारोपरम" अर्थात् कर्म आने के हिंसा, मृषा, अदत्त, मैथुन और परिग्रह ये जो पाँच

१—हा० टी० प० ३ : मङ्ग्यते हितमनेनेति मङ्गलम्, मङ्ग्यतेऽधिगम्यते साध्यते इति।

२—(क) नि० गा० ४४ : दव्वे भावेऽवि अ मंगलाइं दव्वंमि पुण्णकलसाई।
धम्मो उ भावमंगलमेत्तो सिद्धित्ति काऊणं॥

(ख) जि० चू० पृ० १६ : जाणि दव्वाणि चेव लोगे मंगलबुद्धीए घेप्पंति जहा सिद्धत्थगदहिसालिअक्खयादीणि ताणि दव्वमंगलं, भावमंगलं पुण एसेव लोगुत्तरो धम्मो, जम्हा एत्थ ठियाणं जीवाणं सिद्धी भवइ।

३—(क) जि० चू० पृ० १६ : दव्वमंगलं अणेगंतियं अणच्चंतियं च भवति, भावमंगलं पुण एगंतियं अच्चंतियं च भवइ।

(ख) नि० गा० ४८, हा० टी० प० २४ : अयमेव चोत्कृष्टं प्रधानं मङ्गलम्, ऐकान्तिकत्वात् आत्यन्तिकत्वाच्च, न पूर्णकलशादि, तस्य नैकान्तिकत्वादनात्यन्तिकत्वाच्च।

४—जि० चू० पृ० १५ : उक्किट्ठं नाम अणुत्तरं, न तओ अण्णं उक्किट्ठयरंति।

५—जि० चू० पृ० २० : मणवयणकाएहिं जोएहिं दुप्पउत्तेहिं जं पाणववरोवणं कज्जइ सा हिंसा।

६—नि० गा० ४५ : हिंसाए पडिवक्खो होइ अहिंसाऽजीवाइवाओत्ति॥

७—(क) जि० चू० पृ० १५ : अहिंसा नाम पाणातिवायविरती।

(ख) सी० टीका पृ० १ : न हिंसा अहिंसा जीवदया प्राणातिपातविरतिः।

८—सू० २.१.१५।

९—जि० चू० पृ० १५ : संजमो नाम उवरमो, रागद्दोसविरहियस्स एगिभावे भवइत्ति।

द्वार हैं उनसे उपरमता—उनसे विरति। पर यहाँ 'संयम' शब्द का अर्थ अधिक व्यापक प्रतीत होता है। हिंसा आदि पाँच अविरतियों का त्याग, कषायों पर विजय, इन्द्रियों का निग्रह, समितियों (आवश्यक प्रवृत्तियों को करते समय विहित नियमों) का पालन तथा मन, वचन, काया की गुप्ति—ये सब अर्थ 'संयम' शब्द में अन्तर्निहित हैं।

अहिंसा की परिभाषा है—सब जीवों के प्रति संयम। संयम का अर्थ है—हिंसा आदि आश्रवों की विरति। इस तरह जो अहिंसा है वही संयम है। अतः प्रश्न उठता है—जब अहिंसा ही तत्त्वतः संयम है तब संयम का अलग उल्लेख क्या अयुक्त नहीं है? इसका उत्तर यह है कि संयम के बिना अहिंसा टिक नहीं सकती। अहिंसा का अर्थ है सर्व प्राणातिपात-विरमण आदि पाँच महाव्रत। संयम का अर्थ है उनकी रक्षा के लिए आवश्यक नियमों का पालन। इस प्रकार संयम का अहिंसा पर उपग्रहकारित्व है। दूसरी बात यह है—अहिंसा से केवल निवृत्ति का भाव परिलक्षित होता है। संयम में संयत प्रवृत्ति भी अन्तर्निहित है। संयमी के ही भावतः सम्पूर्ण अहिंसा हो सकती है। अतः धर्म के अवयव रूप में अहिंसा के साथ संयम का उल्लेख आवश्यक है और किंचित् भी अयुक्त नहीं[1]।

६. तप (तवो ख):

जो आठ प्रकार की कर्म-ग्रन्थियों को तपाता है—उनका नाश करता है, उसे तप कहते हैं[2]। तप बारह प्रकार का कहा गया है:—(१) अनशन—आहार-जल आदि का एक दिन, अधिक दिन या जीवनपर्यन्त के लिए त्याग करना अर्थात् उपवास आदि करना; (२) ऊनोदरता—आहार की मात्रा में कमी करना, पेट को कुछ भूखा रखना, क्रोधादि को न्यून करना, उपकरणों को न्यून करना; (३) भिक्षाचर्या—अभिग्रहपूर्वक भिक्षा का संकोच करना; (४) रस-परित्याग—दूध, मक्खन आदि रसों का त्याग तथा प्रणीत पान-भोजन का वर्जन; (५) कायक्लेश—वीरासन आदि उग्र आसनों में शरीर को स्थित करना; (६) प्रतिसंलीनता—इन्द्रियों के शब्द आदि विषयों में राग-द्वेष न करना; अनुदीर्ण क्रोध आदि का निरोध तथा उदय में आए क्रोध आदि को विफल करना, अकुशल मन आदि का निरोध और कुशल मन आदि की प्रवृत्ति तथा स्त्री-पशु-नपुंसक-रहित एकान्त स्थान में वास; (७) प्रायश्चित्त—चित्त की विशुद्धि के लिए दोषों की आलोचना, प्रतिक्रमण आदि करना; (८) विनय—देव, गुरु और धर्म का विनय—उनमें श्रद्धा और उनका सम्यक् आदर, सम्मान आदि करना; (९) वैयावृत्य—संयमी साधु की शुद्ध आहार आदि से निरवद्य सेवा करना; (१०) स्वाध्याय—अध्यापन, प्रश्न, परिवर्त्तना, अनुप्रेक्षा—चिंतन और धर्मकथा; (११) ध्यान—आर्त्त-ध्यान और रौद्र-ध्यान का त्याग कर धर्म्य-ध्यान या शुक्ल-ध्यान में आत्मा की स्थिरता और (१२) व्युत्सर्ग—काया की हलन-चलन आदि प्रवृत्तियों को छोड़ धर्म के लिए शरीर तथा उपधि आदि का व्युत्सर्ग करना।

७. लक्षण हैं:

प्रश्न होता है कि अहिंसा, संयम और तप से भिन्न कोई धर्म नहीं है और धर्म से भिन्न अहिंसा, संयम और तप नहीं हैं, फिर धर्म और अहिंसा आदि का पृथक् उल्लेख क्यों?

इसका समाधान यह है कि 'धर्म' शब्द अनेक अर्थों में व्यवहृत होता है। गम्य-धर्म आदि लौकिक-धर्म अहिंसात्मक नहीं होते। उन धर्मों से मोक्ष-धर्म को पृथक् करने के लिए इसके अहिंसा, संयम और तप—ये लक्षण बतलाए गए हैं। तात्पर्य यह है कि जो धर्म अहिंसा, संयम और तपोमय है वही उत्कृष्ट मंगल है, शेष धर्म उत्कृष्ट मंगल नहीं हैं[3]।

दूसरी बात—धर्म और अहिंसा आदि में कार्य-कारण भाव है। अहिंसा, संयम और तप धर्म के कारण हैं। धर्म उनका कार्य है। कार्य कथञ्चित् भिन्न होता है, इसलिए धर्म और उसके कारण—अहिंसा, संयम और तप का पृथक् उल्लेख किया गया है।

घट और मिट्टी को अलग-अलग नहीं किया जा सकता, इस दृष्टि से वे दोनों अभिन्न हैं, किन्तु घट मिट्टी से पूर्व नहीं होता, इस दृष्टि से दोनों भिन्न भी हैं। धर्म और अहिंसा को अलग-अलग नहीं किया जा सकता इसलिए ये अभिन्न हैं और अहिंसा के पूर्व धर्म नहीं होता इसलिये ये भिन्न भी हैं।

धर्म और अहिंसा के इस भेदात्मक सम्बन्ध को समझाने और अहिंसात्मक-धर्मों से हिंसात्मक-धर्मों का पृथक्करण करने के लिए

१—(क) जि० चू० पृ० २० : सिस्सो आह—णणु जा चेव अहिंसा सो चेव संयमोऽवि। आयरियो आह—अहिंसागहणे पंच महव्वयाणि गहियाणि भवंति। संयमो पुण तीसे चेव अहिंसाए उवग्गहे वट्टइ। संपुण्णाय अहिंसाय संयमोवि तस्स भवइ।

(ख) नि० गा० ४६, हा० टी० प० २६ : आह—अहिंसैव तत्त्वतः संयम इतिकृत्वा तद्भेदेनास्याभिधानमयुक्तम्, न, संयमस्याहिंसाया एव उपग्रहकारित्वात्, संयमिन एव भावतः खल्वहिंसकत्वादिति कृतं प्रसंगेन।

२—जि० चू० पृ० १५ : तवो णाम तावयति अट्ठविहं कम्मगंठिं, नासेतित्ति वुत्तं भवइ।

३—नि० गा० ८९ : धम्मो गुणा अहिंसाइया उ ते परममंगल पइन्ना।

धर्म और अहिंसा आदि लक्षणों को अलग-अलग कहा गया है[1]।

८. देव भी (देवा वि ग) :

जैन धर्म में चार गति के जीव माने गये हैं — नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव। इनमें देव सबसे अधिक ऐश्वर्यशाली और प्रभुत्व वाले होते हैं। साधारण लोग उनके अनुग्रह को पाने के लिए उनकी पूजा करते हैं। यहाँ कहा गया है कि जिसकी आत्मा धर्म में लीन रहती है उस धर्मात्मा की महिमा देवों से भी अधिक होती है, क्योंकि मनुष्य की तो बात ही क्या सौधर्मेन्द्र देव भी उसे नमस्कार करते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि नरपति आदि तो धर्मी की पूजा करते ही हैं, महाऋद्धि-सम्पन्न देव भी उसकी पूजा करते हैं। यह धर्म-पालन का आनुषंगिक फल है। यहाँ यह बतलाया गया है कि धर्म से धर्मी को आत्मा के उत्कर्ष के साथ-साथ ऐसी असाधारण सांसारिक पूजा—मान सम्मान आदि भी स्वयं प्राप्त होते हैं। पर धर्म से आनुषंगिक रूप से सांसारिक ऋद्धियाँ प्राप्त होने पर भी धर्म का पालन ऐसे साधन हेतु के लिए नहीं करना चाहिए। 'नन्नत्थ निज्जरट्ठयाए'—निर्जरा—आत्म-शुद्धि के अतिरिक्त अन्य किसी हेतु से धर्म की आराधना न की जाए, यह भगवान् की आज्ञा है।

श्लोक २ :

९. थोड़ा-थोड़ा पीता है (आवियइ ग) :

'आवियइ' का अर्थ है थोड़ा-थोड़ा पीना अर्थात् मर्यादापूर्वक पीना। तात्पर्य है—जिस प्रकार फूलों से रस-ग्रहण करने में भ्रमर मर्यादा से काम लेता है उसी प्रकार गृहस्थों से आहार की गवेषणा करते समय भिक्षु मर्यादा से काम ले—थोड़ा-थोड़ा ग्रहण करे।

१०. किसी भी पुष्प को (पुप्फं ग) :

द्वितीय श्लोक के प्रथम पाद में 'पुप्फेसु' बहुवचन में है। तीसरे पाद में 'पुप्फं' एकवचन में है। 'न य पुप्फं' का अर्थ है—एक भी पुष्प को नहीं—किसी भी पुष्प को नहीं।

११. म्लान नहीं करता (न य...किलामेइ ग) :

यह मधुकर की वृत्ति है कि वह पुष्प के रूप, वर्ण या गन्ध को हानि नहीं पहुँचाता। इसी प्रकार श्रमण भी किसी को भेद-भिन्न किये बिना, जो जितना प्रसन्न मन से दे उतना ले। 'धम्मपद' (पुप्फवग्गो ४९) में कहा है

यथापि भमरो पुप्फं वण्णगन्धं अहेठयं।
पलेति रसमादाय एवं गामे मुनी चरे॥

—जिस प्रकार फूल या फूल के वर्ण या गन्ध को बिना हानि पहुँचाये भ्रमर रस को लेकर चल देता है, उसी प्रकार मुनि गाँव में विचरण करे।

श्लोक ३ :

१२. (एमेए क) :

'अगस्त्य-चूर्णि' में 'एमेए' (एवम् एते) के 'एव' के 'व' का लोप माना है[2]। प्राकृत व्याकरण के अनुसार 'एवमेव' का रूप 'एमेव' बनता है[3]। 'एमेव' पाठ अधिक उपयुक्त है। किन्तु सभी आदर्शों और व्याख्याओं में 'एमेए' पाठ मिलता है, इसलिए मूल-पाठ उसी को माना है।

१—(क) जि० चू० पृ० १७-१८ : सीसो आह—'धम्मग्गहणेण चेव अहिंसासंजमतवा घेप्पंति, कम्हा ? जम्हा अहिंसा संजमे तवो चेव धम्मो भवइ, तम्हा अहिंसासंजमतवग्गहणं पुनरुत्तं काऊण न भणियव्वं। आयरियाह—अनैकान्तिकमेतत्, अहिंसासंजमतवा हि धर्मस्य कारणानि, धर्मः कार्यं, कारणाच्च कार्यं स्याद् भिन्नं, कथमिति ? अत्रोच्यते, अन्यत्कार्यं कारणत्वात्, अभिधानवत्प्रयोजनभेददर्शनात् घटपटवत्'' अहवा अहिंसासंजमतवग्गहणे सीसस्स संदेहो भवइ धम्मबहुत्ते अण्णो एतेसि धम्मपज्जवेसाणेण धम्माण मंगलमुक्किट्ठं भवइ ? अहिंसासंजमतवग्गहणेण पुण नज्जइ जो अहिंसासंजमतवजुत्तो सो धम्मो मंगलमुक्किट्ठं भवइ।

(ख) हा० टी० प० ४८, हा० टी० प० ६२ : धर्मग्रहणे सति अहिंसासंयमतपोग्रहणमयुक्तं, तस्य अहिंसासंयमतपोरूपत्वाव्यभिचारा-दिति, उच्यते, न अहिंसादीनां धर्मकारणत्वाद्धर्मस्य च कार्यत्वात्कार्यकारणयोश्च कथञ्चिद्भेदात्, कथञ्चिद्भेदश्च तस्य द्रव्यपर्यायोभयरूपत्वात्, उक्तं च—'नत्थि पुढवीविसिट्ठो घडोत्ति जं तेण जुज्जइ अणण्णो। जं पुण घडुत्ति पुव्वं नासी पुढवीइ तो अण्णो।' तस्यादिमधर्मस्वरूपदेशेन तत्स्वरूपज्ञापनार्थं चाहिंसादिग्रहणमदुष्टं इति।

२—अ० चू० पृ० १२ : वकारलोपो सिलोगपायाणुलोमेण।

३—हैमश० ८-१-२७१ : यावत्तावज्जीविता[illegible]वर्तमानावटप्रावारकदेवकुलैवमेवे वः।

१३. मुक्त (मुत्ता क) :

पुरुष चार प्रकार के होते हैं[१]—

(१) बाह्य परिग्रह से मुक्त और आसक्ति से भी मुक्त ।
(२) बाह्य परिग्रह से मुक्त किन्तु आसक्ति से मुक्त नहीं ।
(३) बाह्य परिग्रह से मुक्त नहीं किन्तु आसक्ति से मुक्त ।
(४) बाह्य परिग्रह से मुक्त नहीं और आसक्ति से भी मुक्त नहीं ।

यहाँ 'मुक्त' का अर्थ है—ऐसे उत्तम श्रमण जो बाह्य-परिग्रह और आसक्ति दोनों से मुक्त होते हैं[२] ।

१४. श्रमण (समणा क) :

'समण' के संस्कृत रूप—समण, समनस्, श्रमण और शमन—ये चार हो सकते हैं ।

व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ—

'समण' का अर्थ है सब जीवों को आत्म-तुला की दृष्टि से देखनेवाला समता-सेवी[३] । 'समनस्' का अर्थ है राग-द्वेष रहित मनवाला—मध्यस्थवृत्ति वाला[४] । ये दोनों आगम और निर्युक्तिकालीन निरुक्त हैं । इनका सम्बन्ध 'सम' (सममणति और सममनस्) शब्द से ही रहा है। स्थानाङ्ग-वृत्ति में 'समन' का अर्थ पवित्र मनवाला भी किया गया है[५] । टीका-साहित्य में 'समण' को 'श्रम' धातु से जोड़ा गया और उसका संस्कृत रूप बना 'श्रमण' । उसका अर्थ किया गया है—तपस्या से श्रान्त[६] या तपस्वी[७] । 'शमन' की व्याख्या हमें अभी उपलब्ध नहीं है।

'समण' को कैसा होना चाहिए या 'समण' कौन हो सकता है—यह निर्युक्ति में उपमा द्वारा समझाया गया है[८] ।

प्रवृत्तिलभ्य अर्थ—

'समण' की व्यापक परिभाषा 'सूत्रकृताङ्ग' में मिलती है । "जो अनिश्रित, अनिदान—फलाशंसा से रहित, आदानरहित, प्राणातिपात, मृषावाद, बहिस्तात्— अदत्त, मैथुन और परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रेम, द्वेष और सभी आस्रवों से विरत, दान्त, द्रव्य—मुक्त होने के योग्य और व्युत्सृष्ट-काय—शरीर के प्रति अनासक्त है, वह समण कहलाता है[९] ।

पर्यायवाची नाम—

'समण' भिक्षु का पर्याय शब्द है । भिक्षु चौदह नामों से वचनीय है । उनमें पहला नाम 'समण' है । सब नाम इस प्रकार हैं—समण, माहन (ब्रह्मचारी या ब्राह्मण), क्षान्त, दान्त, गुप्त, मुक्त, ऋषि, मुनि, कृती (परमार्थ पंडित), विद्वान्, भिक्षु, रूक्ष, तीरार्थी और चरण-करण पारविद्[१०] ।

निर्युक्ति के अनुसार प्रव्रजित, अनगार, पाखण्डी, चरक, तापस, परिव्राजक, समण, निर्ग्रन्थ, संयत, मुक्त, तीर्ण, त्राता, द्रव्य, मुनि,

---

१—ठा० ४.६१२:चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं० मुत्ते णाममेगे मुत्ते, मुत्ते णाममेगे अमुत्ते, अमुत्ते णाममेगे मुत्ते, अमुत्ते णाममेगे अमुत्ते।

२—हा० टी० प० ६८ : 'मुक्ता' बाह्याभ्यन्तरेण ग्रन्थेन ।

३—नि० गा० १५४ : जह मम न पियं दुक्खं जाणिय एमेव सव्वजीवाणं । न हणइ न हणावेइ य सममणई तेण सो समणो ॥

४—नि० गा० १५५-१५६ : नत्थि य सि कोइ वेसो पिओ व सव्वेसु चेव जीवेसु । एएण होइ समणो एसो अन्नोऽवि पज्जाओ ॥
तो समणो जइ सुमणो भावेण य जइ न होइ पावमणो । सयणे य जणे य समो समो य माणावमाणेसु॥

५—स्था० टीका पृ० २६८ : सह मनसा शोभनेन निदान-परिणाम-लक्षण-पापरहितेन च चेतसा वर्त्तत इति समनसः ।

६—सू० १.१६.१ टी० प० २६३ । श्राम्यति—तपसा खिद्यत इति कृत्वा श्रमणः ॥

७—हा० टी० प० ६८ : श्राम्यन्तीति श्रमणाः, तपस्यन्तीत्यर्थः ।

८—नि० गा० १५७ : उरग-गिरि-जलण-सागर-नहयल-तरुगणसमो य जो होइ । भमर-मिग-धरणि-जलरुह-रवि-पवणसमो जओ समणो॥

९—सू० १.१६.२ : एत्थवि समणे अणिस्सिए अणियाणे आदाणं च, अतिवायं च, मुसावायं च, वहिद्धं च, कोहं च, माणं च, मायं च, लोहं च, पिज्जं च, दोसं च, इच्चेव जओ जओ आदाणं अप्पणो पद्दोसहेऊ तओ तओ आदाणातो पुव्वं पडिविरते पाणाइवाया सिआदंते दविए वोसट्ठकाए समणेत्ति वच्चे ।

१०—सू० २.१.१५ : उपसंहारात्मक अंश : से भिक्खू परिण्णायकम्मे परिण्णायसंगे परिण्णायगेहवासे उवसंते समिए सहिए सया जए, सेवं वयणिज्जे, तंजहा-समणेति वा, माहणेति वा, खंतेति वा, दंतेति वा, गुत्तेति वा, मुत्तेति वा, इसीति वा, मुणीति वा, कतीति वा, विऊति वा, भिक्खूति वा, लूहेति वा, तीरट्ठीति वा, चरण-करण-पारविउत्ति बेमि ।

आदि धर्मो से श्रमण की भ्रमर के साथ तुलना होती है, किन्तु सभी धर्मों से नहीं। भ्रमर अदत्त रस भले ही पीता हो किन्तु श्रमण अदत्त लेने की इच्छा भी नहीं करते[1]।

१८. एषणा में रत (एसणे रया [घ]) :

साधु को आहारादि की खोज, प्राप्ति और भोजन के विषय में उपयोग—सावधानी रखनी होती है, उसे एषणा-समिति कहते हैं[2]। एषणा तीन प्रकार की होती हैं : (१) गोचर्या के लिये निकलने पर साधु आहार के कल्प्याकल्प्य के निर्णय के लिये जिन नियमों का पालन करता है अथवा जिन दोषों से बचता है, उसे गो+एषणा=गवेषणा कहते हैं। (२) आहार आदि को ग्रहण करते समय साधु जिन-जिन नियमों का पालन करता है अथवा जिन दोषों से बचता है, उसे ग्रहणैषणा कहते हैं। (३) मिले हुए आहार का भोजन करते समय साधु जिन नियमो का पालन अथवा दोषों का निवारण करता है, उन्हें परिभोगैषणा कहते हैं।[3] निर्युक्तिकार ने यहाँ प्रयुक्त 'एषणा' शब्द में तीनों एषणाओं को ग्रहण किया है[4]। अगस्त्यसिंह चूर्णि और हारिभद्रीय टीका में भी ऐसा ही अर्थ है[5]। जिनदास महत्तर 'एषणा' शब्द का अर्थ केवल गवेषणा करते हैं[6]। एषणा में रत होने का अर्थ है—एषणा-समिति के नियमों में तन्मय होना—पूर्ण उपयोग के साथ समस्त दोषों को टालकर गवेषणा आदि करना।

श्लोक ४ :

१९. हम (वयं [क]) :

गुरु शिष्य को उपदेश देते हैं कि यह हमारी प्रतिज्ञा है—"हम इस तरह से वृत्ति—भिक्षा प्राप्त करेंगे कि किसी जीव का उपहनन न हो।"

यहाँ प्रथम पुरुष के प्रकरण में जो उत्तम पुरुष का प्रयोग हुआ है उसके आधार पर अन्य कल्पना भी की जा सकती है। ५।२।५ और ८।२० के श्लोक के साथ जैसे एक-एक घटना जुड़ी हुई है, वैसे यहाँ भी कोई घटना जुड़ी हुई हो, यह सम्भव है। वहाँ (जि० चू० पृ० १९५, २८०) चूर्णिकार ने उसका उल्लेख किया है, यहाँ न किया हो। जैसे कोई श्रमण भिक्षा के लिए किसी नवागन्तुक भक्त के घर पहुँचे। गृहस्वामी ने वन्दना की और भोजन लेने के लिए प्रार्थना की।

श्रमण ने पूछा—"भोजन हमारे लिए तो नहीं बनाया ?"

गृहस्वामी सकुचाता हुआ बोला—"इससे आपको क्या ? आप भोजन लीजिये।"

श्रमण ने कहा—"ऐसा नहीं हो सकता। हम उद्दिष्ट—अपने लिए बना भोजन नहीं ले सकते।"

गृहस्वामी—"उद्दिष्ट भोजन लेने से क्या होता है ?"

श्रमण—"उद्दिष्ट भोजन लेनेवाला श्रमण त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा के पाप से लिप्त होता है[7]।"

गृहस्वामी—"तो आप जीवन कैसे चलायेंगे ?"

श्रमण—"हम यथाकृत भोजन लेंगे।"

२०. यथाकृत (अहागडेसु [ग]) :

गृहस्थों के घर आहार, जल आदि उनके स्वयं के उपयोग के लिए उत्पन्न होते रहते हैं। अग्नि तथा अन्य शस्त्र आदि से परिणत अनेक प्रासुक निर्जीव वस्तुएँ उनके घर रहती हैं। इन्हें 'यथाकृत' कहा जाता है[8]। इनमें से जो पदार्थ सेव्य हैं, उन्हें श्रमण लेते हैं।

१—(क) नि० गा० १२६ : उवमा खलु एस कया पुव्वुत्ता देसलक्खणोवणया। अणिययवित्तिनिमित्तं अहिंसअणुपालणट्ठाए॥
(ख) नि० गा० १२४ : अवि भमरमहुयरिगणा अविदिन्नं आवियंति कुसुमरसं। समणा पुण भगवंतो नादिन्नं भोत्तुमिच्छंति॥

२—उत्त० २४ : २ : इरियाभासेसणादाणे उच्चारे समिई इय।

३—(क) उत्त० २४ : ११ : गवेसणाए गहणे य परिभोगेसणाय य। आहारोवहिसेज्जाए एए तिन्नि विसोहए॥
(ख) उत्त० २४ : १२ : उग्गमुप्पायणं पढमे बीए सोहेज्ज एसणं। परिभोयम्मि चउक्कं विसोहेज्ज जयं जई॥

४—नि० गा० १२३ : एसणतिगंमि निरया…॥

५—(क) अ० चू० : एसणे इति गवेषण-गहण-घासेसणा सूइता।
(ख) हा० टी० प० ६८ : एषणाग्रहणेन गवेषणादित्रयपरिग्रहः।

६—जि० चू० पृ० ६७ : एसणागहणेण दसएसणादोसपरिसुद्धं गेण्हंति, ते य इमे—तंजहा :—
संकियमक्खियनिक्खित्तपिहियसाहरियदायगुम्मीसे। अपरिणयलित्तछड्डिय एसणदोसा दस हवंति॥

७—भा० गा० ३, हा० टी० प० ६४ : अफासुयकयकारियअणुमयउद्दिट्ठभोइणो हंदि। तसथावरहिंसाए जणा अकुसला उ लिप्पंति

८—हा० टी० प० ७२ : 'यथाकृतेषु' आत्मार्थमभिनिर्वर्तितेष्वाहारादिषु।

यह शब्द लक्ष्य के बिना जो नानापिण्ड-रत जीव हैं उनसे साधु को पृथक् करता है। नानापिण्ड-रत दो प्रकार के होते हैं—द्रव्य से और भाव से। अश्व, गज आदि प्राणी लक्ष्यपूर्वक नानापिण्ड-रत नहीं होते, इसलिये वे भाव से दान्त नहीं बनते। साधु लक्ष्यपूर्वक नानापिण्ड-रत होने के कारण भावतः दान्त होते हैं[1]।

२४. वे अपने इन्हीं गुणों से साधु कहलाते हैं (तेण वुच्चंति साहुणो घ) :

इस अध्ययन में अप्रत्यक्ष रूप से साधु के कुछ ऐसे महत्त्वपूर्ण गुणों का उल्लेख है जिनसे साधु साधु कहलाता है। साधु अहिंसा, संयम और तपमय धर्म में रमा हुआ होना चाहिए। वह बाह्य-आभ्यन्तर परिग्रह से मुक्त, शान्ति की साधना करनेवाला और दान्त होना चाहिए। वह अपनी आजीविका के लिए किसी प्रकार का आरम्भ-समारम्भ न करे। वह अदत्त न ले। अपने संयमी-जीवन के निर्वाह के लिए वह भिक्षावृत्ति पर निर्भर हो। वह माधुकरी वृत्ति से भिक्षाचर्या करे। यथाकृत में से प्रासुक ले। वह किसी एक पर आश्रित न हो। यहाँ कहा गया है कि ये ही ऐसे गुण हैं जिनसे साधु साधु कहलाता है।

अगस्त्यसिंह चूर्णि के अनुसार 'तेण वुच्चंति साहुणो' का भावार्थ है—वे नानापिण्डरत हैं, इसलिए साधु हैं[2]।

जिनदास लिखते हैं—श्रमण अपने हित के लिए त्रस-स्थावर जीवों की यतना रखते हैं इसलिए वे साधु हैं[3]।

एक प्रश्न उठता है कि जो अन्यतीर्थी हैं वे भी त्रस-स्थावर जीवों की यतना करते हैं—अतः वे भी साधु क्यों नहीं होंगे ? उसका उत्तर निर्युक्तिकार इस प्रकार देते हैं—'जो सद्भावपूर्वक त्रस-स्थावर जीवों के हित के लिए यत्नवान् होता है, वही साधु होता है[4]। अन्य-तीर्थी सद्भावपूर्वक यत्नायुक्त नहीं होते। वे छहकाय की यतना को नहीं जानते। वे उद्‌गम, उत्पात आदि दोषों से रहित शुद्ध आहार ग्रहण नहीं करते। वे मधुकर की तरह अवधजीवी नहीं होते और न तीन गुप्तियों से युक्त होते हैं[5]। उदाहरणस्वरूप कई श्रमण औद्देशिक आहार में, जिसमें कि जीवों की प्रत्यक्ष घात होती है, कर्मबन्ध नहीं मानते। कई श्रमणों का जीवन-सूत्र ही है—"भोगों की प्राप्ति होने पर उनका उपभोग करना चाहिए।" ऐसे श्रमण अज्ञानरूपी महासमुद्र में डूबे हुए होते हैं। अतः उन्हें साधु कैसे कहा जाय[6] ? साधु वे होते हैं—जो मन, वचन, काया और पाँचों इन्द्रियों का दमन करते हैं, ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, कषायों को संयमित करते हैं तथा तप से युक्त होते हैं। ये साधु के सम्पूर्ण लक्षण हैं। इन्हीं से कोई साधु कहलाता है।[7] जिसमें ये गुण नहीं, वह साधु नहीं हो सकता। जो जिनवचन में अनुरक्त हैं, वे ही साधु हैं क्योंकि वे निकृति-रहित और चरण-गुण से युक्त हैं[8]।

उपसंहार में अगस्त्यसिंह कहते हैं—"अहिंसा, संयम, तप आदि साधनों से युक्त, मधुकरवत् अवध-आहारी साधु के द्वारा साधित धर्म ही उत्कृष्ट मंगल होता है[9]।

१—जि० चू० पृ० ६९ : णाणापिण्डरता दुविधा भवंति, तंजहा—दव्वओ भावओ य, दव्वओ आसहत्थिमादि, ते णो दन्ता भावओ, (साहवो पुणो) इंदिएसु दन्ता।

२—अ० चू० पृ० ३४ : जेण मधुकारसमा नाणापिंडरता य तेण कारणेण।

३—जि० चू० पृ० ७० : जेण कारणेण तसथावराण जीवाणं अप्पणो य हियत्थं च भवइ तहा जयंति अतो य ते साहुणो भण्णंति।

४—नि० गा० १३० : तसथावरभूयहियं जयंति सब्भावियं साहू ॥

५—अ० चू० पृ० ३४ : जति कोति भणेज्ज—तित्थंतरिया वि अहिंसादिगुणजुत्ता इति तेसिं पि धम्मो भविस्सति तत्थ समत्थमिदमुत्तरं—ते छक्कायजतनं ण जाणंति, ण वा उग्गमउप्पायणासुद्धं मधुकरवदणुवरोहि भुंजंति, ण वा तिहिं गुत्तीहिं गुत्ता।

६—जि० चू० पृ० ७० : जहा जइ कोई भणेज्जा परिव्वायगरत्तपडादिणो तसथावरभूतहितत्थमप्पहितत्थं च जयंता साहुणो भविस्संति, तं च णेव भवइ, जेण ते सब्भावओ ण जयंति, कहं न जयंति?, तत्थ सक्काणं जं उद्दिस्स सत्तोवघातो भवइ ण तत्थ तेसिं कम्मबंधो भवइ, परिव्वायगा नाम जइ किर तेसिं सद्दाइणो विसया इंदियगोयरं हव्वमागच्छंति, भणियं तेसिं 'इंदियविसयपत्ताणं उवयोगो कायव्वो' एवं ते अण्णाणमहासमुद्दमोगाढा पडुप्पण्णभारिया जीवा ताणि आलंबणाणि काऊण तमेव परिकिलेसावहं गिहवासं अवलंबयंति।

७—नि० गा० १३५, १३६ : कायं वायं च मणं च इंदियाइं च पंच दमयंति।
धारेंति बंभचेरं संजमयंति कसाए य ॥
जं च तवे उज्जुत्ता तेणेसिं साहुलक्खणं पुण्णं।
तो साहुणो त्ति भण्णति साहवो निगमणं चेयं ॥

८—जि० चू० पृ० ७० : ण तु सक्कादीणं णियडिबहुलाणं, तम्हा जिणवयणरया साहुणो भवंति।

९—अ० चू० पृ० ३४ (क) तम्हा अहिंसा-संयम-तवसाहणोववेतमधुकरवयणवज्जाहारसाधुसाहितो धम्मो मंगलमुक्कट्ठं भवति।
पृ० ३४ (ख) तेहिं समत्तसाधुलक्खणलक्खितेहिं साधूहिं साधितो संसारनित्थरणहेऊ सव्वदुक्खविमोक्खमोक्खगमणसफलो धम्मो मंगलमुक्कट्ठं भवति ति सुट्ठु निद्दिट्ठं।

बीयं अज्झयणं

सामण्णपुव्वयं

द्वितीय अध्ययन

"(जब अरिष्टनेमि प्रव्रजित हो गये। तब उनके ज्येष्ठ-भ्राता रथनेमि राजीमती को प्रसन्न करने लगे, जिससे कि वह उन्हें चाहने लगे। भगवती राजीमती का मन काम-भोगों से निर्विण्ण—उदासीन हो चुका था। उसे रथनेमि का अभिप्राय ज्ञात हो गया। एक बार उसने मधु-घृत संयुक्त पेय पिया और जब रथनेमि आये तो मदनफल मुख में ले उसने उल्टी की और रथनेमि से बोली—'इस पेय को पीओ।' रथनेमि बोले—'वमन किये हुए को कैसे पीऊँ ?' राजीमती बोली—'यदि वमन किया हुआ नहीं पीते तो मैं भी अरिष्टनेमि स्वामी द्वारा वमन की हुई हूं। मुझे ग्रहण करना क्यों चाहते हो ? धिक्कार है तुम्हें जो वमी हुई वस्तु को पीने की इच्छा करते हो। इससे तो तुम्हारा मरना श्रेयस्कर है ?' इसके बाद राजीमती ने धर्म कहा[1]। रथनेमि समझ गए और प्रव्रज्या ली। राजीमती भी उन्हें बोध दे प्रव्रजित हुई।

"बाद में किसी समय रथनेमि द्वारिका में भिक्षाटन कर वापस अरिष्टनेमि के पास आ रहे थे[2]।) रास्ते में वर्षा से घिर जाने से एक गुफा में प्रविष्ट हुए। राजीमती अरिष्टनेमि के वंदन के लिए गई थी। वन्दन कर वह वापस आ रही थी। रास्ते में वर्षा शुरू हो गई।

वेष्ट हुई, जहाँ रथनेमि थे। वहाँ उसने भीगे वस्त्रों को फैला दिया। उसके अंग-प्रत्यंगों को देख रथनेमि

मती ने अब उन्हें देखा। उनके अशुभ भाव को जानकर उसने उन्हें उपदेश दिया[3]।"

प्रत्याख्यान पूर्व की तृतीय वस्तु में से ली गई है, ऐसी पारम्परिक धारणा है[4]। इस अध्ययन के पांच श्लोक २२ वें अध्ययन के श्लोक ४२, ४३, ४४, ४६, ४९ से अक्षरशः मिलते हैं।

धिरत्थु ते जसोकामी जो तं जीवितकारणा।
वंतं इच्छसि आवेउं सेयं ते मरणं भवे ॥ ७ ॥

…कयाति रहणेमी बारवतीतो भिक्खं हिंडिऊण सामिसगासमागच्छंतो वद्दलाहतो एगं गुहमणुपविट्ठो। रातीमती य भगवंतमभिवन्दिऊण तं लयणं गच्छंती 'वासमुवगतं' ति तामेव गुहामुवगता। तं पुव्वपविट्ठमपेक्खमाणी उदओल्लमुपरिवत्थं णिप्पिलेऊं विसारेती विवसणोपरिसरीरा दिट्ठा कुमारेण, विपलियचित्तो जातो। सा हु भगवती सनिच्चलसत्ता तं दट्ठुं तस्स वंसकित्तिकित्तणेण संजमे धीतिसमुप्पायणत्थमाह :—

अहं च भोगरातिस्स तं च सि अंधगवण्हिणो।
मा कुले गंधणा होमो संजमं णिहुओ चर ॥ ८ ॥
जाति तं काहिसि भावं जा जा दच्छसि णारीतो।
वाताइद्धो व्व हढो अट्ठितप्पा भविस्ससि ॥ ९ ॥

अगस्त्यसिंह स्थविर ने रथनेमि को अरिष्टनेमि का भाई बतलाया है। किन्तु जिनदास महत्तर ने रथनेमि को अरिष्ट ज्येष्ठ भ्राता बतलाया है—

—जि० चू० पृ० ८७ : यदा किल अरिट्ठणेमी पव्वइओ तथा रहणेमी तस्स जेट्ठो भाउओ राइमइं उवयरइ।

१ – चूर्णिकार और टीकाकार के अनुसार ७ वाँ श्लोक कहा। देखिए पाद-टिप्पणी १।

२ – उत्तराध्ययन सूत्र के २२ वें अध्ययन में अर्हत् अरिष्टनेमि की प्रव्रज्या का मार्मिक और विस्तृत वर्णन है। प्रसंगवश और राजीमती के बीच घटी घटना का उल्लेख भी आया है। कोष्ठक के अन्दर का चूर्णि लिखित वर्णन उत्त में नहीं मिलता।

३—चूर्णिकार और टीकाकार के अनुसार ८ वाँ और ९ वाँ श्लोक कहा। देखिए पाद-टिप्पणी १।

४ – नि० गा० १७ : सच्चप्पवायपुव्वा निज्जूढा होइ वक्कसुद्धी उ।
अवसेसा निज्जूढा नवमस्स उ तइयवत्थूओ ॥

सामण्णपुव्वयं : श्रामण्यपूर्वक

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१—कहं नु कुज्जा सामण्णं जो कामे न निवारए । पए पए विसीयंतो संकप्पस्स वसं गओ ॥	कथं नु कुर्याच्छ्रामण्यं, यः कामान् न निवारयेत् । पदे पदे विषीदन्, संकल्पस्य वशं गतः ॥ १ ॥	वह कैसे श्रामण्य का पालन करेगा[1] जो काम[2] (विषय-राग) का निवारण नहीं करता, जो संकल्प के वशीभूत होकर[3] पग-पग पर विषादग्रस्त होता है[4] ?
२—वत्थगंधमलंकारं इत्थीओ सयणाणि य । अच्छन्दा जे न भुंजंति न से चाइ त्ति वुच्चइ ॥	वस्त्र-गन्धमलङ्कारं, स्त्रियः शयनानि च । अच्छन्दा ये न भुञ्जन्ति, न ते त्यागिन उच्यन्ते ॥ २ ॥	जो परवश (या अभावग्रस्त) होने के कारण[6] वस्त्र, गंध, अलंकार, स्त्री और शयन आसनों का उपभोग नहीं करता[7] वह त्यागी नहीं कहलाता[8] ।
३—जे य कन्ते पिए भोए लद्धे विपिट्ठिकुव्वई । साहीणे चयइ भोए से हु चाइ त्ति वुच्चइ ॥	यश्च कान्तान् प्रियान् भोगान्, लब्धान् विपृष्ठीकरोति । स्वाधीनान् त्यजति भोगान्, स एव त्यागीत्युच्यते ॥ ३ ॥	त्यागी वही कहलाता है जो कान्त और प्रिय[10] भोग[11] उपलब्ध होने पर उनकी ओर से पीठ फेर लेता है[12] और स्वाधीनता पूर्वक भोगों का त्याग करता है[13] ।
४—समाए पेहाए परिव्वयंतो सिया मणो निस्सरई बहिद्धा । न सा महं नोवि अहं पि तीसे इच्चेव[14] ताओ विणएज्ज रागं ॥	समया प्रेक्षया परिव्रजन् (तस्य), स्यान्मनो निःसरति बहिर्धात् । न सा मम नापि अहमपि तस्याः, इत्येव तस्याः विनयेद् रागम् ॥ ४ ॥	समदृष्टि पूर्वक[14] विचरते हुए भी[15] यदि कदाचित्[16] मन (संयम से) बाहर निकल जाए[17] तो यह विचार कर कि 'वह मेरी नहीं है और न मैं ही उसका हूँ'[18] मुमुक्षु उसके प्रति होने वाले विषय-राग को दूर करे[19] ।
५—"आयावयाही चय सोउमल्लं कामे कमाही कमियं खु दुक्खं । छिन्दाहि दोसं विणएज्ज रागं एवं सुही होहिसि संपराए ॥	आतापय त्यज सौकुमार्यं, कामान् क्राम क्रान्तं खलु दुःखम् । छिन्धि द्वेषं विनयेद् रागं, एवं सुखी भविष्यसि संपराये ॥ ५ ॥	अपने को तपा[22] । सुकुमारता[23] का त्याग कर । काम—विषय-वासना का अतिक्रम कर । इससे दुःख अपने-आप अतिक्रान्त होगा । द्वेष-भाव[24] को छिन्न कर । राग-भाव[25] को दूर कर । ऐसा करने से तू संसार (इहलोक और परलोक) में सुखी होगा[26] ।

६—पक्खन्दे जलियं जोइं
धूमकेउं दुरासयं ।
नेच्छन्ति वन्तयं भोत्तुं
कुले जाया अगन्धणे ॥

प्रस्कन्दन्ति ज्वलितं ज्योतिषं,
धूमकेतुं दुरासदम् ।
नेच्छन्ति वान्तकं भोक्तुं,
कुले जाता अगन्धने ॥ ६ ॥

अगंधन कुल में उत्पन्न सर्प[२७] ज्वलित, विकराल[२८], धूमकेतु[२९]—अग्नि में प्रवेश कर जाते हैं परन्तु (जीने के लिए) वमन किए हुए विष को वापस पीने की इच्छा नहीं करते[३०] ।

७—[३१]धिरत्थु ते जसोकामी
जो तं जीवियकारणा ।
वन्तं इच्छसि आवेउं
सेयं ते मरणं भवे ॥

धिगस्तु त्वां यशस्कामिन् !,
यस्त्वं जीवितकारणात् ।
वान्तमिच्छस्यापातुं,
श्रेयस्ते मरणं भवेत् ॥ ७ ॥

हे यशःकामिन् ![३२] धिक्कार है तुझे ! जो तू क्षणभंगुर जीवन के लिए[३३] वमी हुई वस्तु को पीने की इच्छा करता है। इससे तो तेरा मरना श्रेय है[३४] ।

८—अहं च भोयरायस्स
तं चऽसि अन्धगवण्हिणो ।
मा कुले गन्धणा होमो
संजमं निहुओ चर ॥

अहं च भोजराजस्य,
त्वं चाऽसि अन्धकवृष्णेः ।
मा कुले गन्धनौ भूव,
संयमं निभृतश्चर ॥ ८ ॥

मैं भोजराज की पुत्री (राजीमती) हूँ[३५] और तू अन्धकवृष्णि का पुत्र (रथनेमि) है । हम कुल में गन्धन सर्प की तरह न हों[३६] । तू निभृत हो—स्थिर मन हो—संयम का पालन कर ।

९—जइ तं काहिसि भावं
जा जा दच्छसि नारिओ ।
वायाइद्धो व्व हडो
अट्ठियप्पा भविस्ससि ॥

यदि त्वं करिष्यसि भावं,
या या द्रक्ष्यसि नारीः ।
वाताविद्ध इव हटः,
अस्थितात्मा भविष्यसि ॥ ९ ॥

यदि तू स्त्रियों को देख उनके प्रति इस प्रकार राग-भाव करेगा तो वायु से आहत हट[३७] (जलीय वनस्पति) की तरह अस्थितात्मा हो जायेगा[३८] ।

१०—तीसे सो वयणं सोच्चा
संजयाए सुभासियं ।
अंकुसेण जहा नागो
धम्मे संपडिवाइओ ॥

तस्याः स वचनं श्रुत्वा,
संयतायाः सुभाषितम् ।
अंकुशेन यथा नागो,
धर्मे सम्प्रतिपादितः ॥ १० ॥

संयमिनी (राजीमती) के इन सुभाषित[३९] वचनों को सुनकर रथनेमि धर्म में वैसे ही स्थिर हो गये, जैसे अंकुश से नाग—हाथी होता है ।

११—एवं करेन्ति संबुद्धा
पण्डिया पवियक्खणा ।
विणियट्टन्ति भोगेसु
जहा से पुरिसोत्तमो ॥

एवं कुर्वन्ति सम्बुद्धाः,
पण्डिताः प्रविचक्षणाः ।
विनिवर्तन्ते भोगेभ्यः,
यथा स पुरुषोत्तमः ॥ ११ ॥

सम्बुद्ध, पण्डित और प्रविचक्षण[४०] पुरुष ऐसा ही करते हैं । वे भोगों से वैसे ही दूर हो जाते हैं, जैसे कि पुरुषोत्तम[४१] रथनेमि हुए ।

त्ति बेमि

इति ब्रवीमि ।

मैं ऐसा कहता हूँ ।

श्लोक १ :

तुलना :

यह श्लोक 'संयुत्तनिकाय' के निम्न श्लोक के साथ अद्भुत सामञ्जस्य रखता है।

> दुक्करं दुत्तितिक्खञ्च अब्यत्तेन हि सामञ्ञं। बहूहि तत्थ सम्बाधा यत्थ बालो विसीदतीति।
> कतिहं चरेय्य सामञ्ञं चित्तं चे न निवारये। पदे पदे विसीदेय्य संकप्पानं वसानुगो ति॥ १.१७

इस श्लोक का हिंदी अनुवाद इस प्रकार है :

> कितने दिनों तक श्रमण-भाव को पालेगा, यदि अपने चित्त को वश में नहीं ला सकता।
> पद-पद में फिसल जायगा, इच्छाओं के अधीन रहने वाला॥
> संयुत्तनिकाय १.२.७ पृ० ८

२. कैसे श्रामण्य का पालन करेगा ? (कहं नु कुज्जा सामण्णं क) :

'अगस्त्य चूर्णि' में 'कहं' शब्द को प्रकार वाचक माना है और बताया है कि उसका प्रयोग प्रश्न करने में किया जाता है। 'नु' को 'वितर्क' वाचक माना है[1]। 'कहं नु' का अर्थ होता है—किस प्रकार कैसे ?

जिनदास के अनुसार 'कहं नु' (सं० कथं नु) का प्रयोग दो तरह से होता है। एक क्षेपार्थ में और दूसरा प्रश्न पूछने में[2]। 'कथं नु स राजा, यो न रक्षति' वह कैसा राजा, जो रक्षा न करे। 'कथं नु स वैयाकरणो योऽपशब्दान् प्रयुङ्क्ते'—वह कैसा वैयाकरण जो अपशब्दों का प्रयोग करे। 'कहं नु' का यह प्रयोग क्षेपार्थक है। 'कथं नु भगवन्! जीवा गुरुवेदनीयं कर्म बध्नन्ति,'—भगवन् ! जीव गुरुवेदनीय कर्म का बंधन कैसे करते हैं। यहाँ 'कथं नु' का प्रयोग प्रश्नवाचक है। 'कहं नु कुज्जा सामण्णं' में इसका प्रयोग क्षेप—आक्षेप रूप में हुआ है। आक्षेपपूर्ण शब्दों में कहा गया है—वह श्रामण्य को कैसे निभाएगा जो काम का निवारण नहीं करता! काम-राग का निवारण श्रामण्य-पालन की योग्यता की पहली कसौटी है।

जो ऐसे अपराध-पदों के सम्मुख खिन्न होता है, वह श्रामण्य का पालन नहीं कर सकता। शीलांगों की रक्षा के लिए आवश्यक है कि संयमी अपराध-पदों के अवसर पर ग्लानि, खेद, मोह आदि की भावना न होने दे।

हरिभद्र सूरी ने 'नु' को केवल क्षेपार्थक माना है[3]।

जिनदास ने इस चरण के दो विकल्प पाठ दिये हैं : (१) कहऽहं कुज्जा सामण्णं (२) कयाऽहं कुज्जा सामण्णं। 'मैं कितने दिनों तक श्रामण्य का पालन करूँगा ?' 'मैं श्रामण्य का पालन कब करता हूँ'—ये दोनों अर्थ क्रमशः उपरोक्त पाठान्तरों के हैं। तीसरा विकल्प 'कह ण कुज्जा सामण्णं' मिलता है। अगस्त्य चूर्णि में भी ऐसे विकल्प पाठ हैं तथा चौथा विकल्प 'कह स कुज्जा सामण्णं' दिया है।

१—अ० चू० पृ० ३८ : किमहो खेवे पुच्छाए य वट्टति, खेवो णिंदा इह सद्दो प्रकारवाचीति नियमेण पुच्छाए वट्टति। णु—सद्दो वितक्के प्रकार वितक्केति, केण णु प्रकारेण सो सामण्णं कुज्जा।

२—जि० चू० पृ० ७५ : कहंणुत्ति—कि—केन प्रकारेण। .....कथं नु शब्दः क्षेपे प्रश्ने च वर्तते। ..., कथं नु स वैयाकरणो योऽपशब्दान् प्रयुङ्क्ते।

३—हा० टी० पृ० ८५ : 'कथं' केन प्रकारेण, नु क्षेपे, यथा कथं नु स राजा यो न रक्षति।

३. काम (कामे [ख]) :

काम दो प्रकार के हैं : द्रव्य-काम और भाव-काम।[1] विषयासक्त मनुष्यों द्वारा काम्य—इष्ट शब्द, रूप, गन्ध, रस तथा को काम कहते हैं।[2] जो मोह के उदय के हेतु भूत द्रव्य हैं—जिनके सेवन से शब्दादि विषय उत्पन्न होते हैं, वे द्रव्य-काम हैं[3]।

भाव-काम दो तरह के हैं—इच्छा-काम और मदन-काम[4]।

इच्छा अर्थात् एषणा—चित्त की अभिलाषा। अभिलाषा रूप काम को इच्छा-काम कहते हैं[5]। इच्छा प्रशस्त और अप्रशस्त—दो तरह की होती है[6]। धर्म और मोक्ष की इच्छा प्रशस्त इच्छा है। युद्ध की इच्छा, राज्य की इच्छा अप्रशस्त है[7]।

वेदोपयोग को मदन-काम कहते हैं[8]। स्त्री-वेदोदय से स्त्री का पुरुष की अभिलाषा करना अथवा पुरुष-वेदोदय से पुरुष का स्त्री की अभिलाषा करना तथा विषय-भोग में प्रवृत्ति करना मदन-काम है[9]।

निर्युक्तिकार के अनुसार इस प्रकरण में काम शब्द मदन-काम का द्योतक है[10]।

निर्युक्तिकार का यह कथन—"विषय-सुख में आसक्त और काम-राग में प्रतिबद्ध जीव को काम धर्म से गिराते हैं। पण्डित काम को रोग कहते हैं। जो कामों की प्रार्थना करते हैं वे प्राणी निश्चय ही रोगों की प्रार्थना करते हैं[11]"—मदन-काम से सम्बन्धित है।

पर वास्तव में कहा जाय तो श्रमणत्व-पालन करने की शर्त्त के रूप में अप्रशस्त इच्छा-काम और मदन-काम—दोनों के समान रूप से निवारण करने की आवश्यकता है।

१—नि० गा० १६१ : नामं ठवणा कामा दव्वकामा य भावकामा य।

२—(क) जि० चू० पृ० ७५ : ते इट्ठा सद्दरसरूवगंधफासा कामिज्जमाणा विसयपसत्तेहिं कामा भवंति।

(ख) हा० टी० पृ० ८५ : शब्दरसरूपगन्धस्पर्शाः मोहोदयाभिभूतैः सत्त्वैः काम्यन्त इति कामाः।

३—(क) नि० गा० १६२ : सद्दरसरूवगंधाफासा उदयंकरा य जे दव्वा।

(ख) जि० चू० पृ० ७५ : जाणि य मोहोदयकारणाणि वियडमादीणि दव्वाणि तेहिं अब्भवहरिएहिं सद्दादिणो विसया उदिज्जंति एते दव्वकामा।

(ग) हा० टी० पृ० ८५ : मोहोदयकारीणि च यानि द्रव्याणि संघाटकविकटमांसादीनि तान्यपि मदनकामाख्यभावकाम-हेतुत्वात् द्रव्यकामा इति।

४—नि० गा० १६२ : दुविहा य भावकामा इच्छाकामा मयणकामा॥

५—नि० गा० १६२ : हा० टी० पृ० ८५ : तत्रैषणमिच्छा सैव चित्ताभिलाषरूपत्वात्कामा इतीच्छाकामा।

६—नि० गा० १६३ : इच्छा पसत्थमपसत्थिगा य………….।

७—जि० चू० पृ० ७६ : तत्थ पसत्था इच्छा जहा धम्मं कामयति मोक्खं कामयति, अपसत्था इच्छा रज्जं वा कामयति जुद्धं वा कामयति एवमादि इच्छाकामा।

८—नि० गा० १६३ : …………मयणंमि वेयउवओगो।

९—(क) जि० चू० पृ० ७६ : जहा इत्थी इत्थिवेदेण पुरिसं पत्थेइ, पुरिसोवि इत्थी, एवमादी।

(ख) नि० गा० १६२ : १६३ हा० टी० प० ८५–८६ : मदयतीति तथा मदनः—चित्रो मोहोदयः स एव कामप्रवृत्ति-हेतुत्वात्कामा मदनकामा ….वेद्यत इति वेदः—स्त्रीवेदादिस्तदुपयोगः—तद्विपाकानुभवनम्, तद्व्यापार इत्यन्ये, यथा स्त्रीवेदोदयेन पुरुषं प्रार्थयत इत्यादि।

१०—नि० गा० १६३………… …………मयणंमि वेयउवओगो।
तेणहिगारो तस्स उ वयंति धीरा निरुत्तमिणं॥

११—नि० गा० १६४-१६५ : विसयसुहेसु पसत्तं अबुहजणं कामरागपडिबद्धं।
उक्कामयंति जीवं धम्माओ तेण ते कामा॥
अन्नंपि य से नामं कामा रोगत्ति पंडिया बिंति॥
कामे पत्थेमाणो रोगे पत्थेइ खलु जन्तू॥

श्लोक २ :

६. जो परवश (या अभावग्रस्त) होने के कारण (अच्छन्दा [ग]) :

'अच्छन्दा' शब्द के बाद मूल चरण में जो 'जे' शब्द है वह साधु का द्योतक है। 'अच्छन्दा' शब्द साधु की विशेषता बतलाने वाला है। इसी कारण हरिभद्र सूरी ने इसका अर्थ 'अस्ववशाः' किया है अर्थात् जो साधु स्वाधीन न होने से—परवश होने से भोगों को नहीं भोगता।

'अच्छन्दा' का प्रयोग कर्तृवाचक बहुवचन में हुआ है। पर उसे कर्मवाचक बहुवचन में भी माना जा सकता है। उस अवस्था में वह वस्त्र आदि वस्तुओं का विशेषण होगा और अर्थ होगा अस्ववश पदार्थ—जो पदार्थ पास में नहीं या जिन पर वश नहीं। अनुवाद में इन दोनों अर्थों को समाविष्ट किया गया है।

इसका भावार्थ समझने के लिये चूर्णि-द्वय[1] और टीका[2] में एक कथा मिलती है। उसका सार इस प्रकार है—

चन्द्रगुप्त ने नन्द को बाहर निकाल दिया था। नन्द का अमात्य सुबन्धु था। वह चन्द्रगुप्त के अमात्य चाणक्य के प्रति द्वेष करता था। एक दिन अवसर देखकर सुबन्धु ने चन्द्रगुप्त से कहा—"आप मुझे धन नहीं देते तो भी आपका हित किसमें है—यह बताना मैं अपना कर्तव्य समझता हूं—'आपकी माँ को चाणक्य ने मार डाला है'।" धाय से पूछने पर उसने भी राजा से ऐसा ही कहा। जब चाणक्य राजा के पास आया तो राजा ने उसे स्नेह-दृष्टि से नहीं देखा। चाणक्य नाराजगी की बात समझ गया। उसने यह समझ कर कि मौत आ गई, अपनी सारी सम्पत्ति पुत्र-पौत्रों में बांट दी। फिर गंधचूर्ण इकट्ठा कर एक पत्र लिखा। पत्र को गंध के साथ डिब्बे में रखा। फिर एक के बाद एक, इस तरह चार मंजूषाओं के अन्दर उसे रखा। फिर मंजूषा को सुगन्धित कोठे में रख उसे कीलों से जड़ दिया। फिर जंगल के गोकुल में जा इंगिनी-मरण अनशन ग्रहण किया। राजा को धाय से यह बात मालूम हुई। वह पछताने लगा—"मैंने बुरा किया।" वह रानियों सहित चाणक्य से क्षमा मांगने के लिए गया और क्षमा मांग उससे वापस आने का निवेदन किया। चाणक्य बोले—"मैं सब कुछ त्याग चुका। अब नहीं जाता।" मौका देख कर सुबन्धु बोला—"आप आज्ञा दें तो मैं इनकी पूजा करूँ।" राजा ने आज्ञा दी। सुबन्धु ने धूप जला वहां एकत्रित छानों पर अंगार फेंक दिया। भयानक अग्नि में चाणक्य जल गया। राजा और सुबन्धु वापस आये। राजा को प्रसन्न कर मौका पा सुबन्धु ने चाणक्य का घर तथा घर की सारी सामग्री माँग ली। फिर घर सम्भाला। कोठा देखा। पेटी देखी। अन्त में डिब्बा देखा। सुगन्धित पत्र देखा। उसे पढ़ने लगा। उसमें लिखा था—जो सुगन्धित चूर्ण सूंघने के बाद स्नान करेगा, अलंकार धारण करेगा, ठण्डा जल पीयेगा, महती शय्या पर शयन करेगा, यान पर चढ़ेगा, गन्धर्व-गान सुनेगा और इसी तरह अन्य इष्ट विषयों का भोग करेगा, साधु की तरह नहीं रहेगा, वह मृत्यु को प्राप्त होगा। और इनसे विरत हो साधु की तरह रहेगा, वह मृत्यु को प्राप्त नहीं होगा। सुबन्धु ने दूसरे मनुष्य को गन्ध सुंघा, भोग पदार्थों का सेवन करा, परीक्षा की। वह मर गया। जीवनार्थी सुबन्धु साधु की तरह रहने लगा।

मृत्यु के भय से अकाम रहने पर भी जैसे वह सुबन्धु साधु नहीं कहा जा सकता, वैसे ही विवशता के कारण भोगों को न भोगने से कोई त्यागी नहीं कहा जा सकता।

७. उपभोग नहीं करता (न भुंजन्ति [ग]) :

'भुंजन्ति' बहुवचन है। इसलिए इसका अर्थ 'उपभोग नहीं करते' ऐसा होना चाहिए था, पर श्लोक का अन्तिम चरण एकवचनान्त है, इसलिए एकवचन का अर्थ किया है। चूर्णि और टीका में जैसे एकवचन के प्रयोग को बहुवचन के स्थान में माना है, वैसे ही बहुवचन के प्रयोग को एकवचन के स्थान में माना जा सकता है।

टीकाकार बहुवचन-एकवचन की असंगति देख कर उसका स्पष्टीकरण करते हुए लिखते हैं—सूत्र की गति (रचना) विचित्र प्रकार की होने से तथा मागधी का संस्कृत में विपर्यय भी होता है इससे ऐसा है—अत्र सूत्रगतेर्विचित्रत्वात् बहुवचनेऽपि एकवचननिर्देशः, विचित्रत्वात्सूत्रगतेर्विपर्ययश्च भवति एव इति कृत्वा।

८. त्यागी नहीं कहलाता (न से चाइ त्ति वुच्चइ [घ])

प्रश्न है—जो पदार्थों का सेवन नहीं करता वह त्यागी क्यों नहीं ? इसका उत्तर यह है—त्यागी वह होता है जो परित्याग करता

१—अ० चू०, जि० चू० पृ० ८१
२—हा० टी० पृ० ९१

११. भोग (भोए [क]) :

इन्द्रियों के विषय—स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्द का आसेवन भोग कहलाता है[1]।

भोग काम का उत्तरवर्त्ती है—पहले कामना होती है, फिर भोग होता है। इसलिए काम और भोग दोनों एकार्थक जैसे बने हुए हैं। आगमों में रूप और शब्द को काम तथा स्पर्श, रस और गन्ध को भोग कहा है। शब्द श्रोत्र के साथ स्पृष्ट-मात्र होता है, रूप चक्षु के साथ स्पृष्ट नहीं होता और स्पर्श, रस तथा गंध अपनी ग्राहक इंद्रियों के साथ गहरा संबंध स्थापित करते हैं[2]। इसलिए श्रोत्र और चक्षु इन्द्रिय की अपेक्षा जीव 'कामी' तथा स्पर्शन, रसन और घ्राण इंद्रिय की अपेक्षा जीव 'भोगी' कहलाता है[3]। यह सूक्ष्मदृष्टि है। यहां व्यवहारस्पर्शी स्थूलदृष्टि से सभी विषयों के आसेवन को भोग कहा है।

१२. पीठ फेर लेता है (विपिट्ठिकुव्वई [ख]) :

इसका भावार्थ है—भोगों का परित्याग करता है; उन्हें दूर से ही वर्जता है; उनकी ओर पीठ कर लेता है; उनके सम्मुख नहीं ताकता; उनसे मुंह मोड़ लेता है[4]।

हरिभद्र सूरि ने यहां 'विपिट्ठिकुव्वई' का अर्थ किया है—विविध—अनेक प्रकार की शुभ-भावना आदि से भोगों को पीठ पीछे करता है—उनका परित्याग करता है[5]।

'लद्धेवि पिट्ठिकुव्वई' (सं० लब्धानपि पृष्ठीकुर्यात्)—'वि' पद का 'पिट्ठिकुव्वई' के साथ योग न माना जाए तो इसकी 'अवि' (सं० अपि) के रूप में व्याख्या की जा सकती है—भोग उपलब्ध होने पर भी। प्रस्तुत अर्थ में यह संगत भी है।

१३. स्वाधीनता पूर्वक भोगों का त्याग करता है (साहीणे चयइ भोए [ग]) :

प्रश्न है—जब 'लब्ध' शब्द है ही तब पुनः 'स्वाधीन' शब्द का प्रयोग क्यों किया गया ? क्या दोनों एकार्थक नहीं हैं ?

चूर्णिकार के अनुसार 'लब्ध' शब्द का सम्बन्ध पदार्थों से है और स्वाधीन का सम्बन्ध भोक्ता से। स्वाधीन अर्थात् स्वस्थ और भोग-समर्थ। उन्मत्त, रोगी और प्रोषित पराधीन हैं।[6] वे अपनी परवशता के कारण भोगों का सेवन नहीं कर पाते। यह उनका त्याग नहीं है।

हरिभद्र सूरि ने व्याख्या में कहा है—किसी बन्धन में बंधे होने से नहीं, वियोगी होने से नहीं, परवश होने से नहीं, पर स्वाधीन होते हुए भी जो लब्ध भोगों का त्याग करता है, वह त्यागी है[7]।

जो विविध प्रकार के भोगों से सम्पन्न है, जो उन्हें भोगने में भी स्वाधीन है वह यदि अनेक प्रकार की शुभ-भावना आदि से उनका परित्याग करता है तो वह त्यागी है।

व्याख्याकारों ने स्वाधीन भोगों को त्यागनेवाले व्यक्तियों के उदाहरण में भरत चक्रवर्ती आदि का नामोल्लेख किया है। यहां प्रश्न उठता है कि यदि भरत और जम्बू जैसे स्वाधीन भोगों को परित्याग करनेवाले ही त्यागी हैं, तो क्या निर्धनावस्था में प्रव्रज्या लेकर अहिंसा आदि से युक्त हो श्रामण्य का सम्यक् रूप से पालन करनेवाले त्यागी नहीं हैं ? आचार्य उत्तर देते हैं—ऐसे प्रव्रजित व्यक्ति भी दीन नहीं हैं। वे भी तीन रत्नकोटि का परित्याग कर प्रव्रज्या लेते हैं। लोक में अग्नि, जल और महिला—ये तीन सार—रत्न हैं। इन्हें छोड़ कर वे प्रव्रजित होते हैं, अतः वे त्यागी हैं। शिष्य पूछता है—ये रत्न कैसे हैं ? आचार्य दृष्टान्त देते हुए कहते हैं : एक लकड़हारा ने सुधर्म-स्वामी के समीप प्रव्रज्या ली। जब वह भिक्षा के लिए घूमता तब लोग व्यंग में कहते—'यह लकड़हारा है जो प्रव्रजित हुआ है।'

१—जि० चू० पृ० ८२ : भोगा—सद्दादयो विसया।

२—नं० सू० ३७ : गा० ७८ : पुट्ठं सुणेइ सद्दं रूवं पुण पासई अपुट्ठं तु। गंधं रसं च फासं च बद्धपुट्ठं वियागरे॥

३—भग० ७। ७ : सोइंदियचक्खिंदियाइं पडुच्च कामी घाणिंदियजिब्भिंदियफासिंदियाइं पडुच्च भोगी।

४—जि० चू० पृ० ८३ : तओ भोगाओ विविहेहिं संपण्णा विपट्ठीओ उ कुव्वइ, परिचयइत्ति वुत्तं भवइ, अहवा विप्पट्ठि कुव्वंतित्ति दूरओ विवज्जयंती, अहवा विप्पट्ठिन्ति पच्छओ कुव्वइ, ण मग्गओ।

५—हा० टी० प० ६२ : विविधम्—अनेकैः प्रकारैः शुभभावनादिभिः पृष्ठतः करोति, परित्यजति।

६—जि० चू० पृ० ८३ : साहिणो णाम कल्लसरीरो, भोगसमत्योत्ति वुत्तं भवइ, न उम्मत्तो रोगिओ पवसिओ वा।

७—हा० टी० प० ६२ : स च न बन्धनबद्धः प्रोषितो वा किन्तु 'स्वाधीनः' अपरायत्तः, स्वाधीनानेव त्यजति भोगान्…स एव त्यागीत्युच्यते।

रहने का स्थान संयम होता है। कदाचित् कर्मोदय से भुक्तभोगी होने पर पूर्व-क्रीड़ा के अनुस्मरण से अथवा अभुक्तभोगी होने पर कौतूहल-वश मन काबू में न रहे—संयमरूपी घर से बाहर निकल जाये[1]।

स्थानाङ्ग-टीका में 'बहिद्धा' का अर्थ "मैथुन" मिलता है[2]। यह अर्थ लेने से अर्थ होगा—मन मैथुन में प्रवृत्त हो जाये।

'कदाचित्' शब्द के भाव को समझाने तथा ऐसे समय में क्या कर्तव्य है इसको बताने के लिये चूर्णि और टीकाकार एक दृष्टान्त उपस्थित करते हैं[3]। उसका भावार्थ इस प्रकार है : "एक राजपुत्र बाहर उपस्थानशाला में खेल रहा था। एक दासी उसके पास से जल का भरा घड़ा लेकर निकली। राजपुत्र ने कंकड फेंक कर उसके घड़े में छेद कर दिया। दासी रोने लगी। उसे रोते देख राजपुत्र ने फिर गोली चलाई। दासी सोचने लगी : यदि रक्षक ही भक्षक हो जाये तो पुकार कहाँ की जाये ? जल से उत्पन्न अग्नि कैसे बुझायी जाये ? यह सोच कर दासी ने कर्दम की गोली से तत्क्षण ही उस घट-छिद्र को स्थगित कर दिया—ढँक दिया। इसी तरह संयम में रमण करते हुए भी यदि संयमी का मन योगवश बाहर निकल जाये—भटकने लगे तो वह प्रशस्त परिणाम से उस अशुभ संकल्प रूपी छिद्र को चरित्र-जल के रक्षण के लिए शीघ्र ही स्थगित करे।"

१८. वह मेरी नहीं है और न मैं ही उसका हूँ (न सा महं नोवि अहं पि तीसे ग) :

यह भेद-चिन्तन का सूत्र है। लगभग सभी अध्यात्म-चिन्तकों ने भेद-चिन्तन को मोह-त्याग का बहुत बड़ा साधन माना है[4]। इसका प्रारम्भ बाहरी वस्तुओं से होता है और अन्त में यह 'अन्यच्छरीरमन्योऽहम्', यह मेरा शरीर मुझसे भिन्न है और मैं इससे भिन्न हूं—यहां तक पहुंच जाता है। चूर्णिकार ने भेद को समझाने के लिए रोचक उदाहरण प्रस्तुत किया है। उसका सार इस प्रकार है :

एक वणिक्-पुत्र था। उसने स्त्री छोड़ प्रव्रज्या ग्रहण की। वह इस प्रकार घोष करता—"वह मेरी नहीं है और न मैं भी उसका हूं।" ऐसा रटते-रटते वह सोचने लगा—"वह मेरी है, मैं भी उसका हूं। वह मुझ में अनुरक्त है। मैंने उसका त्याग क्यों किया ?" ऐसा विचार कर वह अपने उपकरणों को ले उस ग्राम में पहुँचा जहां उसकी पूर्व स्त्री थी। उसने अपने पूर्व पति को पहचान लिया पर वह उसे न पहचान सका। वणिक्-पुत्र ने पूछा—"अमुक की पत्नी मर चुकी या जीवित है ?" उसका विचार था—यदि वह जीवित होगी तो प्रव्रज्या छोड़ दूंगा, नहीं तो नहीं। स्त्री ने सोचा—यदि इसने प्रव्रज्या छोड़ दी तो दोनों संसार में भ्रमण करेंगे। यह सोच वह बोली—"वह दूसरे के साथ चली गई"। वह सोचने लगा—"जो पाठ मुझे सिखलाया गया वह ठीक है—'वह मेरी नहीं है और न मैं भी उसका हूं'।" इस तरह उसे पुनः परम संवेग उत्पन्न हुआ। वह बोला—"मैं वापस जाता हूँ।"

चौथे श्लोक में कहा गया है कि यदि कभी काम-राग जागृत हो जाये, तो इस तरह विचार कर संयमी संयम में स्थिर हो जाये। संयम में विषाद-प्राप्त आत्मा को ऐसे ही चिन्तन-मंत्र से पुनः संयम में सुप्रतिष्ठित करे।

१९. विषय-राग को दूर करे (विणएज्ज रागं घ)

'राग' का अर्थ है रंजित होना। चरित्र में भेद डालने वाले प्रसंग के उपस्थित होने पर विषय-राग का विनयन करे, उसका दमन करे अर्थात् मन का निग्रह करे।

२०. (इच्चेव घ) :

मांसादेर्वा—हैमश० ८।१।२९ अनेन एवं शब्दस्य अनुस्वारलोपः—इस सूत्र से 'एवं' शब्द के अनुस्वार का लोप हुआ है।

१—(क) जि० चू० ८४ : बहिद्धा नाम संजमाओ बाहिं गच्छइ, कहं ? पुव्वरयानुसरणेणं वा भुत्तभोइणो अभुत्तभोगिणो वा कोऊहलवत्तियाए।

(ख) हा० टी० प० ९४ : 'बहिर्धा' बहिः भुक्तभोगिनः पूर्वक्रीडितानुस्मरणादिना अभुक्तभोगिनस्तु कुतूहलादिना मनः—अंतः-करणं निःसरति—निर्गच्छति बहिर्धा—संयमगेहाद्बहिरित्यर्थः।

२—ठा० ४-१३६; टी० प० १९० : बहिद्धा—मैथुनम्।

३—अ० चू० पृ० ४४; जि० चू० पृ० ८४; हा० टी० प० ९४।

४—मोहत्यागाष्टकम् : अयं ममेति मन्त्रोऽय, मोहस्य जगदान्ध्यकृत्।
अयमेव हि नञ्पूर्वः, प्रतिमन्त्रोऽपि मोहजित्॥

दु:ख का मूल कामना है। राग-द्वेष कामना की उत्पत्ति के आन्तरिक हेतु हैं। पदार्थ-समूह, देश, काल और सौकुमार्य —ये उसकी उत्पत्ति के बाहरी हेतु हैं।

काम-विजय ही सुख है। इसी दृष्टि से कहा है—'कामना को क्रांत कर, दु:ख अपने आप क्रांत होगा।'

२६. संसार (इहलोक और परलोक) में सुखी होगा (सुही होहिसि संपराए घ)

'संपराय' शब्द के तीन अर्थ हैं—संसार, परलोक, उत्तरकाल—भविष्य[1]।

'संसार में सुखी होगा'—इसका अर्थ है: संसार दु:ख-बहुल है। पर यदि तू चित्त-समाधि प्राप्त करने के उपर्युक्त उपायों को करता रहेगा तो मुक्ति पाने के पूर्व यहाँ सुखी रहेगा। भावार्थ है—जब तक मुक्ति प्राप्त नहीं होती तब तक प्राणी को संसार में जन्म-जन्मान्तर करते रहना पड़ता है। इन जन्म-जन्मान्तरों में तू देव और मनुष्य योनि को प्राप्त करता हुआ उनमें सुखी रहेगा।[2]

चूर्णिकारों के अनुसार 'संपराय' शब्द का दूसरा अर्थ 'संग्राम' होता है। टीकाकार हरिभद्र सूरि ने मतान्तर के रूप में इसका उल्लेख किया है। यह अर्थ ग्रहण करने से तात्पर्य होगा—परीषह और उपसर्ग रूपी संग्राम में सुखी होगा—प्रसन्न-मन रह सकेगा। अगर तू इन उपायों को करता रहेगा, राग-द्वेष में मध्यस्थभाव प्राप्त करेगा तो जब कभी विकट संकट उपस्थित होगा तब तू उसमें विजयी हो सुखी रह सकेगा[3]।

मोहोदय से मनुष्य विचलित हो जाता है। उस समय वह आत्मा की ओर ध्यान न दे विषय-सुख की ओर दौड़ने लगता है। ऐसे संकट के समय संयम में पुनः स्थिर होने के जो उपाय हैं उन्हीं का निर्देश इस श्लोक में है। जो इन उपायों को अपनाता है वह आत्म-संग्राम में विजयी हो सुखी होता है।

श्लोक ६ :

२७. अगंधन कुल में उत्पन्न सर्प (कुले जाया अगन्धणे घ) :

सर्प दो प्रकार के होते हैं—गन्धन और अगन्धन। गन्धन जाति के सर्प वे हैं जो डसने के बाद मन्त्र से आकृष्ट किये जाने पर व्रण से मुंह लगाकर विष को वापस पी लेते हैं। अगन्धन जाति के सर्प प्राण गवाँ देना पसन्द करते हैं पर छोड़े हुए विष को वापस नहीं पीते[4]। अगन्धन सर्प की कथा 'विसवन्त जातक' (क्रमांक ६९) में मिलती है। उसका सार इस प्रकार है :

१—(क) अ० चू० पृ० ४५ : संपराओ संसारो।
(ख) जि० चू० पृ० ६८ : संपरातो—संसारो भण्णइ।
(ग) कठोपनिषद् शांकरभाष्य : १.२.६ : सम्पर ईयत इति सम्परायः परलोकस्तत्प्राप्तिप्रयोजनः साधनविशेषः शास्त्रीयः साम्परायः।
(घ) हलायुध कोष।

२—(क) अ० चू० पृ० ४५ : संपरायेवि दुक्खबहुले देवमणुस्सेसु सुही भविस्ससि।
(ख) जि० चू० पृ० ८६ : जाव ण परिणेव्वाहिसि ताव दुक्खाउले संसारे सुही देवमणुएसु भविस्ससि।
(ग) हा० टी० प० ६५ : यावदपवर्गं न प्राप्स्यसि तावत्सुखी भविष्यसि।

३—(क) अ० चू० पृ० ४५ : जुद्धं वा संपराओ वावीसपरीसहोवसग्गजुद्धलद्धविजतो परमसुही भविस्ससि।
(ख) जि० चू० पृ० ८६ : जुत्तं भण्णइ, जया रागदोसेसु मज्झत्थो भविस्ससि तओ (जिय) परीसहसंपराओ सुही भविस्ससित्ति।
(ग) हा० टी० प० ६५ : 'संपराये' परीसहोपसर्गसंग्राम इत्यन्ये।

४—(क) अ० चू० पृ० ४५ : गंधणा अगंधणा य सप्पा, गंधणा हीणा, अगंधणा उत्तमा, ते डंकातो विसं न पिवंति मरंता वि।
(ख) जि० चू० पृ० ८७ : तत्थ नागाणं दो जातीयो—गंधणा य अगंधणा य, तत्थ गंधणा नाम जे डसिऊण गया मंतेहिं आगच्छिया तमेव विसं वणमुहट्ठिया पुणो आवियंति ते, अगंधणा णाम मरणं ववसंति ण य वंतयं आवियंति।
(ग) हा० टी० प० ६५।

३०. वापस पीने की इच्छा नहीं करते (नेच्छंति वन्तयं भोत्तुं [ग])

प्राण भले ही चले जांय पर अगन्धन कुल में उत्पन्न सर्प विष को वापस नहीं पीता । इस बात का सहारा ले राजीमती कहती है: साधु को सोचना चाहिए—अविरत होने पर तथा धर्म को नहीं जानने पर भी केवल कुल का अवलम्बन ले तिर्यञ्च अगन्धन सर्प अपने प्राण देने को तैयार हो जाता है पर वमन पीने जैसा घृणित काम नहीं करता । हम तो मनुष्य हैं, जिन धर्म को जानते हैं फिर भला क्या हमें जाति-कुल के स्वाभिमान को त्याग, परित्यक्त भोगों का पुनः कायरतापूर्वक आसेवन करना चाहिए[1] ? हम दारुण दुःख के हेतुभूतत्यक्त-भोगों का फिर से सेवन कैसे कर सकते है[2] ?

३१. श्लोक ७ से ११ :

इनकी तुलना के लिए देखिए—'उत्तराध्ययन' २२ । ४२, ४३, ४४, ४६, ४६ ।

श्लोक ७ :

३२. हे यशःकामिन् ! (जसोकामी [क]) :

चूर्णि के अनुसार 'जसोकामी' शब्द का अर्थ है—हे क्षत्रिय[3] ! हरिभद्र सूरि ने इस शब्द को रोष में क्षत्रिय के आमंत्रण क कहा है[4] । डा० यॉकोबी ने इसी कारण इसका अर्थ 'famous knight' किया है[5] ।

अकार का प्रश्लेप मानने पर 'धिरत्थु तेऽजसोकामी' ऐसा पाठ बनता है[6] । उस हालत में—हे अयशःकामिन् ! सम्बोधन बनेगा । 'यश' शब्द का अर्थ संयम भी होता है[7] । अतः अर्थ होगा —हे असंयम के कामी ! धिक्कार है तुझे ।

इस श्लोक के पहले चरण का अर्थ इस प्रकार भी किया जा सकता है—हे कामी ! तेरे यश को धिक्कार है ।

३३. क्षणभंगुर जीवन के लिए (जो तं जीवियकारणा [ख]) :

जिनदास महत्तर ने इसका अर्थ 'कुशाग्र पर स्थित जल-बिन्दु के समान चंचल जीवन के लिए'[8] और हरिभद्र सूरि ने ' जीवन के लिए'—ऐसा किया है[9] ।

३४. इससे तो तेरा मरना श्रेय है ! (सेयं ते मरणं भवे [घ]) :

जैसे जीने के लिए वमन की हुई वस्तु का पुनः भोजन करने से मरना अधिक गौरवपूर्ण होता है वैसे ही परित्यक्त भोगों क की अपेक्षा मरना ही श्रेयस्कर है ।

१—जि० चू० पृ० ८७ : साहुणावि चिंतेयव्वं जइ णामाविरएण होऊण धम्मं अयाणमाणेण कुलमवलंबंतेण य जीवियं परिच्च वन्तमावीतं, किमंगपुण मणुस्सेण जिणवयणं जाणमाणेण जातिकुलमत्तणो अणुगणितेणं ? तहा करणीयं जेण सद्देण भवइ अविय-मरणं अज्झवसियव्वं, ण य सीलविराहणं कुज्जा ।

२—हा० टी० प० ६५ : यदि तावत्तिर्यञ्चोऽप्यभिमानमात्रादपि जीवितं परित्यजन्ति न च वान्तं भुञ्जते तत्कथमहं जिन भिज्ञो विपाकदारुणान् विपयान् वान्तान् भोक्ष्ये ?

३—जि० चू० पृ० ८८ : जसोकामिणो खत्तिया भण्णंति ।

४—हा० टी० प० ६६ : हे यशस्कामिन्निति सासूयं क्षत्रियामन्त्रणम् ।

५—The Uttaradhyayana Sutra P. 118

६—(क) जि० चू० पृ० ८८ : अहवा धिरत्थु ते अयसोकामी, गंधलाघवत्थं अकारस्स लोवं काऊणं एवं पढिज्जइ 'धिरत्थु तं कामी' ।

(ख) हा० टी० प० ६६ : अथवा अकारप्रश्लेपादयशस्कामिन् !

७—(क) हा० टी० प० १८८ : 'जसं सारक्खमप्पणो (द० ५.२.३६)—यशःशब्देन संयमोऽभिधीयते ।

(ख) भगवती श० ४१ उ० १ : तेणं भंते जीवा ! किं आयजसेणं उववज्जंति ?······आत्मनः सम्बन्धि यशो यशोहे यशः—संयमः आत्मयशस्तेन ।

८—जि० चू० पृ० ८८ : जो तुमं इमस्स कुसग्गजलबिंदुचंचलस्स जीवियस्स अट्ठाए ।

६—हा० टी० प० ६६ : 'जीवितकारणात्' असंयमजीवितहेतोः ।

श्लोक ९ :

३७. हट (हडो [ग])

'सूत्रकृताङ्ग' में 'हड' को 'उदक-योनिक', 'उदक-संभव' वनस्पति कहा गया है। वहाँ उसका उल्लेख उदक, अवग, पणग, सेवाल, कलम्बुग के साथ किया गया है[1]। 'प्रज्ञापना' सूत्र में जलरुह वनस्पति के भेदों को बताते हुए उदक आदि के साथ 'हढ' का उल्लेख मिलता है[2]। इसी सूत्र में साधारण-शरीरी बादर-वनस्पतिकाय के प्रकारों को बताते हुए 'हड' वनस्पति का नाम आया है[3]। आचाराङ्ग निर्युक्ति में अनन्त-जीव वनस्पति के उदाहरण देते हुए सेवाल, कत्थ, भाणिका, अवक, पणक, किण्णव आदि के साथ 'हढ' का नामोल्लेख है[4]। इन समान उल्लेखों से मालूम होता है कि 'हड' वनस्पति 'हढ' नाम से भी जानी जाती थी।

हरिभद्र सूरि ने इसका अर्थ एक प्रकार की अबद्धमूल वनस्पति किया है[5]। जिनदास महत्तर ने इसका अर्थ द्रह, तालाब अ होनेवाली एक प्रकार की छिन्नमूल वनस्पति किया है[6]। इससे पता चलता है कि 'हड' बिना मूल की जलीय वनस्पति है।

'सुश्रुत' में सेवाल के साथ हट, तृण, पद्मपत्र आदि का उल्लेख है। इससे पता चलता है कि संस्कृत में 'हड' का नाम प्रचलित रहा है। यहीं हट से आच्छादित जल को दूषित माना है[7]। इससे यह निष्कर्ष सहज ही निकलता है कि 'हड' वनस्पति ज आच्छादित कर रहती है। 'हढ' को संस्कृत में 'हठ' भी कहा गया है[8]।

'हड' वनस्पति का अर्थ कई अनुवादों में घास[9] अथवा वृक्ष[10] किया गया है। पर उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि ये अर्थ अशुद्ध हैं।

'हट' का अर्थ जलकुम्भी किया गया है[11]। इसकी पत्तियाँ बहुत बड़ी, कड़ी और मोटी होती हैं। ऊपर की सतह जैसी चिकनी होती है। इसलिए पानी में डूबने की अपेक्षा यह आसानी से तैरती रहती है। जलकुम्भी के आठ पर्यायवाची उपलब्ध हैं[12]।

१—सू० २.३.५४ : अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता उदगजोणिया उदगसंभवा जाव कम्मनियाणेणं तत्थवुक्कमा णाणा जोणिएसु उदएसु उदगत्ताए अवगत्ताए पणगत्ताए सेवालत्ताए कलंबुगत्ताए हडत्ताए कसेरुगत्ताए ·· विउट्टन्ति।

२—प्रज्ञा० १.४३ : से किं तं जलरुहा ?, जलरुहा अणेगविहा पन्नत्ता, तंजहा—उदए, अवए, पणए, सेवाले, कलंबुया, हढे

३—प्रज्ञा० १.४५ : से किं तं साहारणसरीरबादरवणस्सइकाइया ? साहारणसरीरबादरवणस्सइकाइया अणेगविहा पन्नत्ता। ···किमिरासि भद्दमुत्था णंगलई पेलुगा इय। किण्हे पउले य हढे हरतणुया चेव लोयाणी ॥६॥

४—आचा० नि० गा० १४१ :

सेवालकत्थभाणियअवए पणए य किनए य हढे।
एए अणन्तजीवा भणिया अण्णे अणेगविहा ॥

५—हा० टी० प० ९७ : हडो···अबद्धमूलो वनस्पतिविशेषः।

६—जि० चू० ८९ : हढो णाम वणस्सइविसेसो, सो दहतलागादिषु छिण्णमूलो भवति।

७—सुश्रुत (सूत्रस्थान) ४५.७ : तत्र यत् पङ्कशैवालहटतृणपद्मपत्रप्रभृतिभिरवच्छन्नं शशिसूर्य्यकिरणानिलैर्नाभिजुष्टं गन्धवर्णर सृष्टञ्च तद्व्यापन्नमिति विद्यात्।

८—आचा० नि० गा० १४१ की टीका : सेवालकत्थभाणिकाऽवकपनककिण्वहठादयोऽनन्तजीवा गदिता।

९—(क) Das. (का० वा० अभ्यङ्कर) नोट्स पृ० १३ : The writer of the Vritti explains it as a kind grass which leans before every breeze that comes from any direction.

(ख) समी सांजनो उपदेश (गो० जी० पटेल) पृ० १६ : ऊंडां मूल न होवाने कारणे वायुथी आम तेम फेंकाता नामना घास···।

१०—दश० (जी० घेलाभाई) पत्र ६ : हड नामा वृक्ष समुद्रनें कीनारे होय छे। तेनु मूल बराबर होतूं नथी, अने माथे भार होय छे अने समुद्रने किनारे पवननु जोर घणु होवाथी ते वृक्ष उखडीने समुद्रमा पडे अने त्यां हेराफेरा कर्या करे।

११—सुश्रुत० (सूत्रस्थान) ४५.७ : पाद-टिप्पणी न० १ में उद्धृत अंश का अर्थ :—हटः जलकुम्भिका, अभूमिलग्नमूलस्तृणविशेषः इत्ये

१२—शा० नि० पृ० १२३० :

कुम्भिका वारिपर्णी च, वारिमूली खमूलिका।
आकाशमूली कुतृणं, कुमुदा जलवल्कलम् ॥

३८. अस्थितात्मा हो जायेगा (अट्ठिअप्पा भविस्ससि) :

राजीमती इस श्लोक में जो कहती है उसका सार इस प्रकार है : हड वनस्पति के मूल नहीं होता। वायु के एक झोंके से इधर से ही वह वनस्पति जल में इधर-उधर बहने लगती है। इसी तरह यदि तू दृष्ट-नारी के प्रति अनुराग करने लगेगा तो संयम में अबद्धमूल होने से तुझे संसार-समुद्र में प्रमाद-पवन से प्रेरित हो इधर-उधर भव-भ्रमण करते रहना पड़ेगा[1]।

पृथ्वी अनन्त स्त्री-रत्नों से परिपूर्ण है। जहाँ-तहाँ स्त्रियाँ दृष्टिगोचर होंगी। उन्हें देख कर यदि तू उनके प्रति ऐसा भाव (अभिलाषा, अभिप्राय) करने लगेगा कि यह मेरे प्रति भाव रख रही है तो संयम में अबद्धमूल हो, श्रमण-गुणों से रिक्त हो, केवल द्रव्यलिंगधारी हो जायेगा[2]।

श्लोक १० :

३९ सुभाषित (सुभासियं) :

यह वचन (वचन) का विशेषण है। इसका अर्थ है—अच्छे कहे हुए। राजीमती के वचन संसार-भय से उद्विग्न करनेवाले[3], संवेग—वैराग्य उत्पन्न करनेवाले हैं[4] अतः सुभाषित कहे गये हैं।

श्लोक ११ :

४०. संबुद्ध, पण्डित और प्रविचक्षण (संबुद्धा पंडिया पवियक्खणा) :

प्राय प्रतियों में 'संबुद्धा' पाठ मिलता है। 'उत्तराध्ययन' सूत्र में भी 'संबुद्धा' पाठ ही है[5]। पर चूर्णिकार ने 'सपण्णा' पाठ स्वीकार कर व्याख्या की है।

चूर्णिकार के अनुसार 'सप्रज्ञ' का अर्थ है प्रज्ञा—बुद्धि से सम्पन्न[6]। 'पण्डित' का अर्थ है—परित्यक्त भोगों के प्रत्याचरण में दोषों को जाननेवाला[7]। 'प्रविचक्षण' का अर्थ है—पाप-भीरु—जो संसार-भय से उद्विग्न हो थोड़ा भी पाप करना नहीं चाहता[8]।

हरिभद्र सूरि के सम्मुख 'संबुद्धा' पाठवाली प्रतियाँ ही रहीं। उन्होंने निम्न रूप से व्याख्या की है : 'संबुद्ध'—'बुद्ध' बुद्धिमान् को कहते हैं। जो बुद्धिमान् सम्यक्-दर्शन सहित होता है, वह संबुद्ध कहलाता है। विषयों के स्वभाव को जाननेवाला सम्यक्-दृष्टि—'संबुद्ध' है। 'पण्डित'—जो सम्यक्-ज्ञान से सम्पन्न हो। 'प्रविचक्षण'—जो सम्यक्-चारित्र से युक्त हो[9]।

हरिभद्र सूरि के सम्मुख चूर्णिकार से प्रायः मिलती हुई व्याख्या भी थी, जिसका उल्लेख उन्होंने मतान्तर के रूप में किया है[10]।

४१ पुरुषोत्तम (पुरिसोत्तमो) :

प्रश्न है—प्रव्रजित होने पर भी रथनेमि विषय की अभिलाषा करने लगे फिर उन्हें पुरुषोत्तम क्यों कहा गया है? इसका उत्तर

१—हा० टी० प० ९७ : सर्वत्र तत्पर्यनिबन्धनेषु सर्वमुनेरत्र (प्रति) अबद्धमूलत्वात् संसारसागरे प्रमादपवनप्रेरित इतश्चेतश्च पर्यटिष्यसीति।

२—जि० चू० पृ० ८९ : इहो "बालेण य माइठो इओ इओ य निज्जइ, तहा तुमवि एवं करेंतो संजमे अबद्धमूलो समणगुणपरिहीणो केवल द्रव्यलिंगधारी भविस्ससि।

३—जि० चू० पृ० ९१ : संसारभउव्वेगकरेहिं वयणेहिं।

४—हा० टी० प० ९७ : 'सुभाषितं' संवेगनिबन्धनम्।

५—उत्त० २२.४९।

६—जि० चू० पृ० ९२ : सपण्णा णाम पण्णा—बुद्धी भण्णइ, तीए बुद्धीए उववेता संपण्णा भण्णंति।

७—जि० चू० पृ० ९२ : पंडिया णाम चत्ताण भोगाण पडियाइणे जे दोसा परिजाणंति पंडिया।

८—जि० चू० पृ० ९२ : पवियक्खणा णामावज्जभीरू भण्णंति, वज्जभीरुणो णाम संसारभउव्विग्गा थोवमवि पावं णेच्छंति।

९—हा० टी० प० ९९ : 'संबुद्धाः' बुद्धिमन्तो बुद्धाः सम्यग्-दर्शनसाहचर्येण दर्शनैकीभावेन वा बुद्धाः संबुद्धा—विदितविषयस्वभावाः सम्यग्दृष्टयः "पण्डिताः—सम्यग्ज्ञानवन्तः प्रविचक्षणाः—चरणपरिणामवन्तः।

१०—हा० टी० प० ९९ : अन्ये तु व्याचक्षते—संबुद्धाः सामान्येन बुद्धिमन्तः पण्डिता वान्तभोगासेवनदोषज्ञाः प्रविचक्षणा अवद्यभीरवः

इस प्रकार है : मन में अभिलाषा होने पर कापुरुष अभिलाषा के अनुरूप ही चेष्टा करता है पर पुरुषार्थी पुरुष मोहोदय के वश ऐसा संकल्प उपस्थित होने पर भी आत्मा को जीत लेता है—उसे पाप से वापस मोड़ लेता है। गिरती हुई आत्मा को पुनः स्थिर कर रथनेमि ने जो प्रबल पुरुषार्थ दिखाया उसी कारण उन्हें पुरुषोत्तम कहा है। राजीमती के उपदेश को सुन कर धर्म में पुनः स्थिर होने के बाद उनकी अवस्था का चित्रण करते हुए लिखा गया है : "मनगुप्त, वचनगुप्त, कायगुप्त तथा जितेन्द्रिय हो उन दृढ़व्रती रथनेमि ने निश्चलता से जीवन-पर्यन्त श्रमण-धर्म का पालन किया। उग्र तप का आचरण कर वे केवलज्ञानी हुए और सर्व कर्मों का क्षय कर अनुत्तर सिद्ध-गति को प्राप्त हुए[1]।" इस कारण से भी वे पुरुषोत्तम थे।

१—उत्त० २२.४७,४८ :

मणगुत्तो वयगुत्तो, कायगुत्तो जिइन्दिओ।
सामण्णं निच्चलं फासे, जावज्जीवं दढव्वओ॥
उग्गं तवं चरित्ताणं, जाया दोण्णि वि केवली।
सव्वं कम्मं खवित्ताणं, सिद्धिं पत्ता अणुत्तरं॥

तइयं अज्झयणं
खुड्डियायारकहा

तृतीय अध्ययन
क्षुल्लिकाचारकथा

आमुख

समूचे ज्ञान का सार आचार है। धर्म में जिसकी धृति नहीं होती उसके लिए आचार और अनाचार का भेद महत्त्व नहीं रखता। जो धर्म में धृतिमान् है वह आचार को निभाता है और अनाचार से बचता है[1]। नियुक्ति की भाषा में अहिंसा आचार और हिंसा अनाचार है। शास्त्र की भाषा में जो अनुष्ठान मोक्ष के लिए हो या जो व्यवहार शास्त्र-विहित हो वह आचार है और शेष अनाचार।

आचरणीय वस्तु पाँच हैं—ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य। इसलिए आचार पाँच बनते हैं—ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चरित्राचार, तप आचार और वीर्याचार[2]।

आचार से आत्मा संयत होती है या जिसकी आत्मा संयम से सुस्थित होती है वही आचार का पालन करता है। संयम की स्थिरता और आचार का गहरा सम्बन्ध है। अनाचार आचार का प्रतिपक्ष है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य का शास्त्र-विधि के प्रतिकूल जो अनुष्ठान है वह अनाचार है। मूल संख्या में ये भी पाँच हैं। विवक्षा भेद से आचार और अनाचार इन दोनों के अनेक भेद हैं।

'अनाचार' का अर्थ है प्रतिषिद्ध-कर्म, परिज्ञातव्य प्रत्याख्यातव्य-कर्म या अनाचीर्ण-कर्म। आचार धर्म या कर्तव्य है और अनाचार अधर्म या अकर्तव्य।

इस अध्ययन में अनाचीर्णों का निषेध कर आचार या चर्या का प्रतिपादन किया है, इसलिए इसका नाम 'आचार-कथा' है। इसी सूत्र के छठे अध्ययन (महाचार-कथा) की अपेक्षा इस अध्ययन में आचार का संक्षिप्त प्रतिपादन है, इसलिए इसका नाम 'क्षुल्लिकाचार-कथा' है[3]।

सूत्रकार ने संख्या-निर्देश के बिना अनाचारों का उल्लेख किया है। चूर्णिद्वय तथा वृत्ति में भी संख्या का निर्देश नहीं है। दीपिकाकार चौवन की संख्या का उल्लेख करते हैं[4]। इस परम्परा के अनुसार निर्ग्रन्थ के चौवन अनाचारों की तालिका इस प्रकार बनती है

१—औद्देशिक (साधु के निमित्त बनाये गये आहारादि का लेना)
२—क्रीतकृत (साधु के निमित्त क्रीत वस्तु का लेना)
३—नित्याग्र (निमन्त्रित होकर नित्य आहार लेना)
४—अभिहृत (दूर से लाये गये आहार आदि ग्रहण करना)
५—रात्रि-भोजन
६—स्नान
७—गन्ध-विलेपन
८—माल्य (माला आदि धारण करना)
९—बीजन (पंखादि से हवा लेना)
१०—सन्निधि (खाद्य, पेय आदि वस्तुओं का संग्रह कर रखना)
११—गृहि-अमत्र (गृहस्थ के पात्र में भोजन)
१२—राज-पिण्ड (राजा के घर का आहार ग्रहण)

१—(क) अ० चू० पृ० ४६ : धम्मे धितिमतो आयारसुट्ठितस्स फलोवदरिसणोवसंहारे।
(ख) अ० चू० पृ० ४६ : इदाणिं तु धितिसो णियमिज्जति – धिती आयारे करणीय त्ति।
(ग) जि० चू० पृ० ९२ : इदाणिं धम्मधितिमतस्स आयारो भाणितव्वो, अहवा सा धिती कहिं करेयव्वा ?, आयारे।
(घ) हा० टी० प० १०० : इह तु सा धृतिराचारे कार्या नत्वनाचारे, अयमेवात्मसंयमोपाय इत्येतदुच्यते, उक्तञ्च—
"तस्यात्मा संयतो यो हि, सदाचारे रतः सदा।
स एव धृतिमान् धर्मस्तस्यैव च जिनोदितः॥"

२—(क) ठा० ५.१४७ : पञ्चविधे आयारे प० तं० णाणायारे दंसणायारे चरित्तायारे तवायारे वीरियायारे।
(ख) नि० गा० १८१ : दंसणनाणचरित्ते तवआयारे य वीरियायारे।
एसो भावायारो पञ्चविहो होइ नायव्वो॥

३—नि० गा० १७८ : एएसि महंताणं पडिवक्खे खुड्डया होंति॥

४—दी० पृ० ७ : सर्वमेतत् पूर्वोक्तं वस्तु पञ्चाशच्चतुरधिकमौद्देशिकादिकं यदनन्तरमुक्तं तत् सर्वमनाचरितं ज्ञातव्यम्।

१३—किमिच्छक (क्या चाहिए ? ऐसा पूछ कर दिया हुआ आहार आदि)
१४—संबाधन (शरीर-मर्दन)
१५—दंत-प्रधावन (दांतों को धोना)
१६—संपृच्छन (गृहस्थों से सावद्य प्रश्न)
१७—देह-प्रलोकन (आईने आदि में शरीर देखना)
१८—अष्टापद (शतरंज खेलना)
१९—नालिका (द्यूत विशेष)
२०—छत्र-धारण
२१—चिकित्सा
२२—उपानह पहनना
२३—अग्नि-समारम्भ
२४—शय्यातर-पिण्ड (वसति दाता का आहार लेना)
२५—आसंदी का व्यवहार
२६—पर्यङ्क (पलंग का व्यवहार)
२७—गृहि-निषद्या (गृही के घर बैठना)
२८—गात्र-उद्वर्तन (शरीर-मालिश)
२९—गृहि-वैयावृत्य (गृहस्थ की सेवा)
३०—आजीववृत्तिता (शिल्प आदि से आजीविका)
३१—तप्तानिर्वृतभोजित्व (अनिर्वृत खान-पान)
३२—आतुर-स्मरण अथवा आतुर-शरण (पूर्व भोगों का स्मरण अथवा चिकित्सालय में शरण लेना)
३३—सचित्त मूलक
३४—सचित्त शृंगवेर (अदरक)
३५—सचित्त इक्षु-खण्ड
३६—सचित्त कन्द
३७—सचित्त मूल
३८—सचित्त फल
३९—सचित्त बीज
४०—सचित्त सौवर्चल लवण
४१—सचित्त सैंधव लवण
४२—सचित्त लवण
४३—सचित्त रुमा लवण
४४—सचित्त सामुद्र लवण
४५—सचित्त पांशु-क्षार लवण
४६—सचित्त कृष्ण लवण
४७—धूमनेत्र (धूम्रपान)
४८—वमन
४९—वस्तिकर्म
५०—विरेचन
५१—अंजन
५२—दन्तवन
५३—गात्राभ्यङ्ग
५४—विभूषा ।

अनाचारों की संख्या बावन अथवा तिरपन होने की परम्पराएँ भी प्रचलित हैं[1] । बावन और तिरपन की संख्या का उल्लेख पहले-पहल किसने किया, यह अभी शोध का विषय है ।

तिरपन की परम्परावाले 'राजपिण्ड' और 'किमिच्छक' को एक मानते हैं । बावन की एक परम्परा में 'आसन्दी' और 'पर्यङ्क' तथा 'गात्राभ्यङ्ग' और 'विभूषण' को एक-एक माना गया है । इसकी दूसरी परम्परा 'गात्राभ्यङ्ग' और 'विभूषण' को एक मानने के स्थान में लवण को 'सैंधव' का विशेषण मान कर दोनों को एक अनाचार मानती है ।

इस प्रकार उक्त चार परम्पराएँ हमारे सामने हैं । इनमें संख्या का भेद होने पर भी तत्त्वतः कोई भेद नहीं है ।

परन्तु आगम के छठे अध्ययन में प्रथम चार अनाचारों का संकेत 'अकल्प्य' शब्द द्वारा किया गया है[2] । वहीं केवल 'पलियंक' शब्द के द्वारा आसंदी, पर्यङ्क, मंच, आशालकादि को संगृहीत किया गया है[3] । इसके आधार पर कहा जा सकता है कि उपर्युक्त अनाचारों में कुछ स्वतन्त्र हैं और कुछ उदाहरणस्वरूप । सौवर्चल, सैंधव आदि नमक के प्रकार स्वतन्त्र अनाचार नहीं किन्तु सचित्त लवण अनाचार के ही उदाहरण हैं ।

इसी तरह सचित्त मूलक, शृंगवेर, इक्षु-खण्ड, कन्द, मूल, फल, बीज आदि सचित्त वनस्पति नामक एक अनाचार के ही उदाहरण

१—अगस्त्यसिंह चूर्णि के अनुसार अनाचारों की संख्या ५२ बनती है, क्योंकि इन्होंने राजपिण्ड और किमिच्छक को तथा सैंधव और लवण को अलग-अलग न मानकर एक-एक माना है ।

जिनदास चूर्णि के अनुसार भी अनाचारों की संख्या ५२ ही है । इन्होंने राजपिण्ड और किमिच्छक को एक न मानकर अलग अलग माना है तथा सैंधव और लवण को एवं गात्राभ्यङ्ग और विभूषण को एक-एक माना है ।

हरिभद्रसूरि एवं सुमतिसाधु सूरि के अनुसार अनाचारों की संख्या ५३ बनती है । इन्होंने राजपिण्ड और किमिच्छक को एक तथा सैंधव और लवण को अलग-अलग माना है ।

आचार्य आत्मारामजी के अनुसार अनाचारों की संख्या ५३ हैं । इन्होंने राजपिण्ड और किमिच्छक को अलग-अलग मान सैंधव और लवण को एक माना है ।

२—दश० ६.८, ४८-५० ।
३—दश० ६.८, ५४-५६ ।

१७.	नालिकाद्यूत	—	ग्रहण का अदत्त, लोकापवाद ।
१८.	छत्र	—	लोकापवाद, अहंकार ।
१९.	चिकित्सा	—	सूत्र और अर्थ की हानि ।
२०.	उपानत	—	गर्व आदि ।
२१.	अग्निसमारंभ	—	जीववध ।
२२.	शय्यातरपिंड	—	एषणा दोष ।
२३.	आसन्दी और पर्यङ्क	—	शुषिर में रहे जीवों की विराधना की संभावना ।
२४.	गृहान्तरनिषद्या	—	ब्रह्मचर्य की अगुप्ति, शंका आदि दोष ।
२५.	गात्र-उद्वर्तन	—	विभूषा ।
२६.	गृहिवैयापृत्य	—	अधिकरण ।
२७.	आजीववृत्तिता	—	आसक्ति ।
२८.	तप्तानिर्वृतभोजित्व	—	जीववध ।
२९.	आतुरस्मरण	—	दीक्षा त्याग ।
३०.	मूल आदि का ग्रहण	—	वनस्पति का घात ।
३१.	सौवर्चल आदि नमक का ग्रहण	—	पृथ्वीकाय का विघात ।
३२.	धूपन आदि	—	विभूषा ।[1]

उत्सर्ग-विधि से—सामान्य-निरूपण की पद्धति से यहाँ जितने भी अग्राह्य, अभोग्य, अकरणीय कार्य बताये गये हैं वे सारे अनाचार हैं। अपवाद-विधि के अनुसार विशेष परिस्थिति में कुछेक अनाचीर्ण अनाचीर्ण नहीं रह जाते। जो कार्य मूलतः सावद्य हैं या जिनका हिंसा से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है, वे हर परिस्थिति में अनाचीर्ण हैं, जैसे—सचित्त-भोजन, रात्रि-भोजन आदि। जिनका निषेध विशेष विशुद्धि या संयम की उग्र साधना की दृष्टि से हुआ है वे विशेष परिस्थिति में अनाचीर्ण नहीं रहते, जैसे—गृहान्तर-निषद्या ब्रह्मचर्य की दृष्टि से तथा दूसरों के मन में शङ्का न पड़े इस दृष्टि से अनाचार है। रुग्णावस्था, वृद्धावस्था आदि में ब्रह्मचर्य भङ्ग अथवा दूसरे के शंका की संभावना न रहने से स्थविर के लिए यह अनाचार नहीं है[2]। अंजन-विभूषा शृङ्गार की दृष्टि से हर समय अनाचार है पर नेत्र-रोग की अवस्था में यह अनाचार नहीं है[3]। सौन्दर्य के लिए वमन, वस्तिकर्म, विरेचन अनाचार हैं, रुग्णावस्था में यह अनाचार नहीं है। शोभा या गौरव के लिए छत्र-धारण अनाचार है। आतप आदि के निवारण के लिए भी इसका व्यवहार अनाचार है, पर स्थविर के लिए नहीं[4]।

निर्युक्तिकार के अनुसार यह अध्ययन नवें पूर्व की तीसरी आचार वस्तु से उद्धृत है[5]।

१—अ० चू० पृ० ६२, ६३ : उद्देसियादि विभूषणंतं अणायरणकारणाणि—उद्देसिते सत्तवहो, कीतकडे गवादि अहिकरणं, णीताए तदट्ठमुपक्खडणं, आहडे छक्कायवहो, रातिभत्ते सत्तविराहना, सिणाणे विभूसाउप्पीलावणादि, गंध-मल्ले, सुहुमघाय-उड्डाहा, वीयणे संपादिम-वायुवहो, सण्णिहीए पिपीलियादिवहो, गिहिमत्ते आउक्कायवहो, हिय-णट्ठे य दवावणं, रायपिण्डे संवाहेण विराहणा उक्कोसलंभे य एषणा-घातो, संवाहणे सुत्त-अत्थपलिमंथो (अ) तब्भावणं च (दंतपधोवणे) दंत-विभूसा, सम्पुच्छणे पावाणुमोदणं, संलोयणेण बंभपीड़ा, अट्ठावय-णालोयाए गेण्हणादत्तो उड्डाहो य, छत्ते उड्डाहो गव्वो य, तिगिच्छे सुत्त-अत्थपलिमंथो, उवाहणाहिं गव्वादि, जोतिसमारम्भे कायवहो, सेज्जातर-पिंडे एसणा दोसा, आसंदी-पलियंकेसु सुसिरदोसा, गिहंतरणिसेज्जाए अगुत्ती बंभचेरस्स संकादतो य, (गाउवट्टणाए गायविभूसा) गिहिणो वेतावडिए अहिकरणं, आजीववित्ती अणिस्संगता, तत्तानिव्वुडभोइयत्ते सत्तवहो, आउरसरणे उप्पव्वावणादि, मूलादिग्गहणे वणस्सतिघातो, सोवच्चलादीणं पुढविकायवहो, धूवणादि विभूसा। एते दोसा इति।

२—दश० ६.५९ : तिण्हमन्नयरागस्स निसेज्जा जस्स कप्पइ। जराए अभिभूयस्स वाहियस्स तवस्सिणो॥

३—भिक्षु-ग्रन्थ० (प्र० ख०), पृ० ३४१; निन्हवरास १.६२ :

कारण विनांइ सावव्यां, काजल घाले आंख्यां रे मांहि कें।
अणाचारणी त्यांनें कही, दसवीकालक तीजा अधेन रे मांहि कें॥

४—भिक्षु-ग्रन्थ० (प्र० ख०) पृ० ३१३ जिनाग्या री चौपई ५.१५ :

छत्त वा कह्यो छें ते तो छत्तरडो रे, ते कंवलादिक नों कर राखे तांम रे।
ते राखे छे सीतापादिक टालवा रे, और मूतलव रो नहीं छे कांम रे॥

५—नि० गा० १७ : अवसेसा निज्जूढा नवमस्स उ तइयवत्थूओ।

तइयं अज्झयणं : तृतीय अध्ययन

खुड्डियायारकहा : क्षुल्लिकाचार-कथा

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१—संजमे सुट्ठिअप्पाणं विप्पमुक्काण ताइणं । तेसिमेयमणाइण्णं निग्गंथाण महेसिणं ॥	संयमे सुस्थितात्मनां विप्रमुक्तानां त्रायिणाम् । तेषामेतदनाचीर्णं निर्ग्रन्थानां महर्षीणाम् ॥१॥	जो संयम में सुस्थितात्मा हैं,[1] जो विप्रमुक्त हैं[2], त्राता हैं[3],—उन निर्ग्रन्थ[4] महर्षियों[5] के लिए[6] ये (निम्नलिखित) अनाचीर्ण हैं[7] (अग्राह्य हैं, असेव्य हैं, अकरणीय हैं)—
२—उद्देसियं कीयगडं नियागमभिहडाणि य । राइभत्ते सिणाणे य गंधमल्ले य वीयणे ॥	औद्देशिकं क्रीतकृतं नित्याग्रमभिहृतानि च । रात्रिभक्तं स्नानं च गन्धमाल्ये च वीजनम् ॥२॥	औद्देशिक[8]—निर्ग्रन्थ के निमित्त बनाया गया। क्रीतकृत[9]—निर्ग्रन्थ के निमित्त खरीदा गया ॥ नित्याग्र[10]—आदरपूर्वक निमन्त्रित कर प्रतिदिन दिया जाने वाला। अभिहृत[11] निर्ग्रन्थ के निमित्त दूर से सम्मुख लाया गया आहार आदि लेना। रात्रि-भक्त[12]—रात्रि-भोजन करना। स्नान[13]—नहाना। गन्ध—गन्ध सूंघना या गन्ध द्रव्य का विलेपन करना। माल्य[14]—माला पहनना। वीजन[15]—पंखा झलना।
३—सन्निही गिहिमत्ते य रायपिंडे किमिच्छए । संबाहणा दंतपहोयणा य संपुच्छणा देहपलोयणा य ॥	सन्निधिर्गृहामत्रं च राजपिण्डः किमिच्छकः । सम्बाधनं दन्तप्रधावनं च सम्प्रश्नः देहप्रलोकनं च ॥३॥	सन्निधि[16]—खाद्य-वस्तु का संग्रह करना—रात-वासी रखना। गृहि-अमत्र[17]—गृहस्थ के पात्र में भोजन करना। राजपिण्ड—मूर्धाभिषिक्त राजा के घर से भिक्षा लेना। किमिच्छक[18]—'कौन क्या चाहता है?' यों पूछ कर दिया जानेवाला राजकीय-भोजन आदि लेना। संबाधन[19]—अंग-मर्दन करना। दंत-प्रधावन[20]—दांत पखारना। सम्प्रश्न[21]—गृहस्थ को कुशल पूछना (सम्प्रोञ्छन—शरीर के अवयवों को पोंछना)। देह-प्रलोकन[22]—दर्पण आदि में शरीर देखना।

४—अट्ठावए य नालीय
छत्तस्स य धारणट्ठाए ।
तेगिच्छं पाणहा पाए
समारंभं च जोइणो ॥

अष्टापदश्च नालिका
छत्रस्य च धारणमनर्थाय ।
चैकित्स्यमुपानहौ पादयोः
समारम्भश्च ज्योतिषः ॥४॥

अष्टापद[23]—शतरंज खेलना । नालिका[24]—नलिका से पासा डाल कर जुआ खेलना । छत्र[25]—विशेष प्रयोजन के बिना छत्र धारण करना । चैकित्स्य[26]—रोग का प्रतिकार करना, चिकित्सा करना । उपानत्[27]—पैरों में जूते पहनना । ज्योतिः समारम्भ[28]—अग्नि जलाना ।

५—सेज्जायरपिंडं च
आसंदीपलियंकए ।
गिहंतरनिसेज्जा य
गायस्सुव्वट्टणाणि य ॥

शय्यातरपिण्डश्च
आसन्दी-पर्य (ल्य) ङ्कः ।
गृहान्तरनिषद्या च
गात्रस्योद्वर्तनानि च ॥५॥

शय्यातरपिण्ड[29]—स्थान-दाता के घर से भिक्षा लेना । आसंदी[30]—मञ्चिका । पर्यङ्क[31]—पलंग पर बैठना । गृहान्तर-निषद्या[32]—भिक्षा करते समय गृहस्थ के घर बैठना । गात्र-उद्वर्तन[33]—उबटन करना ।

६—गिहिणो वेयावडियं
जा य आजीववित्तिया ।
तत्तानिव्वुडभोइत्तं
आउरस्सरणाणि य ॥

गृहिणो वैयापृत्यं
या च आजीववृत्तिता ।
तप्ताऽनिर्वृतभोजित्वं
आतुरस्मरणानि च ॥६॥

गृहि-वैयापृत्य[34]—गृहस्थ को भोजन का संविभाग देना, गृहस्थ की सेवा करना । आजीववृत्तिता[35]—जाति, कुल, गण, शिल्प और कर्म का अवलम्बन ले भिक्षा प्राप्त करना । तप्तानिर्वृतभोजित्व[36]—अर्द्ध-पक्व सजीव वस्तु का उपभोग करना । आतुर-स्मरण[37]—आतुर-दशा में भुक्त भोगों का स्मरण करना ।

७—मूलए सिंगबेरे य
उच्छुखंडे अनिव्वुडे ।
कंदे मूले य सच्चित्ते
फले बीए य आमए ॥

मूलकं शृंगबेरं च
इक्षुखण्डमनिर्वृतम् ।
कन्दो मूलं च सचित्तं
फलं बीजं चामकम् ॥७॥

अनिर्वृत[38] मूलक—सजीव मूली, अनिर्वृत शृंगबेर—सजीव अदरक, अनिर्वृत इक्षुखण्ड[39]—सजीव इक्षु-खंड, सचित्त कंद[40]—सजीव कंद, सचित्त मूल—सजीव मूल, आमक फल—अपक्व फल और आमक बीज[41]—अपक्व बीज—लेना व खाना ।

८—सोवच्चले सिंधवे लोणे
रोमालोणे य आमए ।
सामुद्दे पंसुखारे य
कालालोणे य आमए ॥

सौवर्चलं सैन्धवं लवणं
रुमालवणं चामकम् ।
सामुद्रं पांशुक्षारश्च
काललवणं चामकम् ॥८॥

आमक सौवर्चल[42]—अपक्व सौवर्चल नमक, सैन्धव—अपक्व सैन्धव नमक, रुमा लवण—अपक्व रुमा नमक, सामुद्र—अपक्व समुद्र का नमक, पांशु-क्षार—अपक्व ऊपर-भूमि का नमक और काल लवण—अपक्व कृष्ण-नमक—लेना व खाना ।

९—धूव-णेत्ति वमणे य
वत्थीकम्म विरेयणे ।
अंजणे दंतवणे य
गायाभंगविभूसणे ॥

धूम-नेत्र वमनञ्च
बस्तिकर्म विरेचनम् ।
अञ्जन दन्तवन च
गात्राभ्यङ्गविभूषणे ॥९॥

धूम नेत्र[४०]—धूम-पान की नलिका रखना। वमन—रोग की संभावना से बचने के लिए, रूप-बल आदि को बनाए रखने के लिए वमन करना, बस्तिकर्म—अपान-मार्ग से तैल आदि चढ़ाना) और विरेचन[४३] करना। अञ्जन—आँखों में अञ्जन आँजना। दन्तवण[४५]—दाँतों को दतौन से घिसना, गात्र-अभ्यङ्ग[४६]—शरीर में तैल-मर्दन करना। विभूषण[४७]—शरीर को अलंकृत करना।

१०—सव्वमेयमणाइण्णं
निग्गंथाण महेसिणं ।
संजमम्मि य जुत्ताणं
लहुभूयविहारिणं ॥

सर्वमेतदनाचीर्णं
निर्ग्रन्थानां महर्षीणाम् ।
संयमे च युक्तानां
लघुभूतविहारिणाम् ॥१०॥

जो संयम में लीन[४८] और वायु की तरह मुक्त विहारी[४९] महर्षि निर्ग्रन्थ हैं उनके लिए ये सब अनाचीर्ण हैं।

११—पंचासवपरिन्नाया
तिगुत्ता छसु संजया ।
पंचनिग्गहणा धीरा
निग्गंथा उज्जुदंसिणो ॥

परिज्ञातपञ्चास्रवाः
त्रिगुप्ताः षट्सु संयताः ।
पञ्चनिग्रहणा धीराः
निर्ग्रन्था ऋजुदर्शिनः ॥११॥

पांच आस्रवों का निरोध करनेवाले,[५०] तीन गुप्तियों से गुप्त,[५१] छह प्रकार के जीवों के प्रति संयत,[५२] पांचों इन्द्रियों का निग्रह करने वाले,[५३] धीर[५४] निर्ग्रन्थ ऋजुदर्शी[५५] होते हैं।

१२—आयावयंति गिम्हेसु
हेमंतेसु अवाउडा ।
वासासु पडिसंलीणा
संजया सुसमाहिया ॥

आतापयन्ति ग्रीष्मेषु
हेमन्तेष्वप्रावृताः ।
वर्षासु प्रतिसंलीनाः
संयताः सुसमाहिताः ॥१२॥

सुसमाहित निर्ग्रन्थ ग्रीष्म में सूर्य की आतापना लेते हैं, हेमन्त में खुले बदन रहते हैं और वर्षा में प्रतिसंलीन होते हैं[५६]—एक स्थान में रहते हैं।

१३—परीसहरिऊदंता
धूयमोहा जिइंदिया ।
सव्वदुक्खप्पहीणट्ठा
पक्कमंति महेसिणो ॥

दान्तपरीषहरिपवः
धुतमोहा जितेन्द्रियाः ।
सर्वदुःखप्रहाणार्थं
प्रक्रामन्ति महर्षयः ॥१३॥

परीषहरूपी रिपुओं का दमन करने वाले[५७], धुत-मोह[५८] (अज्ञान को प्रकम्पित करने वाले), जितेन्द्रिय महर्षि सर्व दुःखों के प्रहाण[५९]—नाश के लिए पराक्रम करते हैं[६०]।

१४—दुक्कराइं करेत्ताणं
दुस्सहाइं सहेत्तु य ।
केइत्थ देवलोएसु
केई सिज्झंति नीरया ॥

दुष्कराणि कृत्वा
दुस्सहानि सहित्वा च ।
केचिदत्र देवलोकेषु
केचिद् सिध्यन्ति नीरजसः ॥१४॥

दुष्कर[61] को करते हुए और दुःसह[62] को सहते हुए उन निर्ग्रन्थों में से कई देवलोक जाते हैं और कई नीरज[63]—कर्म-रहित हो सिद्ध होते हैं ।

१५—खवित्ता पुव्वकम्माइं
संजमेण तवेण य ।
सिद्धिमग्गमणुप्पत्ता
ताइणो परिनिव्वुडा ॥
त्ति बेमि ।

क्षपयित्वा पूर्वकर्माणि
संयमेन तपसा च ।
सिद्धिमार्गमनुप्राप्ता
त्रायिणः परिनिर्वृताः ॥१५॥
इति ब्रवीमि ।

स्व और पर के त्राता निर्ग्रन्थ संयम और तप द्वारा पूर्व-संचित कर्मों का क्षय कर[64], सिद्धि-मार्ग को प्राप्त कर[65] परिनिर्वृत[66]—मुक्त होते हैं ।

ऐसा मैं कहता हूँ ।

टिप्पण : अध्ययन ३

श्लोक १ :

१. सुस्थितात्मा हैं (सुट्ठिअप्पाणं क) :

इसका अर्थ है अच्छी तरह स्थित आत्मावाले। संयम में सुस्थितात्मा अर्थात् जिनकी आत्मा संयम में भली-भांति —आगम की रीति के अनुसार —स्थित—टिकी हुई—रमी हुई है[1]।

अध्ययन २ श्लोक ६ में 'अट्ठिअप्पा' शब्द व्यवहृत है[2]। 'सुट्ठिअप्पा' शब्द ठीक उसका विपर्ययवाची है।

२. विप्रमुक्त हैं (विप्पमुक्काण ख) :

वि—विविध प्रकार से प्र—प्रकर्ष से मुक्त-रहित हैं अर्थात् जो विविध प्रकार से—तीन करण और तीन योग के सर्व भङ्गों से, तथा तीव्र भाव के साथ बाह्याभ्यन्तर ग्रन्थ—परिग्रह को छोड़ चुके हैं, उन्हें विप्रमुक्त कहते हैं[3]। 'विप्रमुक्त' शब्द अन्य आगमों में भी अनेक स्थलों पर व्यवहृत हुआ है[4]। उन स्थलों को देखने से इस शब्द का अर्थ सब संयोगों से मुक्त, सर्व संग से मुक्त होता है।

कई स्थलों पर 'सव्वओ विप्पमुक्के' शब्द भी मिलता है, जिसका अर्थ है—सर्वतः मुक्त।

३. त्राता हैं (ताइणं ग) :

'ताई', 'तायी' शब्द आगमों में अनेक स्थलों पर मिलते हैं[5]। 'ताविण' के संस्कृत रूप 'त्रायिणाम्' और 'तायिनाम्'—दो होते हैं।

१—(क) अ० चू० पृ० ५६ : तम्मि संजमे सोभणं ठितो अप्पा जेसिं ते संजमे सुट्ठितप्पाणो।
(ख) जि० चू० पृ० ११०।
(ग) हा० टी० प० ११६ : शोभनेन प्रकारेण आगमनीत्या स्थित आत्मा येषां ते सुस्थितात्मानः।

२—देखें—अध्ययन २, टिप्पण ४०।

३—(क) अ० चू० पृ० ५६ : विप्पमुक्काण—अब्भिंतर-बाहिरगंथबंधणविविहप्पगारमुक्काणं विप्पमुक्काण।
(ख) जि० चू० पृ० ११०-११।
(ग) हा० टी० प० ११६ : विविधम्—अनेकैः प्रकारैः—प्रकर्षेण—भावसारं मुक्ताः—परित्यक्ताः बाह्याभ्यन्तरेण ग्रन्थेनेति विप्रमुक्ताः।

४—(क) उत्त० १.१ : संजोगा विप्पमुक्कस्स अणगारस्स भिक्खुणो।
विणयं पाउकरिस्सामि आणुपुव्विं सुणेह मे॥
(ख) वही ६.१६ : बहु खु मुणिणो भद्दं, अणगारस्स भिक्खुणो।
सव्वओ विप्पमुक्कस्स, एगन्तमणुपस्सओ॥
(ग) वही ११.१ : संजोगा विप्पमुक्कस्स, अणगारस्स भिक्खुणो।
आयारं पाउकरिस्सामि, आणुपुव्विं सुणेह मे॥
(घ) वही १५.१६ : असिप्पजीवी अगिहे अमित्ते, जिइंदिए सव्वओ विप्पमुक्के।
अणुक्कसाई लहुअप्पभक्खी, चेच्चा गिहं एगचरे स भिक्खू॥
(ङ) वही १८.५३ : एहिं धीरे अहेऊहिं, अत्ताणं परियावसे।
सव्वसंगविनिम्मुक्के, सिद्धे हवइ नीरए॥

५—(क) दश० ३.१५; ६.३६,६६।
(ख) उत्त० ११.३१; २३.१०; ८.६।
(ग) सू० १।२ २.१७; १।२ २.२४; १।१४.२६; २।६.२०; २।६.२४; २।६.५५।

'त्रायी' का शाब्दिक अर्थ रक्षक है । जो शत्रु से रक्षा करे उसे 'त्रायी' कहते हैं[1] । लौकिक-पक्ष में इस शब्द का यही अर्थ है । आत्मिक-क्षेत्र में इसकी निम्नलिखित व्याख्याएँ मिलती हैं :

(१) आत्मा का त्राण—रक्षा करनेवाला—अपनी आत्मा को दुर्गति से बचानेवाला ।

(२) सदुपदेश-दान से दूसरों की आत्मा की रक्षा करनेवाला—उन्हें दुर्गति से बचानेवाला ।

(३) स्व और पर दोनों की आत्मा की रक्षा करनेवाला—दोनों को दुर्गति से बचानेवाला[2] ।

(४) जो जीवों को आत्मतुल्य मानता हुआ उनके अतिपात से विरत है वह[3] ।

(५) सुसाधु[4] ।

'तायी' शब्द की निम्नलिखित व्याख्याएँ मिलती हैं :

(१) सुदृष्ट मार्ग की देशना के द्वारा शिष्यों का संरक्षण करनेवाला[5] ।

(२) मोक्ष के प्रति गमनशील[6] ।

प्रस्तुत प्रसंग में दोनों चूर्णियों तथा टीका में इसका अर्थ स्व, पर और उभय तीनों का त्राता किया है[7] । पर यहां 'त्रायी' का उपर्युक्त चौथा अर्थ लेना ही संगत है । जो बातें अनाचीर्ण—परिहार्य कही गयी हैं, वे हिंसा-बहुल हैं । निर्ग्रन्थ की एक विशेषता यह है कि वह त्रायी होता है—वह मन, वचन, काया तथा कृत, कारित, अनुमति से सर्व प्रकार के जीवों की सर्व हिंसा से विरत होता है । वह छोटे-बड़े सब जीवों को अपनी आत्मा के तुल्य मानता हुआ उनकी रक्षा करता है—उनके अतिपात—विनाश से सर्वथा दूर रहता है। निर्ग्रन्थ को उसकी इस विशेषता की स्मृति 'ताइणं'—त्रायी शब्द द्वारा कराते हुए कहा है—निम्न हिंसापूर्ण कार्य उनके लिए अनाचीर्ण हैं । अतः इस शब्द का यहाँ 'सर्वभूतसंयत' अर्थ करना ही समीचीन है । यह अर्थ आगमिक भी है । 'ताइणं' शब्द 'उत्तराध्ययन' अ० २३ के १० वें श्लोक में केशी और गौतम के शिष्य-संघों के विशेषण के रूप में प्रयुक्त है। वहाँ टीकाकार इसका अर्थ करते हैं : 'त्रायिणाम्'—षड्जीवरक्षाकारिणाम् । अतः षड्जीवनिकाय के अतिपात से विरत – सर्वतः अहिंसक—यही अर्थ संगत है ।

४. निर्ग्रन्थ (निग्गंथाण [घ]) :

जैन मुनि का आगमिक और प्राचीनतम नाम है निर्ग्रन्थ[8] ?

१—(क) अ० चू० पृ० ५९ : त्रायन्तीति त्रातारः ।
(ख) जि० चू० पृ० १११ : शत्रोः परमात्मानं च त्रायंत इति त्रातारः ।

२—(क) सू० १४.१६; टी० प० २४७ : आत्मानं त्रातुं शीलमस्येति त्रायी जन्तूनां सदुपदेशदानतस्त्राणकरणशीलो वा तस्य स्वपरत्रायिणः ।
(ख) उत्त० ८.४ : टी० पृ० २९१ : तायते त्रायते वा रक्षति दुर्गतेरात्मानम् एकेन्द्रियादिप्राणिनो वाऽऽवश्यमिति तायी त्रायी वेति ।

३—(क) दश० ६.३७ : अनिलस्स समारंभं बुद्धा मन्नंति तारिसं ।
सावज्जबहुलं चेयं नेयं ताईहि सेवियं ।।
(ख) उत्त० ८.९ : पाणे य नाइवाएज्जा से समीए त्ति वुच्चई ताई ।

४—दश० ६.३७ : हा० टी० प० २०१ : 'ताईहि'—'त्रातृभिः' सुसाधुभिः ।

५—हा० टी० प० २६२ : तायोऽस्यास्तीति तायी, तायः सुदृष्टमार्गोक्तिः, सुपरिज्ञातदेशनया विनेयपालयितेत्यर्थः ।

६—सू० २.६.२४ : टी० प० ३९९ : 'तायो अयवयपयमयचयतयणय गतौ' वित्यस्य दण्डकधातोर्णिनिप्रत्यये रूपं, मोक्षं प्रति गमनशील इत्यर्थः ।

७—(क) अ० चू० पृ० ५९ : ते तिविहा—आयतातिणो परतातिणो उभयतातिणो ।
(ख) जि० चू० पृ० १११ : आयपरोभयतातीणं ।
(ग) हा० टी० प० ११६ : त्रायन्ते आत्मानं परमुभयं चेति त्रातारः ।

८—(क) उत्त० १२.१६ : अवि एयं विणस्सउ अण्णपाणं, न य णं दहामु तुमं णियंठा ।।
(ख) उत्त० २१.२ : निग्गंथे पावयणे, सावए से वि कोविए ।
(ग) उत्त० १७.१ : जे के इमे पव्वइए नियंठे ।
(घ) जि० चू० पृ० १११ : निग्गंथग्गहणेण साहूण णिद्देसो कओ ।
(ङ) हा० टी० प० ११६ : 'निर्ग्रन्थानां' साधूनाम् ।

श्रमण अनेक प्रकार के होते हैं । श्रमण निर्ग्रन्थ को कैसे पहचाना जाय—यह एक प्रश्न है जो नवागन्तुक उपस्थित करता है। आचार्य बतलाते हैं—निम्नलिखित बातें ऐसी हैं जो निर्ग्रन्थ द्वारा अनाचरित हैं। जिनके जीवन में उनका सेवन पाया जाता हो वे श्रमण निर्ग्रन्थ नहीं हैं। जिनके जीवन में वे आचरित नहीं हैं वे श्रमण निर्ग्रन्थ हैं। इन चिह्नों से तुम श्रमण निर्ग्रन्थ को पहचानो। निम्न वर्णित अनाचीर्णों के द्वारा श्रमण निर्ग्रन्थ का लिङ्ग निर्धारित करते हुए उसकी विशेषताएँ प्रतिपादित कर दी गई हैं।

७ अनाचीर्ण हैं (अणाइण्णं ग) :

'अनाचरित' का शब्दार्थ होता है—आचरण नहीं किया गया, पर भावार्थ है—आचरण नहीं करने योग्य—अकल्प्य। जो वस्तुएँ, बातें या क्रियाएँ इस अध्ययन में बताई गई हैं वे अकल्प्य, अग्राह्य, असेव्य, अभोग्य और अकरणीय हैं। अतीत में निर्ग्रन्थों द्वारा ये कार्य अनाचरित रहे अतः वर्तमान में भी ये अनाचीर्ण हैं[1]।

श्लोक २ से ९ तक में उल्लिखित कार्यों के लिए अकल्प्य, अग्राह्य, असेव्य, अभोग्य, अकरणीय आदि भावों में से जहाँ जो लागू हो उस भाव का अध्याहार समझना चाहिए।

श्लोक २ :

८. औद्देशिक (उद्देसियं क) :

इसकी परिभाषा दो प्रकार से मिलती है :—(१) निर्ग्रन्थ को दान देने के उद्देश्य से अथवा (२) परिव्राजक, श्रमण, निर्ग्रन्थ आदि सभी को दान देने के उद्देश्य से बनाया गया भोजन, वस्तु अथवा मकान आदि औद्देशिक कहलाता है[2]। ऐसी वस्तु या भोजन निर्ग्रन्थ-श्रमण के लिए अनाचीर्ण है—अग्राह्य और असेव्य है। इसी आगम (५.१.४७-५४) में कहा गया है—"जिस आहार, जल, खाद्य, स्वाद्य के विषय में साधु इस प्रकार जान ले कि वह दान के लिए, पुण्य के लिए, याचकों के लिए तथा श्रमणों—भिक्षुओं के लिए बनाया गया है तो वह भक्त-पान उसके लिए अग्राह्य होता है। अतः साधु दाता से कहे—'इस तरह का आहार मुझे नहीं कल्पता'।" इसी तरह औद्देशिक ग्रहण का वर्जन अनेक स्थानों पर आया है[3]। औद्देशिक का गम्भीर विवेचन आचार्य भिक्षु ने अपनी साधु-आचार की ढालों में अनेक स्थलों पर किया है। इस विषय के अनेक सूत्र-संदर्भ वहाँ संगृहीत हैं[4]।

भगवान् महावीर का अभिमत था—'जो भिक्षु औद्देशिक-आहार की गवेषणा करता है वह उद्दिष्ट-आहार बनाने में होने वाली त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा की अनुमोदना करता है—वहं ते समणुजाणन्ति'[5]। उन्होंने उद्दिष्ट-आहार को हिंसा और सावद्य से युक्त होने के कारण साधु के लिए अग्राह्य बताया[6]।

१—(क) अ० चू० पृ० ५९ : अणाचिण्णं अकप्पं। अणाचिण्णमिति जं अतीतकालनिद्देसं करेति तं आयपरोभयतातिणिदरिसणत्थं, जं पुव्वरिसीहिं अणातिण्णं तं कहमायरितव्वं ?
(ख) जि० चू० पृ० १११ : अणाइण्णं णाम अकप्पणिज्जंति वुत्तं भवइ, अणाइण्णग्गहणेण जमेतं अतीतकालग्गहणं करेइ तं आयपरोभयतातीणं कीरइ, किं कारणं ?, जइ ताव अम्ह पुव्वपुरिसेहिं अणातिण्णं तं कहमम्हे आयरिस्सामोत्ति ?
(ग) हा० टी० प० ११६ : अनाचरितम्—अकल्प्यम्।

२—(क) जि० चू० पृ० १११ : उद्दिस्स कज्जइ तं उद्देसियं, साधुनिमित्तं आरंभोत्ति वुत्तं भवति।
(ख) अ० चू० पृ० ६० : उद्देसितं जं उद्दिस्स कज्जति।
(ग) हा० टी० प० ११६ : 'उद्देसियं' ति उद्देशनं साध्वाद्याश्रित्य दानारम्भस्येत्युद्देशः तत्र भवमौद्देशिकम्।

३—(क) दश० ५.१.५५; ६.४८-४९; ८.२३; १०.४।
(ख) प्रश्न० (संवर-द्वार) १,५।
(ग) सू० १.९.१४।
(घ) उत्त० २०.४७।

४—भिक्षु-ग्रन्थ० (प्र० ख०) पृ० ८८८-८९ आ० चौ० : १९.१—२२।

५—दश० ६.४८।

६—प्रश्न० (संवर-द्वार) २.५

बौद्ध भिक्षु उद्दिष्ट खाते थे। इस सम्बन्ध में अनेक घटनाएँ प्राप्त हैं। उनमें से एक यह है — बुद्ध वाराणसी से विहार कर साढ़े बारह सौ भिक्षुओं के महान् भिक्षु-संघ के साथ अंधकविंद की ओर चारिका के लिए चले। उस समय जनपद के लोग बहुत सा नमक, तेल, तण्डुल और खाने की चीजें गाड़ियों पर रख 'जब हमारी बारी आएगी तब भोजन करायेंगे' — सोच बुद्ध सहित भिक्षु-संघ के पीछे-पीछे चलते थे। बुद्ध अंधकविंद पहुँचे। एक ब्राह्मण को बारी न मिलने से ऐसा हुआ — पीछे-पीछे चलते हुए दो महीने से अधिक हो गए, बारी नहीं मिल रही है। मैं अकेला हूँ, मेरे घर के बहुत से काम की हानि हो रही है। क्यों न मैं भोजन-परोसने को देखूँ? जो परोसने में न हो उसको मैं दूँ।' ब्राह्मण ने भोजन में यवागू और लड्डू को न देखा। तब ब्राह्मण आनन्द के पास गया और बोला — 'भो आनन्द! भोजन में यवागू और लड्डू मैंने नहीं देखा। यदि मैं यवागू और लड्डू को तैयार कराऊँ तो क्या आप गौतम उसे स्वीकार करेंगे?' 'ब्राह्मण! मैं इसे भगवान से पूछूँगा।' आनन्द ने सभी बातें बुद्ध से कहीं। बुद्ध ने कहा — 'तो आनन्द! वह ब्राह्मण तैयार करे।' आनन्द ने कहा — 'तो ब्राह्मण तैयार करो।' ब्राह्मण दूसरे दिन बहुत-सा यवागू और लड्डू तैयार करा बुद्ध के पास लाया। बुद्ध और सारे संघ ने उन्हें ग्रहण किया[१]।

इस घटना से स्पष्ट है कि बौद्ध साधु अपने उद्देश से बनाया खाते थे और अपने लिए बनवा भी लेते थे।

९. क्रीतकृत (कीयगडं क) :

चूर्णि के अनुसार जो दूसरे से खरीद कर दी जाय वह वस्तु 'क्रीतकृत'[२] कहलाती है। टीका के अनुसार जो साधु के लिए क्रय की गई हो—खरीदी गई हो वह क्रीत और जो उससे निर्वर्तित है—कृत है—बनी हुई है—वह क्रीतकृत[३] है। इस शब्द के अर्थ—साधु के निमित्त खरीद की हुई वस्तु अथवा साधु के निमित्त खरीद की हुई वस्तु से बनाई हुई वस्तु—दोनों होते हैं। क्रीतकृत का वर्णन भी भिक्षा-परिहार की दृष्टि से ही है। इस अनाचीर्ण का विस्तृत वर्णन आचार्य भिक्षु कृत साधु-आचार की ढालों में मिलता है[४]। आगमों में जहाँ-जहाँ औद्देशिक का वर्णन है वहाँ-वहाँ प्रायः सर्वत्र ही क्रीतकृत का वर्णन जुड़ा हुआ है। बौद्ध भिक्षु क्रीतकृत लेते थे। उसकी अनेक घटनाएँ मिलती हैं।

१० नित्याग्र (नियागं ख) :

जहाँ-जहाँ औद्देशिक का वर्णन है वहाँ-वहाँ 'नियाग' का भी वर्णन है। आगमों में 'नियाग' शब्द का प्रयोग अनेक स्थानों पर हुआ है। 'नियागट्ठी' और 'नियाग-पडिवण्ण' ये भिक्षु के विशेषण हैं। 'उत्तराध्ययन', 'आचाराङ्ग' और 'सूत्रकृताङ्ग' में व्याख्याकारों ने 'नियाग' का अर्थ मोक्ष, संयम या मोक्ष-मार्ग किया है। अनाचार के प्रकरण में 'नियाग' तीसरा अनाचार है। छठे अध्याय के ४९ वें श्लोक में भी इसका उल्लेख हुआ है। दोनों चूर्णिकार छठे अध्ययन में प्रयुक्त 'नियाग' शब्द के अर्थ की जानकारी के लिए तीसरे अध्ययन की ओर संकेत करते हैं। प्रस्तुत अध्ययन में उन्होंने 'नियाग' का अर्थ इस प्रकार किया है : आदर पूर्वक निमन्त्रित होकर किसी एक घर से प्रतिदिन भिक्षा लेना 'नियाग', 'नियतन' या 'नित्याग्र' नाम का अनाचार है। सहज भाव से, निमन्त्रण के बिना प्रतिदिन किसी घर की भिक्षा लेना 'नियाग' नहीं है[५]। टीकाकार ने दोनों स्थलों पर 'नियाग' का जो अर्थ किया है वह चूर्णिकारों के अभिमत से भिन्न नहीं है[६]।

१—विनयपिटक महावग्ग ६.४.५ पृ० २३४ से संक्षिप्त।

२—(क) अ० चू० : कीतकडं जं किणिऊण दिज्जति।

(ख) जि० चू० पृ० १११ : अन्यसत्कं यत्क्रीत्वा दीयते क्रीतकृतम्।

३—हा० टी० प० ११६ : क्रयणं क्रीतं, भावे निष्ठाप्रत्ययः, साध्वादिनिमित्तमिति गम्यते, तेन कृत—निर्वर्तितं क्रीतकृतम्।

४—भिक्षु ग्रन्थ (प्र० ख०) पृ० ८८९-९० आचार री चोपाई : २९.२४-३१।

५—(क) अ० चू० पृ० ६० : नियागं—प्रतिनियतं जं निब्बंधकरणं, ण तु जं अहासमावत्तीए दिणे दिणे भिक्खागहणं।

(ख) जि० चू० पृ० १११,११२ : नियागं नाम नियपति बुत्तं भवति, तं तु यदा आयरेण आमंतिओ भवइ जहा 'भगवं! तुब्भेहिं मम दिणे दिणे अणुग्गहो कायव्वो' तदा तस्स अब्भुवगच्छंतस्स नियागं भवति, ण तु जत्थ अहाभावेण दिणे दिणे भिक्खा लब्भइ।

६—(क) हा० टी० प० ११६ : 'नियाग' मित्यामन्त्रितस्य पिण्डस्य ग्रहणं नित्यं न तु अनामन्त्रितस्य।

(ख) दश० ६.४८ हा० टी० प० २०३ : 'नियाग' ति—नित्यमामन्त्रितं पिण्डम्।

आचार्य भिक्षु ने 'नियाग' का अर्थ नित्यपिंड—प्रतिदिन एक घर का आहार लेना किया है[1]। चूर्णिकार और टीकाकार के समय तक 'नियाग' शब्द का अर्थ यह नहीं हुआ। अवचूरिकार ने टीकाकार का ही अनुसरण किया है[2]। दीपिकाकार इसका अर्थ 'आमन्त्रित-पिंड का ग्रहण' करते हैं, 'नित्य, शब्द का प्रयोग नहीं करते[3]। स्तवकों (टबों) में भी यही अर्थ रहा है। अर्थ की यह परम्परा छूटकर 'एक घर का आहार सदा नहीं लेना' यह परम्परा कब चली, इसका मूल 'नित्य-पिंड' शब्द है। स्थानकवासी संप्रदाय में सम्भवतः 'नित्य-पिंड' का उक्त अर्थ ही प्रचलित था।

निशीथ भाष्यकार ने एक प्रश्न खड़ा किया—जो भोजन प्रतिदिन गृहस्थ अपने लिए बनाता है, उसके लिए यदि निमन्त्रण दिया जाय तो उसमें कौन-सा दोष है[4]? इसका समाधान उन्होंने इन शब्दों में किया—निमन्त्रण में अवश्य देने की बात होती है इसलिए वहां स्थापना, आधाकर्म, क्रीत, प्रामित्य आदि दोषों की सम्भावना है। इसलिए स्वाभाविक भोजन भी निमन्त्रणपूर्वक नहीं लेना चाहिए[5]। आचार्य भिक्षु को भी प्रतिदिन एक घर का आहार लेने में कोई मौलिक-दोष प्रतीत नहीं हुआ। उन्होंने कहा—इसका निषेध शिथिलता-निवारण के लिए किया गया है[6]।

'दशवैकालिक' में जो अनाचार गिनाये हैं उनका प्रायश्चित्त निशीथ सूत्र में बतलाया गया है। वहां 'नियाग' के स्थान में 'णितियं अग्गपिंड' ऐसा पाठ है[7]। चूर्णिकार ने 'णितिय' का अर्थ शाश्वत और 'अग्र' का अर्थ प्रधान किया है तथा वैकल्पिक रूप में 'अग्रपिण्ड' का अर्थ प्रथम बार दिये जाने वाला भोजन किया है[8]।

भाष्यकार ने 'णितिय-अग्गपिंड' के कल्पाकल्प के लिए चार विकल्प उपस्थित किये हैं—निमन्त्रण, प्रेरणा, परिमाण और स्वाभाविक। गृहस्थ साधु को निमन्त्रण देता है—भगवन्! आप मेरे घर आएँ और भोजन लें—यह निमन्त्रण है। साधु कहता है—मैं अनुग्रह करूं तो तू मुझे क्या देगा? गृहस्थ कहता है—जो आपको चाहिए वही दूंगा। साधु कहता है—घर पर चले जाने पर तू देगा या नहीं? गृहस्थ कहता है—दूंगा। यह प्रेरणा या उत्पीड़न है। इसके बाद साधु कहता है—तू कितना देगा और कितने समय तक देगा? यह परिमाण है। ये तीनों विकल्प जहाँ किए जायँ वह 'णितिय-पिंड' साधु के लिए अग्राह्य है। और जहाँ ये तीनों विकल्प न हों, गृहस्थ के अपने लिए बना हुआ सहज-भोजन हो और साधु सहज-भाव से भिक्षा के लिए चला जाये, वैसी स्थिति में 'णितिय-अग्गपिंड' अग्राह्य नहीं है।[9]

इसके अगले चार सूत्रों में क्रमशः नित्य-पिंड, नित्य-अपार्ध, नित्य-भाग और नित्य-अपार्ध-भाग का भोग करने वाले के लिए प्रायश्चित्त का विधान किया है[10]। इनका निषेध भी निमन्त्रण आदि पूर्वक नित्य भिक्षा ग्रहण के प्रसंग में किया गया है।

निशीथ का यह अर्थ 'दशवैकालिक' के अर्थ से भिन्न नहीं है। शब्द-भेद अवश्य है। 'दशवैकालिक' में इस अर्थ का वाचक 'नियाग'

१—(क) भिक्षु-ग्रन्थ० (प्र० ख०) पृ० ७८२ आ० री चौ० १.११ :।
नितको वहरे एकण घर को, च्यारां में एक आहार जी। दसवेकालक तीजा में कह्यो, साधु नें अणाचार जी॥
(ख) भिक्षु-ग्रन्थ० (प्र० ख०) पृ० ८६०-६१ : २६.३२—४५।

२—दश० ३.२ अव० : नित्यं निमन्त्रितस्य पिण्डम्—नित्य-पिण्डकम्।

३—दी० ३.२ : आमन्त्रितस्य पिण्डस्य ग्रहणम्।

४—नि० भा० १००३।

५—नि० भा० १००४-६।

६—आधाकर्मी ने मोलरो लीवो, ओतो निश्चय उघाड़ो असुद्ध।
पिण नित्यपिंड तो ढीला पडता जाणने वरज्यो आ तो तीर्थंकरा री बुद्ध॥

७—नि० २.३१ : जे भिक्खू णितियं अग्गपिंडं भुंजइ भुंजंतं वा सातिज्जति।

८—नि० २.३१ : काभाष्य --णितियं—धुवं सासयमित्यर्थः, अग्गं—वरं—प्रधानं, अहवा जं पढमं दिज्जति सो पुण भत्तट्ठो वा भिक्खाए वा होज्जा।

६—नि० भा० १०००-१००२

१०—नि० २.३२-३५ : जे भिक्खू नितियं पिंडं भुंजति, भुंजंतं वा सातिज्जति।
जे भिक्खू नितियं अवड्ढं भुंजति, भुंजंतं वा सातिज्जति।
जे भिक्खू नितियं भागं भुंजति, भुंजंतं वा सातिज्जति।
जे भिक्खू नितियं अवड्ढभागं भुंजति, भुंजंतं वा सातिज्जति।

शब्द है। जबकि निशीथ में इसके लिए 'णितिय-अग्गपिंड' आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है। निशीथ-भाष्य (१००३) की चूर्णि में 'णितिय-अग्गपिंड' के स्थान में 'णीयग्ग' शब्द का प्रयोग हुआ है[1]। यहाँ 'णीयग्ग' शब्द विशेष मननीय है। इसका संस्कृत-रूप होगा 'नित्याग्र'। 'नित्याग्र' का प्राकृत रूप 'णितिय अग्ग' और 'णीयग्ग' दोनों हो सकते हैं। सम्भवतः 'णियाग' शब्द 'णीयग्ग' का ही परिवर्तित रूप है। इस प्रकार 'णियाग' और 'णितिय-अग्ग' के रूप में 'दशवैकालिक' और 'निशीथ' का शाब्दिक-भेद भी मिट जाता है।

कुछ आचार्य 'णियाग' का संस्कृत रूप 'नित्याक'[2] या 'नित्य' करते हैं, किन्तु उक्त प्रमाणों के आधार पर इसका संस्कृत-रूप 'नित्याग्र' होना चाहिए। निशीथ चूर्णिकार ने 'नित्याग्र पिंड' के अर्थ में निमन्त्रणादि पिंड और नित्यकता-पिंड का प्रयोग किया है[3]। इसके अनुसार 'नित्याग्र' का अर्थ नियमित रूप से प्राप्त भोजन या निमन्त्रण-पूर्वक प्राप्त भोजन होता है। यहाँ 'अग्र' का अर्थ अग्रिमुक्त[4], 'णियाग' नित्याग्रपिंड का संक्षिप्त रूप है। 'पिंड' का अर्थ अग्र में ही अन्तर्निहित किया गया है। 'अग्र' का अर्थ प्रधान अथवा प्रथम हो सकता है[5]।

'णितिय-अग्ग' का 'णियाग' के रूप में परिवर्तन इस क्रम से हुआ होगा—णितिय-अग्ग=णिइय-अग्ग=णीय-अग्ग=णीयग्ग=णियग्ग=णियाग।

इसका दूसरा विकल्प यह है कि 'णियाग' का संस्कृत-रूप 'नियाग' ही माना जाए। 'यज्' का एक अर्थ दान है। जहाँ दान निश्चित हो वह घर 'नियाग' है[6]।

बौद्ध-साहित्य में 'अग्ग' शब्द का घर के अर्थ में प्रयोग हुआ है[7]। इस दृष्टि से 'नित्याग्र' का अर्थ 'नित्य-गृह' (नियत घर से भिक्षा लेना) भी किया जा सकता है। 'अग्र' का अर्थ प्रथम मानकर इसका अर्थ किया जाए तो जहाँ नित्य (नियमत) अग्र-पिण्ड दिया जाए वहाँ भिक्षा लेना अनाचार है यह भी हो सकता है।

'आचारांग' में कहा है[8] जिन कुलों में नित्य पिण्ड, नित्य अग्र-पिण्ड, नित्य-भाग, नित्य-अपार्ध-भाग दिया जाए वहाँ मुनि भिक्षा के लिए न जाए। इससे ज्ञात होता है कि उस समय अनेक कुलों में प्रतिदिन नियत-रूप से भोजन देने का प्रचलन था। जो नित्य-पिण्ड कहलाता था और कुछ कुलों में प्रतिदिन के भोजन का कुछ अंश ब्राह्मण या पुरोहित के लिए अलग रखा जाता था, वह अग्र-पिण्ड, अग्रासन, अग्र-कूर और अग्राहार कहलाता था[9]। नित्य-दान वाले कुलों में प्रतिदिन बहुत याचक नियत भोजन पाने के लिए आते रहते थे[10]। उन्हें पूर्ण-पोष, अर्ध पोष या चतुर्थांश-पोष दिया जाता था[11]। नित्याग्र-पिण्ड और नित्य-पिण्ड में वस्तु के अन्तर की सूचना मिलती है। जो श्रेष्ठ आहार निमन्त्रण पूर्वक नित्य दिया जाता था उसके लिए 'नित्याग्र-पिण्ड' और जो साधारण भोजन नित्य दिया जाता था उसके लिए 'नित्य-पिण्ड' का प्रयोग हुआ होगा।

पाणिनि ने प्रतिदिन नियमित-रूप से दिए जाने वाले भोजन को 'नियुक्त-भोजन' कहा है[12]। इसके अनुसार जिस व्यक्ति को पहले नियमित रूप से भोजन दिया जाए वह 'आग्रभोजनिक' कहलाता है। इस सूत्र में पाणिनि ने 'अग्र-पिण्ड' की सामाजिक परम्परा के अनुसार व्यक्तियों के आचरण का निर्देश किया है। साधारण याचक स्वयं नियत भोजन लेने चले आते थे। ब्राह्मण, पुरोहित और श्रमणों को

१—नि० भा० १००३ : जाहे णीयग्गपिंडं गेण्हति।

२—उत्तराध्ययन २०.४७ की बृहद्वृत्ति।

३—नि० भा० १००५ चू० : तस्मान्निमन्त्रणादि-पिण्डो ग्राह्यं।
नि० भा० १००६ चू० : कारणे पुण णितायणा-पिंड गेण्हेज्ज।

४—ओ० सू०।

५—नि० चू० २·३२ : 'अग्र' वर प्रधान।

६—निश्चितो नियतो यागो दान यत्र तन्नियागम्।

७—अग्ग—भोज-गृह।

८—आ० चू० १.१९ : इमेसु खलु कुलेसु णितिए पिंडे दिज्जइ, णितिए अग्गपिंडे दिज्जइ, णितिए भाए दिज्जइ, णितिए अवड्ढभाए दिज्जइ—तहप्पगाराइं कुलाइं णितियाइं णितिउमाणाइं णो भत्ताए वा पाणाए वा पविसेज्ज वा णिक्खमेज्ज वा।

९—आ० चू० १.१९ वृ : शाल्योदनादेः प्रथममुद्धृत्य भिक्षार्थं व्यवस्थाप्यते सोऽग्रपिण्डः।

१०—आ० चू० १.१९ : तहप्पगाराइं कुलाइं णितियाइं णितिउमाणाइं।

११—आ० चू० १.१९।

१२—पाणिनि अष्टाध्यायी ४.४.४६ : तदस्मै दीयते नियुक्तम्।

आमन्त्रण या निमन्त्रण दिया जाता था। पुरोहितों के लिए निमन्त्रण को अस्वीकार करना दोष माना जाता था। बौद्ध-श्रमण निमन्त्रण पाकर भोजन करने जाते थे। भगवान् महावीर ने निमन्त्रणपूर्वक भिक्षा लेने का निषेध किया। भाष्य, चूर्णि और टीकाकार ने 'नियाग' का अर्थ आमन्त्रण-पूर्वक दिया जानेवाला भोजन किया। उसका आधार 'भगवती' में मिलता है। वहाँ विशुद्ध भोजन का एक विशेषण 'अनाहूत' है[1]। वृत्तिकार ने इसके तीन अर्थ किये हैं—अनित्य-पिण्ड, अनभ्याहृत और अस्पर्धादत्त[2]। श्रीमद् जयाचार्य का अभिप्राय भी वृत्तिकार से भिन्न नहीं है[3]। 'प्रश्नव्याकरण' (संवर द्वार १) में भी इसी अर्थ में 'अणाहूय' शब्द प्रयुक्त हुआ है। इस प्रकार 'नियाग' और 'आहूत' का अर्थ एक ही है। नियाग का संस्कृत रूप 'निकाच' (निमंत्रण) भी हो सकता है।

बौद्ध विनयपिटक में एक प्रसंग है जिससे 'नियाग'—नित्य आमन्त्रित का अर्थ स्पष्ट हो जाता है : "शाक्य महानाम के पास प्रचुर दवाइयाँ थीं। उसने बुद्ध का अभिवादन कर कहा—'भन्ते ! मैं भिक्षु-संघ को चार महीने के लिए दवाइयाँ ग्रहण करने के लिए निमंत्रित करना चाहता हूँ।' बुद्ध ने निमन्त्रण की आज्ञा दी। पर भिक्षुओं ने उसके निमन्त्रण से दवाइयाँ नहीं लीं। बुद्ध ने कहा—'भिक्षुओ ! अनुमति देता हूं चार महीने तक दवाइयाँ ग्रहण करने के निमन्त्रण को स्वीकार करने की।' दवाइयाँ काफी बच गईं। महानाम ने पुनः चार महीने के लिए दवाइयाँ लेने का निमन्त्रण किया। बुद्ध ने कहा—'भिक्षुओ ! अनुमति देता हूँ पुनः चार महीने के लिए निमन्त्रण को स्वीकार करने की।' दवाइयाँ फिर भी बच गईं। महानाम ने जीवन-भर दवाइयां लेने का निमन्त्रण स्वीकार करने की विनती की। बुद्ध ने कहा—'भिक्षुओ ! अनुमति देता हूँ जीवन-भर दवाइयाँ ग्रहण करने के निमन्त्रण को स्वीकार करने की[4]।'

इससे स्पष्ट है कि बौद्ध-भिक्षु स्थायी निमंत्रण पर एक ही घर से रोज-रोज दवाइयाँ ला सकते थे। भगवान् महावीर ने अपने भिक्षुओं के लिए ऐसा करना अनाचीर्ण बतलाया है।

११. अभिहृत (अभिहडाणि [ख]) :

आगमों में जहाँ-जहाँ औद्देशिक, क्रीतकृत आदि का वर्णन है वहाँ अभिहृत का भी वर्णन है।

अभिहृत का शाब्दिक अर्थ है—सम्मुख लाया हुआ। अनाचीर्ण के रूप में इसका अर्थ है—साधु के निमित्त—उसको देने के लिए गृहस्थ द्वारा अपने ग्राम, घर आदि से उसके अभिमुख लाई हुई वस्तु[5]। इसका प्रवृत्ति-लभ्य अर्थ निशीथ में मिलता है। वहाँ बताया है कि कोई गृहस्थ भिक्षु के निमित्त तीन घरों के आगे से आहार लाये तो उसे लेने वाला भिक्षु प्रायश्चित्त का भागी होता है[6]। तीन घरों की सीमा भी वही मान्य है जहाँ से दाता की देने की प्रवृत्ति देखी जा सकती हो[7]। पिण्ड-निर्युक्ति में सौ हाथ या उससे कम हाथ की दूरी से लाया हुआ आहार आचीर्ण माना है[8]। वह भी उस स्थिति में जबकि उस सीमा में तीन घरों से अधिक घर न हों।

'अभिहडाणि' शब्द बहुवचन में है। चूर्णि और टीकाकार के अभिमत से अभिहृत के प्रकारों की सूचना देने के लिए ही बहुवचन

१—भग० ७.१.२७० : अकयमकारियमसंकप्पियमणाहूयमकीयकडमणुद्दिट्ठं।

२—उक्त सूत्र की टीका पृ० २९३ : न च विद्यते आहूतमाह्वानमामंत्रणं नित्यं मद्गृहे पोषमात्रमन्नं ग्राह्यमित्येवं रूपं कर्म्मकराद्याकारणं वा साध्वर्थं स्थानान्तरादन्नाद्यानयनाय यत्र सोऽनाहूतः अनित्यपिण्डोऽनभ्याहृतो वेत्यर्थः, स्पर्धा वा आहूतं तन्निषेधादनाहूतो दायकेनाऽस्पर्धया दीयमानमित्यर्थः।

३—भग० जो० ढाल ११४ गाथा ४३ : गृही कहे नित्य प्रति मुज घर वहिरीयं रे, ते नित्य पिंड न लेवै मुनिराय रे।
अथवा साहमो आण्यो लेवै नहीं रे, ए अणाहूयं नो अर्थ कहाय रे॥

4—Sacred Books of the Buddhists Vol XI. Book of the Discipline Part II pp. 368-373.

५—(क) अ० चू० पृ० ६० : अभिहडं जं अभिमुहामाणीतं उवस्सए आणेऊण दिण्णं।
(ख) जि० चू० पृ० ११२।
(ग) हा० टी० प० ११६ : स्वग्रामादेः साधुनिमित्तमभिमुखमानीतमभ्याहृतम्।

६—नि ३.१५ : जे भिक्खू गाहावइ-कुलं पिण्डवाय-पडियाए अणुपविट्ठे समाणे परं ति-घरंतराओ असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा अभिहडं आहट्टु दिज्जमाणं पडिग्गाहेति पडिग्गाहेंतं वा सातिज्जति।

७—पि० नि० ३.४४ : आइन्नंमि (३) तिगिहा ते चिय उवओगपुव्वागा।

८—पि० नि० ३.४४ : हत्थसयं खलु देसो आरेणं होई देसदेसोय।

का प्रयोग किया है[1]। पिण्ड-निर्युक्ति और निशीथ भाष्य में इसके अनेक प्रकार बतलाये हैं[2]।

बौद्ध-भिक्षु अभिहृत लेते थे। इसकी अनेक घटनाएँ मिलती हैं। एक घटना इस प्रकार है :

"एक बार एक ब्राह्मण ने नये तिलों और नये मधु को बुद्ध-सहित भिक्षु-संघ को प्रदान करने के विचार से बुद्ध को भोजन के लिए निमन्त्रित किया। वह इन चीजों को देना भूल गया। बुद्ध और भिक्षु-गण वापस चले गए। जाने के थोड़ी ही देर बाद ब्राह्मण को अपनी भूल याद आई। उसको विचार आया 'क्यों न मैं नये तिलों और नये मधु को कूँडों और घड़ों में भर आराम में ले चलूँ।' ऐसा ही कर उसने बुद्ध से कहा — 'भो गौतम! जिनके लिए मैंने बुद्ध-सहित भिक्षु-संघ को निमन्त्रित किया था उन्हीं नये तिलों और नये मधु को देना मैं भूल गया। आप गौतम उन नये तिलों और मधु को स्वीकार करें।' बुद्ध ने कहा, 'भिक्षुओ! अनुमति देता हूँ वहाँ से (गृहस्थ के घर से) लाए हुए भोजन की तृप्ति हो जाने पर भी अतिरिक्त न हो तो उसका भोजन करने की'।"[3]

यह अभिहृत का अच्छा उदाहरण है। भगवान् महावीर ऐसे अभिहृत को हिंसायुक्त मानते थे[4] और इसका लेना साधु के लिए अकल्प्य घोषित किया था।

'अगस्त्य चूर्णि' में 'नियागमभिहडाणि य' 'नियाग अभिहडाणि य' ये पाठान्तर मिलते हैं। यहाँ समास के कारण प्राकृत में बहुवचन के व्यवहार में कोई दोष नहीं है।

औद्देशिक यावत् अभिहृत : औद्देशिक, क्रीतकृत, नियाग और अभिहृत का निषेध अनेक स्थलों पर आया है। इसी आगम में देखिए—५।१।५५; ६.४७-५०; ८.२३। उत्तराध्ययन (२०.४८) में भी इसका वर्णन है। 'सूत्रकृताङ्ग' में अनेक स्थलों पर इनका उल्लेख है। इस विषय में महावीर के समकालीन बुद्ध का अभिप्राय भी सम्पूर्णतः जान लेना आवश्यक है। हम यहाँ ऐसी घटना का उल्लेख करते हैं जो बड़ी ही मनोरंजक है और जिससे बौद्ध और जैन नियमों के विषय में एक तुलनात्मक प्रकाश पड़ता है। घटना इस प्रकार है :

"सिंह सेनापति बुद्ध के दर्शन के लिए गया। ममता पर उपासक बना। शास्ता के शासन में स्वतन्त्र हो तथागत से बोला :

१—(क) जि० चू० पृ० ११२ : अभिहडाणिति बहुवयणेण अभिहडभेदा दरिसिता भवन्ति।

(ख) हा० टी० प० ११६ : 'बहुवचनं स्वग्रामपरग्रामनिशीथादिभेदख्यापनार्थम्।

(ग) अ० चू० : अहवा अभिहडमेवमसंबंधाय।

२—पि० नि० ३२६-४६; नि०भा० १४८३-८८ :

३—विनय पिटक : महावग्ग ६.३.११ पृ० २२८ से संक्षिप्त।
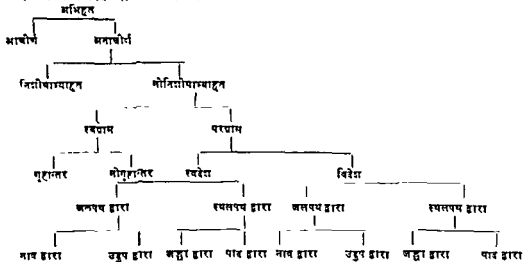
४—दशा० ६.४८।

'भन्ते ! भिक्षु-संघ के साथ मेरा कल का भोजन स्वीकार करें।' तथागत ने मौन से स्वीकार किया। सिंह सेनापति स्वीकृति जान तथागत को अभिवादन कर, प्रदक्षिणा कर चला गया।

तब सिंह सेनापति ने एक आदमी से कहा—'जा तू तैयार मांस को देख तो।'

तब सिंह सेनापति ने उस रात के बीतने पर अपने घर में उत्तम खाद्य-भोज्य तैयार करा, तथागत को काल की सूचना दी। तथागत वहाँ जा भिक्षु-संघ के साथ बिछे आसन पर बैठे।

उस समय बहुत से निगंठ वैशाली में एक सड़क से दूसरी सड़क पर, एक चौरास्ते से दूसरे चौरास्ते पर, बाँह उठाकर चिल्लाते थे—'आज सिंह सेनापति ने मोटे पशु को मारकर, श्रमण गौतम के लिए भोजन पकाया; श्रमण गौतम जान-बूझकर (अपने ही) उद्देश्य से किये, उस मांस को खाता है।'

तब किसी पुरुष ने सिंह सेनापति के कान में यह बात डाली।

सिंह बोला : 'जाने दो आर्यो ! चिरकाल से आयुष्मान् (निगंठ) बुद्ध, धर्म, संघ की निन्दा चाहने वाले हैं। यह असत्, तुच्छ, मिथ्या=अ-भूत निंदा करते नहीं शरमाते। हम तो (अपने) प्राण के लिए भी जान-बूझकर प्राण न मारेंगे।'

सिंह सेनापति ने बुद्ध सहित भिक्षु-संघ को अपने हाथ से उत्तम खाद्य-भोज्य से संतर्पित कर, परिपूर्ण किया।

तब तथागत ने इसी सम्बन्ध में इसी प्रकरण में धार्मिक कथा कह भिक्षुओं को सम्बोधित किया—'भिक्षुओ ! जान-बूझ कर (अपने) उद्देश्य से बने मांस को नहीं खाना चाहिए। जो खाये उसे दुक्कट का दोष हो। भिक्षुओ ! अनुमति देता हूँ (अपने लिए मारे को) देखे, सुने, संदेहयुक्त—इन तीन बातों से शुद्ध मछली और मांस (के खाने) की।'"[1]

इस घटना से निम्नलिखित बातें फलित होती हैं : (१) सिंह ने किसी प्राणी को नहीं मारा था (२) उसने बाजार से सीधा मांस मँगवाकर उसका भोजन बनाया था, (३) सीधा मांस लाकर बौद्ध भिक्षुओं के लिए भोजन बना खिलाना बुद्ध की दृष्टि में औद्देशिक नहीं था; (४) पशु को मार कर मांस तैयार करना ही बुद्ध-दृष्टि में औद्देशिक था और (५) अशुद्ध मांस टालने के लिए बुद्ध ने जो तीन नियम दिये वे जैनों की आलोचना के परिणाम थे। उससे पहले ऐसा कोई नियम नहीं था।

उपर्युक्त घटना इस बात का प्रमाण है कि बुद्ध और बौद्ध-भिक्षु निमन्त्रण स्वीकार कर आमन्त्रित भोजन ग्रहण करते थे। त्रिपिटक में इसके प्रचुर प्रमाण मिलते हैं[2]। संघ-भेद की दृष्टि से देवदत्त ने श्रमण गौतम बुद्ध से जो पाँच बातें माँगी थीं उनमें एक यह भी थी कि भिक्षु जिन्दगी-भर पिण्डपातिक (भिक्षा मांग कर खाने वाले) रहें। जो निमन्त्रण खाये उसे दोष हो। बुद्ध ने इसे स्वीकार नहीं किया। इससे यह स्पष्ट ही है कि निमन्त्रण स्वीकार करने का रिवाज बौद्ध-संघ में शुरू से ही था। बुद्ध स्वयं पहले दिन निमन्त्रण स्वीकार करते और दूसरे दिन सैकड़ों भिक्षुओं के साथ भोजन करते। बौद्ध श्रमणोपासक भोजन के लिए बाजार से वस्तुएं खरीदते, उससे खाद्य वस्तुएँ बनाते। यह सब भिक्षु-संघ को उद्देश्य कर होता था और बुद्ध अथवा बौद्ध-भिक्षुओं की जानकारी के बाहर भी नहीं हो सकता था। इसे वे खाते थे। इस तरह निमन्त्रण स्वीकार करने से बौद्ध-भिक्षु औद्देशिक, क्रीतकृत नियाग और अभिहृत—चारों प्रकार के आहार का सेवन करते थे, यह भी स्पष्ट ही है। देवदत्त ने दूसरी बात यह रखी थी कि भिक्षु जिन्दगी-भर मछली-मांस न खायें, जो खाये उसे दोष हो। बुद्ध ने इसे भी स्वीकार न किया और बोले : "अदृष्ट, अश्रुत, अपरिशंकित इन तीन कोटि से परिशुद्ध मांस की मैंने अनुज्ञा दी है।" इसका अर्थ भी इतना ही था कि उपासक द्वारा पशु नहीं मारा जाना चाहिए। उपासक ने भिक्षुओं के लिए पशु मारा है—यदि भिक्षु यह देख ले, सुन ले अथवा उसे इसकी शंका हो जाय तो वह ग्रहण न करे अन्यथा वह ग्रहण कर सकता है[3]।

बौद्ध-भिक्षुओं को खिलाने के लिए सीधा मांस खरीद कर उसे पकाया जा सकता था—यह सिंह सेनापति की घटना से स्वयं ही सिद्ध है। ऐसा करनेवाले के पाप नहीं माना जाता था किन्तु पुण्य माना जाता था; यह भी निम्नलिखित घटना से प्रकट होगा :

१—विनयपिटक : महावग्ग : ६.४.८ पृ० २४४ से संक्षिप्त।

२—Sacred Books of The Buddhists Vol. XI : Book of the Discipline Part II & III : Indexes pp. 421 & 430. See "Invitation."

३—विनयपिटक : चुल्लवग्ग ७.२.७ पृ० ४८८।

“एक श्रद्धालु नया महामात्य ने दूसरे दिन के लिए बुद्ध सहित भिक्षु-संघ को निमन्त्रित किया। उसे हुआ कि साढ़े बारह सौ भिक्षुओं के लिए साढ़े बारह सौ थालियाँ तैयार कराऊँ और एक-एक भिक्षु के लिए एक-एक मांस की थाली प्रदान करूँ। रात बीत जाने पर ऐसा ही कर उसने भगवान् को सूचना दी—‘भन्ते ! भोजन का काल है, भात तैयार है।’ तथागत भिक्षु-संघ सहित बिछे आसन पर जा बैठे। महामात्य भोजन में भिक्षुओं को परोसने लगा। भिक्षु बोले : ‘आवुस ! थोड़ा दो। आवुस ! थोड़ा दो।’ ‘भन्ते ! यह श्रद्धालु महामात्य नया है— यह सोच थोड़ा-थोड़ा मत लीजिए। मैंने बहुत खाद्य भोज्य तैयार किया है। साढ़े बारह सौ मांस की थालियाँ तैयार की हैं जिससे कि एक-एक भिक्षु को एक एक मांस की थाली प्रदान करूँ। भन्ते ! खूब इच्छापूर्वक ग्रहण कीजिए।’ ‘आवुस ! हमने सबेरे ही भोज्य यवागू और मधुगोलक खा लिया है, इसलिए थोड़ा-थोड़ा ले रहे हैं।’ महामात्य असन्तुष्ट हो भिक्षुओं के पात्रों को भरता चला गया— ‘खाओ या ले जाओ। खाओ या ले जाओ।’

“तथागत सन्तर्पित हो वापस लौटे। महामात्य को पछतावा हुआ कि उसने भिक्षुओं के पात्रों को भर उन्हें यह कहा कि खाओ या ले जाओ। वह तथागत के पास आया और अपने पछतावे की बात कह पूछने लगा—‘मैंने पुण्य अधिक कमाया या अपुण्य ?’ तथागत बोले : ‘आवुस ! जो कि तूने दूसरे दिन के लिए बुद्ध-सहित भिक्षु-संघ को निमन्त्रित किया इससे तूने बहुत पुण्य उपार्जित किया। जो कि तेरे यहाँ एक-एक भिक्षु ने एक-एक दान ग्रहण किया इस बात से तूने बहुत पुण्य कमाया। स्वर्ग का आराधन किया।’ ‘लाभ हुआ मुझे, सुलाभ हुआ मुझे, मैंने बहुत पुण्य कमाया, स्वर्ग का आराधन किया’—सोच हर्षित हो तथागत को अभिवादन कर महामात्य प्रदक्षिणा कर चला गया[1]।”

यह घटना इस बात पर सुन्दर प्रकाश डालती है कि औद्देशिक, क्रीतकृत और नियाग आहार बौद्ध-भिक्षुओं के लिए वर्जनीय नहीं थे।

बुद्ध और महावीर के भिक्षा-नियमों का अन्तर उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है। महावीर औद्देशिक आदि चारों प्रकार के आहार ग्रहण में ही नहीं, अन्य वस्तुओं के ग्रहण में भी स्पष्ट हिंसा मानते जब कि बुद्ध ऐसा कोई दोष नहीं देखते थे और आहार की तरह ही अन्य ऐसी वस्तुएँ ग्रहण करते थे। बौद्ध-संघ के के लिए विहार आदि बनाये जाते थे और बुद्ध तथा बौद्ध-भिक्षु उनमें रहते थे[2] जबकि महावीर औद्देशिक मकान में नहीं ठहरते थे।

महावीर के इन नियमों में अहिंसा का सूक्ष्म दर्शन और गम्भीर विवेक है। जहाँ सूक्ष्म हिंसा भी उन्हें मालूम दी वहाँ उससे बचने का मार्ग उन्होंने ढूँढ बताया। सूक्ष्म हिंसा से बचाने के लिए ही उन्होंने भिक्षुओं से कहा था : “गृहस्थों द्वारा अनेक प्रकार के शस्त्रों से लोक-प्रयोजन के लिए कर्म-समारम्भ किये जाते हैं। गृहस्थ अपने लिए, पुत्रों के लिए, पुत्र-वधुओं के लिए, ज्ञातियों के लिए, धात्रियों के लिए, दासों के लिए, दासियों के लिए, कर्मकरों के लिए, कर्मकरियों के लिए, अतिथियों के लिए, विभिन्न उपहारों या उत्सवों के लिए, शाम के भोजन के लिए, प्रातः राश—कलेवे के लिए, संसार के किसी-न-किसी मानव के भोजन के लिए, सन्निधि-संचय करते हैं। भिक्षा के लिए उठा हुआ आर्य, आर्यप्रज्ञ, आर्यदर्शी अनगार सब प्रकार के आमगन्ध—औद्देशिक आदि आहार को जान उसे ग्रहण न करे, न कराए, न उसके ग्रहण का अनुमोदन करे। निरामगन्ध होकर विचरण करे[3]।”

१२. रात्रि-भक्त (राइभत्ते [ग]) :

रात्रि-भक्त के चार विकल्प होते हैं (१) दिन में लाकर दूसरे दिन, दिन में खाना (२) दिन में लाकर रात्रि में खाना (३) रात में लाकर दिन में खाना और (४) रात में लाकर रात में खाना। इन चारों का ही निषेध है[4]।

१—विनयपिटक : महावग्ग ६.७५ पृ० २३५-३६ से संक्षिप्त।

२—विनयपिटक : चुल्लवग्ग ६.३.१ पृ० ४४१-४२।

३—आ० १।२।१०४-१०८।

४—(क) अ० चू० पृ० ६० : तं रातिभत्तं चउव्विहं, तं जहा—दिया घेत्तुं बितियदिवसे दिया भुंजति १ दिया घेत्तुं रातिं भुंजति २ रातिं घेत्तुं दिया भुंजति ३ रातिं घेत्तुं रातिं भुंजति ४।

(ख) जि० चू० पृ० ११२।

(ग) हा० टी० प० ११६ : ‘रात्रिभक्तं’ रात्रिभोजनं दिवसगृहीतदिवसभुक्तादिचतुर्भङ्गलक्षणम्।

रात्रि-भोजन वर्जन को श्रामण्य का अविभाज्य अङ्ग माना है। रात में चारों आहारों में से किसी एक को भी ग्रहण नहीं किया जा सकता[1]।

१३. स्नान (सिणाणे ग) :

स्नान दो तरह के होते हैं—देश-स्नान और सर्व-स्नान। शौच स्थानों के अतिरिक्त आँखों के भौं तक का भी धोना देश-स्नान है। सारे शरीर का स्नान सर्व-स्नान कहलाता है[2]। दोनों प्रकार के स्नान अनाचीर्ण हैं।

स्नान-वर्जन में भी अहिंसा की दृष्टि ही प्रधान है। इसी सूत्र (६.६१-६३) में यह दृष्टि बड़े सुन्दर रूप में प्रकट होती है। वहाँ कहा गया है—"रोगी अथवा निरोग जो भी साधु स्नान की इच्छा करता है वह आचार से गिर जाता है और उसका जीवन संयम-हीन हो जाता है। अतः उष्ण अथवा शीत किसी जल से निर्ग्रन्थ स्नान नहीं करते। यह घोर अस्नान-व्रत यावज्जीवन के लिए है।" जैन-आगमों में स्नान का वर्जन अनेक स्थलों पर आया है[3]।

स्नान के विषय में बुद्ध ने जो नियम दिया वह भी यहाँ जान लेना आवश्यक है। प्रारम्भ में स्नान के विषय में कोई निषेधात्मक नियम बौद्ध-संघ में था, ऐसा प्रतीत नहीं होता। बौद्ध-साधु नदियों तक में स्नान करते थे, ऐसा उल्लेख है। स्नान-विषयक नियम की रचना का इतिहास इस प्रकार है—उस समय भिक्षु तपोदा में स्नान किया करते थे। एक बार मगध के राजा सेणिय-बिम्बिसार तपोदा में स्नान करने के लिए गए। बौद्ध-साधुओं को स्नान करते देख वे एक ओर प्रतीक्षा करते रहे। साधु रात्रि तक स्नान करते रहे। उनके स्नान कर चुकने पर सेणिय-बिम्बिसार ने स्नान किया। नगर का द्वार बन्द हो चुका था। देर हो जाने से राजा को नगर के बाहर ही रात बितानी पड़ी। सुबह होते ही गन्ध-विलेपन किए वे तथागत के पास पहुँचे और अभिनन्दन कर एक ओर बैठ गए। बुद्ध ने पूछा—'आवुस! इतने सुबह गन्ध-विलेपन किए कैसे आए?' सेणिय-बिम्बिसार ने सारी बात कही। बुद्ध ने धार्मिक-कथा कह सेणिय-बिम्बिसार को प्रसन्न किया। उनके चले जाने के बाद बुद्ध ने भिक्षु-संघ को बुलाकर पूछा—'क्या यह सत्य है कि राजा को देख चुकने के बाद भी तुम लोग स्नान करते रहे?' 'सत्य है भन्ते!' भिक्षुओं ने जवाब दिया। बुद्ध ने नियम दिया : 'जो भिक्षु १५ दिन के अन्तर से पहले स्नान करेगा उसे पाचित्तिय का दोष लगेगा।' इस नियम के बन जाने पर गर्मी के दिनों में भिक्षु स्नान नहीं करते थे। गात्र पसीने से भर जाता। इससे सोने के कपड़े गन्दे हो जाते थे। यह बात बुद्ध के सामने लाई गई। बुद्ध ने अपवाद किया—'गर्मी के दिनों में १५ दिन से कम अन्तर पर भी स्नान किया जा सकता है।' इसी तरह रोगी के लिए यह छूट दी। मरम्मत में लगे साधुओं के लिए यह छूट दी। वर्षा और आंधी के समय में यह छूट दी[4]।

महावीर का नियम था—"गर्मी से पीड़ित होने पर भी साधु स्नान करने की इच्छा न करे[5]।" उनकी अहिंसा उनसे स्नान के विषय में कोई अपवाद नहीं करा सकी। बुद्ध की मध्यम प्रतिपदा-बुद्धि सुविधा-असुविधा का विचार करती हुई अपवाद गढ़ती गई।

भगवान् के समय में शीतोदक-सेवन से मोक्ष पाना माना जाता था। इसके विरुद्ध उन्होंने कहा—"प्रातः स्नान आदि से मोक्ष नहीं है[6]। सायंकाल और प्रातःकाल जल का स्पर्श करते हुए जल-स्पर्श से जो मोक्ष की प्राप्ति कहते हैं वे मिथ्यात्वी हैं। यदि जल-स्पर्श से मुक्ति

१—उत्त० १९.३० : चउव्विहे वि आहारे, राईभोयणवज्जणा।

२—(क) अ० चू० पृ० ६० : सिणाणं दुविहं देसतो सव्वतो वा। देससिणाणं लेवाडं मोत्तूणं जं णेव त्ति, सव्वसिणाणं जं ससीसोण्हाति।

(ख) जि० चू० पृ० ११२ : सिणाणं दुविहं भवित, तं० देससिणाणं सव्वसिणाणं च, तत्थ देससिणाणं लेवाडयं मोत्तूण सेसं अच्छिपम्हपक्खालणमेत्तमवि देससिणाणं भवइ, सव्वसिणाणं जो ससीसतो ण्हाइ।

(ग) हा० टी० प० ११६-१७ : 'स्नानं च'—देशसर्वभेदभिन्नं, देशस्नानमधिष्ठानशौचातिरेकेणाक्षिपक्ष्मप्रक्षालनमपि सर्व-स्नानं तु प्रतीतम्।

३—उत्त० २.९; १५.८; आ० चू० २.२.२.१, २.१३; सू० १.७.२१-२२; १.९.१३।

४—Sacred Book of The Buddhists Vol. XI. Part II. LVII pp. 400-405.

५—उत्त० २.९ : उण्हाहितत्ते मेहावी सिणाणं वि नो पत्थए।
गायं नो परिसिंचेज्जा न वीएज्जा य अप्पयं॥

६—सू० १.७.१३ : पाओसिणाणादिसु णत्थि मोक्खो।

हो तो जल में रहने वाले अनेक जीव मुक्त हो जाएँ। जो जल-स्नान से मुक्ति कहते हैं वे अज्ञान में कुशल हैं। जल यदि कर्म-मल को हरेगा तो पुण्य-पुण्य को भी हर लेगा। इसलिए स्नान से मोक्ष कहना मनोरथ मात्र है। मंद पुरुष अन्धे नेताओं का अनुसरण कर केवल प्राणियों की हिंसा करते हैं। पाप-कर्म करने वाले पापी के उस पाप को अगर शीतोदक हर सकता तब तो जल के जीवों की घात करने वाले जल-जन्तु भी मुक्ति प्राप्त कर लेते। जल से सिद्धि बतलाने वाले मृषा बोलते हैं। अज्ञान को दूर कर देख कि त्रस और स्थावर सब प्राणी सुखाभिलाषी हैं। तू त्रस और स्थावर जीवों की घात की क्रिया न कर। जो अचित्त जल से भी स्नान करता है वह नाग्न्य से—श्रमणभाव से दूर है[1]।"

१४. गंध, माल्य (गन्धमल्ले घ) :

गन्ध—इत्र आदि सुगन्धित पदार्थ[2]। माल्य—फूलों की माला[3]। इन दोनों शब्दों का एक साथ प्रयोग अनेक स्थलों पर मिलता है। गन्ध माल्य साधु के लिए अनाचीर्ण है, यह उल्लेख भी अनेक स्थलों पर मिलता है[4]।

'प्रश्नव्याकरण' में पृथ्वीकाय आदि जीवों की हिंसा कैसे होती है यह बताया गया है। वहाँ उल्लेख है कि गन्ध-माल्य के लिए मूढ़, दारुण-मति लोग वनस्पतिकाय के प्राणियों का घात करते हैं[5]। गन्ध बनाने में पुष्प या वनस्पति विशेष का मर्दन, घर्षण करना पड़ता है। माल्य में वनस्पतिकाय के जीवों का विनाश प्रत्यक्ष है। गन्ध-माल्य का निषेध वनस्पतिकाय और तदाश्रित अन्य त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा से बचने की दृष्टि से भी किया गया है। विभूषा त्याग और अपरिग्रह महाव्रत की रक्षा की दृष्टि भी इसमें है। साधु को नाना पदार्थों की मनोज्ञ और भद्र सुगन्ध में आसक्त नहीं होना चाहिए—ऐसा कहा है[6]। चूर्णि और टीका में मालाएँ चार प्रकार की बताई गई हैं—ग्रथित, वेष्टित, पूरिम और संघातिम[7]। बौद्ध-आगम विनयपिटक में अनेक प्रकार की मालाओं का उल्लेख है[8]।

१५. वीजन (वीयणे घ) :

तालवृन्तादि द्वारा शरीर अथवा ओदनादि को हवा डालना वीजन है[9]।

जैन-दर्शन में 'षड्जीवनिकायवाद' एक विशेष वाद है[10]। इसके अनुसार वायु भी जीव है[11]। तालवृन्त, पत्ता, व्यजन, मयूरपंख आदि पंखों से उत्पन्न वायु के द्वारा सजीव वायु का हनन होता है तथा संपातिम जीव मारे जाते हैं[12]। इसीलिए व्यजन का व्यवहार साधु

१—सू० १.७.१२-२२।

२—(क) अ० चू० पृ० ६०: गन्धा कोट्ठपुडादओ।
(ख) जि० चू० पृ० ११२: गंधग्गहणेण कोट्ठपुडाइणो गंधा गहिया।
(ग) हा० टी० प० ११७: गन्धग्रहणात्कोष्ठपुटादिपरिग्रहः।

३—(क) अ० चू० पृ० ६०: मल्लं गंथिम-पूरिम-संघातिम।
(ख) जि० चू० पृ० ११२: मल्लग्गहणेण गंथिमवेढिमपूरिमसंघाइमं चउव्विहंपि मल्लं गहितं।
(ग) हा० टी० प० ११७: माल्यग्रहणाच्च ग्रथितवेष्टितादेर्माल्यस्य।

४—सू० १.९.१३।

५—प्रश्न० १.१: गंध-मल्ल अणुलेवणं ... एवमादिएहिं बहूहिं कारणसतेहिं हिंसंति ते तरुगणे, भणिता एवमादी सत्ते सत्तपरिवज्जिया उवहणंति, दढमूढा दारुणमती।

६—प्रश्न० २.५।

७—देखिए ऊपर पाद-टि० ३।

८—विनयपिटक: चुल्लवग्ग १.३.१ पृ० ३४६।

९—(क) अ० चू० पृ० ६०: वीयणं सरीरस्स भत्तातिणो वा उक्खेवादीहिं।
(ख) जि० चू० पृ० ११२: वीयणं नाम घम्मत्तो अत्ताणं ओदणादि वा तालवेंटादीहिं वीयेति।
(ग) हा० टी० प० ११७: वीजनं तालवृन्तादिना घर्म एव।

१०—दश० ४; आ० १.१।

११—दश० ४: वाऊ चित्तमंतमक्खाया अणेगजीवा पुढोसत्ता अन्नत्थ सत्थपरिणएणं।

१२—(क) प्रश्न १.१: सुप्प वियण तालयंट पेहुण मुह करयल सागपत्त वत्थमाइएहिं अणिलं हिंसंति।
(ख) अ० चू० पृ० ६०: वीयणे संपातिमवायुवहो।

के लिए अनाचीर्ण कहा है । इसी आगम में अन्य स्थलों[1] तथा अन्य आगमों में भी[2] स्थान-स्थान पर इसका निषेध किया गया है। भीषण गर्मी में भी निर्ग्रन्थ साधु पंखा-आदि झलकर हवा नहीं ले सकता[3] ।

श्लोक ३ :

१६. सन्निधि (सन्निही [क]) :

सन्निधि का वर्जन अनेक स्थलों पर मिलता है । सन्निधि—संचय का त्याग श्रामण्य का एक प्रमुख अंग माना गया है ।[4] कहा है—"संयमी मुनि लेश मात्र भी संग्रह न करे[5] ।" "संग्रह करना लोभ का अनुस्पर्श है । जो लवण, तेल, घी, गुड़ अथवा अन्य किसी वस्तु के संग्रह की कामना करता है वह गृहस्थ है साधु नहीं—ऐसा मैं मानता हूं[6] ।"

सन्निधि शब्द बौद्ध-त्रिपिटकों में भी मिलता है । बौद्ध-साधु आरम्भ में सन्निधि करते थे । संग्रह न करने के विषय में कोई विशेष नियम नहीं था । सर्वप्रथम नियम बनाया गया उसका इतिहास इस प्रकार है—उस समय श्रमण वेलथसीस[7], आनन्द के गुरु, जंगल में ठहरे हुए थे । वे भिक्षा के लिए निकले और पक्के चावल लेकर आराम में वापस आए । चावलों को सुखा दिया । जब जरूरत होती पानी से भिगो कर खाते । अनेक दिनों के बाद फिर वे ग्राम में भिक्षा के लिए निकले । साधुओं ने पूछा—'इतने दिनों के बाद आप भिक्षा के लिए कैसे आए ?' उन्होंने सारी बातें कही । साधुओं ने पूछा—'क्या आप सन्निधिकारक भोजन करते हैं ?' 'हां, भन्ते ।' यह बात बुद्ध के कानों तक पहुँची । बुद्ध ने नियम बनाया —'जो भी सन्निधिकारक भोजन खाएगा उसे पाचित्तिय दोष होगा[8] ।' रोगी साधु को छूट थी : 'भिक्षु को घी, मक्खन, तेल, मधु, खांड (……) आदि रोगी भिक्षुओं के सेवन करने लायक पथ्य (भैषज्य) को ग्रहण कर अधिक-से-अधिक सप्ताह भर रखकर भोग कर लेना चाहिए । इसका अतिक्रमण करने से उसे निस्सग्गियपाचित्तीय है[9] ।'

रोगी साधु के लिए भी भगवान् महावीर का नियम था —"साधु को अनेक प्रकार के रोग-आतंक उत्पन्न हों, वात-पित्त-कफ का प्रकोप हो, सन्निपात हो, तनिक भी शान्ति न हो, यहाँ तक कि जीवन का अन्त कर देने वाले रोग उपस्थित हो जाएँ तो भी उसको अपने लिए या अन्य के लिए औषध, भैषज्य, आहार-पानी का संचय करना नहीं कल्पता[10] ।"

१७. गृहि-अमत्र (गिहिमत्ते [क])

अमत्र या मात्र का अर्थ है भाजन, बरतन । गृहि-अमत्र का अर्थ है गृहस्थ का भाजन[11] । सूत्रकृताङ्ग में कहा है—"दूसरे के (गृहस्थ

१—दश० ४.१० ; ६.३८-४० ; ८.६ ।

२—आ० १.१.७ ; सू० १.६.८,६, १८ ।

३—उत्त० २.६ ।

४ - उत्त० १६.३० : सन्निहीसंचओ चेव वज्जेयव्वो सुदुक्करं ।

५—(क) दश० ८.२४ : सन्निहिं च न कुव्वेज्जा अणुमायंपि संजए ।
  (ख) उत्त० ६.१५ : सन्निहिं च न कुव्वेज्जा लेवमायाए संजए ।

६—दश० ६.१८ ।

७ - ये हजार जटिल साधुओं के स्थविर नेता थे ।

८—Sacred Books of the Buddhists Vol. VI : Book of Discipline Part II. pp. 338-440.

६—विनयपिटक : भिक्षु-पातिमोक्ष ४.२३ ।

१०—प्रश्न० २.५ पृ० २७७-२७८ : जंपि य समणस्स सुविहियस्स उ रोगायंके बहुप्पकारंमि समुप्पन्ने वाताहिक-पित्त-सिंभ-अतिरित्त कुविय तह सन्निवातजाते व उदयपत्ते उज्जल-बल-विउल-तिउल-कक्खड-पगाढ-दुक्खे असुभ-कडुय फरुसे चंडफल-विवागे महब्भये जीवियंतकरणे सव्वसरीर-परितावणकरे न कप्पति तारिसे वि तह अप्पणो परस्स वा ओसह-भेसज्जं, भत्त-पाणं च तंपि सन्निहिकयं ।

११—(क) अ० चू० पृ० ६० : अत्र गिहिमत्तं गिहिभायणं कंसपत्तादि ।
  (ख) जि० चू० पृ० ११२ : गिहिमत्तं गिहिभायणंति ।
  (ग) हा० टी० प० ११७ : 'गृहिमात्रं' गृहस्थभाजनम् ।

नहीं लेना चाहिए । अन्य राजाओं के लिए विकल्प है—दोष की सम्भावना हो तो न लिया जाये और सम्भावना न हो तो ले लिया जाए[1] ।

राजघर का सरस भोजन खाते रहने से रस-लोलुपता न बढ़ जाये और 'ऐसा आहार अन्यत्र मिलना कठिन है' यों सोच मुनि अनेषणीय आहार लेने न लग जाये—इन सम्भावनाओं को ध्यान में रख कर 'राजपिण्ड' लेने का निषेध किया है । यह विधान एषणा-शुद्धि की रक्षा के लिए है[2] । ये दोनों कारण उक्त दोनों सूत्रों की चूर्णियों में समान हैं । इनके द्वारा 'किमिच्छक' और 'राजपिण्ड' के पृथक् या अपृथक् होने का निर्णय नहीं किया जा सकता ।

निशीथ-चूर्णिकार ने आकीर्ण दोष को प्रमुख बतलाया है । राज-प्रासाद में सेनापति आदि आते-जाते रहते हैं । वहाँ मुनि के पात्र आदि फूटने की तथा चोट लगने की संभावना रहती है इसलिए 'राजपिण्ड' नहीं लेना चाहिए आदि-आदि[3] ।

'निशीथ' के आठवें उद्देशक में 'राजपिण्ड' से सम्बन्ध रखने वाले छः सूत्र हैं[4] और नवें उद्देशक में बाईस सूत्र हैं[5] । 'दशवैकालिक' में इन सबका निषेध 'राजपिण्ड' और 'किमिच्छक' इन दो शब्दों में मिलता है । मुख्यतया 'राजपिण्ड' शब्द राजकीय भोजन का अर्थ देता है और 'किमिच्छक' शब्द 'अनाथपिण्ड', 'कृपणपिंड' और 'वनीपकपिंड' (निशीथ ८.१९) का अर्थ देता है । किन्तु सामान्यतः 'राजपिंड' शब्द में राजा के अपने निजी भोजन और 'राजसत्क' भोजन—राजा के द्वारा दिये जाने वाले सभी प्रकार के भोजन, जिनका उल्लेख निशीथ के उक्त सूत्रों में हुआ है—का संग्रह होता है । व्याख्या-काल में 'राजपिंड' का दुहरा प्रयोग हो सकता है—स्वतन्त्र रूप में और 'किमिच्छक' के विशेष्य के रूप में । इसलिए हमने 'राजपिंड' और 'किमिच्छक' को केवल विशेष्य-विशेषण न मानकर दो पृथक् अनाचार माना है और 'किमिच्छक' की व्याख्या के समय दोनों को विशेष्य-विशेषण के रूप में संयुक्त भी माना है ।

१९. संवाधन (संवाहणा ग) :

इसका अर्थ है—मर्दन । संवाधन चार प्रकार के होते हैं :

(१) अस्थि-सुख—हड्डियों को आराम देने वाला ।
(२) मांस-सुख—मांस को आराम देने वाला ।
(३) त्वक्-सुख—चमड़ी को आराम देने वाला ।
(४) रोम-सुख—रोओं को आराम देने वाला[6] ।

२०. दंत-प्रधावन (दंतपहोयणा ग) :

देखिए 'दंतवण' शब्द का टिप्पण संख्या ४५ ।

२१. संप्रच्छन (संपुच्छणा घ) :

'संपुच्छणो' पाठान्तर है । 'संपुच्छणा' का संस्कृत रूप 'संप्रश्न' और संपुंछणो' का संस्कृत 'संप्रोञ्छक' होता है । इन अनाचीर्ण के कई अर्थ मिलते हैं :

(१) अपने अंग-अवयवों के बारे में दूसरे से पूछना । जो अङ्ग-अवयव स्वयं न दीख पड़ते हों, जैसे आँख, सिर, पीठ आदि उनके बारे में दूसरे से पूछना—ये सुन्दर लगते हैं या नहीं ? मैं कैसा दिखाई दे रहा हूँ ? आदि, आदि ।
(२) गृहस्थों से सावद्य आरम्भ सम्बन्धी प्रश्न करना ।

१—नि० भा० गा० २४९७ चू० :
२—सू० १.३.३.८-१९ ।
३—नि० भा० गा० २५०३-२५१० ।
४—नि० ८.१४-१९ ।
५—नि० ९.१,२,६,८,१०,११,१३-१९,२१-२९ ।
६—(क) अ० चू० पृ० ६० : संवाघणा अट्ठिसुहा मंससुहा तयासुहा (रोमसुहा) ।
(ख) जि० चू० पृ० ११३ : संवाहणा नाम चउव्विहा भवति, तजहा—अट्ठिसुहा मंससुहा तयासुहा रोमसुहा ।
(ग) हा० टी० प० ११७ ।

२२. देह-प्रलोकन (देहपलोयणा घ) :

जिनदास महत्तर ने इसका अर्थ किया है—दर्पण में रूप निरखना । हरिभद्र सूरि ने इसका अर्थ किया है 'दर्पण आदि' में शरीर देखना[1] । शरीर पात्र, दर्पण, तलवार, मणि, जल, तेल, मधु, घी, फाणित—राव, मद्य और चर्बी में देखा जा सकता है । इनमें शरीर देखना अनाचार है और निर्ग्रन्थ के ऐसा करने पर प्रायश्चित्त का विधान है[2] ।

श्लोक ४ :

२३. अष्टापद (अट्ठावए क) :

दशवैकालिक के व्याख्याकारों ने इसके तीन अर्थ किये हैं ।

(१) द्यूत[3] ।

(२) एक प्रकार का द्यूत ।

(३) अर्थ-पद—अर्थ-नीति[4] ।

शीलाङ्क सूरि ने सूत्रकृताङ्ग में प्रयुक्त 'अट्ठावय' का मुख्य अर्थ—अर्थ-शास्त्र और गौण अर्थ द्यूत-क्रीड़ाविशेष किया है[5] ।

बहत्तर कलाओं में 'जूयं'—द्यूत दसवीं कला है और 'अट्ठावय'—अष्टापद तेरहवीं कला है[6] । इसके अनुसार द्यूत और अष्टापद एक नहीं है ।

जिनदास महत्तर और हरिभद्र सूरि ने 'अष्टापद' का अर्थ द्यूत किया है तथा अगस्त्यसिंह स्थविर और शीलाङ्क सूरि ने उसका अर्थ एक प्रकार का द्यूत किया है । इसे आज की भाषा में शतरंज कहा जा सकता है । द्यूत के साथ द्रव्य की हार-जीत का लगाव होता है अतः वह निर्ग्रन्थ के लिए सम्भव नहीं है । शतरंज का खेल प्रधानतया आमोद-प्रमोद के लिए होता है । यह द्यूत की अपेक्षा अधिक सम्भव है इसलिए इसका निषेध किया है—ऐसा प्रतीत होता है ।

निशीथ चूर्णिकार ने 'अट्ठावय' का अर्थ संक्षेप में द्यूत या चउरंग द्यूत किया है[7] और वैकल्पिक रूप में इसका अर्थ—अर्थ-पद किया है । किसी ने पूछा—भगवन् ! क्या सुभिक्ष होगा ? श्रमण बोला—मैं निमित्त नहीं जानता पर इतना जानता हूँ कि इस वर्ष प्रभात-

---

१—जि० चू० पृ० ११३ : पलोयणा नाम अद्दागे रूवनिरिक्खणं ।
हा० टी० प० ११७ : 'देहप्रलोकनं च' आदर्शादावनाचरितम् ।

२—नि० १३.३१-३८ : जे भिक्खू मत्तए अप्पाणं देहति, देहंतं वा सातिज्जति ।
,, ,, अद्दाए ,, ,, ,, ,, ,,
,, ,, असीए ,, ,, ,, ,, ,,
,, ,, मणीए ,, ,, ,, ,, ,,
,, ,, उड्डुपाणे ,, ,, ,, ,, ,,
,, ,, तेल्ले ,, ,, ,, ,, ,,
,, ,, फाणिए ,, ,, ,, ,, ,,
,, ,, वसाए ,, ,, ,, ,, ,,

३—जि० चू० पृ० ११३ : अट्ठावयं जूयं भण्णइ ।

४—(क) अ० चू० पृ० ६० : अट्ठावयं जूयप्पकारो । राया रूहं णयजुतं गिहत्थाणं वा अट्ठावयं देति । केरिसो कालो ? ति पुच्छितो भणति ण याणामि, आगमेस्स पुण सुणका वि सालिकूरं ण भुंजंति ।

(ख) हा० टी० प० ११७ : 'अष्टापदं' द्यूतम्, अर्थपदं वा—गृहस्थमधिकृत्य नीत्यादिविषयम् ।

५—सू० १.९.१७ प० १८१ : 'अट्ठावयं न सिक्खिज्जा'—अर्यते इत्यर्थो—धनधान्यहिरण्यादिकः पद्यते—गम्यते येनार्थस्तत्पदं—शास्त्रं अर्थार्थपदमर्थपदं चाणक्यादिकमर्थशास्त्रं तन्न 'शिक्षेत्' नाभ्यस्येत् नाप्यपरं प्राण्युपमर्दकारि शास्त्रं शिक्षयेत्, यदिवा—'अष्टापदं' द्यूतक्रीडाविशेषस्तं न शिक्षेत, नापि पूर्वशिक्षितमनुशीलयेदिति ।

६—नया० १.२० ।

७—नि० १३.१२ चू० २१ : अट्ठावदं जूतं । नि० भा० ४२७९ चू० अट्ठापदं चउरंगेहि जूतं ।

काल में तुझे भी इसका खाना नहीं चाहिए। यह अर्थ-पद है। इसकी ध्वनि यह है कि सुभिक्ष होगा[1]। अगस्त्यसिंह भी यही अर्थ करते हैं।

दूसरे अर्थ की अपेक्षा पहला अर्थ ही वास्तविक लगता है और चउरंग शब्द का प्रयोग भी महत्त्वपूर्ण है। डाक्टर जिन्हें ने इस चउरंग (चतुरंग) शब्द को ही शतरंज का मूल माना है। मन्मथ राय ने अष्टापद को शतरंज या उसका पूर्वज खेल माना है। वे लिखते हैं—"उन दिनों शतरंज का आविष्कार हुआ था या नहीं, इस विषय में कुछ सन्देह है, तथापि प्राचीन पालि और प्राकृत-साहित्य में 'अट्ठपद' और 'दस पद' शब्दों का बारम्बार उल्लेख हुआ है। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन जी ने इसको 'एक प्रकार का जुआ' कहकर अपना पिंड छुड़ाया है। मूलपाठ विनयपिटक से पता चलता है कि पट्टी पर आठ या दस छोटे-छोटे चौकोर खाने बने रहते थे, तथा प्रत्येक खाने में एक एक गोटी होती थी। ऐसी दशा में यह समझना कठिन नहीं होता। कि यह एक प्रकार का शतरंज का खेल रहा होगा। कम से कम हम लोग इसे शतरंज का पूर्वज मान सकते हैं। इसका अंग्रेजी नाम 'ड्राफ्ट' है। प्राचीन मिस्र में यह खेल प्रचलित था[2]।"

अन्यतीर्थिक, परिव्राजक व गृहस्थ को अष्टापद सिखाने वाला भिक्षु प्रायश्चित्त का भागी होता है[3]।

२४ नालिका (नालीयं[ख]) :

यह द्यूत का ही एक विशेष प्रकार है। 'चतुर खिलाड़ी अपनी इच्छा के अनुकूल पासे न डाल दे' इसलिए पासों को नालिका द्वारा डालकर जो जुआ खेला जाये उसे नालिका कहा जाता है[4]। यह अगस्त्य चूर्णि की व्याख्या है। जिनदास महत्तर और हरिभद्र सूरि के अभिमत इससे भिन्न नहीं हैं[5]।

सूत्रकृताङ्ग में 'अट्ठावय' का उल्लेख श्रु० १ अ० ९ के १७ वें श्लोक में और 'नालिय' का उल्लेख १८ वें श्लोक में हुआ है और उसका पूर्ववर्ती शब्द 'छत्र' है[6]। दशवैकालिक में 'नालिय' शब्द 'अट्ठावय' और 'छत्त' के मध्य में है। सम्भव है 'अट्ठावय' की सन्निधि के कारण व्याख्याकारों ने नालिका का अर्थ द्यूतविशेष किया हो किन्तु 'छत्तस्स' के आगे 'धारणट्ठाए' का प्रयोग है। उसकी ओर ध्यान दिया जाए तो 'नालिका' का सम्बन्ध छत्र के साथ जुड़ता है। जिसका अर्थ होगा कि छत्र को धारण करने के लिये नालिका रखना अनाचार है।

भगवान् महावीर साधना-काल में वज्रभूमि में गए थे। वहाँ उन्हें ऐसे श्रमण मिले जो कुत्तों से बचाव करने के लिए यष्टि और नालिका रखते थे[7]। टीकाकार ने यष्टि को देह-प्रमाण और नालिका को देह से चार अंगुल अधिक लम्बा कहा है[8]। भगवान् ने दूसरों को डराने का निषेध किया है[9]। इसलिये सम्भव है स्वसंरक्षण से या छत्र-धारण करने के लिये नालिका रखने का निषेध किया हो।

१—नि० भा० गा० ४२८० चू०: अहवा - इमं अट्ठापदं—अम्हे ण वि जाणामो पुट्ठो अट्ठापय इम बेंति।
गुणगा वि सालिकूरं, णेच्छन्ति पर पभातम्मि ॥
सुभिक्खो असुभिक्खो एतिय पुण जाणामो परम पभायकाले दधिकूर सुणगा वि खातिउ णेच्छिहिंति। अर्थपदेन ज्ञायते सुभिक्षम्।

२—प्राचीन भारतीय मनोरञ्जन पृ० ५८।

३—नि० १३.१२: जे भिक्खू अण्णउत्थियं वा गारत्थियं वा ...अट्ठावयं ... सिक्खावेति, सिक्खावेंतं वा सातिज्जति।

४—अ० चू० पृ० ६१: नालिया जूयविसेसो, जत्थ 'मा इच्छितं पाडेहिति' त्ति नालियाए पासका दिज्जति।

५—(क) जि० चू० पृ० ११३: पासाओ छोढूण पाडिज्जति, मा किर सिक्खागुणेण इच्छितिए कोई पाडेहिति।
(ख) हा० टी० प० ११७: 'नालिका चे' ति द्यूतविशेषलक्षणा, यत्र मा भूत्कलयाऽन्यथा पाशकपातनमिति नलिकया पात्यन्त इति।

६—सू० १.९.१८: पाणहाओ य छत्तं च, णालीयं वालवीयणं।

७—आ० ९.३.५,६: एलिक्खए जणा भुज्जो, बहवे वज्जभूमि फरुसासी।
लट्ठिं गहाय णालियं, समणा तत्थ एव विहरिंसु॥
एवंपि तत्थ विहरंता पुट्ठपुव्वा अहेसि सुणएहिं।
संलुंचमाणा सुणएहिं दुच्चरगाणि तत्थ लाढेहिं॥

८—आ० ९.३.५,६ टीका: ततस्तत्रान्ये श्रमणा शाक्यादयो यष्टि—देहप्रमाणां चतुरंगुलाधिकप्रमाणां वा नालिकां गृहीत्वा श्वादिनिषेधनाय विजह्रुरिति।

९—नि० ११.६५: जे भिक्खू परं बीभावेति, बीभावेंतं वा सातिज्जति।

नालिका का अर्थ छोटी या बड़ी डंडी भी हो सकता है । जहाँ नालिका का उल्लेख है, वहाँ छत्र-धारण, उपानत् आदि का भी उल्लेख है। चरक में भी पदत्र-धारण, छत्र-धारण, दण्ड-धारण आदि का पास-पास में विधान मिलता है ।

नालिका नाम घड़ी का भी है । प्राचीन काल में समय की जानकारी के लिए नली वाली रेत की घड़ी रखी जाती थी। ज्योतिष्करण्ड में नालिका का प्रमाण बतलाया है । कौटिल्य अर्थ-शास्त्र में नालिका के द्वारा दिन और रात को आठ-आठ भागों में विभक्त करने का निरूपण मिलता है[1] ।

नालिका का एक अर्थ मुरली भी है । बांस के मध्य में पर्व होते हैं । जिस बांस के मध्य में पर्व नहीं होते, उसे 'नालिका', लोक-भाषा में मुरली कहा जाता है[2] ।

जैन साहित्य में नालिका का अनेक अर्थों में प्रयोग हुआ है इसलिये ये कल्पनाएँ हो सकती हैं ।

जम्बुद्वीप प्रज्ञप्ति (२) में बहत्तर कलाओं के नाम है । वहाँ द्यूत (जूय) दसवीं, अष्टापद (अट्ठावय) तेरहवीं और नालिका खेल (नालिया खेड) छियासठवीं कला है । वृत्तिकार ने द्यूत का अर्थ साधारण जुआ, अष्टापद का अर्थ सारी फलक से खेला जाने वाला जुआ और नालिका खेल का अर्थ इच्छानुकूल पासा डालने के लिए नालिका का प्रयोग किया जाये वैसा द्यूत किया है[3] ।

इससे लगता है कि अनाचार के प्रकरण में नालिका का अर्थ द्यूत विशेष ही है ।

२५. छत्र धारण करना (छत्तस्स य धारणट्ठाए ख) :

वर्षा तथा आतप निवारण के लिए जिसका प्रयोग किया जाय, उसे 'छत्र' कहते हैं[4] । सूत्रकृताङ्ग में कहा है—"छत्र को कर्मोत्पादन का कारण समझ विज्ञ उसका त्याग करे[5] ।" प्रश्नव्याकरण में छत्ता रखना साधु के लिए अकल्प्य कहा है[6] । यहाँ छत्र-धारण को अनाचरित कहा है । इससे प्रकट है कि साधु के लिए छत्र का धारण करना निषिद्ध रहा है ।

१—अधिकरण १ प्रकरण १६ : नालिकाभिरहरष्टधारात्रिश्च विभजेत् ।

२—(क) नि० भा० गा० २३६ : सुप्पे य तालवेटे, हत्थे मत्ते य चेलकण्णे य ।
अच्छिफुमे पव्वए, णालिया चेव पत्ते य ॥

(ख) नि० भा० गा० २३६ चू० पृ० ८४ : पव्वए त्ति वंसो भण्णति, तस्स मज्झे पव्वं भवति, णालिय त्ति अपव्वा भवति, सा पुण लोए 'मुरली' भण्णति ।

३ – दशवैकालिक के व्याख्याकार और जम्बुद्वीप प्रज्ञप्ति के व्याख्याकार नालिका के अर्थ में एकमत नहीं हैं। ये उनके व्याख्या शब्दों से (जो यहाँ उद्धृत हैं) जाना जा सकता है ।

(क) जम्बू० वृत्ति पत्र० १३८, १३९ : द्यूतं सामान्यतः प्रतीतम् ······अष्टापदं सारिफलकद्यूतं तद्विषयककला···नालिकाखेलं द्यूतविशेषं मा भूदिष्टदायविपरीतपाशक निपातनमितिनालिकया यत्र पाशकः पात्यते, द्यूत ग्रहणे सत्यपि अभिनिवेश-निबन्धनत्वेन नालिकाखेलं आधान्यज्ञापनार्थं भेदेन ग्रहः ।

(ख) हा० टी० प० ११७ : अष्टापदेन सामान्यतो द्यूतग्रहणे सत्यप्यभिनिवेशनिबन्धनत्वेन नालिकायाः प्राधान्यख्यापनार्थं भेदेन उपादानम्; अर्थपदमेवोक्तार्थं तदित्यन्ये अभिदधति, अस्मिन् पक्षे सकलद्यूतोपलक्षणार्थं नालिकाग्रहणम्, अष्टापदद्यूत-विशेषपक्षे चोभयोरिति ।

४—(क) अ० चू० पृ० ६१ : छत्तं आतववारणं ।

(ख) जि० चू० पृ० ११३ : छत्तं नाम वासायवनिवारणं ।

५—सू० १.६.१८ : पाणहाओ य छत्तं च, × × × ।
× × × ×, तं विज्जं परिजाणिया ॥
टी० आतपादिनिवारणाय छत्रं········तदेतत्सर्वं 'विद्वान्'—पण्डितः कर्मोपादानकारणत्वेन ज्ञपरिज्ञया परिज्ञाय प्रत्याख्यान-परिज्ञया परिहरेदिति ।

६—प्रश्न० सं० ५ : न जाण-जुग्ग-सयणाइ ण छत्तकं····कप्पइ मणसावि परिघेत्तुं ।

आचाराङ्ग में कहा है—श्रमण जिसके साथ रहे उसकी अनुमति लिए बिना उसके छत्र यावत् चर्म-छेदनक को न ले[1]। इससे प्रकट होता है कि साधु छत्र रखते और धारण करते थे।

आगमों के इन विरोधी विधानों की परस्पर संगति क्या है, यह एक प्रश्न है। कोई समाधान दिया जाय उसके पहले निम्न विवेचनों पर ध्यान देना आवश्यक है :

(१) चूर्णियों में कहा है—'अकारण में छत्र-धारण करना नहीं कल्पता, कारण में कल्पता है[2]।' कारण क्या समझना चाहिए। इस विषय में चूर्णियों में कोई स्पष्टीकरण नहीं है। यदि वर्षा और आतप को ही कारण माना जाय और इनके निवारण के लिए छत्र-धारण कल्पित हो तो यह अनाचार हो नहीं टिकता क्योंकि इन परिस्थितियों के अतिरिक्त ऐसी कोई दूसरी परिस्थिति साधारणतः कल्पित नहीं की जा सकती जब छाता लगाया जाता हो। ऐसी परिस्थिति में चूर्णियों द्वारा प्रयुक्त 'कारण' शब्द किसी विशेष परिस्थिति का द्योतक होना चाहिए, वर्षा या आतप जैसी परिस्थितियों का नहीं। इस बात की पुष्टि स्वयं पाठ से ही हो जाती है। यहाँ पाठ में 'छत्तस्स य' के बाद में 'धारणट्ठाए' शब्द और है। 'अट्ठाए' का तात्पर्य—अर्थ या प्रयोजन है। भावार्थ हुआ—अर्थ या प्रयोजन से छत्र का धारण करना अर्थात् धूप या वर्षा से बचने के लिए छत्र का धारण करना अनाचार है[3]।

(२) टीकाकार लिखते हैं—अनर्थ—बिना मतलब अपने या दूसरे पर छत्र का धारण करना अनाचार है—आगाढ़ रोगी आदि के द्वारा छत्र-धारण अनाचार नहीं है[4]। प्रश्न हो सकता है टीकाकार अनर्थ छत्र धारण करने का अर्थ कहाँ से लाए? इसका स्पष्टीकरण स्वयं टीकाकार ने ही कर दिया है। उनके मत से मूल-पाठ अर्थ की दृष्टि से "छत्तस्स य धारणमणट्ठाए" है। किन्तु पद-रचना की दृष्टि से प्राकृत शैली के अनुसार अनुस्वार, अकार और नकार का लोप करने से "छत्तस्स य धारणट्ठाए" ऐसा पद शेष रहा है। साथ ही वे कहते हैं—परम्परा से ऐसा ही पाठ मान कर अर्थ किया जाता रहा है। अतः स्मृति-प्रमाण भी इनके पक्ष में है[5]। इस तरह टीकाकार ने 'अट्ठाए' के स्थान में 'अणट्ठाए' शब्द ग्रहण कर अर्थ किया है। उनके अनुसार गाढ़ रोगादि अवस्था में छत्र धारण किया जा सकता है और वह अनाचार नहीं है।

(३) आगमों में इस सम्बन्ध में अन्यत्र प्रकाश नहीं मिलता। केवल व्यवहार सूत्र में कहा है. "स्थविरों को छत्र रखना कल्पता है[6]।"

उपर्युक्त विवेचन से निम्न निष्कर्ष निकलते हैं :

(१) वर्षा और आतप निवारण के लिए साधु के द्वारा छत्र-धारण करना अनाचार है।
(२) शोभा महिमा के लिए छत्र-धारण करना अनाचार है।
(३) गाढ़ रोगादि की अवस्था में छत्र धारण-करना अनाचार नहीं।
(४) स्थविर के लिए भी छत्र-धारण करना अनाचार नहीं।

ये नियम स्थविर-कल्पी साधु को लक्ष्य कर किए गये हैं। जिन-कल्पी के लिए हर हालत में छत्र-धारण करना अनाचार है।

छाता धारण करने के विषय में बौद्ध-भिक्षुओं के नियम इस प्रकार हैं। नीरोग अवस्था में छाता धारण करना भिक्षुणी के लिए

१—आ० चू० ७.१ : जेहिं वि सद्धिं संपव्वइए तेसिंपि आइ भिक्खू छत्तगं वा, मत्तयं वा, दंडगं वा, लट्ठियं वा, भिसियं वा, णालियं वा, चेलं वा, चिलमिलिं वा, चम्मयं वा, चम्मकोसयं वा, चम्मछेयणगं वा—तेसिं पुव्वामेव ओग्गहं अणणुण्णविय अपडिलेहिय अपमज्जिय नो गिण्हेज्ज वा पगिण्हेज्ज वा ... ।

२—(क) अ० चू० पृ० ६१ : तस्स धारणमकारणे ण कप्पति।
(ख) जि० चू० पृ० ११३ : छत्त ... अकारणे धरिउं न कप्पइ, कारणेण पुण कप्पति।

३—मिलाएँ Dasavcaliya sutta (K V Abhyankar) 1938 Notes chap. III p. 11. "The writer of the vritti translates the word as धारणमर्थाय, and explains it as 'holding the umbrella for a purpose'."

४—हा० टी० प० ११७ : 'छत्रस्य च' लोकप्रसिद्धस्य धारणमात्मानं परं वा प्रति अनर्थाय इति, आगाढग्लानाद्यालम्बनं मुक्त्वा-ऽनाचरितम्।

५—हा० टी० प० ११७ : प्राकृतशैल्या चात्रानुस्वारलोपोऽकारनकारलोपौ च द्रष्टव्यौ, तथाश्रुतिप्रामाण्यादिति।

६—व्यव० ८.५ : थेराणं थेरभूमिपत्ताणं कप्पइ दंडए वा भंडए वा छत्तए वा।

दोषकारक था[1]। भिक्षु पहले छत्ता धारण नहीं करते थे। एक बार संघ को छत्ता मिला। बुद्ध ने छत्ते की अनुमति दी। षड्वर्गीय भिक्षु छत्ता लेकर टहलते थे। उस समय एक बौद्ध उपासक बहुत से यात्री आजीवकों के अनुयायियों के साथ बाग में गया था। उन आजीवक-अनुयायियों ने षड्वर्गीय भिक्षुओं को छत्ता धारण किये आते देखा। देखकर वे उस उपासक से बोले : "आवुसो ! यह तुम्हारे भदन्त हैं, छत्ता धारण करके आ रहे हैं, जैसे कि गणक महामात्य।" उपासक बोला : आर्यो ! ये भिक्षु नहीं हैं, ये परिव्राजक हैं।" पर पास में आने पर वे बौद्ध-भिक्षु ही निकले। उपासक हैरान हुआ—'कैसे भदन्त छत्ता धारण कर टहलते हैं !" भिक्षुओं ने उपासक के हैरान होने की बात बुद्ध से कही। बुद्ध ने नियम किया—"भिक्षुओ ! छत्ता न धारण करना चाहिए। यह दुक्कट का दोष है।" बाद में रोगी को छत्ते के धारण की अनुमति दी। बाद में अरोगी को आराम में और आराम के पास छत्ता धारण की अनुमति दी[2]।

२६. चैकित्स्य (तेगिच्छं [ग])

चूर्णिकार और टीकाकार ने चैकित्स्य का अर्थ 'रोगप्रतिकर्म' अथवा 'व्याधिप्रतिक्रिया' किया है[3] अर्थात् रोग का प्रतिकार करना—उपचार करना चैकित्स्य है।

उत्तराध्ययन में कहा है : रोग उत्पन्न होने पर वेदना से पीड़ित साधु दीनतारहित होकर अपनी बुद्धि को स्थिर करे और उत्पन्न रोग को समभाव से सहन करे। आत्मशोधक मुनि चिकित्सा का अभिनन्दन न करे। चिकित्सा न करना और न कराना—यही निश्चय से उसका श्रामण्य है[4]।"

निर्ग्रन्थों के लिए निष्प्रतिकर्मता—चिकित्सा न करने का विधान रहा है। यह महाराज बलभद्र, महारानी मृगा और राजकुमार मृगापुत्र के संवाद से स्पष्ट है। माता-पिता ने कहा : "पुत्र ! श्रामण्य में निष्प्रतिकर्मता बहुत बड़ा दुःख है। तुम उसे कैसे सह सकोगे ?" मृगापुत्र बोला : "अरण्य में पशु-पक्षियों के रोग उत्पन्न होने पर उनका प्रतिकर्म कौन करता है ? कौन उन्हें औषध देता है ? कौन उनसे सुख पूछता है ? कौन उन्हें भोजन-पानी लाकर देता है ? जब वे सहज-भाव से स्वस्थ होते है, तब भोजन पाने के लिए निकल पड़ते हैं। माता ! पिता ! मैं भी इस मृगचर्या को स्वीकार करना चाहता हूँ[5]।"

१—विनयपिटक : भिक्खुनी-पातिमोक्ख : छत्त-वग्ग ऽऽ ४.८४. पृ० ५७।

२—विनयपिटक : चुल्लवग्ग ५ऽऽ३.३ पृ० ४.३८-३९

३—(क) अ० चू० पृ० ६१ : तेगिच्छं रोगपडिकम्मं।
(ख) जि० चू० पृ० ११३ : तिगिच्छा णाम रोगपडिकम्मं करेइ।
(ग) हा० टी० प० ११७ : चिकित्साया भावश्चैकित्स्यं—व्याधिप्रतिक्रियारूपमनाचरितम्।

४—उत्त० २.३२-३३ :
नच्चा उप्पइयं दुक्खं, वेयणाए दुहट्टिए।
अदीणो थावए पन्नं, पुट्ठो तत्थहियासए॥
तेगिच्छं नाभिनन्देज्जा, संचिक्खत्तगवेसए।
एवं खु तस्स सामण्णं, जं न कुज्जा न कारवे॥

५—उत्त० १९.७५,७६,७८,७९ :
तं बिन्तम्मापियरो, छन्देणं पुत्त ! पव्वया।
नवरं पुण सामण्णे, दुक्खं निप्पडिकम्मया॥
सो बित ऽ म्मापियरो !, एवमेयं जहाफुडं।
पडिकम्मं को कुणई, अरण्णे मियपक्खिणं ? ॥
जया मिगस्स आयंको, महारण्णम्मि जायई।
अच्छन्तं रुक्खमूलम्मि, को णं ताहे तिगिच्छई ? ॥
को वा से ओसहं देइ, को वा से पुच्छई सुहं ?।
को से भत्तं च पाणं च, आहरित्तु पणामए॥

भगवान् महावीर ने अपने दीर्घ साधना-काल में कभी चिकित्सा का सहारा नहीं लिया। आचाराङ्ग में कहा है : "रोग से स्पृष्ट होने पर भी वे चिकित्सा की इच्छा तक नहीं करते थे[1]।"

उत्तराध्ययन के अनुसार जो चिकित्सा का परित्याग करता है वही भिक्षु है[2]। सूत्रकृताङ्ग में कहा है—साधु 'आसूणि' को छोड़े[3]। यहाँ 'आसूणि' का अर्थ घृतादि के आहार अथवा रसायन क्रिया द्वारा शरीर को बलवान बनाना किया गया है[4]।

उक्त शब्दों के आधार पर जान पड़ता है कि निर्ग्रंथों के लिए निष्प्रतिकर्मता का विधान रहा है। पर साथ ही यह भी सत्य है कि साधु रोगोपचार करते थे। स्वयं औषध के सेवन द्वारा रोग-शमन करते थे। आगमों में यत्र-तत्र निर्ग्रंथों के औषधोपचार की चर्चा मिलती है।

भगवान् महावीर पर जब गोशालक ने तेजो लेश्या का प्रयोग किया तब भगवान् ने स्वयं औषध मँगाकर उत्पन्न रोग का प्रतिकार किया था[5]। श्रावक के बारहवें व्रत—अतिथि संविभाग व्रत का जो स्वरूप है उसमें साधु को आहार आदि की तरह ही श्रावक औषध-भैषज्य से भी प्रतिलाभित करता रहे ऐसा विधान है[6]।

ऐसी परिस्थिति में सहज ही प्रश्न होता है जब चिकित्सा एक अनाचार है तो साधु अपना उपचार कैसे करते रहे? सिद्धान्त और आचार में यह असंगति कैसे? हमारे विचार से चिकित्सा अनाचार का प्रारंभिक अर्थ चिकित्सा न करना रहा, किन्तु जिनकल्प मुनि चिकित्सा नहीं कराते और स्थविरकल्प मुनि विधिपूर्वक चिकित्सा करा सकते हैं इस स्थापना के बाद चिकित्सा अनाचार का अर्थ यह हो गया—अपनी सावद्य चिकित्सा करना या दूसरे से अपनी सावद्य चिकित्सा करवाना। इसका समर्थन आगमों से भी होता है। प्रश्नव्याकरण सूत्र में पुष्प, फल, कन्द-मूल तथा सब प्रकार के बीज साधु को औषध, भैषज्य, भोजन आदि के लिए अग्राह्य बतलाये हैं[7]। क्योंकि ये जीवों की योनियाँ हैं। उनका उच्छेद करना साधु के लिए अकल्पनीय है[8]। ऐसा उल्लेख है कि कोई गृहस्थ मन्त्रबल अथवा कन्द-मूल, छाल या वनस्पति को खोद या पकाकर मुनि की चिकित्सा करना चाहे तो मुनि को उसकी इच्छा नहीं करनी चाहिए और न ऐसी चिकित्सा करानी चाहिए[9]।

१—(क) आ० ६.४.१ : पुट्ठे वा से अपुट्ठे वा णो से सातिज्जति तेइच्छं।
(ख) आ० ६.४.१ टीका प० २८४ : स च भगवान् स्पृष्टो वा अस्पृष्टो वा कासश्वासादिभिर्नासौ चिकित्सामभिलषति, न द्रव्यौषधप्रयोगेण पीडोपशमं प्रार्थयतीति।

२—उत्त० १५.८ : आउरे सरणं तिगिच्छियं च, तं परिन्नाय परिव्वए स भिक्खू।

३—सू० ६.१५ : आसूणिमक्खिरागं च, , तं विज्जं परिजाणिया॥

४—सू० ६.१५ की टीका : येन घृतपानादिना आहारविशेषेण रसायनक्रिया वा असूनः सन् आ—समन्तात् शूनीभवति—बलवानुपजायते तदासूनीत्युच्यते।

५—भग० श० १५ पृ० ६६३-४ : तं गच्छह णं तुमं सीहा! मेंढियगामं नगरं, रेवतीए गाहावतिणीए गिहे, तत्थ णं रेवतीए गाहावतिणीए ममं अट्ठाए दुवे कवोयसरीरा उवक्खडिया, तेहिं नो अट्ठो, अत्थि से अन्ने पारियासिए मज्जारकडए कुक्कुडमंसए, तमाहराहि, एएणं अट्ठो। तए णं ... समणे भगवं महावीरे अमुच्छिए जाव अणज्झोववन्ने बिलमिव पन्नगभूएणं अप्पाणेणं तमाहारं सरीरकोट्ठगंसि पक्खिवति। तए णं समणस्स भगवओ महावीरस्स तमाहारं आहारियस्स समाणस्स से विपुले रोगायंके खिप्पामेव उवसमं पत्ते, हट्ठे जाए, आरोग्गे, बलियसरीरे।

६—उपा० १.५८ : कप्पइ मे समणे निग्गंथे फासुएणं एसणिज्जेणं असण-पाण-खाइम-साइमेणं ओसह-भेसज्जेण य पडिलाभेमाणस्स विहरित्तए।

७—प्रश्न० सं० ५ : ण यावि पुप्फफलकंदमूलादियाइं सणसत्तरसाइं सव्वधन्नाइं तिहिंवि जोगेहिं परिघेत्तुं ओसह-भेसज्ज भोयणट्ठाए संजयेण।

८—प्रश्न० सं० ५ : किं कारणं जिणवरिंदेहिं एस जोणी जंगमाणं दिट्ठा ण कप्पइ जोणिसमुच्छेदोत्ति, तेण वज्जंति समणसीहा।

९—आ० चू० १३.७८ : (से से परो) (से अण्णमण्णं) सुद्धेणं वा वइ-बलेणं तेइच्छं आउट्टे,
(से से परो) (से अण्णमण्णं) असुद्धेणं वा वइ-बलेणं तेइच्छं आउट्टे,
(से से परो) (से अण्णमण्णं) गिलाणस्स सचित्ताणि कंदाणि वा, मूलाणि वा, तयाणि वा, हरियाणि वा, खणित्तु वा, कड्ढेत्तु वा, कड्ढावेत्तु वा, तेइच्छं आउट्टेज्जा—णो तं साइए, णो तं नियमे।

यहाँ यह उल्लेख कर देना आवश्यक है कि बौद्ध-भिक्षु चिकित्सा में सावद्य-निरवद्य का भेद नहीं रखते थे। बौद्ध-भिक्षुओं को रीछ, मछली, सोंस, सुअर आदि की चर्बी काल से ले, काल से पका, काल से मिला सेवन करने से दोष नहीं होता था। हल्दी, अदरक, वच तथा अन्य भी जड़ वाली दवाइयाँ ले बौद्ध-भिक्षु जीवन-भर उन्हें रख सकते थे और प्रयोजन होने पर उनका सेवन कर सकते थे। इसी तरह नीम, कुटज, तुलसी, कपास आदि के पत्तों तथा विडंग, पिप्पली आदि फलों को रखने और सेवन करने की छूट थी। अ-मनुष्य वाले रोग में कच्चे मांस और कच्चे खून खाने-पीने की अनुमति थी[1]। निर्ग्रन्थ-श्रमण ऐसी चिकित्सा कभी नहीं कर सकते थे।

चिकित्सा का एक अन्य अर्थ वैद्यकवृत्ति—गृहस्थों की चिकित्सा करना भी है।

उत्तराध्ययन में कहा है—"जो मंत्र, मूल—जड़ी-बूटी और विविध वैद्यचिन्ता—वैद्यक-उपचार नहीं करता वह भिक्षु है[2]।"

सोलह उत्पादन दोषों में एक दोष चिकित्सा भी है[3]। उसका अर्थ है—औषधादि बताकर आहार प्राप्त करना। साधु के लिए इस प्रकार आहार की गवेषणा करना वर्जित है[4]। आगम में स्पष्ट कहा है—भिक्षु चिकित्सा, मन्त्र, मूल, भैषज्य के हेतु से भिक्षा प्राप्त न करे[5]। चिकित्सा शास्त्र को श्रमण के लिए पापश्रुत कहा है[6]।

२७. उपानत् (पाणहा ग) :

पाठान्तर रूप में 'पाहणा' शब्द मिलता है[7]। इसका पर्यायवाची शब्द 'वाहणा' का प्रयोग भी आगमों में है[8]। सूत्रकृताङ्ग में 'पाणहा' शब्द है[9]। 'पाहणा' शब्द प्राकृत 'उवाहणा' का संक्षिप्त रूप है। 'पाहणा' और 'पाणहा' में 'ण' और 'ह' का व्यत्यय है। इसका अर्थ है—पादुका, पाद-रक्षिका अथवा पाद-त्राण[10]। साधु के लिए काष्ठ और चमड़े के जूते धारण करना अनाचार है।

व्यवहार सूत्र में स्थविर को चर्म-व्यवहार की अनुमति है[11]। स्थविर के लिए जैसे छत्र धारण करना अनाचार नहीं है, वैसे ही चर्म रखना भी अनाचार नहीं है।

अगस्त्य मुनि के अनुसार स्वस्थ के लिए 'उपानह' का निषेध है। जिनदास के मत से शरीर की अस्वस्थ अवस्था में पैरों के या चक्षुओं के दुर्बल होने पर 'उपानह' पहनने में कोई दोष नहीं। असमर्थ अवस्था में प्रयोजन उपस्थित होने पर पैरों में जूते धारण किये जा सकते हैं अन्य काल में नहीं[12]। हरिभद्र सूरि के अनुसार 'आपत् काल' में जूता पहनने का कल्प है[13]।

१—विनयपिटक : महावग्ग : ६ ऽऽ १.२-१० पृ० २१६-१८।

२—उत्त० १५.८ : मन्तं मूलं विविहं वेज्जचिन्तं, ··· ··· ··· ··· ··· ···।
··· ··· ··· ··· ··· ···, तं परिन्नाय परिव्वए स भिक्खू॥

३—पि० नि० : धाई दूई निमित्ते आजीव वणीमगे तिगिच्छा य।

४—नि० १३.६६ : जे भिक्खू तिगिच्छापिंडं भुंजइ भुंजंतं वा सातिज्जति।

५—प्रश्न० सं० १ : न तिगिच्छामंतमूलभेसज्जकज्जहेउं ····· भिक्खं गवेसियव्वं।

६—ठा० ९.२७ : नवविधे पावसुयपसंगे पं० तं० उप्पाते, णिमित्ते, मंते, आइक्खिए, तिगिच्छिए। कला आवरणे अण्णाणे मिच्छापावयणेति य॥

७—(क) दश० सूत्रम् (जिनयशः सूरिजी ग्रन्थरत्नमालायाः प्रथमं (१) सूत्रम्)
(ख) श्रीदशवैकालिक सूत्रम् (मनसुखलाल द्वारा प्रकाशित); आदि

८—(क) नाया० अ० १५ : अणुवाहणस्स ओवाहणाओ दलयइ।
(ख) भग० २.१ : वाहणाउ य पाउयाउ य।

९—सू० १.९.१८ : पाणहाओ य ·····।·····तं विज्जं परिजाणिया॥

१०—(क) सू० १.९.१८ टी० प० १८१ : उपानहौ—काष्ठपादुके।
(ख) भग० २.१ टी० : पादरक्षिकाम्।
(ग) अ० चू० पृ० ६१ : उवाहणा पाद-त्राणम्।

११—व्यव० ८.५ : थेराणं थेर-भूमि-पत्ताणं कप्पइ·······चम्मे वा·······।

१२—(क) अ० चू० पृ० ६१ : पद्यते येन गम्यते यदुक्तं नीरोगस्स नीरोगो वा पादो।
(ख) जि० चू० पृ० ११३ : उवाहणाओ लोगसिद्धाओ चेव,·······पायग्गहणेण अकल्लसरीरस्स गहणं कयं भवइ, दुब्बलपाओ चक्खुदुब्बलो वा उवाहणाओ आविधेज्जा ण दोसो भवईत्ति, किंचपादग्गहणेणं एतं दंसेति—परिग्गहिया उवाहणाओ असमत्थेण पओयणे उप्पण्णे पाएसु कायव्वा, ण उण सेसकालं।

१३—हा० टी० प० ११७ : तथोपानहौ पादयोरनाचरिते, पादयोरिति साभिप्रायकं, न त्वापत्कल्पपरिहारार्थमुपग्रहधारणेन।

अङ्गार, मुर्मुर, अचि, ज्वाला, अलात, शुद्ध-अग्नि और उल्का आ जाते हैं। 'समारम्भ' शब्द में सींचना, संघट्ट करना, भेदन करना, उज्ज्वलित करना, प्रज्वलित करना, बुझाना आदि सब भाव समाते हैं। अग्नि-समारम्भ करने में—कराना और अनुमोदन करना ये भाव भी सन्निहित हैं[1]। भगवान् महावीर का कहना था—"पकाना, पकवाना, जलाना, जलवाना, उजाला करना या बुझाना आदि कारणों से तेजस्काय की हिंसा होती है। ऐसे सब कारण साधु-जीवन में न रहें[2]।" आचारांग सूत्र में इस विषय पर बड़ा गंभीर विवेचन है। वहाँ कहा गया है : "जो पुरुष अग्निकाय के जीवों के अस्तित्व का अपलाप करता है, वह अपनी आत्मा का अपलाप करता है। जो अपनी आत्मा का अपलाप करता है वह अग्निकाय के जीवों का अपलाप करता है। जो अग्नि के स्वरूप को जानता है वह असंयम के स्वरूप को जानता है और जो असंयम के स्वरूप को जानता है वह अग्नि के स्वरूप को जानता है। जो प्रमादी है, वह प्राणियों को दण्ड देनेवाला है। अग्निकाय का आरम्भ, करनेवाले के लिए अहित का कारण है, अबोधि का कारण है। यह ग्रन्थ है, यह मोह है, यह मार है, यह नरक है[3]।"

महात्मा बुद्ध ने अग्नि-ताप का निषेध विशेष परिस्थिति में किया था। एक बार बौद्ध-भिक्षु थोथे बड़े ठूंठ को जलाकर सर्दी के दिनों में अपने को तपा रहे थे। उसके अन्दर रहा हुआ काला नाग अग्नि से झुलस गया। वह बाहर निकल भिक्षुओं के पीछे दौड़ने लगा। भिक्षु इधर-उधर दौड़ने लगे। यह बात बुद्ध तक पहुँची। बुद्ध ने नियम दिया—"जो भिक्षु तापने की इच्छा से अग्नि जलायेगा, अथवा जलवायेगा, उसे पाचित्तिय का दोष होगा।" इस नियम से रोगी भिक्षुओं को कष्ट होने लगा। बुद्ध ने उनके लिए अपवाद कर दिया। उपर्युक्त नियम के कारण भिक्षु आताप-घर और स्नान-घर में दीपक नहीं जलाते थे। बुद्ध ने समुचित कारण से अग्नि जलाने और जलवाने की अनुमति दी। आरामों में दीपक जलाये जाते थे[4]।

महावीर का नियम था—"शीत-निवारण के लिए पास में वस्त्र आदि नहीं हैं और न घर ही है, इसलिए मैं अग्नि का सेवन करूँ—भिक्षु ऐसा विचार भी न करे[5]।" "भिक्षु स्पर्शनेन्द्रिय को मनोज्ञ एवं सुखकारक स्पर्श से संवृत करे। उसे शीतकाल में अग्नि-सेवन—शीत ऋतु के अनुकूल सुखदायी स्पर्श में आसक्त नहीं होना चाहिए[6]।" उन्होंने कहा—"जो पुरुष माता और पिता को छोड़कर श्रमण व्रत धारण करके भी अग्निकाय का समारंभ करते हैं और जो अपने लिए भूतों की हिंसा करते हैं, वे कुशीलधर्मी हैं[7]।" "अग्नि को उज्ज्वलित करने वाला प्राणियों की घात करता है और आग बुझाने वाला मुख्यतया अग्निकाय के जीवों की घात करता है। धर्म को सीख मेधावी पण्डित अग्नि का समारम्भ न करे। अग्नि का समारंभ करने वाला पृथ्वी, तृण और काठ में रहनेवाले जीवों का दहन करता है[8]।"

१—दश० ४.२० तथा ८.८।

२—प्रश्न० (आस्रव-द्वार) १.३ पृ० १३ : पयण-पयावण-जलावण-विद्धंसणेहिं अगणिं।

३—आ० १.६५,६६,६८,७६,७८ : जे लोयं अब्भाइक्खइ से अत्ताणं अब्भाइक्खइ, जे अत्ताणं अब्भाइक्खइ से लोयं अब्भाइक्खइ।
जे दीहलोगसत्थस्स खेयन्ने से असत्थस्स खेयन्ने, जे असत्थस्स खेयन्ने से दीहलोगसत्थस्स खेयन्ने।
जे पमत्ते गुणट्ठीए, से हु दंडे पवुच्चति।
तं से अहियाए, तं से अबोहियाए।
एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु णरए।

४—Sacred Books of the Buddhists vol. XI. Book of the Discipline part II. LVI. p.p. 398-400

५—उत्त० २.७ : न मे निवारणं अत्थि, छवित्ताणं न विज्जई।
अहं तु अग्गिं सेवामि, इइ भिक्खू न चिन्तए॥

६—प्रश्न० (संवर-द्वार) ५ : सिसिरकाले अंगारपतावणा य आयवनिद्धमउयसीयउसिणलहुया य जे उउसुहफासा अंगसुहनिव्वुइकरा ते अन्नेसु य एवमादितेसु फासेसु मणुन्नभद्दएसु न तेसु समणेण सज्जियव्वं न रज्जियव्वं न गिज्झियव्वं न मुज्झियव्वं।

७—सू० १.७.५ : जे मायरं वा पियरं च हिच्चा, समणव्वए अगणिं समारभिज्जा।
अहाहु से लोए कुसीलधम्मे, भूयाइ जे हिंसति आतसाते॥

८—सू० १.७.६-७ : उज्जालओ पाण तिवातएज्जा, निव्वावओ अगणि इतिवात एज्जा।
तम्हा उ मेहावि समिक्ख धम्मं, ण पंडिए अगणि समारभिज्जा॥
पुढवीवि जीवा आऊवि जीवा, पाणा य संपाइम संपयंति।
संसेदया कट्ठसमस्सिता य, एते दहे अगणि समारभंते॥

भगवान् महावीर के समय में बड़े-बड़े यज्ञ होते थे। उनसे मोक्ष माना जाता था। उनमें महान् अग्नि समारंभ होता था। महावीर ने उसका तीव्र विरोध किया था। उन्होंने कहा—"कई मूढ़ हुत—अग्नि-होम से मोक्ष कहते हैं[1]। प्रातःकाल और सायंकाल अग्नि का स्पर्श करते हुए जो हुत—होम से मुक्ति बतलाते हैं वे मिथ्यात्वी हैं। यदि इस प्रकार सिद्धि हो तो अग्नि का स्पर्श करने वाले कुम्हार, लुहार आदि की सिद्धि सहज हो जाए[2]। अग्नि-होम से सिद्धि माननेवाले बिना परीक्षा किये ही ऐसा कहते हैं। इस तरह सिद्धि नहीं होगी। ज्ञान प्राप्त कर देखो—त्रस, स्थावर सब प्राणी सुखाभिलाषी हैं ......[3]।"

श्लोक ५ :

२९. शय्यातरपिण्ड (सेज्जायरपिंडं ग) :

'सेज्जायर' शब्द के संस्कृत रूप तीन बनते हैं—शय्याकर, शय्याधर और शय्यातर। शय्या को बनाने वाला, शय्या को धारण करने वाला और श्रमण को शय्या देकर भव-समुद्र को तैरने वाला—ये क्रमशः इन तीनों के अर्थ हैं[4]। यहाँ 'शय्यातर' का अभिप्रेत है[5]।

शय्यातर का प्रचलित अर्थ है—वह गृह-स्वामी जिसके घर में श्रमण ठहरे हुए हों[6]।

शय्यातर कौन होता है? कब होता है? उसकी कितनी वस्तुएँ अग्राह्य होती हैं? आदि प्रश्नों की चर्चा भाष्य ग्रंथों में विस्तार-पूर्वक है। निशीथ-भाष्य के अनुसार उपाश्रय का स्वामी अथवा उसके द्वारा संदिष्ट कोई दूसरा व्यक्ति शय्यातर होता है[7]।

शय्यातर कब होता है? इस विषय में अनेक मत हैं। निशीथ-भाष्यकार ने उन सबका संकलन किया है[8]—

१—सू० १.७.१२ : ......हुएण एगे वयंति मोक्खं ॥

२—सू० १.७.१८ : हुतेण जे सिद्धिमुदाहरंति, सायं च पायं अगणिं फुसंता।
एवं सिया सिद्धि हवेज्ज तम्हा, अगणिं फुसंताण कुकम्मिणंपि ॥

३—सू० १.७.१९ : अपरिक्ख दिट्ठं ण हु एव सिद्धी, एहिंति ते घायमबुज्झमाणा।
भूएहिं जाण पडिलेह सातं, विज्जं गहाय तसथावरेहिं ॥

४—नि० भा० गा० २.४५-४६ : सेज्जाकर-दाता वा णिज्जि वि सुत्तं वक्खाणेति—
अगमकरणादगारं, तस्स तु जोगेण होति सागारी।
सेज्जा करणा सेज्जाकरो उ दाता तु तद्दाता ॥

"अगमा" रुक्खा, तेहिं कतं "अगार" घर तेण सह जस्स जोगो सो सागारिउ त्ति भण्णति। जम्हा सो सिज्जं करेति तम्हा सो सिज्जाकरो भण्णति। जम्हा सो साहूणं सेज्जं ददाति तेण भण्णति सेज्जादाता। जम्हा सेज्जं पडमाणि छज्ज-लेप्पमा-दीहिं धरेति तम्हा सेज्जाधरो अहवा—सेज्जादाणपाहण्णतो अप्पाणं णरकादिसु पडतं धरेति त्ति तम्हा सेज्जाधरो। सेज्जाए सरक्खणं संगोवणं, तेण तरति काउं तेण सेज्जातरो। अहवा—तत्थ वसहीए साहुणो ठिता ते वि सारक्खिउं तरति, तेण सेज्जा-दाणेण भवसमुद्दं तरति त्ति सिज्जातरो।

५ (क) अ० चू० पृ० ६१ : सेज्जा वसती, स पुण सेज्जादाणेण संसारं तरति सेज्जातरो, तस्स भिक्खा सेज्जातरपिंडो।
(ख) जि० चू० पृ० ११३ : सेज्जा—आश्रयोऽभिधीयते, तेण उ तस्स य दाणेण साहूण संसार तरतीति सेज्जातरो तस्स पिंडो, भिक्खत्ति वुत्तं भवइ।
(ग) हा० टी० प० ११७ : शय्या—वसतिस्तया तरति संसार इति शय्यातरः—साधुवसतिदाता, तत्पिण्डः।

६—हा० टी० प० ११७।

७—नि० भा० गा० ११४४ : सेज्जातरो पभू वा, पभुसंदिट्ठो व होति कातव्वो।

८—नि० भा० गा० ११४६-४७ चू० : एत्थ णेगमणय-पक्खासिता आहु।
एक्को भणति—अणुण्णविए उवस्सए सागारिओ भवति।
अण्णो भणति—जता सागारियस्स उग्गहं पविट्ठा।
अण्णो भणति—जता अंगणं पविट्ठा।
अण्णो भणति—जता पाउग्गं तणडगलादि अणुण्णवितं।
अण्णो भणति—जता वसहिं पविट्ठा।

१. आज्ञा लेने पर……
२. मकान के अवग्रह में प्रविष्ट होने पर……
३. आंगन में प्रवेश करने पर……
४. प्रायोग्य तृण, ढेला आदि की आज्ञा लेने पर ……
५. वसति (मकान) में प्रवेश करने पर……
६. पात्र विशेष के लेने और कुल-स्थापना करने पर……
७. स्वाध्याय आरंभ करने पर……
८. उपयोग सहित भिक्षा के लिए उठ जाने पर……
९. भोजन प्रारम्भ करने पर……
१०. पात्र आदि वसति में रखने पर……
११. दैवसिक आवश्यक प्रारम्भ करने पर……
१२. रात्री का प्रथम प्रहर बीतने पर……
१३. रात्री का दूसरा प्रहर बीतने पर……
१४. रात्री का तीसरा प्रहर बीतने पर……
१५. रात्री का चौथा प्रहर बीतने पर……
—शय्यातर होता है।

भाष्यकार का अपना मत यह है कि श्रमण रात में जिस उपाश्रय में रहे, सोए और चरम आवश्यक कार्य करे उसका स्वा शय्यातर होता है[1]।

शय्यातर के अशन, पान, खाद्य, वस्त्र, पात्र आदि अग्राह्य होते हैं। तिनका, राख, पाट-बाजोट आदि ग्राह्य होते हैं[2]।

अण्णो भणति—जदा दोद्धियादिभंडयं दाणाति कुलठ्ठवणाए व ठवियाए।
अण्णो भणति—जता सज्झायं आढत्ता काउं।
अण्णो भणति—जता उवओगं काउं भिक्खाए गता।
अण्णो भणति—जता भुंजिउमारद्धा।
अण्णो भणति—भायणेसु निक्खित्तेसु।
अण्णो भणति—जता देवसियं आवस्सयं कतं।
अण्णो भणति—रातीए पढमे जामे गते।
अण्णो भणति—बितिए।
अण्णो भणति—ततिए।
अण्णो भणति—चउत्थे।

१—नि० भा० ११४८ चू० : जत्थ राउ ट्ठिता तत्थेव सुत्ता तत्थेव चरिमावस्सयं कयं तो सेज्जातरो भवति।

२—नि० भा० गा० ११५१-५४ चू० : दुविह चउव्विह छव्विह, अट्ठविहो होति बारसविधो वा।
सेज्जातरस्स पिंडो, तव्वतिरित्तो अपिंडो उ॥

दुविहं चउव्विहं छव्विहं च एगगाहाए वक्खाणेति—

आधारोवधि दुविधो, विदु अण्ण पाण ओहुवग्गहिओ।
असणादि चउरो ओहे, उवग्गहे छव्विधो एसो॥

आहारो उवकरणं च एस दुविहो। वे दुया चउरो त्ति, सो इमो—अण्णं पाणं ओहियं उवग्गहियं च। असणादि चउरो ओहिए उवग्गहिए य, एसो छव्विहो।

इमो अट्ठविहो—

असणे पाणे वत्थे, पाते सूयादिगा य चउरट्ठा।
असणादी वत्थादी, सूयादि चउक्कगा तिण्णि॥

शय्यातर का पिण्ड लेने का निषेध उद्गम-शुद्धि आदि कई दृष्टियों से किया गया है[1]।

अगस्त्यसिंह स्थविर ने यहाँ एक वैकल्पिक पाठ माना है—"पाठ विसेसो—'सेज्जातर पिंड च, आसण्णं परिवज्जए'।" इसके अनुसार—"शय्यातर-पिण्ड लेना जैसे अनाचार है, वैसे ही उसके घर से लगे हुए सात घरों का पिण्ड लेना भी अनाचार है। इसलिए श्रमण को शय्यातर का तथा उसके समीपवर्ती सात घरों का पिंड नहीं लेना चाहिए[2]।"

जिनदास महत्तर ने भी इस पाठान्तर व इसकी व्याख्या का उल्लेख किया है[3]। किन्तु टीका में इसका उल्लेख नहीं है।

सूत्रकृताङ्ग में 'शय्यातर' के स्थान में 'सागारिकपिण्ड' का उल्लेख है[4]। टीकाकार ने इसका एक अर्थ—सागारिक पिण्ड—अर्थात् शय्यातर का पिण्ड किया है[5]।

१०. आसंदी (आसंदी [ग]):

आसंदी एक प्रकार का बैठने का आसन है[6]। शीलाङ्क सूरि ने आसन्दी का अर्थ कुर्सी, मूंज, पाट या सन के सूत से गूंथी हुई खटिया किया है[7]। निशीथ-भाष्य-चूर्णि में काष्ठमय आसंदक का उल्लेख मिलता है[8]। जायसवालजी ने भी 'हिन्दू राज्य-तन्त्र' में इसकी चर्चा की है—"अभिषेक या घोषणा के उपरान्त राजा काठ के सिंहासन (आसन्दी) पर आरूढ़ होता है, जिसपर साधारणतः शेर की खाल बिछी रहती है[9]। आगे चलकर हाथी दाँत और सोने के सिंहासन बनने लगे थे, तब भी काठ के सिंहासन का व्यवहार किया जाता था (देखो महाभारत (कुम्भ) शान्ति पर्व ३६, ७. ४. ११ १४)। यद्यपि यह (खदिर की) लकड़ी का बनता था, परन्तु जैसा कि ब्राह्मणों के विवरण से जान पड़ता है, विस्तृत और विशाल हुआ करता था[10]।"

असणे पाणे खाइमे साइमे, सूची आदि जेसिं ते सूतीपादियगा—सूची पिप्पलओ नखरदनो कण्णसोहणयं। इमो बारसविहो—असणाइया चउरो, वत्थाइया चउरो, सूतियादिया चउरो, एते तिण्णि चउक्का बारस भवंति।

इमो पुणो अपिंडो—तण-डगल-छार-मल्लग, सेज्जा-संथार-पीढ-लेवादी।
सेज्जातरपिंडो, ण होति सेहोव सोवधि उ॥

सिवारो, आहिगहातो, पुत्तधुहादि, एगो सव्वो सेज्जातरपिंडो ण भवति। जति सेज्जायरस्स पुत्तो धूया वा वत्थपायसहिता पव्वएज्जा सो सेज्जातरपिंडो ण भवति।

१—नि० भा० गा० ११५६, ११६८ : तित्थकरपडिकुट्ठो, आणा-अण्णाय-उग्गमो ण सुज्झे।
अविमुत्ति अलाघवता, दुल्लभ सेज्जा य वोच्छेदो॥
घम्म-वेउग्गिपट्ठाण, सति काल वट्टु वट्टु तहिं गमण।
जिमते घमही भुञ्जण, अण्णे उब्भामगा ऽउट्ठा॥

२—अ० चू० पृ० ६१ : एतम्मि पाठे सेज्जातरपिंड इति भणिते किं पुणो भण्णति—"आसण्णं परिवज्जए?" विसेसो दरिसिज्जति—जाणि वि तदासण्णाणि सेज्जातरतुल्लाणि ताणि सत्त वज्जेतव्वाणि।

३—जि० चू० पृ० ११३-४ : अहवा एत सुत्तं एवं पढिज्जइ 'सिज्जातरपिंड च आसन्नं परिवज्जए'। सेज्जातरपिंडं च, एतेण चेव सिद्धे किं पुणो आसन्नग्गहणं करेइ ? जाणिवि तस्स गिहाणि तस्स अणन्तरासण्णाणि ताणिवि। सेज्जातरतुल्लाणि वट्टव्वाणि, तेहिंतोवि परओ अन्नाणि सत्तवज्जेयव्वाणि।

४—सू० १.६.१६ : सागारियं च पिंडं च, तं विज्जं परिजाणिया।

५—सू० १.६.१६ टीका प० १८१ : 'सागारिक' शय्यातरस्तस्य पिण्डम्—आहारं।

६—(क) अ० चू० ३.५ : आसंदी—उपविसण; अ० चू० ६.५३ : आसंदी—आसणं।

(ख) सू० १.६.२१ टीका प० १८२ : 'आसन्दी' त्यासनविशेषः।

७—सू० १.४.२. १५ टी० प० ११८ : 'आसंदियं च नवसुत्त'—आसंदिकामुपवेशनयोग्यां मञ्चिकाम्...नवं—प्रत्यग्रं सूत्रं वल्कवलितं यस्यां सा नवसूत्रा ताम् उपलक्षणार्थत्वाद्ध्र्मवनद्धां वा।

८—नि० भा० गा० १७२३ चू० : आसंदगो कट्ठमओ अज्झुसिरो लब्भति।

९—हिन्दू राज्य-तंत्र (दूसरा खण्ड) पृष्ठ ४८।

१०—हिन्दू राज्य-तंत्र (दूसरा खण्ड) पृष्ठ ४८ का पाद-टिप्पण।

कोशकार वेत्रासन को आसंदी मानते हैं[1]। अथर्ववेद में आसंदी का सावयव वर्णन मिलता है—

१५.३.१ : स संवत्सरमूर्ध्वो अतिष्ठत् तं देवा अब्रुवन् व्रात्य किं नु तिष्ठसीति ॥
वह संवत्सर (या संवत्सर भर से ऊपर) खड़ा रहा। उससे देवों ने पूछा : व्रात्य, तू क्यों खड़ा है ?

१५.३.२ : सोऽब्रवीदासन्दीं मे सं भरन्त्विति ॥ वह बोला मेरे लिए आसन्दी (बिनी हुई चौकी) लाओ।

१५.३.३ : तस्मै व्रात्यायासन्दीं समभरन् ॥ उस व्रात्य के लिए (वह देव गण) आसन्दी लाए।

१५.३.४ : तस्या ग्रीष्मश्च वसन्तश्च द्वौ पादावास्तां शरच्च वर्षाश्च द्वौ ॥
उसके (आसंदी के) ग्रीष्म और वसन्त दो पाये थे, शरद् और वर्षा दो पाये थे।
ऐसा मानना चाहिए कि शिशिर और हेमन्त ऋतु की गणना शरद् में कर ली गई है।

१५.३.५ : बृहच्च रथन्तरं चानूच्ये आस्तां यज्ञायज्ञियं च वामदेव्यं च तिरश्च्ये ॥
बृहत् और रथन्तर, अनूच्य और यज्ञायज्ञिय तथा वामदेव तिरश्च्य थे।
(दाहिने-बायें की लकड़ियों को अनूच्य तथा सिरहाने-पैताने की लकड़ियों को तिरश्च्य कहते हैं।)

१५.३.६ : ऋचः प्राञ्चस्तन्तवो यजूंषि तिर्यञ्चः ॥ ऋक्, प्राञ्च और यजु तिर्यञ्च हुए।
(ऋग्वेद के मंत्र सीधे सूत (ताना) और यजुर्वेद के मंत्र तिरछे सूत (बाना) हुए।)

१५.३.७ : वेद आस्तरणं ब्रह्मोपबर्हणम् ॥
वेद आस्तरण (बिछौना) और ब्रह्म उपबर्हण (सिरहाना, तकिया) हुआ। (ब्रह्म से अथर्वाङ्गिरस मंत्रों से तात्पर्य है)।

१५.३.८ : सामासाद उद्गीथोऽपश्रयः ॥ साम आसाद और उद्गीथ अपश्रय था।
(आसाद बैठने की जगह और अपश्रय टेकने के हत्थों को कहते हैं। उद्गीथ प्रणव (ॐकार) का नाम है।)

१५.३.९ : तामासन्दीं व्रात्य आरोहत् ॥ उस आसन्दी के ऊपर व्रात्य चढ़ा।
इसके लिए वैदिक पाठावली पृष्ठ १८५ और ३३६ भी देखिए।

३१. पर्यङ्क (पलियंकए ख) :

जो सोने के काम में आए, उसे पर्यङ्क कहते हैं[2]।

इसी सूत्र (६.५४-५६) में इसके पीछे रही हुई भावना का बड़ा सुन्दर उद्घाटन हुआ है। वहाँ कहा गया है : "आसन्द पलंग, खाट और आशालक आदि का प्रतिलेखन होना बड़ा कठिन है। इनमें गंभीर छिद्र होते हैं, इससे प्राणियों की प्रतिलेखना होता है। अतः सर्वज्ञों के वचनों को माननेवाला न इन पर बैठे, न सोए।"

सूत्रकृताङ्ग में भी आसंदी-पर्यङ्क को त्याज्य कहा है[3]।

मंच, आशालक, निषद्या, पीठ को भी आसंदी-पर्यङ्क के अन्तर्गत समझना चाहिए[4]।

बौद्ध-विनयपिटक में आसंदी, पलंग को उच्चशयन कहा है और दुक्कट का दोष बता उनके धारण का निषेध किया से बंधी हुई गृहस्थों की चारपाइयों या चौकियों पर बैठने की भिक्षुओं को अनुमति थी, लेटने की नहीं[6]।

३२. गृहान्तर-निषद्या (गिहंतरनिसेज्जा ग) :

इसका अर्थ है—भिक्षाटन करते समय गृहस्थ के घर में बैठना।

१—अ० चि ३.३४८ : स्याद् वेत्रासनमासन्दी।
२—(क) अ० चू० पृ० ६१ : पलियंको सयणिज्जं।
(ख) सू० १.९.२१ टीका प० १८२—'पर्यंक:' शयनविशेषः।
३—सू० १.९.२१ : आसंदी पलियंके य, ··· ··· ··· ···,
··· ··· ··· ···, तं विज्जं परिजाणिया ॥
४—दश० ६.५४, ५५।
५—विनयपिटक : महावग्ग ५ ऽऽ२.४ पृ० २०९।
६—विनयपिटक : महावग्ग ५ ऽऽ२.८ पृ० २१०-११।

जिनदास महत्तर और हरिभद्र सूरि ने इसका अर्थ किया है : घर में अथवा दो घरों के अंतर में बैठना[1]। टीकाकाराचार्य ने भी ऐसा ही अर्थ किया है[2]। बृहत्कल्प-भाष्य में गृहान्तर के दो प्रकार बतलाए हैं—सद्भाव गृह-अन्तर और असद्भाव गृह-अन्तर। दो घरों के मध्य को सद्भाव-गृह-अन्तर और एक ही घर के मध्य को असद्भाव गृह-अन्तर माना है[3]।

प्रस्तुत सूत्र (५.२.८) में कहा है : "गोचराग्र में प्रविष्ट मुनि कहीं न बैठे"—(गोयरग्गपविट्ठो उ, न निसीएज्ज कत्थई)। 'कहीं' शब्द का अर्थ जिनदास महत्तर ने घर, देवकुल, सभा, प्रपा आदि-आदि किया है[4]। हरिभद्र सूरि ने भी 'कहीं' का ऐसा ही अर्थ किया है[5]।

दशवैकालिक सूत्र (६.५७,५९) में कहा है : "गोचराग्र में प्रविष्ट होने पर जो मुनि घर में बैठता है, वह अनाचार को प्राप्त होता है, अतः उसका वर्जन करना चाहिए।"

अगस्त्यसिंह स्थविर ने 'गृहान्तर' शब्द का अर्थ उपाश्रय से भिन्न घर किया है[6]। सूत्रकृताङ्ग (१.९.२९) में कहा है : "साधु पर-गृह में न बैठे (परगेहे ण णिसीयए)। यहाँ गृहान्तर के स्थान में 'पर-गृह' शब्द प्रयुक्त हुआ है। शीलाङ्क सूरि ने 'पर-गृह' का अर्थ गृहस्थ का घर किया है[7]।

उत्तराध्ययन सूत्र में जहाँ श्रमण ठहरा हुआ हो उस स्थान के लिए 'स्व-गृह' और उसके अतिरिक्त घरों के लिए 'पर-गृह' शब्द का प्रयोग किया गया है[8]। दशवैकालिक में भी 'परागार' शब्द का प्रयोग हुआ है[9]। उक्त सन्दर्भों के आधार पर 'गृहान्तर' का अर्थ 'पर-गृह'—उपाश्रय से भिन्न गृह होता है। यहाँ 'अन्तर' शब्द बीच के अर्थ में नहीं है किन्तु 'दूसरे के' अर्थ में प्रयुक्त है—जैसे—रूपान्तर, अवस्थान्तर आदि। अतः "दो घरों के अन्तर में बैठना" यह अर्थ यहाँ नहीं घटता।

'गृहान्तर-निषद्या' का निषेध 'गोचराग्र-प्रविष्ट' श्रमण के लिए है, या साधारण स्थिति में, इसकी चर्चा अगस्त्यसिंह स्थविर ने नहीं की है और आगम में गोचराग्र-प्रविष्ट मुनि के लिए यह अनाचार है, यह स्पष्ट है।

१—(क) जि० चू० पृ० ११४ : गिहं चेव गिहंतरं तंमि गिहे णिसेज्जा ण कप्पइ, णिसेज्जा णाम जंमि णिसन्नो अच्छइ, अहवा दोण्हं अन्तरे, एत्थ गोयरग्गगतस्स णिसेज्जा ण कप्पइ, घरग्गहणेण णिवेसणवाडगादि सूइया, गोयरग्गगतेण न णिसियव्वति।

(ख) हा० टी० प० ११७ : तथा गृहान्तरनिषद्या अनाचरिता, गृहमेव गृहान्तरं गृहयोर्वा अपान्तरालं तत्रोपवेशनम्, च शब्दात् पाटकादिपरिग्रहः।

२—सू० १.९.२१ टीका प० १२८ : णिसिज्जं च गिहंतरे—गृहस्यान्तर्मध्ये गृहयोर्वा मध्ये निषद्यां वाऽऽसनं वा संयमविराधनाभयात्परिहरेत्।

३—बृह० भा० गा० २६११ : सब्भावमसब्भावं, मज्झमसब्भावतो उ पासेणं।
निव्वाहिम-निव्वाहि, ओकमइतेसु सब्भावं ॥

मध्यं द्विधा सद्भावमध्यमसद्भावमध्यं च। तत्र सद्भावमध्यं नाम—यत्र गृहपतिगृहस्य पार्श्वेन गम्यते आगम्यते वा छिण्डि-कयोरर्थं, "ओकमइतेसु" त्ति गृहस्थानाम् ओकः—गृहं सयना सयनानां च गृहस्य मध्येन यत्र 'अतियन्ति' प्रविशन्ति उपलक्षण-त्वात् निर्गच्छन्ति वा तदेतदुभयमपि सद्भावतः—परमार्थतो मध्यं सद्भावमध्यम्।

४—जि० चू० पृ० १९५ : गोयरग्गगएण भिक्खुणा णो णिसियव्वं कत्थइ घरे वा देवकुले वा सभाए वा पवाए वा एवमादि।

५—हा० टी० प० १८४ : भिक्षार्थं प्रविष्ट .....नोपविशेत् "क्वचिद्" गृहदेवकुलादौ।

६—अ० चू० पृ० ६१ : गिहंतर पडिस्सयातो बाहिं जं गिहं, गेण्हतीति गिहं, गिहं अंतरं च गिहंतरं, गिहंतरनिसेज्जा जं उवविसति, कसहेण वाडगसाहिनिवेसणादीसु।

७—सू० १.९.२९ टीका प० १८४ : साधुर्भिक्षादिनिमित्तं ग्रामादौ प्रविष्टः सन् परो—गृहस्थस्तस्य गृहं परगृहं तत्र 'न निषीदेत्' नोपविशेत्।

८—उत्त० १७.१८ : सयं गेहं परिच्चज्ज, परगेहंसि वावरे।
.... पावसमणि त्ति वुच्चई ॥

९—(क) दश० ८.१९ : पविसित्तु परागारं, पाणट्ठा भोयणस्स वा।

(ख) जि० चू० पृ० २७९ : अगारं गिहं भण्णइ, परस्स अगारं परागारं।

(ग) हा० टी० प० २३१ : 'पविसित्तु' सूत्रं, प्रविश्य 'परागारं' परगृहं।

इन सब आधारों पर ही यहाँ 'गृहान्तर-निषद्या' का अर्थ—"भिक्षा करते समय गृहस्थ के घर बैठना" केवल इतना ही किया है।

जयाचार्य ने शयन-गृह, रसोई-घर, पानी-घर, स्नान-गृह आदि ऐसे स्थानों को, जहाँ बैठना श्रमण के लिए उचित न हो, गृहान्तर या अन्तर-घर माना है[1]।

निशीथ[2] और उत्तराध्ययन[3] में "गिहि-निसेज्जा' (गृही-निषद्या) शब्द मिलता है। शान्त्याचार्य ने इसका अर्थ पलंग आदि शय्या किया है[4]। इसलिए यह गृहान्तर से भिन्न अनाचार है।

यहाँ यह समझ लेना जरूरी है कि रोगी, वृद्ध, तपस्वी के लिए 'गृहान्तर-निषद्या' अनाचार नहीं है। प्रस्तुत आगम (६.६०) और सूत्रकृताङ्ग[5] के उल्लेख इसके प्रमाण हैं।

'गृहान्तर-निषद्या' को अनाचार क्यों कहा इस विषय में दशवैकालिक (६.५७-५९) में अच्छा प्रकाश डाला है। वहाँ कहा है : "इससे ब्रह्मचर्य को विपत्ति होती है। प्राणियों का अवध-काल में वध होता है। दीन भिक्षार्थियों को बाधा पहुंचती है। गृहस्थों को क्रोध उत्पन्न होता है। कुशील की वृद्धि होती है।" इन सब कारणों से 'गृहान्तर-निषद्या' का वर्जन है।

३३. गात्र-उद्वर्तन (गायस्सुव्वट्टणाणि [घ]) :

शरीर में पीठी (उबटन) आदि का मलना गात्र-उद्वर्तन कहलाता है[6]। इसी आगम में (६.६४-६७) में विभूषा - शरीर-शोभा—को वर्जनीय बताकर उसके अन्तर्गत गात्र-उद्वर्तन का निषेध किया गया है। वहाँ कहा गया है : "संयमी पुरुष स्नान-चूर्ण, कल्क, लोध्र आदि सुगन्धित पदार्थों का अपने शरीर के उबटन के लिए कदापि सेवन नहीं करते। शरीर-विभूषा सावद्य-बहुल है। इससे गाढ़ कर्म-बन्धन होता है।" इस अनाचीर्ण का उल्लेख सूत्रकृताङ्ग में भी हुआ है[7]।

श्लोक ६ :

३४. गृहि-वैयापृत्य (गिहिणो वेयावडियं [क])

'वेयावडियं' शब्द का संस्कृत रूप 'वैयापृत्य' होता है[8]। गृहि-वैयापृत्य को यहाँ अनाचरित कहा है। इसी सूत्र की दूसरी चूलिका के ९ वें श्लोक में स्पष्ट निषेध है—"गिहीणो वेयावडियं न कुज्जा"—मुनि गृहस्थों का वैयापृत्य न करे।

उपर्युक्त दोनों ही स्थलों पर चूर्णिकार और टीकाकार की व्याख्याएँ प्राप्त हैं। उनका सार नीचे दिया जाता है :

१—अगस्त्यसिंह स्थविर ने पहले स्थल पर अर्थ किया है—गृहस्थ का उपकार करने में प्रवृत्त होना। दूसरे स्थल पर अर्थ किया है—गृहि-व्यापारकरण—गृहस्थ का व्यापार करना अथवा उसका असंयम की अनुमोदना करनेवाला प्रीतिजनक उपकार करना[9]।

१—सन्देहविशौषधी पत्र ३८।

२—नि० १२.१२ : जे भिक्खू गिहिनिसेज्जं वाहेइ वाहेंतं वा सातिज्जति।

३—उत्त० १७.१९ : गिहिनिसेज्जं च वाहेइ पावसमणि त्ति वुच्चई ॥

४—बृहद् वृत्ति : गृहिणां निषद्या पर्यङ्कतूल्यादि शय्या।

५—सू० १.९.२९ : नन्नत्थ अंतराएणं, परगेहे ण णिसीयए।

६—(क) अ० चू० पृ० ६१ : गातं सरीरं तस्स उव्वट्टणं अब्भंगणुव्वलणाईणि।

(ख) जि० चू० पृ० ११४।

(ग) हा० टी० प० ११७ : गात्रस्य—कायस्योद्वर्त्तनानि।

७—सू० १.९.१५ : आसूणिमक्खिरागं च, गिद्धुवघायकम्मगं।
उच्छोलणं च कक्कं च, तं विज्जं ! परिजाणिया ॥

८—हा० टी० प० ११७ : गृहस्थस्य 'वैयापृत्यम्'।

९—(क) अ० चू० पृ० ६१ : गिहीणं वेयावडितं जं तेसिं उवकारे वट्टति।

(ख) वही : गिहीणो वेयावडियं नाम तव्वावारकरणं तेसिं प्रीतिजणणं उपकारं असंजमाणुमोदगं न कुज्जा।

२ जिनदास महत्तर ने पहले स्थल पर अर्थ किया है—गृहस्थों के साथ अन्नपानादि का संविभाग करना। दूसरे स्थल पर अर्थ किया है—गृहस्थों का आदर करना, उनका प्रीतिजनक असंयम की अनुमोदना करने वाला उपकार करना[1]। हरिभद्र सूरि ने पहले स्थल पर अर्थ किया है—गृहस्थ को अन्नादि देना। दूसरे स्थल पर अर्थ किया है—गृहस्थों के उपकार के लिए उनके कर्म को स्वयं करना[2]।

अगस्त्यसिंह स्थविर की व्याख्या के अनुसार प्रस्तुत अध्ययन में 'वैयावृत्य' का प्रयोग उपकार करने की व्यापक प्रवृत्ति में हुआ है—ऐसा लगता है और जिनदास महत्तर तथा हरिभद्र सूरि की व्याख्या से ऐसा लगता है कि इसका यहाँ प्रयोग—अन्नपान के संविभाग के अर्थ में हुआ है।

सूत्रकृताङ्ग (१.९) में इस अनाचार का नामोल्लेख नहीं मिलता, पर स्वरूप रूप से इसका वर्णन वहाँ आया है। वहाँ श्लोक २३ में कहा है—"भिक्षु अपनी संयम-यात्रा के निर्वाह के लिए अन्नपान ग्रहण करता है उसे दूसरों को—गृहस्थों को—देना अनाचार है[3]।"

उत्तराध्ययन सूत्र के बारहवें अध्ययन में 'वेयावडिय' शब्द दो जगह व्यवहृत है[4]। वहाँ इसका अर्थ अनिष्ट निवारण के लिए अर्थात् परिचर्या के लिए व्यापृत होना है। अध्यापक की बात सुनकर बहुत से कुमार दौड़ आये और भिक्षा के लिए यज्ञवाड़े में आये हुए ऋषि हरिकेशी को दण्ड, बेंत और चाबुक से मारने लगे। ऋषि हरिकेशी का 'वैयावृत्य' करने के लिए यक्ष कुमारों को रोकने लगा[5]। यक्ष ने कुमारों को बुरी तरह पीटा। पुरोहित ने मुनि से माफी मांगी। उसने कहा—"ऋषि महानुभाव होते हैं। वे कोप नहीं करते।" ऋषि बोले—"मेरे मन में न तो पहले द्वेष था न अब है और न आगे होगा, किन्तु यक्ष मेरा 'वैयावृत्य' करता है, इसी से इन कुमारों को पीटा है[6]।" आगमों में 'वेयावच्च' शब्द भी मिलता है[7]। इसका संस्कृत रूप 'वैयावृत्त्य' है। इसका अर्थ

१—(क) जि॰ चू॰ पृ॰ ११४ : गिहिवेयावडियं जं गिहीण अण्णपाणादीहिं विसूरताणं विसंविभागकरणं, एस वेयावडिय भण्णइ।
(ख) वही पृ॰ १३२ : गिहं-पुत्तदारं तं जस्स अत्थि सो गिही, एतावयणं आलोअत्थमवदिस्सति, तस्स गिहिणो "वेयावडियं न कुज्जा" वेयावडियं नाम तदादरकरणं, तेसिं वा पीतिजणणं, उवगारक असंजमाणुमोयणं ण कुज्जा।

२—(क) हा॰ टी॰ प॰ ११७ : व्यापृतभावो—वैयावृत्त्यं, गृहस्थं प्रति अन्नादिसंपादनम्।
(ख) हा॰ टी॰ प॰ २८१ : 'गृहिणो' गृहस्थस्य 'वैयावृत्यं' गृहिभावोपकाराय तत्कर्मस्वात्मनो व्यापृतभावं न कुर्यात्, स्वपरोभयाश्रेयः समायोजनदोषात्।

३—सू॰ १.९.२३ : जेणेहं णिव्वहे भिक्खू, अन्नपाणं तहाविहं।
अणुप्पदाणमन्नेसिं, तं विज्जं ! परिजाणिया॥

४—उत्त॰ १२.२४,३२ :
एयाइं तीसे वयणाइ सोच्चा, पत्तीइ भद्दाइ सुहासियाइं।
इसिस्स वेयावडियट्ठयाए, जक्खा कुमारे विणिवाडयन्ति॥
पुव्विं च इण्हिं च अणागयं च, मणप्पदोसो न मे अत्थि कोइ।
जक्खा हु वेयावडियं करेन्ति, तम्हा हु एए निहया कुमारा॥

५—उत्त॰ १२.२४ बृ॰ प॰ ३६५ : वैयावृत्यार्थमेतत् प्रत्यनीकनिवारणलक्षणे प्रयोजने व्यापृता भवाम इत्येवमर्थम्।

६—उत्त॰ १२.३२ बृ॰ प॰ ३६७ : वैयावृत्यं प्रत्यनीकप्रतिघातरूपम्।

७—(क) उत्त॰ २९.४३ : वेयावच्चेण भन्ते ! जीवे किं जणयइ ? वेयावच्चेणं तित्थयरनामगोत्तं कम्मं निबन्धइ।
(ख) उत्त॰ ३०.३० : पायच्छित्तं विणओ वेयावच्चं तहेव सज्झाओ।
झाणं च विउस्सग्गो एसो अब्भिन्तरो तवो॥
(ग) ठा॰ ६.६६।
(घ) भग॰ २५.७।
(ङ) औप॰ सू॰ ३०।

है—साधु को शुद्ध आहारादि से सहारा पहुंचाना[1]। दिगम्बर साहित्य में अतिथि-संविभाग व्रत का नाम वैयावृत्य है। उसका अर्थ दान है[2]। कौटिलीय अर्थशास्त्र में वैयावृत्त्य और वैयापृत्य दोनों शब्द मिलते है। वैयावृत्य का अर्थ परिचर्या[3] और वैयापृत्य का अर्थ फुटकर विक्री है[4]। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि गृहस्थ को आहारादि का संविभाग देना तथा गृहस्थों की सेवा करना—ये दोनों भाव 'गिहिणो वेयावडियं' अनाचार में समाए हुए हैं।

३५. आजीववृत्तिता (आजीववित्तिया ख)

'आजीव' शब्द का अर्थ है—आजीविका के उपाय या साधन[5]। स्थानाङ्ग सूत्र के अनुसार जाति, कुल, कर्म, शिल्प और लिङ्ग ये पांच आजीव हैं[6]। पिण्ड-निर्युक्ति, निशीथ-भाष्य आदि ग्रन्थों में 'लिङ्ग' के स्थान पर 'गण का उल्लेख मिलता है[7]। व्यवहार-भाष्य में तप और श्रुत इन दो को भी 'आजीव' कहा है[8]। इनसे—जाति आदि से—जीवन-निर्वाह करने की वृत्ति को 'आजीववृत्तिता' कहते हैं[9]। आजीविका के साधन जाति आदि भेदों के आधार से आजीववृत्तिता के निम्न आठ प्रकार होते हैं—

१—जाति का अर्थ ब्राह्मण आदि जाति अथवा मातृपक्ष होता है। अपनी जाति का आश्रय लेकर अर्थात् अपनी जाति बताकर आहारादि प्राप्त करना जात्याजीववृत्तिता हैं[10]।

१—(क) भग० २५.७।

(ख) ठा० ६.६६ टी० प० ३४६ : व्यावृत्तभावो वैयावृत्यं धर्मसाधनार्थं अन्नादिदानमित्यर्थः।

(ग) ठा० ३.४१२ टी० प० १४५ : व्यावृत्तस्य भावः कर्म्म वा वैयावृत्त्यं—भक्तादिभिरुपष्टम्भः।

(घ) औप० टी० पृ० ८१ : 'वेआवच्चे' त्ति—वैयावृत्त्यं भक्तपानादिभिरुपष्टम्भः।

(ङ) उत्त० ३०.३३ बृ० प० ६०८ : व्यावृत्ताभावो वैयावृत्यम् उचित आहारादि सम्पादनम्।

२—रत्नकरण्ड श्रावकाचार १११। दानं वैयावृत्त्यं, धर्माय तपोधनाय गुणनिधये।

३—कौटिलीय अर्थशास्त्र अधिकरण २ प्रकरण २३.२० : तद्वैयावृत्यकाराणामर्धदण्डः। व्याख्या—तद्वैयावृत्यकाराणां तस्य वैयावृत्य-काराः विशेषेण आसमन्ताद् वर्तन्त इति। व्यावृत्तः परिचारकः तस्य कर्म वैयावृत्त्यं परिचर्या तत् कुर्वन्तः परिचारिकाः तेषां अर्धदण्डः।

वैयावृत्त्यं शब्द का प्रयोग कौ० अ० चतुर्थ अधिकरण प्रकरण ८३.११ में भी मिलता है।

४—वही, अधिकरण ३ प्रकरण ६४.२८ : वैयापृत्यविक्रयस्तु। व्याख्या—व्यापृतो व्याप्रियमाणस्तस्य कर्म वैयापृत्यं वैयापृत्यकरा इति वृ शब्द पाठे यथा कर्मकरार्थता तथा व्याख्यातमवस्तात्।

५—(क) सू० १.१३.१२ टी० प० २३६ : आजीवम्—आजीविकाम् आत्मवर्तनोपायाम् :

(ख) सू० १.१३.१५ टी० प० २३७ : आ—समन्ताज्जीवन्त्यनेन इति आजीवः।

६—ठा० ५.७१ : पंचविधे आजीविते पं० तं० जातिआजीवे कुलाजीवे कम्माजीवे सिप्पाजीवे लिंगाजीवे।

७—(क) पि० नि० ४३७ : जाई कुल गण कम्मे सिप्पे आजीवणा उ पंचविहा।

(ख) नि० भा० गा० ४४११ : जाती-कुल-गण-कम्मे, सिप्पे आजीवणा उ पंचविहा।

(ग) ठा० ५.७१ टी० प० २८९ : लिङ्गस्थानेऽन्यत्र गणोऽधीयते।

(घ) अ० चू० पृ० ६१ ; जि० चू० पृ० ११४ : 'जाती कुल गण कम्मे सिप्पे आजीवणा उ पंचविहा।'

८—व्य० भा० २५३ : जाति कुले गणे वा, कम्मे सिप्पे तवे सुए चेव।
सत्तविहं आजीवं, उवजीवइ जो कुसीलो उ॥

९—हा० टी० प० ११७ : जातिकुलगणकर्मशिल्पानामाजीवनम् आजीवः तेन वृत्तिस्तद्भाव आजीववृत्तिता—जात्याद्याजीवनेनात्म-पालनेत्यर्थः, इयं चानाचरिता।

१०—(क) पि० नि० ४३८ टी० : जातिः—ब्राह्मणादिका........अथवा मातुः समुत्था जातिः।

(ख) ठा० ५.७१ टी० प० २८९ : जाति ब्राह्मणादिकाम् आजीवति—उपजीवति तज्जातीयमात्मानं सूचादिनोपदर्श्य ततो भक्तादिकं गृह्णातीति जात्याजीवकः, एवं सर्वत्र।

खुड्डियायारकहा (क्षुल्लिकाचार-कथा)

२—कुल का अर्थ उग्रादिकुल अथवा पितृपक्ष है[1]। कुल का आश्रय लेकर अर्थात् कुल बतलाकर आजीविका करना कुलाजीव-वृत्तिता है।

३—कर्म का अर्थ कृषि आदि कर्म है। आचार्य आदि से शिक्षण पाए बिना किये जानेवाले कार्य कर्म कहे जाते हैं। जो कृषि आदि में कुशल हैं, उन्हें अपनी कर्म-कुशलता की बात कह आहारादि प्राप्त करना कर्माजीववृत्तिता है[2]।

४—बुनना, सिलाई करना आदि शिल्प हैं। शिक्षण द्वारा प्राप्त कौशल शिल्प कहा जाता है। जो शिल्प में कुशल हैं, उन्हें अपने शिल्प-कौशल की बात कह आहारादि प्राप्त करना शिल्पाजीववृत्तिता है[3]।

५—लिङ्ग वेष को कहते हैं। अपने लिङ्ग का सहारा ले आजीविका करना लिङ्गाजीववृत्तिता है[4]।

६—गण का अर्थ मल्लादि गण (गण-राज्य) है। अपनी गणविद्याकुशलता को बतलाकर आजीविका करना गणाजीववृत्तिता है[5]।

७—अपने तप के सहारे अर्थात् अपने तप का वर्णन कर, आजीविका प्राप्त करना तप-आजीववृत्तिता है[6]।

८—श्रुत का अर्थ है शास्त्रज्ञान। श्रुत के सहारे अर्थात् अपने श्रुत ज्ञान का बखान कर आजीविका प्राप्त करना श्रुताजीव-वृत्तिता है[7]।

जाति आदि का कथन दो तरह से हो सकता है (१) स्पष्ट शब्दों में अथवा (२) प्रकारान्तर से सूचित कर। दोनों ही प्रकार से जात्यादि का कथन कर आजीविका प्राप्त करना आजीववृत्तिता है[8]।

साधु के लिए आजीववृत्तिता अनाचार है। मैं अमुक जाति, कुल, गण का रहा हूँ। अथवा अमुक कर्म या शिल्प करता था अथवा मैं बड़ा तपस्वी अथवा बहुश्रुत हूँ—यह स्पष्ट शब्दों में कहकर या अन्य तरह से बताकर यदि भिक्षु आहार आदि प्राप्त करता है तो आजीव-वृत्तिता अनाचार का सेवन करता है।

सूत्रकृताङ्ग में कहा है—"जो भिक्षु निष्किंचन और रूक्षवृत्ति होने पर भी मान-प्रिय और स्तुति की कामना करनेवाला है उसका संन्यास आजीव है। ऐसा भिक्षु मूल-तत्त्व को न समझता हुआ भव-भ्रमण करता है[9]।"

१—(क) पि० नि० ४३८ टी० : कुलम् उग्रादिः अथवा ... पितृसमुत्थं कुलम्।
(ख) व्य० भा० २५३ टी० : एवं सप्तविधम् आजीवं य उपजीवति—जीवनार्थमाश्रयति, तद्यथा—जातिं कुलं आत्मीयं लोकेभ्यः कथयति।

२—पि० नि० ४३८ टी० : कर्म—कृष्यादिः......अन्ये त्वाहुः—अनाचार्योपदिष्टं कर्म।

३—(क) पि० नि० ४३८ टी० : शिल्पं—तूर्णादि—तूर्णनसीवनप्रभृति। आचार्योपदिष्टं तु शिल्पमिति।
(ख) व्य० भा० २५३ टी० : कर्मशिल्पकुशलेभ्यः कर्मशिल्पकौशलं कथयति।
(ग) नि० भा० गा० ४४१२ चू० : कम्मसिप्पाणं इमो विसेसो—विणा आयरिओवदेसेण जं कज्जति तणहारगादि तं कम्मं, इतरं पुण जं आयरिओवदेसेण कज्जति तं सिप्पं।

४—ठा० ५.७१ टी० पृ० २८९ : लिङ्गं—साधुलिङ्गं तदाजीवति, ज्ञानादिशून्यस्तेन जीविकां कल्पयतीत्ययं।

५—(क) पि० नि० ४३८ टी० : गण—मल्लादिवृन्दम्।
(ख) व्य० भा० २५३ टी० : मल्लगणादिभ्यो गणेभ्यो गणविद्याकुशलत्वं कथयति।

६—व्य० भा० २५३ टी० : तपस उपजीवना तप कृत्वा तपस्वीऽहमिति अन्येभ्य कथयति।

७—व्य० भा० २५३ टी० : श्रुतोपजीवना बहुश्रुतोऽहमिति।

८—(क) पि० नि० ४३७ : सूयाए असूयाए व अप्पाण कहेहि एक्केक्के।
(ख) इसी सूत्र की टीका—सा चाऽऽजीवना एकैकस्मिन् भेदे द्विधा, तद्यथा—सूचया आत्मानं कथयति, असूयया च, तत्र 'सूचा' वचनं भङ्गिविशेषेण कथनम्, 'असूया' स्फुटवचनेन।
(ग) ठा० ५.७० टी० पृ० २८९ : सूचया—व्याजेनासूचया—साक्षात्।

९—सू० १.१३.१२ : णिक्किंचणे भिक्खु सुलूहजीवी, जे गारवं होइ सिलोगगामी।
आजीवमेयं तु अबुज्झमाणो, पुणो पुणो विप्परियासुवेति॥

उत्तराध्ययन में कहा गया है—जो शिल्प-जीवी नहीं होता, वह भिक्षु[1]। इसी तरह कृषि आदि कर्म करने का भी वर्जन है। जब गृहस्थावस्था के कर्म, शिल्प आदि का उल्लेख कर या परिचय दे भिक्षा प्राप्त करना अनाचार है, तब कृषि आदि कर्म व सूचि आदि शिल्पों द्वारा आजीविका न करना साधु का सहज धर्म हो जाता है।

व्यवहार भाष्य में जो आजीव से उपजीवन करता है उसे कुशील कहा है[2]। आजीववृत्तिता उत्पादन दोषों में से एक है[3]। निशीथ सूत्र में आजीवपिण्ड—आजीववृत्तिता से प्राप्त आहार—खानेवाले श्रमण के लिए प्रायश्चित्त का विधान है[4]। भाष्य में कहा है—जो ऐसे आहार का सेवन करता है वह आज्ञा-भंग, अनवस्था, मिथ्यात्व और विराधना का भागी होता है[5]।

जाति आदि के आश्रय से न जीनेवाला साधु 'मुधाजीवी' कहा गया है[6]। जो 'मुधाजीवी' होता है वह सद्-गति को प्राप्त करता है[7]। जो श्रमण 'मुधाजीवी' नहीं होता वह जिह्वा-लोलुप बन श्रामण्य को नष्ट कर डालता है। इसलिए आजीववृत्तिता अनाचार है।

साधु सदा याचित ग्रहण करता है कभी भी अयाचित नहीं[8]। अतः उसे गृहस्थ के यहाँ गवेषणा के लिए जाना होता है। संभव है गृहस्थ के घर में देने के योग्य अनेक वस्तुओं के होने पर भी वह साधु को न दे अथवा अल्प दे अथवा हल्की वस्तु दे। यह अलाभ परीषह है। जो भिक्षु गृहस्थावस्था के कुल आदि का उल्लेख कर या परिचय दे उनके सहारे भिक्षा प्राप्त करता है, वह एक तरह की दीनवृत्ति का परिचय देता है। इसलिए भी आजीववृत्तिता अनाचार है।

३६. तप्तानिर्वृतभोजित्व (तत्तानिव्वुडभोइत्तं [ग]) :

तप्त और अनिर्वृत इन दो शब्दों का समास मिश्र (सचित्त-अचित्त) वस्तु का अर्थ जताने के लिए हुआ है। जितनी दृश्य वस्तुएँ हैं वे पहले सचित्त होती हैं। उनमें से जब जीव च्युत हो जाते हैं, केवल शरीर रह जाते हैं, तब वे वस्तुएँ अचित्त बन जाती हैं। जीवों का च्यवन काल-मर्यादा के अनुसार स्वयं होता है और विरोधी-पदार्थ के संयोग से काल-मर्यादा से पहले भी हो सकता है। जीवों की मृत्यु के कारण-भूत विरोधी पदार्थ शस्त्र कहलाते हैं। अग्नि मिट्टी, जल, वनस्पति और त्रस जीवों का शस्त्र है। जल और वनस्पति सचित्त होते हैं। अग्नि से उबालने पर ये अचित्त हो जाते हैं। किन्तु ये पूर्ण-मात्रा में उबाले हुए न हों उस स्थिति में मिश्र बन जाते हैं—कुछ जीव मरते हैं कुछ नहीं मरते इसलिए वे सचित्त-अचित्त बन जाते हैं। इस प्रकार के पदार्थ को तप्तानिर्वृत कहा जाता है[9]।

प्रस्तुत सूत्र ५.२.२२ में तप्तानिर्वृत्त जल लेने का निषेध मिलता है तथा ८.६ में 'तत्तफासुय' जल लेने की आज्ञा दी है। इससे स्पष्ट होता है कि केवल गर्म होने मात्र से जल अचित्त नहीं होता। किन्तु वह पूर्णमात्रा में गर्म होने से अचित्त होता है। मात्रा की पूर्णता के बारे में चूर्णिकार और टीकाकार का आशय यह है कि त्रिदण्डोद्वृत्त—तीन बार उबलने पर ही जल अचित्त होता है, अन्यथा नहीं[10]।

१—उत्त० १५.१६ : असिप्पजीवी·········स भिक्खू।

२—व्यवहार भाष्य २५३।

३—श्रमण सू० पृ० ४३२ : धाई दूई निमित्ते आजीव वणीमगे तिगिच्छा य।
कोहे माणे माया लोभे य हवंति दस एए॥

४—नि० १३.६७ : जे भिक्खू आजीवियपिंडं भुंजति भुंजंतं वा सातिज्जति।

५—नि० भा० गा० ४४१० : जे भिक्खूऽऽजीवपिंडं, गिण्हेज्ज सयं तु अहव सातिज्जे।
सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्त-विराधणं पावे॥

६—हा० टी० प० १८१। 'मुधाजीवी' सर्वथा अनिदानजीवी, जात्याद्यनाजीवक इत्यन्ये।

७—दश० ५.१.१०० : मुहादाई मुहाजीवी, दो वि गच्छन्ति सोग्गइं।

८—उत्त० २.२८ : सव्वं से जाइयं होइ, नत्थि किंचि अजाइयं।

९—अ० चू० पृ० ६१ : जाव णातीवअगणिपरिणतं तं तत्तअपरिणिव्वुडं।

१० (क) अ० चू० पृ० ६१ : अहवा तत्तमवि तिन्नि वारे अणुव्वत्तं अणिव्वुडं।
(ख) जि० चू० पृ० ११४ : अहवा तत्तमवि जाहे तिण्णि वाराणि न उव्वत्तं भवइ ताहे तं अनिव्वुडं, सचित्तंति वुत्तं भवइ।
(ग) हा० टी० प० ११७ : 'तप्तानिर्वृतभोजित्वम्'—तप्तं च तदनिर्वृतं च—अत्रिदण्डोद्वृत्तं चेति विग्रहः, उदकमिति विशेषणान्यथानुपपत्त्या गम्यते, तद्भोजित्वं—मिश्रसचित्तोदकभोजित्वम् इत्यर्थः।

३७. आतुर-स्मरण (आउरस्सरणाणि [घ]) :

सूत्रकृताङ्ग में केवल 'सरण' शब्द का प्रयोग मिलता है[१]। पर वहाँ चर्चित विषय की समानता से[२] यह स्पष्ट है कि 'सरण' शब्द से 'आउरस्सरण' ही अभिप्रेत है। उत्तराध्ययन में 'आउरे सरणं' पाठ मिलता है[३]।

'सरण' शब्द के संस्कृत रूप 'स्मरण' और 'शरण'—ये दो बनते हैं[४]। स्मरण का अर्थ है—याद करना और शरण के अर्थ हैं—(१) त्राण और (२) घर—आश्रय—स्थान[५]।

इन दो रूपों के आधार से पाँच अर्थ निकलते हैं :

(१) केवल 'सरण' शब्द का प्रयोग होने से सूत्रकृताङ्ग की चूर्णि में इसका अर्थ पूर्व-भुक्त काम-क्रीड़ा का स्मरण किया है[६]। शीलाङ्कसूरि को भी यह अर्थ अभिप्रेत है[७]।

(२) दशवैकालिक के चूर्णिकार अगस्त्यसिंह ने 'आउर' शब्द जुड़ा होने से इसका अर्थ क्षुधा आदि से पीड़ित होने पर पूर्व-भुक्त वस्तुओं का स्मरण करना किया है[८]। जिनदास और हरिभद्र सूरि को भी यही अर्थ अभिप्रेत है[९]।

(३) उत्तराध्ययन के वृत्तिकार नेमिचन्द्र सूरि ने इसका अर्थ—रोगातुर होने पर माता-पिता आदि का स्मरण करना किया है[१०]।

(४) दशवैकालिक की चूर्णियों में 'शरण' का भयातुर को शरण देना ऐसा अर्थ है। हरिभद्र सूरि ने दोषातुरों को आश्रय देना अर्थ किया है[११]।

(५) रुग्ण होने पर आतुरालय या आरोग्यशाला में भर्ती होना यह अर्थ भी प्राप्त है[१२]।

इस प्रकार 'आउरस्सरण' के पाँच अर्थ हो जाते हैं। तीन 'स्मरण' रूप के आधार पर और दो 'शरण' रूप के आधार पर।

'आतुर' शब्द का अर्थ है—'पीड़ित'। काम, क्षुधा, भय आदि से मनुष्य आतुर होता है और आतुर दशा में वह उक्त प्रकार की सावद्य चेष्टाएँ करता है। किन्तु निर्ग्रन्थ के लिए ऐसा करना अनाचार है।

प्रश्न उठता है—शत्रुओं से अभिभूत को शरण देना अनाचार क्यों है? इसके उत्तर में चूर्णिकार कहते हैं—"जो साधु स्थान—आश्रय देता है, उसे अधिकरण दोष होता है। यह एक बात है। दूसरी बात यह है कि उसके शत्रु को प्रद्वेष होता है[१३]।" इसी तरह आरोग्यशाला में प्रवेश करना साधु को न कल्पने से अनाचार है[१४]।

१—सूत्र० १.९.२१ : आसंदी पलियंके य, णिसिज्जं च गिहंतरे ।
संपुच्छणं सरणं वा, त विज्जं ! परिजाणिया ॥

२—सूत्र० १.९.१२, १३, १४, १५, १६, १७, १८, २० ।

३—उत्त० १५.८ : मन्तं मूलं विविहं वेज्जचिन्तं, वमणविरेयणधूमणेत्तसिणाणं ।
आउरे सरणं तिगिच्छियं च, तं परिन्नाय परिव्वए स भिक्खू ॥

४—हा० टी० प० ११७-१८ : आतुरस्मरणानि ·······आतुरशरणानि वा ।

५—अ० चि० ४ : ५७ ।

६—सू० चू० पृ० २२३ : सरणं पुव्वरतपुव्वकीलियाणं ।

७—सू० १.९.२१ टीका प० १८२ : पूर्वक्रीडितस्मरणम् ।

८—अ० चू० पृ० ६१ : छुहादीहिं परीसहेहिं आउरेणं सितोदकादिपुव्वभुत्तसरणं ।

९—(क) जि० चू० पृ० ११४ : आउरीभूतस्स पुव्वभुत्ताणुसरणं ।
(ख) हा० टी० प० ११७ : क्षुधाद्यातुराणां पूर्वोपभुक्तस्मरणानि ।

१०—उत्त० १५.८ ने० टी० प० २१७ : सुबव्यत्ययाद् 'आतुरस्य' रोगपीडितस्य स्मरणं 'हा तात ! हा मातः !' इत्यादिरूपम् ।

११—(क) अ० चू० पृ० ६१ : सत्तूहिं वा अभिभूतस्स सरणं भवति वारेत्ति तोवासं वा देति ।
(ख) जि० चू० पृ० ११४ : अहवा सत्तूहिं अभिभूतस्स सरणं देइ, सरणं णाम उवस्सए ठाणंति वुत्तं भवइ·······।
(ग) हा० टी० प० ११८ : आतुरशरणानि वा—दोषातुराश्रयदानानि ।

१२—(क) अ० चू० पृ० ६१ : अहवा सरणं आरोग्गसाला तत्य पवेसो गिलाणस्स ।
(ख) जि० चू० पृ० ११४ : अहवा आउरस्सरणाणि त्ति आरोग्गसालाओ भण्णंति ।

१३—(क) अ० चू० पृ० ६१ : तत्य अधिकरण दोसा, पदोसं वा ते सत्तू जाएज्जा ।
(ख) जि० चू० पृ० ११४ : तत्य उवस्सए ठाणं देंतस्स अहिकरणदोसो भवति सो वा तस्स सत्तू पओसमावज्जेज्जा ।

१४—जि० चू० पृ० ११४ : तत्य न कप्पइ गिलाणस्स पविसिउं एतमवि तेसिं अणाइण्णं ।

श्लोक ७ :

३८. अनिर्वृत, सचित्त, आमक (अणिव्वुडे ख, सच्चित्ते ग, आमए घ)

इन तीनों का एक ही अर्थ है। जिस वस्तु पर शस्त्रादि का व्यवहार तो हुआ है पर जो प्रासुक—जीव-रहित—नहीं हो पायी हो उसे अनिर्वृत कहते हैं। 'निर्वृत' का अर्थ है प्रासुक। अनिर्वृत—अर्थात् जिससे प्राण अलग नहीं हुए हैं। जिस पर शस्त्र का प्रयोग नहीं हुआ, अतः जो वस्तु मूलतः ही सजीव है उसे सचित्त कहते हैं। आमक का अर्थ है—कच्चा। जो फलादि कच्चे हैं, वे भी सचित्त होते हैं[1]। इस तरह 'अनिर्वृत' और 'आमक' ये दोनों शब्द सचित्त के पर्यायवाची हैं। ये तीनों शब्द सजीवता के द्योतक हैं।

३९. इक्षु-खण्ड (उच्छुखंडे ख) :

यहाँ सचित्त इक्षु-खण्ड के ग्रहण को अनाचार कहा है। ५.१.७३ में इक्षु-खण्ड लेने का जो निषेध है, उसका कारण इससे भिन्न है। उसमें फेंकने का अंश अधिक होने से वहाँ उसे अग्राह्य कहा है।

चूर्णिकार द्वय और टीका के अनुसार जिसमें दो पोर विद्यमान हों, वह इक्षु-खण्ड सचित्त ही रहता है[2]।

४०. कंद और मूल (कंदे मूले ग) :

कन्द-मूल तथा मूल-कन्द ये दो भिन्न प्रयोग हैं। जहाँ मूल और कन्द ऐसा प्रयोग होता है वहाँ वे वृक्ष आदि की क्रमिक अवस्था के बोधक होते हैं। वृक्ष का सबसे निचला भाग मूल और उसके ऊपर का भाग कन्द कहलाता है। जहाँ कन्द और मूल ऐसा प्रयोग होता है वहाँ कन्द का अर्थ शकरकन्द आदि वल्लि-जड़ और मूल का अर्थ सामान्य जड़ होता है[3]।

४१. बीज (बीए घ) :

बीज का अर्थ गेहूँ, तिल आदि धान्य विशेष है[4]।

श्लोक ८ :

४२. सौवर्चल (सोवच्चले क)

इस श्लोक में सौवर्चल, सैन्धव, रोमा लवण, सामुद्र, पांशुक्षार और काला लवण—ये छः प्रकार के लवण बतलाए गए हैं। अगस्त्यसिंह स्थविर के अनुसार सौवर्चल नमक उत्तरापथ के एक पर्वत की खान से निकलता था[5]। जिनदास महत्तर इसकी खानों को सैंधव नमक की खानों के बीच-बीच में बतलाते हैं[6]। चरक के अनुसार यह कृत्रिम लवण है[7]।

१—(क) अ॰ चू॰ पृ॰ ६२ : अणिव्वुडं……तं पुण जीवप्पविप्पजढं, निव्वुडो संतो मतो 'आमग अपरिणतं'…आमगं सच्चित्तं।
(ख) जि॰ चू॰ पृ॰ ११५ : निव्वुडं पुण जीवविप्पजढं भण्णइ, जहा निव्वाणो जीवो, पसंतो सावुत्तो भवइ……आमगं भवति अगत्थपरिणय।
(ग) हा॰ टी॰ प॰ ११८ : अनिर्वृतम्—अपरिणतम्;…………आमकं आमं सचित्तं।

२—(क) अ॰ चू॰ पृ॰ ६२ . उच्छुखंडं दोसु पोरेसु वट्टमाणेसु अणिव्वुडं।
(ख) जि॰ चू॰ पृ॰ ११५ : उच्छुखंडमवि दोसु पोरेसु वट्टमाणेसु अनिव्वुडं भवइ।
(ग) हा॰ टी॰ प॰ ११८ 'इक्षुखण्डं' चापरिणतं द्विपर्वान्तं यद्वर्तते।

३ (क) अ॰ चू॰ पृ॰ ६२ : कंदा वज्जकंदादयो।
(ख) हा॰ टी॰ प॰ ११८ · 'कन्दो'—वज्रकन्दादिः मूलं च' सट्टामूलादि।

४—(क) अ॰ चू॰ पृ॰ ६२ : बीया धण्णविसेसो।
(ख) जि॰ चू॰ पृ॰ ११५ : बीजा गोधूमतिलादिणो।

५—अ॰ चू॰ पृ॰ ६२ : सोवच्चलं उत्तरावहे पव्वतस्स लवणखाणीसु संभवति।

६—जि॰ चू॰ पृ॰ ११५ : सोवच्चलं नाम सेंधवलोणपव्वयस्स अंतरंतरेसु लोणखाणीओ भवंति।

७—चरक॰ (सू॰) २७.२९९ पृ॰ २५० पाद-टि॰ १ : सौवर्चलं प्रमाणीकृतकमवलवणसंयोगात्। अग्निदाहेन निर्वृत्तम्। इति डल्हणः। आयुर्वेद के आचार्य सौवर्चल और बिड़ लवण को कृत्रिम मानते हैं—देखो रसतरंगिणी।

सैन्धव नमक सिन्धु-देश (सिंध-प्रदेश) के पर्वत की खान से पैदा होता है[1]। आचार्य हेमचन्द्र ने सैन्धव को नदी-भव माना है[2]। सैन्धव के बाद लोण शब्द आया है। चूर्णिकार उसे सैन्धव का विशेष्य मानते हैं और हरिभद्र सूरि उसे सांभर के लवण का वाचक मानते हैं[3]।

अगस्त्यसिंह स्थविर के अनुसार जो रुमा में हो वह रोमा लवण है[4]। रोमक या रुमा-भव को कुछ कोषकार सामान्य नमक का वाचक मानते हैं और कुछ सांभर नमक का[5]। किन्तु रुमा का अर्थ है लवण की खान[6]। जिनदास महत्तर रुमा देश में होनेवाला नमक रुमा लवण इतना ही लिख उसे छोड़ देते हैं[7]। किन्तु वह कहाँ था, उसकी चर्चा नहीं करते।

सामुद्र—सांभर के लवण को सामुद्र कहते हैं। समुद्र के जल को क्यारियों में छोड़कर जमाया जानेवाला नमक सामुद्र है[8]।

पांशुक्षार[9]—खारी-मिट्टी (नोनी-मिट्टी) से निकाला हुआ नमक[10]।

काला नमक—चूर्णिकार के अनुसार कृष्ण नमक सैन्धव-पर्वत के बीच-बीच की खानों में होता है[11]। कोषकारों ने कृष्ण नमक को सौवर्चल का ही एक प्रकार माना है, उसके लिए तिलक शब्द है[12]।

चरक में काले नमक और सौंचल (सौवर्चल) को गुण में समान माना गया है। काले नमक में गन्ध नहीं होती। सौवर्चल से इसमें यही भेद है[13]। चक्र ने काले नमक का दक्षिण-समुद्र के समीप होना बतलाया है[14]।

श्लोक ९ :

४३. धूम-नेत्र (धूव-णेति [क]) :

शिर-रोग से बचने के लिए धूम्र-पान करना अथवा धूम्र-पान की शलाका रखना अथवा शरीर व वस्त्र को धूप खेना—यह अगस्त्यसिंह स्थविर की व्याख्या है[15], जो क्रमशः धूम, धूम-नेत्र और धूपन शब्द के आधार पर हुई है।

धूम-नेत्र का निषेध उत्तराध्ययन में भी मिलता है[16]। यद्यपि टीकाकारों ने धूम और नेत्र को पृथक् मानकर व्याख्या की है पर वह

१—(क) अ० चू० पृ० ६२ : सेन्धवं सेन्धवलोणपव्वते संभवति।
(ख) जि० चू० पृ० ११५ : सेंधवं नाम सिंधवलोणपव्वए तत्थ सिंधवलोणं भवइ।

२—अ० चि० ४.७ : सैंधव तु नदी भवम्।

३—हा० टी० प० ११८ : 'लवणं च' सांभरिलवणं।

४—अ० चू० पृ० ६२ : रुमालोणं रुमाए भवति।

५—अ० चि० ४.८ की रत्नप्रभा व्याख्या।

६—अ० चि० ४.७ : रुमा लवणखानिः स्यात्।

७—जि० चू० पृ० ११५ : रुमालोणं रुमाविसए भवइ।

८ (क) अ० चू० पृ० ६२ : सांभरीलोणं सामुद्दं. सामुद्दपाणीयं रिणे केदारादिकतमावट्टं तं लवणं भवति।
(ख) जि० चू० पृ० ११५ : समुद्दलोणं समुद्दपाणीयं तं खड्डीए निग्गंतूण रिणभूमीए आरिज्जमाणं लोणं भवइ।
(ग) हा० टी० प० ११८ : सामुद्रं—समुद्रलवणमेव।

९—चरक० सू० २७.३०६ टीका : पांशुजं पूर्वसमुद्रजम्।

१०—(क) अ० चू० पृ० ६२ : पंसुखारो ऊसो कट्टिज्जंतो अद्दुप्पं भवति।
(ख) जि० चू० पृ० ११५ : पंसुखारो ऊसो भण्णइ।
(ग) हा० टी० प० ११८ : 'पांशुक्षारश्च' ऊषरलवणं।

११—(क) अ० चू० पृ० ६२ : तस्सेव सेन्धवपव्वतस्स अंतरंतरेसु (कालालोण) खाणीसु संभवति।
(ख) जि० चू० पृ० ११५। तस्सेव सेन्धवपव्वयस्स अंतरंतरेसु काला लोण खाणीओ भवंति।

१२—अ० चि० ४.९ : सौवर्चलेऽक्षं रुचकं दुर्गन्धं शूलनाशनम्, कृष्णे तु तत्र तिलकं·········।

१३—चरक० सू० २७.२९८ : न काललवणे गन्धः सौवर्चलगुणाश्च ते।

१४—चरक० सू० २७.२९९ पाद-टि० १ : चक्रस्तु काललवणटीकायां काललवणं सौवर्चलमेवागन्धं दक्षिणसमुद्रसमीपे भवतीत्याह।

१५—अ० चू० पृ० ६२ : धूमं पिबति 'मा सिररोगातिणो भविस्संति' आरोगपडिकम्मं, अहवा "धूमणे" त्ति धूमपानसलागा, धूवेति वा अप्पाणं वत्थाणि वा।

१६—उत्त० १५.८ : ·········वमणविरेयणधूमणेत्तसिणाणं।
आउरे सरणं तिगिच्छियं च, तं परिन्नाय परिव्वए स भिक्खू॥

शब्द का प्रयोग है इसलिए इसका सम्बन्ध धूम-पान से ही होना चाहिए। वमन, विरेचन और वस्ति-कर्म के साथ 'धूम-नेत्र' का निकट सम्बन्ध है[1]। इसलिए प्रकरण की दृष्टि से भी 'धूपन' की अपेक्षा 'धूम-नेत्र' अधिक उपयुक्त है।

अगस्त्यसिंह स्थविर ने 'धूवणेत्ति' पाठ को मूल माना है[2] और 'धूमणेत्ति' को पाठान्तर। हरिभद्र सूरि ने मूल पाठ 'धूवणेत्ति' मान कर उसका संस्कृत रूप धूपन किया है और मतान्तर का उल्लेख करते हुए उन्होंने इसका अर्थ धूम-पान भी किया है[3]। अर्थ की दृष्टि से विचार करने पर चूर्णिकारों के अनुसार मुख्य अर्थ धूम-पान है और धूप-खेना गौण अर्थ है। टीकाकार के अभिमत में धूप-खेना मुख्य अर्थ है और धूम-पान गौण। इस स्थिति में मूल पाठ का निश्चय करना कठिन होता है, किन्तु इसके साथ जुड़े हुए 'इत्ति' शब्द की अर्थ-हीनता और उत्तराध्ययन में प्रयुक्त 'धूमणेत्तं'[4] के आधार पर ऐसा लगता है कि मूल पाठ 'धूमणेत्त' या 'धूवणेत्त' रहा है। बाद में प्रतिलिपि होते-होते यह 'धूवणेत्ति' के रूप में बदल गया—ऐसा सम्भव है। प्राकृत के लिङ्ग अतन्त्र होते हैं, इसलिए सम्भव है यह धूवणेत्ति' या 'धूमणेत्ति' भी रहा हो।

बौद्ध-भिक्षु धूम-पान करने लगे तब महात्मा बुद्ध ने उन्हें धूम-नेत्र की अनुमति दी।[5] फिर भिक्षु सुवर्ण, रौप्य आदि के धूम-नेत्र रखने लगे[6]। इससे लगता है कि भिक्षुओं और संन्यासियों में धूम-पान करने के लिए धूम-नेत्र रखने की प्रथा थी, किंतु भगवान् महावीर ने अपने निर्ग्रंथों को इसे रखने की अनुमति नहीं दी।

४४ वमन, वस्तिकर्म, विरेचन (वमणे य [क] ···वत्थीकम्म विरेयणे [ख]) :

वमन का अर्थ है उल्टी करना, मदनफल आदि के प्रयोग से आहार को बाहर निकालना। इसे ऊर्ध्व-विरेक कहा है[7]:

अपान-मार्ग के द्वारा स्नेह आदि के प्रक्षेप को वस्तिकर्म कहा जाता है। आयुर्वेद में विभिन्न प्रकार के वस्तिकर्मों का उल्लेख मिलता है[8]। अगस्त्यसिंह स्थविर के अनुसार चर्म की नली को 'वस्ति' कहते हैं। उसके द्वारा स्नेह का चढ़ाना वस्तिकर्म है[9]। जिनदास और हरिभद्र ने भी यही अर्थ किया है[10]। निशीथ चूर्णिकार के अनुसार वस्तिकर्म कटि-वात, अर्श आदि को मिटाने के लिए किया जाता था[11]।

विरेचन का अर्थ है—जुलाब के द्वारा मल को दूर करना। इसे अधोविरेक कहा है[12]। इन्हें यहाँ अतिचार कहा है। इनका निषेध सूत्रकृताङ्ग में भी आया है[13]।

१—चरक० सू० ५.१७-३७।

२—अ० चू० पृ० ६२ : धूवणेत्ति सिलोगो।

३—हा० टी० प० ११८ : धूपनमित्यात्मवस्त्रादेरनाचरितम्, प्राकृतशैल्या अनागतव्याधिनिवृत्तये धूमपानमित्यन्ये व्याचक्षते।

४—उत्त० १५.८।

५—विनयपिटक : महावग्ग ६.२.७ : अनुजानामि भिक्खवे धूमनेत्तं ति।

६—विनयपिटक : महावग्ग ६.२.७ : भिक्खू उच्चावचानि धूमनेत्तानि धारेन्ति—सोवण्णमयं रूपियमयं।

७—(क) अ० चू० : वमणं छड्डुणं।
(ख) हा० टी० प० ११८ : वमनम् मदनफलादिना।
(ग) सूत्र० १.९.१२ टी० प० १८० : वमनम् —ऊर्ध्वविरेकः।

८—चरक० सिद्धि० १

९—अ० चू० पृ० ६२ : वत्थी—णिरोहादिदाणत्थं चम्ममयो णालियाउत्तो कीरति तेणं कम्मं—अपाणाणं सिणेहादिदाणं वत्थिकम्मं।

१०—(क) जि० चू० पृ० ११५ : वत्थीकम्मं नाम वत्थी दइओ भण्णइ, तेण दइएण घयाईणि अधिट्ठाणे दिज्जंति।
(ख) हा० टी० प० ११८ : वस्तिकर्म्म पुटकेन अधिष्ठाने स्नेहदानं।

११—नि० भा० गा० ४३३० चूर्णि पृ० ३९२ : कडियायअरिसविणासणत्थं च अपाणद्दारेण वत्थिणा तेल्लादिप्पदाणं वत्थिकम्मं।

१२—(क) अ० चू० पृ० ६२ : विरेयणं कसायादीहिं सोधणं।
(ख) हा० टी० प० ११८ : विरेचनं दन्त्यादिना।
(ग) सू० १.९.१२ टी० प० १८० : विरेचनं—निरूहात्मकमधोविरेको।

१३—सू० १.९.१२ : धोयणं रयणं चेव, वत्थीकम्मं विरेयणं।
वमणंजण पलीमंथं, तं विज्जं ! परिजाणिया॥

निशीथ-भाष्यकार के अनुसार रोग-प्रतिकार के लिए नहीं किन्तु मेरा वर्ण सुन्दर हो जाए, स्वर मधुर हो जाए, बल बढ़े अथवा मैं दीर्घ-आयु बनूं, मैं कृश होऊँ या स्थूल होऊँ —इन निमित्तों से वमन, विरेचन आदि करने वाला भिक्षु प्रायश्चित्त का भागी होता है[1]।

चूर्णिकारों ने वमन, विरेचन और वस्तिकर्म को आरोग्य-प्रतिकर्म कहा है। जिनदास ने 'रोग न हो, इस निमित्त से इनका सेवन अकल्प्य कहा है[2]। इसी आधार पर हमने इन तीनों शब्दों के अनुवाद के साथ 'रोग की सम्भावना से बचने के लिए, रूप, बल आदि को बनाए रखने के लिए' जोड़ा है।

निशीथ में वमन, विरेचन के प्रायश्चित्त-सूत्र के अनन्तर अरोग-प्रतिकर्म का प्रायश्चित्त सूत्र है[3]।

रोग की सम्भावना से बचने की आकांक्षा और वर्ण, बल आदि की आकांक्षा भिन्न-भिन्न हैं।

वमन, वस्तिकर्म, विरेचन के निषेध के ये दोनों प्रयोजन रहे हैं, यह उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है।

४५. दंतवण (दंतवणे ग) :

श्लोक ३ में 'दन्तपहोयणा' अनाचार का उल्लेख है और यहाँ 'दन्तवणे' का। दोनों में समानता होने से यहाँ संयुक्त विवेचन किया जा रहा है।

'दन्तपहोयणा' का संस्कृत रूप 'दन्तप्रधावन' होता है। इसके निम्न अर्थ मिलते हैं :

(१) अगस्त्यसिंह स्थविर और जिनदास महत्तर ने इस शब्द का अर्थ काष्ठ, पानी आदि से दाँतों को पखारना किया है[4]।

(२) हरिभद्र सूरि ने इसका अर्थ दाँतों का अंगुली आदि से प्रक्षालन करना किया है[5]। अंगुली आदि में दन्तकाष्ठ शामिल नहीं है। उसका उल्लेख उन्होंने 'दन्तवण' के अर्थ में किया है।

उक्त दोनों अर्थों में यह पार्थक्य ध्यान देने जैसा है। 'दन्तवण' के निम्न अर्थ किये गये हैं :

(१) अगस्त्यसिंह स्थविर ने इसका अर्थ दाँतों की विभूषा करना किया है[6]।

(२) जिनदास ने इसे 'लोकप्रसिद्ध' कहकर इसके अर्थ पर कोई प्रकाश नहीं डाला। सम्भवत: उनका आशय दतवन से है।

(३) हरिभद्र सूरि ने इसका अर्थ दन्तकाष्ठ किया है[7]।

जिससे दाँतों का मल घिस कर उतारा जाता है उसे दंतकाष्ठ कहते हैं[8]।

'दतवण' शब्द देशी प्रतीत होता है। वनस्पति, वृक्ष आदि के अर्थ में 'वन' शब्द प्रयुक्त हुआ है। सम्भव है काष्ठ या लकड़ी के अर्थ में भी इसका प्रयोग होता हो। यदि इसे संस्कृत-सम माना जाय तो दन्त-पवन से दन्त-अवण=दतवण हो सकता है।

जिस काष्ठ-खण्ड से दाँत पवित्र किये जाते हैं उसे दन्त (पा)वन कहा गया है[9]।

दतवन अनाचार का अर्थ दातुन करना होता है।

अगस्त्यसिंह स्थविर ने दोनों अनाचारों का अर्थ बिलकुल भिन्न किया है पर 'दतवण' शब्द पर से 'दाँतों की विभूषा' करना—यह

१—नि० भा० गा० ४३३१ : वण्ण-सर-रूव-मेहा, वंगवलीपलित-णासणट्ठा वा।
दीहाउ तट्ठता वा, थूल-किसट्ठा व तं कुज्जा॥

२—(क) अ० चू० पृ० ६२ : एताणि आरोग्गपडिकम्माणि रूवबलत्थमणातिण्णं।
(ख) जि० चू० पृ० ११५ : एयाणि आरोग्गपडिकम्मनिमित्तं वा न कप्पइ।

३—नि० १३.३६,४०,४२ : जे भिक्खू वमणं करेति, करेंतं वा सातिज्जति।
जे भिक्खू विरेयणं करेति, करेंतं वा सातिज्जति।
जे भिक्खू अरोगे य परिकम्मं करेति, करेंतं वा सातिज्जति।

४—(क) अ० चू० पृ० ६० : दंतपहोवणं दंताण कट्ठोदगादीहिं पक्खालणं।
(ख) जि० चू० पृ० ११३ : दंतपहोयणं नाम दंताण कट्ठोदगादीहिं पक्खालणं।

५—हा० टी० प० ११७ : 'दन्तप्रधावनं' चाङ्गुल्यादिना क्षालनम्।

६—अ० चू० पृ० ६२ : दंतमणं दसणाणं (विभूसा)।

७—हा० टी० प० ११८ : दन्तकाष्ठं च प्रतीतम्।

८—उपा० १.५ टी० पृ० ७ : दन्तमलापकर्षणकाष्ठम्।

९—प्रव० ४.२१० टी० प० ५१ : दन्ताः पूयन्ते—पवित्राः क्रियन्ते येन काष्ठखण्डेन तद्दन्तपावनम्।

अर्थ नहीं निकलता। हरिभद्र सूरि ने अंगुली और काष्ठ का भेद कर दोनों अनाचारों के अर्थों के पार्थक्य को रखा है, वह ठीक प्रतीत होता है।

सूत्रकृताङ्ग में 'दंतपक्खालणं' शब्द मिलता है[1]। जिससे दांतों का प्रक्षालन किया जाता है—दांत मल-रहित किये जाते हैं, उस काष्ठ को दंत-प्रक्षालन कहते हैं[2]। कदम्ब काष्ठादि से दांतों को साफ करना भी दंत-प्रक्षालन है[3]।

शाब्दिक दृष्टि से विचार किया जाय तो दंतप्रधावन के अर्थ, दंत-प्रक्षालन की तरह, दतौन और दांतों को धोना दोनों हो सकते हैं जब कि दंतवन का अर्थ दतौन ही होता है। दोनों अनाचारों के अर्थ-पार्थक्य की दृष्टि से यहाँ 'दंतप्रधावन' का अर्थ दांतों को धोना और 'दंतवन' का अर्थ दातुन करना किया है।

सूत्रकृताङ्ग में कहा है : 'णो दंतपक्खालणेणं दंत पक्खालेज्जा'। शीलाङ्कसूरि ने इसका अर्थ किया है—मुनि कदम्ब आदि के प्रक्षालन—दतौन से दांतों का प्रक्षालन न करे—उन्हें न धोए। यहाँ 'प्रक्षालन' शब्द के दोनों अर्थों का एक साथ प्रयोग है[4]। यह दोनों अनाचारों के अर्थ को समाविष्ट करता है।

अनाचारों की प्रायश्चित्त विधि निशीथ सूत्र में मिलती है। वहाँ दांतों से सम्बन्ध रखने वाले तीन सूत्र हैं[5]—

(१) जो भिक्षु विभूषा के लिए अपने दांतों को एक दिन या प्रतिदिन घिसता है, वह दोष का भागी होता है।

(२) जो भिक्षु विभूषा के लिए अपने दांतों का एक दिन या प्रतिदिन प्रक्षालन करता है, या प्रधावन करता है, वह दोष का भागी होता है।

(३) जो भिक्षु विभूषा के लिए अपने दांतों के फूंक मारता है या रंगता है, वह दोष का भागी होता है।

इससे प्रकट है कि किसी एक दिन या प्रतिदिन दंतमंजन करना, दांतों को धोना, दंतवन करना, फूंक मारना और रंगना—ये सब साधु के लिए निषिद्ध कार्य हैं। इन कार्यों को करनेवाला साधु प्रायश्चित्त का भागी होता है।

प्रो० अभ्यंकर ने 'दंतमण्ण' पाठ मान उसका अर्थ दांतों को रंगना किया है। यदि ऐसा पाठ हो तो उसकी आर्थिक तुलना निशीथ के दन्त-राग से हो सकती है।

आचार्य वट्टकेर ने प्रक्षालन, घर्षण आदि सारी क्रियाओं का 'दंतमण' शब्द से संग्रह किया है—अंगुली, नख, अवलेखिनी (दतौन) काली (तृण विशेष), पैनी, कंकणी, वृक्ष की छाल (वल्कल) आदि से दांत के मैल को शुद्ध नहीं करना, यह इन्द्रिय-संयम की रक्षा करने वाला 'अदंतमन' मूल गुणव्रत है[6]।

बौद्ध-भिक्षु पहले दतवन नहीं करते थे। दतवन करने से—(१) आँखों को लाभ होता है, (२) मुख में दुर्गन्ध नहीं होती, (३) रस वाहिनी नालियाँ शुद्ध होती हैं, (४) कफ और पित्त भोजन से नहीं लिपटते, (५) भोजन में रुचि होती है—ये पाँच गुण बता बुद्ध ने भिक्षुओं को दतवन की अनुमति दी। भिक्षु लम्बी दतवन करते थे और उसीसे श्रामणेरों को पीटते थे। 'दुक्कट' का दोष बता बुद्ध ने उत्कृष्ट में आठ अंगुल तक के दतवन की और जघन्य में चार अंगुल के दतवन की अनुमति दी[7]।

वैदिक धर्म-शास्त्रों में ब्रह्मचारी के लिए दन्तधावन वर्जित है[8]। यतियों के लिए दन्तधावन का वैसा ही विधान रहा है जैसा कि गृहस्थों के लिए[9]। वहाँ दन्तधावन को स्नान के पहले रखा है और उसे स्नान और सन्ध्या का अङ्ग न मान केवल मुख-शुद्धि का स्वतंत्र

१—सू० १.९.१३ : गंधमल्लसिणाणं च, दंतपक्खालणं तहा।
परिग्गहित्थिकम्मं च, त विज्जं ! परिजाणिया॥

२—सू० १.४.२.११ टी० प० ११८ : दन्ता प्रक्षाल्यन्ते—अपगतमलाः क्रियन्ते येन तद्दन्तप्रक्षालनं दन्तकाष्ठम्।

३—सू० १.९.१३ टी० प० १८० : 'दन्तप्रक्षालनं' कदम्बकाष्ठादिना।

४—सू० २.१.१५ टी० प० २९९ : नो दन्तप्रक्षालनेन कदम्बादि काष्ठेन दन्तान् प्रक्षालयेत्।

५—नि० १५.१३०-३१ : जे भिक्खू विभूसावडियाए अप्पणो दंते आघंसेज्ज वा पघंसेज्ज वा,··· सातिज्जति।
जे भिक्खू विभूसावडियाए अप्पणो दंते उच्छोलेज्ज वा पधोवेज्ज वा,···सातिज्जति।
जे भिक्खू विभूसावडियाए अप्पणो दंते फूमेज्ज वा रएज्ज वा,···सातिज्जति।

६—मूलाचार मूलगुणाधिकार ३३ : अंगुलिणहावलेहिणीकालीहिं, पासाण-छल्लियादीहिं।
दंतमलासोहणयं, संजमगुत्ती अदंतमणं॥

७—विनयपिटक : चुल्लवग्ग ५.५.२ पृ० ४४४।

८—वसिष्ठ ७.१५ : तद्वासायनदन्तधावनप्रक्षालनाञ्जनान्यञ्जनोपानच्छत्रवर्जी।

९—History of Dharmasastra vol. II part II. p. 964 : Ascetics have to perform saucha, brushing the teeth, bath, just as house holders have to do.

हेतु माना है[1]। दन्तधावन की विधि इस प्रकार बताई गई है—अमुक वृक्ष की साफ नरम टहनी को ले। उसका आठ अंगुल लम्बा टुकड़ा करे। दाँतों से उसका अग्रभाग कूँचे और कूँचा हो जाने पर दन्तकाष्ठ के उस अग्रभाग से दाँतों को मलकर उन्हें साफ करे[2]। इस तरह दन्तधावन का अर्थ दन्तकाष्ठ से दाँतों को साफ करना होता है और उसका वही अर्थ है जो अगस्त्यसिंह ने दन्तप्रधावन का किया है।

वैदिक शास्त्रों में दन्तधावन और दन्तप्रक्षालन के अर्थों में अन्तर मालूम देता है। केवल जल से मुख शुद्धि करना प्रक्षालन है और दन्तकाष्ठ से दाँत साफ करना दन्तधावन है। नदी में या घर पर दन्तप्रक्षालन करने पर मन्त्र का उच्चारण नहीं करना पड़ता पर दन्तधावन करने पर मन्त्रोच्चारण करना पड़ता है[3]—"हे वनस्पति ! मुझे लम्बी आयु, बल, यश, वर्चस्, सन्तान, पशु, धन, ब्रह्म (वेद), प्रज्ञा और मेधा प्रदान करें[4]।"

प्रतिपदा, पर्व-तिथियों (पूर्णिमा, अष्टमी, चतुर्दशी), छठ और नवमी के दिनों में दन्तधावन वर्जित कहा है[5]। श्राद्ध दिन, यज्ञ दिन, नियम दिन, उपवास या व्रत के दिनों में भी इसकी मनाही है[6]। इससे स्पष्ट है कि दन्तप्रधावन का हिन्दू शास्त्रों में भी धार्मिक क्रिया के रूप में विधान नहीं है। शुद्धि की क्रिया के रूप में ही उसका स्थान है।

४६. गात्र-अभ्यङ्ग (गायाभंग ख) :

इसका अर्थ है—शरीर के तैलादि की मालिश करना[7]। निशीथ से पता चलता है कि उस समय गात्राभ्यङ्ग तैल, घृत, वसा—चर्बी और नवनीत से किया जाता था[8]।

४७. विभूषण (विभूसणे ख) :

सुन्दर परिधान, अलङ्कार और शरीर की साज-सज्जा, नख और केश काटना, बाल सवारना आदि विभूषा है[9]। चरक में इसे 'सम्प्रसाधन' कहा है। केश, श्मश्रु (दाढ़ी, मूँछ) तथा नखों को काटने से पुष्टि, वृष्यता और आयु की वृद्धि होती है तथा पुरुष पवित्र एवं सुन्दर रूप वाला हो जाता है[10]। 'सम्प्रसाधनम्' पाठ स्वीकार करने पर केश आदि को कटवाने से तथा कंघी देने से उपर्युक्त लाभ होते हैं।

१—आह्निकप्रकाश पृ० १२१ : अत्र सन्ध्यायां स्नाने च दन्तधावनस्य नाङ्गत्वम् ' इति वृद्धशातातपवचनेन स्वतन्त्रस्यैव शुद्धिहेतुत्वाभिधानात्।

२—गोभिलस्मृति १.११८ : नारदाद्युक्तवार्क्षं चाष्टाङ्गुलमपाटितम्। सत्वचं दन्तकाष्ठं स्यात्तदग्रेण प्रधावयेत्॥

३—(क) गोभिलस्मृति १.१३७ : दन्तान् प्रक्षाल्य नद्यादौ गृहे चेत्तदमन्त्रवत्।
(ख) वही १.१३६ : परिजप्य च मन्त्रेण भक्षयेद्दन्तधावनम्॥

४—(क) गोभिलस्मृति १.१३७।
(ख) वही १.१३६।
(ग) वही १.१४० : आयुर्बलं यशो वर्चः प्रजाः पशून् वसूनि च। ब्रह्म प्रज्ञां च मेधां च त्वं नो देहि वनस्पते॥

५—(क) लघुहारीत १ पृ० १८३।
(ख) नृसिंह पुराण ५८.५०-५२
प्रतिपत्पर्वषष्ठीषु नवम्यां चैव सत्तमा।
दन्तानां काष्ठसंयोगाद्दहत्या सप्तमं कुलम्॥
अभावे दन्तकाष्ठानां प्रतिषिद्धदिनेषु च।
अपां द्वादशगण्डूषैर्मुखशुद्धिं समाचरेत्॥

६—स्मृति अर्थसार पृ० २५।

७—(क) अ० चू० पृ० ६२ : गायब्भंगो सरीरब्भंगणमद्दणाईणि।
(ख) हा० टी० प० ११८ : गात्राभ्यङ्गस्तैलादिना।

८—नि० ३.२४ : जे भिक्खू अप्पणो काए तेल्लेण वा, घएण वा, वसाए वा, णवणीएण वा अब्भंगेज्ज वा, मक्खेज्ज वा, अब्भंगेंतं वा मक्खेंतं वा सातिज्जति।

९—अ० चू० पृ० ६२ : विभूसणं अलंकरणं।

१०—चरक० सू० ५.९९ : पौष्टिकं वृष्यमायुष्यं शुचि रूपविराजनम्। केशश्मश्रुनखादीनां कल्पनं संप्रसाधनम्॥

निशीथ (तृतीय अ०) में अभ्यङ्ग, उद्वर्तन, प्रक्षालन आदि के लिए मासिक प्रायश्चित्त का विधान किया गया है और भाष्य तथा परम्परा के अनुसार रोग-प्रतिकार के लिए ये विहित भी हैं। सम्भवतः इसमें सभी श्वेताम्बर एक मत हैं। विभूषा के निमित्त अभ्यङ्ग आदि करने वाले श्रमण के लिए चातुर्मासिक प्रायश्चित्त का विधान किया गया है[1]।

इस प्रायश्चित्त-भेद और पारंपरिक-अपवाद से जान पड़ता है कि सामान्यतः अभ्यङ्ग आदि निषिद्ध हैं; रोग-प्रतिकार के लिए निषिद्ध नहीं भी हैं और विभूषा के लिए सर्वथा निषिद्ध हैं। इसलिए विभूषा को स्वतन्त्र अनाचार माना गया है।

विभूषा ब्रह्मचर्य के लिए घातक है। भगवान् ने कहा है—'ब्रह्मचारी को विभूषानुपाती नहीं होना चाहिए। विभूषा करने वाला स्त्री-जन के द्वारा प्रार्थनीय होता है। स्त्रियों की प्रार्थना पाकर वह ब्रह्मचर्य में संदिग्ध हो जाता है और आखिर में फिसल जाता है[2]। विभूषा-वर्जन ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए नवीं बाड़ है और महाचार-कथा का अठारहवाँ वर्ज्य स्थान है (६.६४-६६)। आत्म-गवेषी पुरुष के लिए विभूषा को तालपुट विष कहा है (८.५६)।

भगवान् ने कहा है: 'नग्न, मुंडित और दीर्घ रोम, नख वाले ब्रह्मचारी श्रमण के लिए विभूषा का कोई प्रयोजन ही नहीं है[3]।"

विभूषण जो अनाचार है उसमें संप्रसादन, सुन्दर परिधान और अलङ्कार—इन सबका समावेश हो जाता है।

श्लोक १० :

४८. संयम में लीन (संजमम्मि य जुत्ताणं ग) :

'युक्त' शब्द के संबद्ध, उद्युक्त, सहित, समन्वित आदि अनेक अर्थ होते हैं[4]। गीता (६.८) के शांकर-भाष्य में इसका अर्थ समाहित किया है[5]। हमने इसका अनुवाद 'लीन' किया है। तात्पर्यार्थ में संयम में लीन और समाहित एक ही हैं।

जिनदास महत्तर ने 'संजमम्मि य जुत्ताणं' के स्थान में 'संजमं अणुपालंता' ऐसा पाठ स्वीकार किया है। 'संजमं अणुपालेंति'—ऐसा पाठ भी मिलता है। इसका अर्थ है—संयम का अनुपालन करते हैं, उसकी रक्षा करते हैं[6]।

४९. वायु की तरह मुक्त विहारी (लहुभूयविहारिणं घ) :

अगस्त्यसिंह स्थविर ने 'लघु' का अर्थ वायु और 'भूत' का अर्थ सदृश किया है। जो वायु की तरह प्रतिबन्ध रहित विचरण करता हो वह 'लघुभूतविहारी' कहलाता है[7]। जिनदास महत्तर और हरिभद्र सूरि भी ऐसा ही अर्थ करते हैं[8]।

आचाराङ्ग में 'लहुभूयगामी' शब्द मिलता है[9]। वृत्तिकार ने 'लहुभूय' का अर्थ 'मोक्ष' या 'संयम' किया है[10]। उसके अनुसार 'लघुभूतविहारी' का अर्थ मोक्ष के लिए विहार करने वाला या संयम में विचरण करने वाला हो सकता है।

१—नि० १५.१०८ : जे भिक्खू विभूसावडियाए अप्पणो कायं तेल्लेण वा, घएण वा, वसाए वा, णवणीएण वा, अब्भंगेज्ज वा, मक्खेज्ज वा, मक्खेंतं वा अब्भंगेंतं वा सातिज्जति।

२—उत्त० १६.११ : नो विभूसाणुवाई हवइ से निग्गन्थे। तं कहमिति चे? आयरियाह—विभूसावत्तिए विभूसियसरीरे इत्थिजणस्स अभिलसणिज्जे हवइ। तओ णं इत्थिजणेणं अभिलसिज्जमाणस्स बम्भचेरे संका वा, कंखा वा, विइगिच्छा वा समुपज्जिज्जा भेदं वा लभेज्जा, उम्मायं वा पाउणिज्जा, दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा, केवलिपन्नत्ताओ धम्माओ भंसेज्जा। तम्हा खलु नो निग्गन्थे विभूसाणुवाई सिया।

३—दश० ६.६५।

४—हा० टी० प० ११८।

५—गीता ६.८ शां० भा० पृ० १७७ : 'युक्त इत्युच्यते योगी'—युक्तः समाहितः।

६—जि० चू० पृ० ११५ : संजमो पुव्वभणियो, अणुपालयंति णाम तं संजमं रक्खयंति।

७—अ० चू० पृ० ६३ : लहुभूतविहारिणं। लहु जं ण गुरु, स पुण वायुः, लहुभूतो लहुसरिसो विहारो जेसिं ते लहुभूतविहारिणो।

८—(क) जि० चू० पृ० ११५ : भूता णाम तुल्ला, लहूभूतो लहु वाऊ तेण तुल्लो विहारो जेसिं ते लहुभूतविहारिणो।
(ख) हा० टी० प० ११८ : लघुभूतो—वायुः, ततश्च वायुभूतोऽप्रतिबद्धतया विहारो येषां ते लघुभूतविहारिणः।

९—आ० ३.४६ : छिंदेज्ज सोयं लहुभूयगामी।

१०—आ० ३.४६ : वृत्ति पृ० १४८ : 'लघुभूतो' मोक्षः, संयमो वा तं गन्तुं शीलमस्येति लघुभूतगामी।

श्लोक ११ :

५०. पंचाश्रव का निरोध करनेवाले (पंचासवपरिन्नाया [क]) :

जिनसे आत्मा में कर्मों का प्रवेश होता है उन्हें आश्रव कहते हैं। हिंसा, झूठ, अदत्त, मैथुन और परिग्रह—ये पांच आश्रव हैं इनसे आत्मा में कर्मों का स्राव होता है[1]।

आगम में कहा है : "प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह और रात्रि-भोजन से जो विरत होता है वह अनाश्रव होता है। साथ ही जो पांच समिति और तीन गुप्तियों से युक्त है, कषायरहित है, जितेन्द्रिय है, गौरवमुक्त है, निःशल्य है, वह अनाश्रव है[2]।"

आगमों में (१) मिथ्यात्व—मिथ्या दृष्टि, (२) अविरति—अत्याग, (३) प्रमाद—धर्म के प्रति अरुचि - अनुत्साह, (४) कषाय—क्रोध, मान, माया, लोभ और (५) योग—हिंसा, झूठ आदि प्रवृत्तियां—इनको भी आश्रव कहा है। हिंसा आदि पांच योग आश्रव के भेद हैं।

परिज्ञा दो हैं—ज्ञान-परिज्ञा और प्रत्याख्यान-परिज्ञा। जो पंचाश्रव के विषय में दोनों परिज्ञाओं से युक्त है—वह पंचाश्रव-परिज्ञाता कहलाता है[3]। किसी एक वस्तु को जानना ज्ञान-परिज्ञा है। पाप कर्मों को जानकर उन्हें नहीं करना प्रत्याख्यान-परिज्ञा है। निश्चयवक्तव्यता से जो पाप को जानकर पाप नहीं करता वही पाप कर्म और आत्मा का परिज्ञाता है और जानते हुए भी जो पाप का आचरण करता है, वह पाप का परिज्ञाता नहीं है, क्योंकि वह बालक की तरह अज्ञानी है। बालक अहित को नहीं जानता हुआ अहित में प्रवृत्त होता हुआ एकांत अज्ञानी होता है पर वह तो पाप को जानता हुआ उससे निवृत्त नहीं होता और उसमें अभिरमण करता है, फिर वह अज्ञानी कैसे नहीं कहा जायेगा[4] ? पंचाश्रवपरिज्ञाता—अर्थात् जो पांच आश्रवों को अच्छी तरह जानकर उन्हें छोड़ चुका है—उनका निरोध कर चुका है।

५१. तीन गुप्तियों से गुप्त (तिगुत्ता [ख]) :

मन, वचन और काया—इन तीनों का अच्छी तरह निग्रह करना क्रमशः मन गुप्ति, वचन गुप्ति और काय गुप्ति है। जिसकी आत्मा इन तीन गुप्तियों से रक्षित है, वह त्रिगुप्त कहलाता है[5]।

१—(क) अ० चू० पृ० ६१ : पंच आसवा पाणातिवातादीणि पंच आसवदाराणि।
   (ख) जि० चू० पृ० ११५-६ : 'पंच' त्ति संखा, आसवग्गहणेण हिंसाईणि पंच कम्मरसासवदाराणि गहियाणि।
   (ग) हा० टी० प० ११८ : 'पञ्चाश्रवाः' हिंसादयः।

२—उत्त० ३०.२-३ : पाणवहमुसावाया अदत्तमेहुणपरिग्गहा विरओ।
राईभोयणविरओ, जीवो भवइ अणासओ॥
पंचसमिओ तिगुत्तो, अकसाओ जिइन्दिओ।
अगारवो य निस्सल्लो, जीवो होइ अणासवो॥

३—(क) अ० चू० पृ० ६१ : परिण्णा दुविहा—जाणणापरिण्णा पच्चक्खाणपरिण्णा य, जे जाणणापरिण्णाए जाणिऊण पच्चक्खाण-परिण्णाए ठिता ते पंचासवपरिण्णाता।
   (ख) जि० चू० पृ० ११६ : ताणि दुविहपरिण्णाए परिण्णाताणि, जाणणापरिण्णाए पच्चक्खाणपरिण्णाए य ते पंचासव-परिण्णाया भवंति।
   (ग) हा० टी० प० ११८ : 'परिज्ञाता' द्विविधया परिज्ञया—ज्ञपरिज्ञया प्रत्याख्यानपरिज्ञया च परि—समन्तात् ज्ञाता यैस्ते पञ्चाश्रवपरिज्ञाताः।

४—जि० चू० पृ० ११६ : तत्थ जाणणापरिण्णा णाम जो जं किंचि अत्थं जाणइ सा तस्स जाणणापरिण्णा भवति, जहा पडं जाणं-तस्स पडपरिण्णा भवति, घडं जाणंतस्स घडपरिण्णा भवति, एसा जाणणापरिण्णा, पच्चक्खाणपरिण्णा नाम पावं कम्मं जाणि-ऊण तस्स पावस्स जं अकरणं सा पच्चक्खाणपरिण्णा भवति, किंच—तेण णेच्छइएण पावं कम्मं अप्पा य परिण्णाओ भवइ जो पावं णाऊण न करेइ, जो पुण जाणिऊणवि पावं आयरइ तेण निच्छयवत्तव्वयाए पावं न परिण्णायं भवइ, कहं ? सो बालो इव अजा-णओ दट्ठव्वो, जहा बालो अहियं अयाणमाणो अहिए पवत्तमाणो एगंतेणेव अयाणओ भवइ तहा सोवि पावं जाणिऊण ताओ पावाओ न णियत्तइ तम्मि पावे अभिरमइ।

५—(क) अ० चू० पृ० ६१ : मण-वयण-कायजोगनिग्गहपरा।
   (ख) जि० चू० पृ० ११६ : तिविहेण मणवयणकायजोगे सम्मं निग्गहपरमा।
   (ग) हा० टी० प० ११८ : 'त्रिगुप्ता' मनोवाक्कायगुप्तिभिः गुप्ताः।

५२. छहः प्रकार के जीवों के प्रति संयत (छसु संजया [ख]) :

पृथ्वी, अप्, वायु, अग्नि, वनस्पति और त्रस प्राणी—ये छह प्रकार के जीव हैं। इनके प्रति मन, वचन और काया से संयत—उपरत[१]।

५३. पांचों इन्द्रियों का निग्रह करने वाले (पंचनिग्गहणा [ग])

श्रोत्र-इन्द्रिय (कान), चक्षु-इन्द्रिय (आँख), घ्राण-इन्द्रिय (नाक), रसना-इन्द्रिय (जिह्वा) और स्पर्शन-इन्द्रिय (त्वचा)—ये पांच इन्द्रियां हैं। इन पाँच इन्द्रियों का दमन करने वाले—पंचनिग्रही कहलाते हैं[२]।

५४. धीर (धीरा [ग]) :

धीर और शूर एकार्थक हैं[३]। जो बुद्धिमान् हैं, स्थिर हैं, वे धीर कहलाते हैं[४]। स्थविर अगस्त्यसिंह ने 'वीरा' पाठ माना है, जिसका अर्थ शूर, विक्रान्त होता है[५]।

५५. ऋजुदर्शी (उज्जुदंसिणो [घ]) :

'उज्जु' का अर्थ संयम और सम है। जो केवल संयम को देखते हैं—संयम का ध्यान रखते हैं तथा जो स्व और पर में समभाव रखते हैं, उन्हें 'उज्जुदंसिणो' कहते हैं[६]। यह जिनदास महत्तर की व्याख्या है। अगस्त्यसिंह स्थविर ने इसके राग-द्वेष रहित, अविग्रहगति-दर्शी और मोक्षमार्गदर्शी अर्थ भी किये हैं[७]।

मोक्ष का सीधा रास्ता संयम है। जो संयम में ऐसा विश्वास रखते हैं उन्हें ऋजुदर्शी कहते हैं[८]।

श्लोक १२ :

५६. ग्रीष्म में ···प्रतिसंलीन रहते हैं (आयावयंति··· पडिसंलीणा [क-ग]) :

श्रमण की ऋतु-चर्या में तपस्या का प्राधान्य होता है। जिस ऋतु में जो परिस्थिति संयम में बाधा उत्पन्न करे उसे उसके प्रतिकूल आचरण द्वारा जीता जाए। श्रमण की ऋतुचर्या के विधान का आधार यही है। ऋतु के मुख्य विभाग तीन हैं : ग्रीष्म, हेमन्त और वर्षा। ग्रीष्म ऋतु में आतापना लेने का विधान है। श्रमण को ग्रीष्म ऋतु में स्थान, मौन और वीरासन आदि अनेक प्रकार के तप करने चाहिए। यह उनके लिए है जो आतापना न ले सकें और जो आतापना ले सकते हों उन्हें सूर्य के सामने मुंह कर, एक पैर पर दूसरा

१—(क) अ० चू० पृ० ६३ : छसु पुढविकायादिसु त्रिकरणएकभावेण जता संजता।
(ख) जि० चू० पृ० ११६ : छसु पुढविक्कायाइसु सोहणेणं पगारेणं जता संजता।
(ग) हा० टी० प० ११६ : षट्सु जीवनिकायेषु पृथिव्यादिषु सामस्त्येन यताः।

२—(क) अ० चू० पृ० ६३ : पंच सोतादीणि इंदियाणि णिगिण्हंति।
(ख) जि० चू० पृ० ११६ : पंचण्हं इंदियाणं निग्गहणता।
(ग) हा० टी० प० ११६ : निगृह्णन्तीति निग्रहणाः कर्तरि ल्युट् पंचानां निग्रहणाः पञ्चनिग्रहणाः, पञ्चानामितीन्द्रियाणाम्।

३—जि० चू० पृ० ११६ : धीरा णाम धीरत्ति वा सूरेत्ति वा एगट्ठा।

४—हा० टी० प० ११६ : 'धीरा' बुद्धिमन्तः स्थिरा वा।

५—अ० चू० पृ० ६३ : वीरा सूरा विक्रान्ताः।

६—जि० चू० पृ० ११६ : उज्जु—संजमो भण्णइ तमेव एगं पासंतीति तेण उज्जुदंसिणो, अहवा उज्जुत्ति समं भण्णइ सममप्पाणं परं च पासंतित्ति उज्जुदंसिणो।

७—अ० चू० पृ० ६३ : उज्जु—संजमो समया वा, उज्जू—रागद्दोसपक्खविरहिता अविग्गहगती वा, उज्जू—मोक्खमग्गो तं पस्संतीति उज्जुदंसिणो, एवं च ते भगवंतो गच्छविरहिता उज्जुदंसिणो।

८—हा० टी० प० ११६ : 'ऋजुदर्शिन' इति ऋजुर्मोक्षं प्रति ऋजुत्वात्संयमस्तं पश्यन्त्युपादेयतयेति ऋजुदर्शिनः—संयम-प्रतिबद्धाः।

पैर टिका कर—एक पादासन कर, खड़े-खड़े आतापना लेनी चाहिए[1]। जिनदास महत्तर ने ऊर्ध्वबाहु होकर उकडू आसन से आतापना लेने की सूचना दी है। जो वैसा न कर सकें वे अन्य तप करें[2]।

हेमन्त ऋतु में अप्रावृत होकर प्रतिमा-स्थित होना चाहिए। यदि अप्रावृत न हो सके तो प्रावरण सीमित करना चाहिए[3]।

वर्षा ऋतु में पवन रहित स्थान में रहना चाहिए, ग्रामानुग्राम विहार नहीं करना चाहिए[4]। स्नेह—सूक्ष्म जल के स्पर्श से बचने के लिए शिशिर में निवात-स्थान का प्रसंग आ सकता है। भगवान् महावीर शिशिर में छाया में बैठकर और ग्रीष्म में उकडू आसन से बैठ, सूर्याभिमुख हो आतापना लेते थे[5]।

श्लोक १३ :

५७. परीषह (परीसह) :

मोक्ष-मार्ग से च्युत न होने तथा कर्मों की निर्जरा के लिए जिन्हें सम्यक् प्रकार से सहन करना चाहिए वे परीषह हैं[6]। वे क्षुधा, तृषा आदि बाईस हैं[7]।

५८. धुत-मोह (धुयमोहा) :

अगस्त्यसिंह ने 'धुतमोह' का अर्थ विकीर्णमोह, जिनदास ने जितमोह और टीकाकार ने विक्षिप्तमोह किया है। मोह का अर्थ अज्ञान किया गया है[8]। 'धुत' शब्द के कम्पित, त्यक्त, उच्छलित आदि अनेक अर्थ होते हैं।

जैन और बौद्ध साहित्य में 'धुत' शब्द बहुत व्यवहृत है। आचाराङ्ग (प्रथम श्रुतस्कन्ध) के छठे अध्ययन का नाम भी 'धुत' है। निर्युक्तिकार के अनुसार जो कर्मों को धुनता है, प्रकम्पित करता है, उसे भाव धुत कहते हैं[9]। इसी अध्ययन में 'धुतवाद' शब्द मिलता है[10]। 'धुतवाद' का अर्थ है—कर्म को नाश करने वाला वाद।

बौद्ध-साहित्य में 'धुत' 'धुतांग' 'धुतांगवादी' 'धुतगुण' 'धुतवाद' 'धुतवादी' आदि विभिन्न प्रकार से यह शब्द प्रयुक्त हुआ है। क्लेशों के अपगम से भिक्षु विशुद्ध होता है। वह 'धुत' कहलाता है। ब्राह्मण-धर्म के अन्तर्गत जो तापस होते थे, उन्हें वैखानस कहते थे। बौद्ध-भिक्षुओं में भी ऐसे भिक्षु होते थे, जो वैखानसों के नियमों का पालन करते थे। इन नियमों को 'धुतांग' कहते हैं। 'धुतांग' १३ होते हैं : वृक्षमूल निकेतन, अरण्यनिवास, श्मशानवास, अभ्यवकाशवास, पांशुकूल-धारण आदि।

१—(क) अ० चू० पृ० ६१ : गिम्हासु पाणमोणवीरासणादि अणेगविधं तवं करेंति, विसेसेण तु सूराभिमुहा एगपादट्ठिता उड्ढभुया आतावेंति।

(ख) हा० टी० प० ११६ : आतापयन्ति—ऊर्ध्वस्थानादिना आतापनां कुर्वन्ति।

२—जि० चू० पृ० ११६ : गिम्हेसु उड्ढबाहूउक्कुडुयासणाईहि आयावेंति, जेवि न आयावेंति ते अण्णं तवविसेसं कुव्वन्ति।

३—(क) अ० चू० पृ० ६१ : हेमन्ते अग्गिणिवातसरणविरहिता सहा तवोवीरियसंपण्णा अवगुता पडिम ठायति।

(ख) जि० चू० पृ० ११६ : हेमन्ते पुण अपगुता पडिमं ठायति, जेवि सिसिरे णावगुडिता पडिमं ठायति तेवि विधीए पाउणति।

(ग) हा० टी० प० ११६ : 'हेमन्तेषु' शीतकालेषु 'अप्रावृता' इति प्रावरणरहितास्तिष्ठन्ति।

४—(क) अ० चू० पृ० ६१ : सदा इंदिय-नोइंदियपडिसंलीणा विसेसेण सिणेहसंघट्टपरिहरणत्थं णिवातलतणगता वासासु पडिसंलीणा ण गामाणुगामं दूतिज्जति।

(ख) जि० चू० पृ० ११६ : वासासु पडिसंलीणा नाम आश्रयस्थिता इत्यर्थः, तवविसेसेसु उज्जमंतो, नो गामनगराइसु विहरति।

(ग) हा० टी० प० ११६ : वर्षाकालेषु 'संलीना' इत्येकाश्रयस्था भवन्ति।

५—(क) आ० ६.४.३ : सिसिरंमि एगदा भगवं, छायाए झाइ आसीय।

(ख) आ० ६.४.४ : आयावई य गिम्हाणं, अच्छइ उक्कुडुए अभितावे॥

६—तत्त्वा० ६.८ : मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिषोढव्याः परीषहाः।

७—उत्तराध्ययन—दूसरा अध्ययन।

८—(क) अ० चू० पृ० ६४ : धुतमोहा विकिण्णमोहा। मोहो मोहणीयमण्णाणं वा।
(ख) जि० चू० पृ० ११७ : 'धुयमोहा' नाम जितमोहत्ति वुत्तं भवइ।
(ग) हा० टी० प० ११६ : 'धुतमोहा' विक्षिप्तमोहा इत्यर्थः, मोहः—अज्ञानम्।

९—आचा० नि० गा० २५१ : जो विहुणइ कम्माइं भावधुयं तं वियाणाहि॥

१०—आ० ६.२४ : आयाण भो! सुस्सूस भो! धूयवायं पवेदइस्सामि।

५९. सर्व दुःखों के (सव्वदुक्ख ग) :

चूर्णियों और टीका में इसके अर्थ सर्व शारीरिक और मानसिक दुःख किया गया है[१]। उत्तराध्ययन के अनुसार जन्म, जरा, रोग और मरण दुःख हैं। यह संसार ही दुःख है जहाँ प्राणी क्लिष्ट होते हैं[२]। उत्तराध्ययन में एक जगह प्रश्न किया है: "शारीरिक और मानसिक दुःखों से पीड़ित प्राणियों के लिए क्षेम, शिव और अनाबाध स्थान कौन-सा है ?" इसका उत्तर दिया है। "लोकाग्र पर एक ऐसा ध्रुव स्थान है जहाँ जरा, मृत्यु, व्याधि और वेदना नहीं हैं। यही सिद्धि-स्थान या निर्वाण क्षेत्र, शिव और अनाबाध है[३]।"

उत्तराध्ययन में अन्यत्र कहा है—"कर्म ही जन्म और मरण के मूल हैं। जन्म और मरण ये ही दुःख हैं[४]।"

जितेन्द्रिय महर्षि जन्म-मरण के दुःखों के क्षय के लिए प्रयत्न करते हैं अर्थात् उनके आधार-भूत कर्मों के क्षय के लिए प्रयत्न करते हैं। कर्मों के क्षय से सारे दुःख अपने-आप क्षय को प्राप्त हो जाते हैं।

६०. (पक्कमंति महेसिणो घ) :

अगस्त्य चूर्णि में इसके स्थान पर 'ते वदंति सिवं गतिं' यह पाठ है और अध्ययन की समाप्ति इसीसे होती है। उसके अनुसार कुछ आचार्य अग्रिम दो श्लोकों को वृत्तिगत मानते हैं और कुछ आचार्य उन्हें मूल-सूत्रगत मानते हैं। जो उन्हें मूल मानते हैं उनके अनुसार तेरहवें श्लोक का चतुर्थ चरण 'पक्कमंति महेसिणो'[५] है।

'ते वदंति सिवं गतिं' का अर्थ है—वे शिवगति को प्राप्त होते हैं।

६१. दुष्कर (दुक्कराइं क) :

टीका के अनुसार औद्देशिकादि के त्याग आदि दुष्कर हैं[६]। श्रामण्य में क्या-क्या दुष्कर हैं इसका गम्भीर निरूपण उत्तराध्ययन में है[७]।

१—(क) अ० चू० पृ० ६४ : सारीर-माणसाणि अणेगागाराणि सव्वदुक्खाणि।

(ख) जि० चू० पृ० ११७ : सव्वदुक्खप्पहीणट्ठानाम सव्वेसिं सारीरमाणसाणं दुक्खाणं पहाणाय, खमणनिमित्तति वुत्तं भवइ।

(ग) हा० टी० प० ११६ : 'सर्वदुःखप्रक्षयार्थं' शारीरमानसाशेषदुःखप्रक्षयनिमित्तम्।

२—उत्त० १९.१५ : जम्मं दुक्खं जरा दुक्खं, रोगाणि मरणाणि य।
अहो दुक्खो हु संसारो. जत्थ कीसन्ति जन्तवो॥

३—उत्त० २३.८०-८४ :

सारीरमाणसे दुक्खे, वज्झमाणाण पाणिणं।
खेमं सिवमणावाहं, ठाणं किं मन्नसी ? मुणी॥
अत्थि एगं धुवं ठाणं, लोगग्गंमि दुरारुहं।
जत्थ नत्थि जरा मच्चू, वाहिणो वेयणा तहा॥
ठाणे य इह के वुत्ते ? केसी गोयममब्बवी।
केसिमेवं बुवंतं तु, गोयमो इणमब्बवी॥
निव्वाणं ति अबाहं ति, सिद्धी लोगग्गमेव य।
खेमं सिवं अणाबाहं, जं चरन्ति महेसिणो॥
तं ठाणं सासयं वासं, लोगग्गंमि दुरारुहं।
जं संपत्ता न सोयन्ति, भवोहन्तकरा मुणी॥

४—उत्त० ३२.७ : कम्मं च जाइमरणस्स मूलं, दुक्खं च जाईमरणं वयन्ति।

५—अ० चू० पृ० ६४ : 'ते वदंति सिवं गतिं'····· केसिचि "सिवं गति वदंतो" ति एतेण फलोवदरिसणोवसंहारेण परिसमत्तमिमज्झतणं, इति बेमि त्ति सद्दो जं पुव्वभणितं, तेसिं वृत्तिगतमिदमुक्कित्तणं सिलोकदुयं। केसिचि सूत्रम्, जेसिं सूत्रं, ते पढंति सव्वदुक्खपहीणट्ठा पक्कमंति महेसिणो।

६—हा० टी० प० ११६ : दुष्कराणिकृत्वौद्देशिकादित्यागादीनि।

७—उत्त० १९.२४-४२।

श्लोक १४ :

६२. दुःसह (दुस्सहाइं[ग]) :

आतापना, आक्रोश, तर्जना, ताड़ना आदि दुःसह हैं[1]। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है : "जहां अनेक दुःसह परीषह प्राप्त होते हैं, वहां बहुत सारे कायर लोग खिन्न हो जाते हैं। किन्तु भिक्षु उन्हें प्राप्त होकर व्यथित न बने—जैसे संग्राम शीर्ष (मोर्चे) पर नागराज व्यथित नहीं होता।··· मुनि शान्त भाव से उन्हें सहन करे, पूर्वकृत रजों (कर्मों) को क्षीण करे[2]।"

६३. नीरज (नीरया[घ]) :

सांसारिक प्राणी की आत्मा में कर्म-पुद्गलों की रज कुप्पी में काजल की तरह भरी हुई होती है। उसे सम्पूर्ण बाहर निकाल—कर्म-रहित हो अर्थात् अष्टविध कर्मों का ऐकान्तिक—आत्यन्तिक नाश कर[3]। 'सेइ सिज्झन्ति नीरया' की तुलना उत्तराध्ययन के (१८.५३ के चौथे चरण) 'सिद्धे हवइ नीरए' के साथ होती है।

श्लोक १५ :

६४. संयम और तप द्वारा···कर्मों का क्षय कर (खवित्ता पुव्वकम्माइं, संजमेण तवेण य[क-ख]) :

जो इसी भव में मोक्ष नहीं पाते वे देवलोक में उत्पन्न होते हैं। वहां से पुनः मनुष्य-भव में उत्पन्न होते हैं। मनुष्य भव में वे संयम और तप द्वारा कर्मों का क्षय करते हैं।

कर्मक्षय के दो तरीके हैं—एक नये कर्मों का प्रवेश न होने देना, दूसरा संचित कर्मों का क्षय करना। संयम संवर है। वह नये कर्मों के प्रवेश को—आस्रव को रोक देता है। तप पुराने कर्मों को झाड़ देता है। वह निर्जरा है।

"जिस प्रकार कोई बड़ा तालाब जल आने के मार्ग का निरोध करने से, जल को उलीचने से, सूर्य के ताप से क्रमशः सूख जाता है उसी प्रकार संयमी पुरुष के पापकर्म आने के मार्ग का निरोध होने से करोड़ों भवों के संचित कर्म तपस्या के द्वारा निर्जीर्ण हो जाते हैं[4]।"

इस तरह संयम और तप आत्म-शुद्धि के दो मार्ग हैं। संयम और तप के साधनों से धर्माराधना करने का उल्लेख अन्यत्र भी है[5]। भावार्थ है—मनुष्य-भव प्राप्त कर संयम और तप के द्वारा क्रमिक विकास करता हुआ मनुष्य पूर्व कर्मों का क्रमशः क्षय करता हुआ उत्तरोत्तर सिद्धि-मार्ग को प्राप्त करता है[6]।

६५. सिद्धि-मार्ग को प्राप्त कर (सिद्धिमग्गमणुप्पत्ता[ग]) :

अर्थात्—ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप रूपी सिद्धि-मार्ग को प्राप्त कर[7]—उसकी साधना करते हुए।

१—(क) अ० चू० पृ० ६४ : 'आतावयंति गिम्हासु' एवमादीणि दुस्सहाणि [सहेत्तु य]।
(ख) जि० चू० पृ० ११७ : आतापनाक्कोसणतज्जणाताडणादिसहणादीनि, दुस्सहाइं सहिउं।
(ग) हा० टी० प० ११६ : दुःसहानि सहित्वाऽऽतापनादीनि।

२—उत्त० २१.१७-१८ : परीसहा दुव्विसहा अणेगे, सीयन्ति जत्था बहुकायरा नरा।
से तत्थ पत्ते न वहिज्ज भिक्खू, संगामसीसे इव नागराया॥
.. .. ।
अणुव्वुओ तत्थऽहियासएज्जा, रयाइं खेवेज्ज पुरेकडाइं॥

३—(क) जि० चू० पृ० ११७ : नीरया नाम अट्ठकम्मपगडीविमुक्का भण्णंति।
(ख) हा० टी० प० ११६ : 'नीरजस्का' इति अष्टविधकर्मविप्रमुक्ता:, न तु एकेन्द्रिया इव कर्मयुक्ताः।

४—उत्त० ३०.५-६ : जहा महातलायस्स, सन्निरुद्धे जलागमे। उस्सिचणाए तवणाए, कमेण सोसणा भवे॥
एवं तु संजयस्सावि, पावकम्मनिरासवे। भवकोडीसंचियं कम्मं, तवसा निज्जरिज्जइ॥

५—उत्त० १६.७७; २५.४५; २८.३६।

६—जि० चू० पृ० ११७ : सिद्धिमग्गमणुपत्ता नाम जहा ते तवनियमेहिं कम्मखवणट्ठमब्भुज्जुत्ता अओ ते सिद्धिमग्गमणुपत्ता भण्णंति।

७—(क) अ० चू० पृ० ६४ : सिद्धिमग्गं दरिसण-नाण-चरित्तमत्तं अणुप्पत्ता।
(ख) हा० टी० प० ११६ : 'सिद्धिमार्गं' सम्यग्दर्शनादिलक्षणमनुप्राप्ताः।

केशी ने गौतम से पूछा : "लोक में कुमार्ग बहुत हैं, जिन पर चलने वाले लोग भटक जाते हैं। गौतम ! मार्ग में चलते हुए तुम कैसे नहीं भटकते ?"··· गौतम ने कहा—'मुझे मार्ग और उन्मार्ग—दोनों का ज्ञान है।······जो कुप्रवचन के व्रती हैं, वे सब उन्मार्ग की ओर चले जा रहे हैं। जो राग-द्वेष को जीतने वाले जिन ने कहा है, वह सन्मार्ग है, क्योंकि यह सबसे उत्तम मार्ग है[1]। मैं इसी पर चलता हूं।"

उत्तराध्ययन में 'मोक्खमग्गगई'—मोक्षमार्गगति नामक २८ वाँ अध्याय है। वहाँ जिनाख्यात मोक्षमार्ग—सिद्धिमार्ग को चार कारणों से संयुक्त और ज्ञानदर्शन लक्षणवाला कहा है[2]। वहाँ कहा है : "ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप—यह मोक्ष-मार्ग है, ऐसा वरदर्शी अर्हतों ने प्ररूपित किया।···ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप —इस मार्ग को प्राप्त करने वाले जीव सुगति में जाते हैं।···अदर्शनी (असम्यक्त्वी) के ज्ञान (सम्यग् ज्ञान) नहीं होता, ज्ञान के बिना चारित्र-गुण नहीं होते। अगुणी व्यक्ति की मुक्ति नहीं होती। अमुक्त का निर्वाण नहीं होता।·· जीव ज्ञान से पदार्थों को जानता है, दर्शन से श्रद्धा करता है, चारित्र से निग्रह करता है और तप से शुद्ध होता है[3]।"

६६. परिनिर्वृत (परिनिव्वुडा [घ]) :

'परिनिर्वृत' का अर्थ है—जन्म, जरा, मरण, रोग आदि से सर्वथा मुक्त[4]; भववारण करने में सहायभूत घाति-कर्मों का सर्व प्रकार से क्षय कर जन्मादि से रहित होना[5]। हरिभद्र सूरि ने मूल पाठ की टीका 'परिनिर्वान्ति' की है और 'परिनिव्वुड' को पाठान्तर माना है। 'परिनिर्वान्ति' का अर्थ सब प्रकार से सिद्धि को प्राप्त होते हैं—किया है[6]।

श्लोक १४ व १५ में मुक्ति के क्रम की एक निश्चित प्रक्रिया का उल्लेख है। दुष्कर को करते हुए और दुःसह को सहते हुए श्रमण वर्तमान जन्म में ही यदि सब कर्मों का क्षय कर देता है तब तो वह उसी भव में सिद्धि को प्राप्त कर लेता है। यदि सब कर्मों का क्षय नहीं कर पाता तो देवलोक में उत्पन्न होता है। वहाँ से च्यवकर वह पुनः मनुष्य-जन्म प्राप्त करता है। सुकुल को प्राप्त करता है। धर्म के साधन उसे सुलभ होते हैं। जिन-प्ररूपित धर्म को पुनः पाता है। इस तरह संयम और तप से कर्मों का क्षय करता हुआ वह सम्पूर्ण सिद्धि-मार्ग—ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप—को प्राप्त हो अवशेष कर्मों का क्षय कर जरा-मरण-रोग आदि सर्व प्रकार

१—उत्त० २३.६०-६३ : कुप्पहा बहवो लोए, जेहिं नासन्ति जंतवो।
अद्धाणे कह वट्टन्ते, तं न नस्ससि गोयमा! ॥
कुप्पवयणपासण्डी, सव्वे उम्मग्गपट्ठिया।
सम्मग्गं तु जिणक्खायं, एस मग्गे हि उत्तमे ॥

२—उत्त० २८.१ : मोक्खमग्गगइं तच्चं, सुणेह जिणभासियं।
चउकारणसंजुत्तं, नाणदंसणलक्खणं ॥

३—उत्त०२८.२,३,३०,३५ : नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा।
एस मग्गो ति पन्नत्तो, जिणेहिं वरदंसिहिं ॥
नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा ॥
एयंमग्गमणुप्पत्ता, जीवा गच्छन्ति सोग्गइं ॥
नादंसणिस्स नाणं, नाणेण विणा न हुन्ति चरणगुणा।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो, नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं ॥
नाणेण जाणई भावे, दंसणेण य सद्दहे।
चरित्तेण निगिण्हाइ, तवेण परिसुज्झई ॥

४—जि० चू० पृ० ११७ : परिनिव्वुडा नाम जाइजरामरणरोगादीहिं सव्वप्पगारेणवि विप्पमुक्कत्ति वुत्तं भवइ।

५—अ० चू० पृ० ६४ : परिनिव्वुता समंता णिव्वुता सव्वप्पकारं घाति-भववारणकम्मपरिक्खते।

६—हा० टी० प० ११६ : 'परिनिर्वान्ति' सर्वथा सिद्धिं प्राप्नुवन्ति, अन्ये तु पठन्ति 'परिनिव्वुड' त्ति, तत्रापि प्राकृतशैल्या छान्दसत्वाच्चायमेव पाठो ज्यायान्।

की उपाधियों से रहित हो मुक्त होता है। जघन्यतः एक भव में और उत्कृष्टतः सात-आठ भव ग्रहण कर मुक्त होता है[1]। इस क्रम का उल्लेख आगमों में अनेक स्थलों पर हुआ है[2]।

इस अध्ययन के श्लोक १४ और १५ की तुलना उत्तराध्ययन के निम्नलिखित श्लोकों से होती है :

खवेत्ता पुव्वकम्माइं, संजमेण तवेण य ।
सव्वदुक्खपहीणट्ठा, पक्कमन्ति महेसिणो[3] ॥
खवित्ता पुव्वकम्माइं, संजमेण तवेण य ।
जयघोसविजयघोसा, सिद्धिं पत्ता अणुत्तरं[4] ॥

१—(क) अ० चू० पृ० ६४ : कदाति अणंतरे उक्कोसेण सत्त-ट्ठभवग्गहणेसु सुकुलपच्चायाता बोधिमुवलभित्ता ।
(ख) जि० चू० पृ० ११७ : केइ पुण तेण भवग्गहणेण सिज्झंति, तत्थ जे तेणेव भवग्गहणेण न सिज्झंति ते वेमाणिएसु उववज्जंति, ततोवि य चइऊणं पच्चायंतकाले पुव्ववयसावसेसेणं सुकुलेसु पच्चायंति, तओ पुणोवि जिणपण्णत्तं धम्मं पडिवज्जिऊण जहण्णेण एगेण भवग्गहणेण उक्कोसेण सत्तहिं भवग्गहणेहिं ''जाणि तेसिं तत्थ सावसेसाणि कम्माणि ताणि संजमतवेहिं खविऊण जहा ते तवनियमेहिं कम्मलवणट्ठमुज्जुत्ता अओ ते सिद्धिमग्गमणुपत्ता' आइजरामरण-रोगाईहिं सव्वप्पगारेणवि विप्पमुक्कंति ।
(ग) हा० टी० प० ११९ ।
२—उत्त० ३.१४-२० ।
३—वही, २८.३६ ।
४—वही, २५.४३ ।

केशी ने गौतम से पूछा : "लोक में कुमार्ग बहुत हैं, जिन पर चलने वाले लोग भटक जाते हैं। गौतम ! मार्ग में चलते हुए तुम कैसे नहीं भटकते ?···· गौतम ने कहा—'मुझे मार्ग और उन्मार्ग—दोनों का ज्ञान है।······जो कुप्रवचन के व्रती हैं, वे सब उन्मार्ग की ओर चले जा रहे हैं। जो राग-द्वेष को जीतने वाले जिन ने कहा है, वह सन्मार्ग है, क्योंकि यह सबसे उत्तम मार्ग है[1]। मैं इसी पर चलता हूं।"

उत्तराध्ययन में 'मोक्खमग्गगई'—मोक्षमार्गगति नामक २८ वाँ अध्याय है। वहाँ जिनाख्यात मोक्षमार्ग—सिद्धिमार्ग को चार कारणों से संयुक्त और ज्ञानदर्शन लक्षणवाला कहा है[2]। वहाँ कहा है : "ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप—यह मोक्ष-मार्ग है, ऐसा वरदर्शी अर्हतों ने प्ररूपित किया।···ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप—इस मार्ग को प्राप्त करने वाले जीव सुगति में जाते हैं।··· अदर्शनी (असम्यक्त्वी) के ज्ञान (सम्यग् ज्ञान) नहीं होता, ज्ञान के बिना चारित्र-गुण नहीं होते। अगुणी व्यक्ति की मुक्ति नहीं होती। अमुक्त का निर्वाण नहीं होता।·· जीव ज्ञान से पदार्थों को जानता है, दर्शन से श्रद्धा करता है, चारित्र से निग्रह करता है और तप से शुद्ध होता है[3]।"

६६. परिनिर्वृत (परिनिव्वुडा घ) :

'परिनिर्वृत' का अर्थ है—जन्म, जरा, मरण, रोग आदि से सर्वथा मुक्त[4]; भवधारण करने में सहायभूत घाति-कर्मों का सर्व प्रकार से क्षय कर जन्मादि से रहित होना[5]। हरिभद्र सूरि ने मूल पाठ की टीका 'परिनिर्वान्ति' की है और 'परिनिव्वुड' को पाठान्तर माना है। 'परिनिर्वान्ति' का अर्थ सब प्रकार से सिद्धि को प्राप्त होते हैं—किया है[6]।

श्लोक १४ व १५ में मुक्ति के क्रम की एक निश्चित प्रक्रिया का उल्लेख है। दुष्कर को करते हुए और दुःसह को सहते हुए श्रमण वर्तमान जन्म में ही यदि सब कर्मों का क्षय कर देता है तब तो वह उसी भव में सिद्धि को प्राप्त कर लेता है। यदि सब कर्मों का क्षय नहीं कर पाता तो देवलोक में उत्पन्न होता है। वहाँ से च्यवकर वह पुनः मनुष्य-जन्म प्राप्त करता है। सुकुल को प्राप्त करता है। धर्म के साधन उसे सुलभ होते हैं। जिन-प्ररूपित धर्म को पुनः पाता है। इस तरह संयम और तप से कर्मों का क्षय करता हुआ वह सम्पूर्ण सिद्धि-मार्ग—ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप—को प्राप्त हो अवशेष कर्मों का क्षय कर जरा-मरण-रोग आदि सर्व प्रकार

१—उत्त० २३.६०-६३ : कुप्पहा बहवो लोए, जेहिं नासन्ति जंतवो।
अद्धाणे कह वट्टन्ते, तं न नस्ससि गोयमा! ॥
कुप्पवयणपासण्डी, सव्वे उम्मग्गपट्ठिया।
सम्मग्गं तु जिणक्खायं, एस मग्गे हि उत्तमे ॥

२—उत्त० २८.१ : मोक्खमग्गगइं तच्चं, सुणेह जिणभासियं।
चउकारणसंजुत्तं, नाणदंसणलक्खणं ॥

३—उत्त०२८.२,३,३०,३५ : नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा।
एस मग्गो ति पन्नत्तो, जिणेहिं वरदंसिहिं ॥
नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा ॥
एयंमग्गमणुप्पत्ता, जीवा गच्छन्ति सोग्गइं ॥
नादंसणिस्स नाणं, नाणेण विणा न हुन्ति चरणगुणा।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो, नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं ॥
नाणेण जाणई भावे, दंसणेण य सद्दहे।
चरित्तेण निगिण्हाइ, तवेण परिसुज्झई ॥

४—जि० चू० पृ० ११७ : परिनिव्वुडा नाम जाइजरामरणरोगादीहिं सव्वप्पगारेणवि विप्पमुक्कत्ति वुत्तं भवइ।

५—अ० चू० पृ० ६४ : परिणिव्वुता समंता णिव्वुता सव्वप्पकारं घाति-भवधारणकम्मपरिक्खते।

६—हा० टी० प० ११६ : 'परिनिर्वान्ति' सर्वथा सिद्धिं प्राप्नुवन्ति, अन्ये तु पठन्ति 'परिनिव्वुड' त्ति, तत्रापि प्राकृतशैल्या छान्दसत्वाच्चायमेव पाठो ज्यायान्।

की उपाधियों से रहित हो मुक्त होता है। जघन्यतः एक भव में और उत्कृष्टतः सात-आठ भव ग्रहण कर मुक्त होता है[1]। इस क्रम का उल्लेख आगमों में अनेक स्थलों पर हुआ है[2]।

इस अध्ययन के श्लोक १४ और १५ की तुलना उत्तराध्ययन के निम्नलिखित श्लोकों से होती है :

खवेत्ता पुव्वकम्माइं, संजमेण तवेण य ।
सव्वदुक्खपहीणट्ठा, पक्कमन्ति महेसिणो[3] ॥
खवित्ता पुव्वकम्माइं, संजमेण तवेण य ।
जयघोसविजयघोसा, सिद्धिं पत्ता अणुत्तरं[4] ॥

१—(क) अ० चू० पृ० ६४ : जदाति अणंतरे उक्कोसेण सत्त-ट्ठभवग्गहणेसु सुकुलपच्चायाता बोधिमुवलभित्ता ।
(ख) जि० चू० पृ० ११७ : केइ पुण तेण भवग्गहणेण सिज्झंति, तत्थ जे तेणेव भवग्गहणेण न सिज्झति ते वेमाणिएसु उववज्जंति, ततोवि य चइऊणं धम्मचरणकाले पुव्वकयसावसेसेणं सुकुलेसु पच्चायंति, तओ पुणोवि जिणपण्णत्तं धम्मं पडिवज्जिऊण जहण्णेण एगेण भवग्गहणेणं उक्कोसेणं सत्तहिं भवग्गहणेहिं "जाणि तेसिं तत्थ सावसेसाणि कम्माणि ताणि संजमतवेहिं खविऊणं जहा ते तवनियमेहिं कम्मक्खवणट्ठमुज्जुत्ता अओ ते सिद्धिमग्गमणुपत्ता जाइजरामरण-रोगादीहिं सव्वप्पगारेणवि विप्पमुच्चंति ।
(ग) हा० टी० प० ११९ ।
२—उत्त० ३.१४-२० ।
३—वही, २८.३६ ।
४—वही, २५.४३ ।

चउत्थं अज्झयणं
छज्जीवणिया

चतुर्थ अध्ययन
षड्जीवनिका

आमुख

श्रामण्य का आधार है आचार। आचार का अर्थ है अहिंसा। अहिंसा अर्थात् सभी जीवों के प्रति संयम —

> अहिंसा निउणं दिट्ठा, सव्व जीवेसु संजमो॥ (दश० ६।८)

जो जीव को नहीं जानता, अजीव को नहीं जानता, जीव और अजीव दोनों को नहीं जानता, वह संयम को कैसे जानेगा?

> जो जीवे वि न याणाइ, अजीवे वि न याणई।
> जीवाजीवे अयाणंतो, कहं सो नाहिइ संजमं॥ (दश० ४।१२)

संयम का स्वरूप जानने के लिए जीव-अजीव का ज्ञान आवश्यक है। इसलिए आचार-निरूपण के पश्चात् जीव-निकाय का निरूपण क्रम-प्राप्त है।

इस अध्ययन में अजीव का साक्षात् वर्णन नहीं है। इस अध्ययन के नाम "छज्जीवणिया"- में जीव-निकाय के निरूपण की ही प्रधानता है, किन्तु अजीव को न जानने वाला संयम को नहीं जानता (दश० ४।१२) और निर्युक्तिकार के अनुसार इसका पहला अधिकार है जीवाजीवाभिगम (दश० नि० ४।२१६) इसलिए अजीव का प्रतिपादन अपेक्षित है। अहिंसा या संयम के प्रकरण में अजीव के जिस प्रकार को जानना आवश्यक है वह है पुद्गल।

पुद्गल-जगत् सूक्ष्म भी है और स्थूल भी। हमारा अधिक सम्बन्ध स्थूल पुद्गल-जगत् से है। हमारा दृश्य और उपभोग्य संसार स्थूल पुद्गल-जगत् है। वह या तो जीवच्छरीर है या जीव-मुक्त शरीर। पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस (चर) — ये जीवों के शरीर हैं। जीवच्युत होने पर ये जीव-मुक्त शरीर बन जाते हैं।

"अन्नत्थ सत्थपरिणएणं" इस वाक्य के द्वारा इन दोनों दशाओं का दिशा-निर्देश किया गया है। शस्त्र-परिणति या मारक वस्तु के संयोग से पूर्व ये पृथ्वी, पानी आदि पदार्थ सजीव होते हैं और उनके संयोग से जीवच्युत हो जाते हैं — निर्जीव बन जाते हैं। तात्पर्य की भाषा में पृथ्वी, पानी आदि की शस्त्र-परिणति की पूर्ववर्ती दशा सजीव है और उत्तरवर्ती दशा अजीव। इस प्रकार उक्त वाक्य इन दोनों दशाओं का निर्देश करता है। इसलिए जीव और अजीव दोनों का अभिगम स्वतः फलित हो जाता है।

पहले ज्ञान होता है फिर अहिंसा—"पढमं नाणं तओ दया" (दश० ४।१०)। ज्ञान के विकास के साथ-साथ अहिंसा का विकास होता है। अहिंसा साधन है। साध्य के पहले चरण से उसका प्रारम्भ होता है और उसका पूरा विकास होता है साध्य-सिद्धि के अन्तिम चरण में। जीव और अजीव का अभिगम अहिंसा का आधार है और उसका फल है मुक्ति। इन दोनों के बीच में होता है उनका साधना-क्रम। इस विषय-वस्तु के आधार पर निर्युक्तिकार ने प्रस्तुत अध्ययन को पाँच (अजीवाभिगम को पृथक् माना जाए तो छह) अधिकारों—प्रकरणों में विभक्त किया है—

> जीवाजीवाहिगमो, चरित्तधम्मो तहेव जयणा य।
> उवएसो धम्मफलं, छज्जीवणियाइ अहिगारा॥ (दश० नि० ४।२१६)

नवें सूत्र तक जीव और अजीव का अभिगम है। दसवें से सत्रहवें सूत्र तक चारित्र-धर्म के स्वीकार की पद्धति का निरूपण है। अठारहवें से तेईसवें सूत्र तक यतना का वर्णन है। पहले से ग्यारहवें श्लोक तक बन्ध और अबन्ध की प्रक्रिया का उपदेश है। बारहवें श्लोक से पच्चीसवें श्लोक तक धर्म-फल की चर्चा है। मुक्ति का अधिकारी साधक ही होता है असाधक नहीं, इसलिए वह मुक्ति-मार्ग की आराधना करे, विराधना से बचे,—इस उपसंहारात्मक वाणी के साथ-साथ अध्ययन

समाप्त हो जाता है। जीवाजीवाभिगम, आचार, धर्म-प्रज्ञप्ति, चरित्र-धर्म, चरण और धर्म—ये छहों 'षड्जीवनिका' के पर्यायवाची शब्द हैं :—

जीवाजीवाभिगमो, आयारो चेव धम्मपन्नत्ती।
तत्तो चरित्तधम्मो, चरणे धम्मे अ एगट्ठा॥ (दश० नि० ४.२३३)

मुक्ति का आरोह-क्रम जानने की दृष्टि से यह अध्ययन बहुत उपयोगी है। निर्युक्तिकार के मतानुसार यह आत्म-प्रवाद (सातवें) पूर्व से उद्धृत किया गया है—

आयप्पवायपुव्वा निव्वूढा होइ धम्मपन्नत्ती॥ (दश० नि० १.१६)

छज्जीवणिया : षड्जीवनिका

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१—सुयं मे आउसं ! तेणं भगवया एवमक्खायं—इह खलु छज्जीवणिया नामज्झयणं समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइया सुयक्खाया सुपन्नत्ता। सेयं मे अहिज्जिउं अज्झयणं धम्मपन्नत्ती।	श्रुतं मया आयुष्मन्! तेन भगवता एवमाख्यातम्—इह खलु षड्जीवनिका नामाध्ययनं श्रमणेन भगवता महावीरेण काश्यपेन प्रवेदिता स्वाख्याता सुप्रज्ञप्ता। श्रेयो मेऽध्येतुमध्ययनं धर्मप्रज्ञप्तिः ॥१॥	१—आयुष्मान्[1]! मैंने सुना है उन भगवान् ने[2] इस प्रकार कहा—निर्ग्रन्थ-प्रवचन में निश्चय ही षड्जीवनिका नामक अध्ययन काश्यप-गोत्री[3] श्रमण भगवान् महावीर द्वारा[4] प्रवेदित[5] सु-आख्यात[6] और सु-प्रज्ञप्त[7] है। इस धर्म-प्रज्ञप्ति अध्ययन[8] का पठन[9] मेरे लिए[10] श्रेय है।
२—कयरा खलु सा छज्जीवणिया नामज्झयणं समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइया सुयक्खाया सुपन्नत्ता। सेयं मे अहिज्जिउं अज्झयणं धम्मपन्नत्ती।	कतरा खलु सा षड्जीवनिका नामाध्ययनं श्रमणेन भगवता महावीरेण काश्यपेन प्रवेदिता स्वाख्याता सुप्रज्ञप्ता। श्रेयो मेऽध्येतुमध्ययनं धर्मप्रज्ञप्तिः ॥२॥	२—वह षड्जीवनिका नामक अध्ययन कौन-सा है जो काश्यप-गोत्री श्रमण भगवान् महावीर द्वारा प्रवेदित, सु-आख्यात और सु-प्रज्ञप्त है, जिस धर्म-प्रज्ञप्ति अध्ययन का पठन मेरे लिए श्रेय है ?
३—इमा खलु सा छज्जीवणिया नामज्झयणं समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइया सुयक्खाया सुपन्नत्ता। सेयं मे अहिज्जिउं अज्झयणं धम्मपन्नत्ती। तं जहा—पुढविकाइया आउकाइया तेउकाइया वाउकाइया वणस्सइकाइया तसकाइया।	इयं खलु सा षड्जीवनिका नामाध्ययनं श्रमणेन भगवता महावीरेण काश्यपेन प्रवेदिता स्वाख्याता सुप्रज्ञप्ता। श्रेयो मेऽध्येतुमध्ययनं धर्मप्रज्ञप्तिः। तद्यथा—पृथिवीकायिकाः अप्कायिकाः तेजस्कायिकाः वायुकायिकाः वनस्पतिकायिकाः त्रसकायिकाः ॥३॥	३—वह षड्जीवनिका नामक अध्ययन—जो काश्यप-गोत्री श्रमण भगवान् महावीर द्वारा प्रवेदित, सु-आख्यात और सु-प्रज्ञप्त है, जिस धर्म-प्रज्ञप्ति अध्ययन का पठन मेरे लिए श्रेय है यह है जैसे—पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक और त्रसकायिक[11]।
४—पुढवी चित्तमंतमक्खाया अणेगजीवा पुढोसत्ता अन्नत्थ सत्थपरिणएणं।	पृथिवी चित्तवती आख्याता अनेकजीवा पृथक्सत्त्वा अन्यत्र शस्त्रपरिणतायाः ॥४॥	४—शस्त्र[12]-परिणति से पूर्व[13] पृथ्वी चित्तवती[14] (सजीव) कही गई है। वह अनेक जीव और पृथक् सत्त्वों (प्रत्येक जीव के स्वतन्त्र अस्तित्व) वाली[15] है।

५—आऊ चित्तमंतमक्खाया अणेगजीवा पुढोसत्ता अन्नत्थ सत्थ-परिणएणं ।

आपश्चित्तवत्यः आख्याता अनेक-जीवाः पृथक्सत्त्वा अन्यत्र शस्त्र-परिणताभ्यः ॥५॥

५—शस्त्र-परिणति से पूर्व अप् चित्त-वान (सजीव) कहा गया है। वह अनेक जीव और पृथक् सत्त्वों (प्रत्येक जीव के स्वतन्त्र अस्तित्व) वाला है।

६—तेऊ चित्तमंतमक्खाया अणेगजीवा पुढोसत्ता अन्नत्थ सत्थ-परिणएणं ।

तेजश्चित्तवत् आख्यातं अनेक-जीवम् पृथक्सत्त्वम् अन्यत्र शस्त्र-परिणतात् ॥६॥

६—शस्त्र-परिणति से पूर्व तेजस् चित्त-वान् (सजीव) कहा गया है। वह अनेक जीव और पृथक् सत्त्वों (प्रत्येक जीव के स्वतन्त्र अस्तित्व) वाला है।

७—वाऊ चित्तमंतमक्खाया अणेगजीवा पुढोसत्ता अन्नत्थ सत्थ-परिणएणं ।

वायुश्चित्तवान् आख्यातः अनेक-जीवः पृथक्सत्त्वः अन्यत्र शस्त्र-परिणतात् ॥७॥

७—शस्त्र-परिणति से पूर्व वायु चित्त-वान् (सजीव) कहा गया है। वह अनेक जीव और पृथक् सत्त्वों (प्रत्येक जीव के स्वतन्त्र अस्तित्व) वाला है।

८—वणस्सई चित्तमंतमक्खाया अणेगजीवा पुढोसत्ता अन्नत्थ सत्थपरिणएणं, तं जहा—अग्गबीया मूलबीया पोरबीया खंधबीया बीयरुहा सम्मुच्छिमा तणलया ।

वनस्पतिश्चित्तवान् आख्यातः अनेकजीवः पृथक्सत्त्वः अन्यत्र शस्त्र-परिणतात् तद्यथा—अग्रबीजाः मूल-बीजाः पर्वबीजाः स्कन्धबीजाः बीज-रुहा सम्मूर्च्छिमाः तृणलताः ।

८—शस्त्र-परिणति से पूर्व वनस्पति चित्तवती (सजीव) कही गई है। वह अनेक जीव और पृथक् सत्त्वों (प्रत्येक जीव के स्वतन्त्र अस्तित्व) वाली है। उसके प्रकार ये हैं—अग्र-बीज[16], मूल-बीज, पर्व-बीज, स्कन्ध-बीज, बीज-रुह, सम्मूर्छिम[17], तृण और लता[18]।

वणस्सइकाइया सबीया चित्तमंत-मक्खाया अणेगजीवा पुढोसत्ता अन्नत्थ सत्थपरिणएणं ।

वनस्पतिकायिकाः सबीजाः चित्तवन्त आख्याताः अनेकजीवाः पृथक्सत्त्वाः अन्यत्र शस्त्रपरिणतेभ्यः ॥८॥

शस्त्र-परिणति से पूर्व बीजपर्यन्त[20] (मूल से लेकर बीज तक) वनस्पति-कायिक चित्त-वान् कहे गये हैं। वे अनेक जीव और पृथक् सत्त्वों (प्रत्येक जीव के स्वतन्त्र अस्तित्व) वाले हैं।

९—से जे पुण इमे अणेगे बहवे तसा पाणा तं जहा—अंडया पोयया जराउया रसया संसेइमा सम्मुच्छिमा उब्भिया उववाइया ।

अथ ये पुनरिमे अनेके बहवः त्रसाः प्राणिनः तद्यथा—अण्डजाः पोतजाः जरायुजाः रसजाः संस्वेदजाः सम्मूर्च्छिमाः उद्भिदः औपपातिकाः ।

९—और ये जो अनेक बहुत त्रस प्राणी हैं,[21] जैसे—अण्डज,[22] पोतज,[23] जरायुज,[24] रसज,[25] संस्वेदज,[26] सम्मूर्च्छनज,[27] उद्भिज,[28] औपपातिक[29] वे छठे जीव-निकाय में आते हैं।

जेसिं केसिंचि पाणाणं अभिक्कंतं पडिक्कंतं संकुचियं पसारियं रुयं भंतं तसियं पलाइयं आगइगइविन्नाया—

येषां केषाञ्चित् प्राणिनाम् अभिक्रान्तम् प्रतिक्रान्तम् संकुचितम् प्रसारितम् रुतम् भ्रान्तम् त्रस्तम् पलायितम्, आगतिगति-विज्ञातारः

जिन किन्हीं प्राणियों में सामने जाना, पीछे हटना, संकुचित होना, फैलना, शब्द करना, इधर-उधर जाना, भयभीत होना, दौड़ना—ये क्रियाएँ हैं और जो आगति एवं गति के विज्ञाता हैं वे त्रस हैं।

छज्जीवणिया (षड्जीवनिका)

जे य कीडपयंगा,
जा य कुंथुपिवीलिया,
सव्वे बेइंदिया सव्वे तेइंदिया
सव्वे चउरिंदिया सव्वे पंचिंदिया
सव्वे तिरिक्खजोणिया सव्वे नेरइया
सव्वे मणुया सव्वे देवा सव्वे पाणा
परमाहम्मिया—

एसो खलु छट्ठो जीवनिकाओ
तसकाओ त्ति पवुच्चई ।

ये च कीटपतङ्गाः,
याश्च कुन्थुपिपीलिकाः,
सर्वे द्वीन्द्रियाः सर्वे त्रीन्द्रियाः सर्वे चतुरि-
न्द्रियाः सर्वे पञ्चेन्द्रियाः सर्वे तिर्यग्योनिकाः
सर्वे नैरयिकाः सर्वे मनुजाः सर्वे देवाः सर्वे
प्राणाः परम-धार्मिकाः

एष खलु षष्ठो जीवनिकायस्त्रसकाय
इति प्रोच्यते ॥९॥

जो कीट, पतंग, कुंथु, पिपीलिका सब दो इन्द्रिय वाले जीव, सब तीन इन्द्रिय वाले जीव, सब चार इन्द्रिय वाले जीव, सब पाँच इन्द्रिय वाले जीव, सब तिर्यग् योनिक, सब नैरयिक, सब मनुष्य, सब देव और सब प्राणी सुख के इच्छुक हैं[30] —

यह छठा जीवनिकाय त्रसकाय कहलाता है ।

१०—इच्चेसिं छण्हं जीवनिकायाणं नेव सयं दंडं समारंभेज्जा नेवन्नेहिं दंडं समारंभावेज्जा दंडं समारंभंते वि अन्ने न समणुजाणेज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि ।

तस्स भंते पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि ।

इत्येषां षण्णां जीवनिकायानां नैव स्वयं दण्डं समारभेत, नैवान्यैर्दण्डं समारम्भयेत्, दण्डं समारभमाणानप्यन्यान् न समनुजानीयात् यावज्जीवं त्रिविधं त्रिविधेन मनसा वाचा कायेन न करोमि न कारयामि कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि ।

तस्य भदन्त ! प्रतिक्रामामि निन्दामि गर्हे आत्मानं व्युत्सृजामि ॥१०॥

१०—इन[31] छह जीव-निकायों के प्रति स्वयं दण्ड समारम्भ[32] नहीं करना चाहिए, दूसरों से दण्ड-समारम्भ नहीं कराना चाहिए और दण्ड-समारम्भ करनेवालों का अनुमोदन नहीं करना चाहिए । यावज्जीवन के लिए[33] तीन करण तीन योग से[34]—मन से, वचन से, काया से[35]—न करूँगा, न कराऊँगा और करने वाले का अनुमोदन भी नहीं करूँगा ।

भंते[36] ! मैं अतीत में किए[37] दण्ड-समारम्भ से निवृत्त होता हूँ,[38] उसकी निंदा करता हूँ, गर्हा करता हूँ[39] और आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूँ[40] ।

११—पढमे भंते ! महव्वए पाणाइवायाओ वेरमणं ।

सव्वं भंते ! पाणाइवायं पच्चक्खामि—से सुहुमं वा बायरं वा तसं वा थावरं वा, नेव सयं पाणे अइवाएज्जा नेवन्नेहिं पाणे अइवायावेज्जा पाणे अइवायंते वि अन्ने न समणुजाणेज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि ।

तस्स भंते! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि ।

पढमे भंते ! महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमणं ।

प्रथमे भदन्त ! महाव्रते प्राणातिपाताद्विरमणम् ।

सर्वं भदन्त ! प्राणातिपातं प्रत्याख्यामि—अथ सूक्ष्मं वा बादरं वा त्रसं वा स्थावरं वा नैव स्वयं प्राणानतिपातयामि नैवान्यैः प्राणानतिपातयामि प्राणानतिपातयतोऽप्यन्यान्न समनुजानामि यावज्जीवं त्रिविधं त्रिविधेन मनसा वाचा कायेन न करोमि न कारयामि कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि ।

तस्य भदन्त ! प्रतिक्रामामि निन्दामि गर्हे आत्मानं व्युत्सृजामि ।

प्रथमे भदन्त ! महाव्रते उपस्थितोऽस्मि सर्वस्मात् प्राणातिपाताद्विरमणम् ॥११॥

११—भंते ! पहले[41] महाव्रत[42] में प्राणातिपात से विरमण होता है[43] ।

भन्ते ! मैं सर्व[44] प्राणातिपात का प्रत्याख्यान करता हूँ । सूक्ष्म या स्थूल,[45] त्रस या स्थावर[46] जो भी प्राणी हैं उनके प्राणों का अतिपात[47] मैं स्वयं नहीं करूँगा,[48] दूसरों से नहीं कराऊँगा और अतिपात करने वालों का अनुमोदन भी नहीं करूँगा, यावज्जीवन के लिए, तीन करण तीन योग से—मन से, वचन से, काया से—न करूँगा, न कराऊँगा और करने वाले का अनुमोदन भी नहीं करूँगा[49] ।

भन्ते ! मैं अतीत में किए प्राणातिपात से निवृत्त होता हूँ, उसकी निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ और आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूँ ।

भन्ते ! मैं पहले महाव्रत में उपस्थित हुआ हूँ । इसमें सर्व प्राणातिपात की विरति होती है ।

१२—अहावरे दोच्चे भंते ! महव्वए मुसावायाओ वेरमणं ।

सव्वं भंते ! मुसावायं पच्चक्खामि—से कोहा वा लोहा वा भया वा हासा वा, नेव सयं मुसं वएज्जा नेवन्नेहिं मुसं वायावेज्जा मुसं वयंते वि अन्ने न समणुजाणेज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि ।

तस्स भंते! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि ।

दोच्चे भंते ! महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ मुसावायाओ वेरमणं ।

१३—अहावरे तच्चे भंते ! महव्वए अदिन्नादाणाओ वेरमणं ।

सव्वं भंते ! अदिन्नादाणं पच्चक्खामि—से गामे वा नगरे वा रण्णे वा अप्पं वा बहुं वा अणुं वा थूलं वा चित्तमंतं वा अचित्तमंतं वा, नेव सयं अदिन्नं गेण्हेज्जा नेवन्नेहिं अदिन्नं गेण्हावेज्जा अदिन्नं गेण्हंते वि अन्ने न समणुजाणेज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि ।

अथापरे द्वितीये भदन्त ! महाव्रते मृषावादाद्विरमणम् ।

सर्वं भदन्त ! मृषावादं प्रत्याख्यामि—अथ क्रोधाद्वा लोभाद्वा भयाद्वा हासाद्वा—नैव स्वयं मृषा वदामि नैवान्यैर्मृषा वादयामि मृषा वदतोऽप्यन्यान्न समनुजानामि यावज्जीवं त्रिविधं त्रिविधेन मनसा वाचा कायेन न करोमि न कारयामि कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि ।

तस्य भदन्त ! प्रतिक्रामामि निन्दामि गर्हे आत्मानं व्युत्सृजामि ।

द्वितीये भदन्त ! महाव्रते उपस्थितोऽस्मि सर्वस्माद् मृषावादाद्विरमणम् ॥१२॥

अथापरे तृतीये भदन्त ! महाव्रते अदत्तादानाद्विरमणम् ।

सर्वं भदन्त ! अदत्तादानं प्रत्याख्यामि—अथ ग्रामे वा नगरे वा अरण्ये वा अल्पं वा बहु वा अणु वा स्थूलं वा चित्तवद्वा अचित्तवद्वा—नैव स्वयमदत्तं गृह्णामि, नैवान्यैरदत्तं ग्राहयामि, अदत्तं गृह्णतोऽप्यन्यान्न समनुजानामि यावज्जीवं त्रिविधं त्रिविधेन—मनसा वाचा कायेन न करोमि न कारयामि कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि ।

१२—भन्ते ! इसके पश्चात् दूसरे महाव्रत में मृषावाद[२०] की विरति होती है।

भन्ते ! मैं सर्व मृषावाद का प्रत्याख्यान करता हूँ। क्रोध से या लोभ से,[२१] भय से या हँसी से, मैं स्वयं असत्य नहीं बोलूंगा, दूसरों से असत्य नहीं बुलवाऊँगा और असत्य बोलने वालों का अनुमोदन भी नहीं करूँगा, यावज्जीवन के लिए, तीन करण तीन योग से—मन से, वचन से, काया से—न करूँगा, न कराऊँगा और करने वाले का अनुमोदन भी नहीं करूँगा ।

भन्ते ! मैं अतीत के मृषावाद से निवृत्त होता हूँ, उसकी निंदा करता हूँ, गर्हा करता हूँ और आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूँ।

भन्ते ! मैं दूसरे महाव्रत में उपस्थित हुआ हूँ। इसमें सर्व मृषावाद की विरति होती है ।

१३—भंते ! इसके पश्चात् तीसरे महाव्रत में अदत्तादान[२२] की विरति होती है।

भंते ! मैं सर्व अदत्तादान का प्रत्याख्यान करता हूँ। गाँव में, नगर में या अरण्य में[२३] कहीं भी अल्प या बहुत,[२४] सूक्ष्म या स्थूल,[२५] सचित्त या अचित्त[२६] किसी भी अदत्त-वस्तु का मैं स्वयं ग्रहण नहीं करूँगा, दूसरों से अदत्त-वस्तु का ग्रहण नहीं कराऊँगा और अदत्त-वस्तु ग्रहण करने वालों का अनुमोदन भी नहीं करूँगा, यावज्जीवन के लिए, तीन करण तीन योग से—मन से, वचन से, काया से—न करूँगा, न कराऊँगा और करने वाले का अनुमोदन भी नहीं करूँगा ।

तस्स भंते ! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि।

तस्य भदन्त ! प्रतिक्रमामि निन्दामि गर्हे आत्मानं व्युत्सृजामि।

भंते ! मैं अतीत के अदत्तादान से निवृत्त होता हूं, उसकी निन्दा करता हूं, गर्हा करता हूं और आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूं।

तच्चे भंते ! महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ अदिन्नादाणाओ वेरमणं।

तृतीये भदन्त ! महाव्रते उपस्थितोऽस्मि सर्वस्मादत्तादानाद्विरमणम् ॥१३॥

भंते ! मैं तीसरे महाव्रत में उपस्थित हुआ हूं। इसमें सर्व अदत्तादान की विरति होती है।

१४—अहावरे चउत्थे भंते ! महव्वए मेहुणाओ वेरमणं।

अथापरे चतुर्थे भदन्त ! महाव्रते मैथुनाद्विरमणम्।

१४—भंते ! इसके पश्चात् चौथे महाव्रत में मैथुन की विरति होती है।

सव्वं भंते ! मेहुणं पच्चक्खामि—से दिव्वं वा माणुसं वा तिरिक्खजोणियं वा, नेव सयं मेहुणं सेवेज्जा नेवन्नेहिं मेहुणं सेवावेज्जा मेहुणं सेवंते वि अन्ने न समणुजाणेज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि।

सर्वं भदन्त ! मैथुनं प्रत्याख्यामि अथ दिव्यं वा मानुषं वा तिर्यग्योनिकं वा नैव स्वयं मैथुनं सेवे नैवान्यैर्मैथुनं सेवयामि मैथुनं सेवमानानप्यन्यान् न समनुजानामि यावज्जीवं त्रिविधं त्रिविधेन—मनसा वाचा कायेन न करोमि न कारयामि कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि।

भंते ! मैं सब प्रकार के मैथुन का प्रत्याख्यान करता हूं। देव सम्बन्धी, मनुष्य सम्बन्धी अथवा तिर्यञ्च सम्बन्धी मैथुन[२७] का मैं स्वयं सेवन नहीं करूंगा, दूसरों से मैथुन सेवन नहीं कराऊंगा और मैथुन सेवन करने वालों का अनुमोदन भी नहीं करूंगा, यावज्जीवन के लिए तीन करण तीन योग से—मन से, वचन से, काया से—न करूंगा, न कराऊंगा और न करने वाले का अनुमोदन भी नहीं करूंगा।

तस्स भंते ! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि।

तस्य भदन्त ! प्रतिक्रमामि निन्दामि गर्हे आत्मानं व्युत्सृजामि।

भंते ! मैं अतीत के मैथुन-सेवन से निवृत्त होता हूं, उसकी निन्दा करता हूं, गर्हा करता हूं और आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूं।

चउत्थे भंते ! महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ मेहुणाओ वेरमणं।

चतुर्थे भदन्त ! महाव्रते उपस्थितोऽस्मि सर्वस्माद् मैथुनाद्विरमणम् ॥१४॥

भंते ! मैं चौथे महाव्रत में उपस्थित हुआ हूं। इसमें सर्व मैथुन की विरति होती है।

१५—अहावरे पंचमे भंते ! महव्वए परिग्गहाओ वेरमणं।

अथापरे पञ्चमे भदन्त ! महाव्रते परिग्रहाद्विरमणम्।

१५—भंते ! इसके पश्चात् पांचवें महाव्रत में परिग्रह[२८] की विरति होती है।

सव्वं भंते ! परिग्गहं पच्चक्खामि—से गामे वा नगरे वा रण्णे वा अप्पं वा बहुं वा अणुं वा थूलं वा चित्तमंतं वा अचित्तमंतं वा, नेव सयं परिग्गहं परिगेण्हेज्जा नेवन्नेहिं परिग्गहं परिगेण्हावेज्जा परिग्गहं परिगेण्हंते वि

सर्वं भदन्त ! परिग्रहं प्रत्याख्यामि—अथ ग्रामे वा नगरे वा अरण्ये वा अल्पं वा बहुं वा अणुं वा स्थूलं वा चित्तवन्तं वा अचित्तवन्तं वा—नैव स्वयं परिग्रहं परिगृह्णामि, नैवान्यैः परिग्रहं परिग्राहयामि, परिग्रहं

भंते ! मैं सब प्रकार के परिग्रह का प्रत्याख्यान करता हूं। गांव में, नगर में या अरण्य में—कहीं भी, अल्प या बहुत, सूक्ष्म या स्थूल, सचित्त या अचित्त—किसी भी परिग्रह का ग्रहण मैं स्वयं नहीं करूंगा, दूसरों से परिग्रह का ग्रहण नहीं कराऊंगा और

अन्ने न समणुजाणेज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि ।

तस्स भंते पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि ।

पंचमे भंते ! महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ परिग्गहाओ वेरमणं ।

१६—अहावरे छट्ठे भंते ! वए राईभोयणाओ वेरमणं ।

सव्वं भंते ! राईभोयणं पच्चक्खामि—से असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा, नेव सयं राइं भुंजेज्जा नेवन्नेहिं राइं भुंजावेज्जा राइं भुंजंते वि अन्ने न समणुजाणेज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि ।

तस्स भंते ! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि ।

छट्ठे भंते ! वए उवट्ठिओमि सव्वाओ राईभोयणाओ वेरमणं ।

१७—इच्चेयाइं पंच महव्वयाइं राईभोयणवेरमणछट्ठाइं अत्तहियट्ठयाए उवसंपज्जित्ताणं विहरामि ।

१८—से भिक्खू वा भिक्खुणी वा संजयविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्मे दिया वा राओ वा एगओ वा परिसागओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा—से पुढविं वा भित्तिं वा सिलं वा लेलुं वा ससरक्खं वा कायं ससरक्खं वा वत्थं हत्थेण वा पाएण वा कट्ठेण वा किलिंचेण वा

परिगृह्णतोऽप्यन्यान्न समनुजानामि यावज्जीवं त्रिविधं त्रिविधेन—मनसा वाचा कायेन न करोमि न कारयामि कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि ।

तस्य भदन्त ! प्रतिक्रामामि निन्दामि गर्हे आत्मानं व्युत्सृजामि ।

पञ्चमे भदन्त ! महाव्रते उपस्थितोऽस्मि सर्वस्मात् परिग्रहाद्विरमणम् ॥१५॥

अथापरे षष्ठे भदन्त ! व्रते रात्रि-भोजनाद्विरमणम् ।

सर्वं भदन्त ! रात्रिभोजनं प्रत्याख्यामि—अथ अशनं वा पानं वा खाद्यं वा स्वाद्यं वा—नैव स्वयं रात्रौ भुञ्जे, नैवान्यान् रात्रौ भोजयामि, रात्रौ भुञ्जानानप्यन्यान् न समनुजानामि यावज्जीवं त्रिविधं त्रिविधेन—मनसा वाचा कायेन न करोमि न कारयामि कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि ।

तस्य भदन्त ! प्रतिक्रामामि निन्दामि गर्हे आत्मानं व्युत्सृजामि ।

षष्ठे भदन्त ! व्रते उपस्थितोऽस्मि सर्वस्माद् रात्रिभोजनाद्विरमणम् ॥१६॥

इत्येतानि पञ्च महाव्रतानि रात्रि-भोजन-विरमणषष्ठानि आत्महितार्थं उपसम्पद्य विहरामि ॥१७॥

स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा संयत-विरत-प्रतिहत-प्रत्याख्यात-पापकर्मा दिवा वा रात्रौ वा एकको वा परिषद्गतो वा सुप्तो वा जाग्रद्वा—अथ पृथिवीं वा भित्तिं वा शिलां वा लेष्टुं वा सरजस्कं वा कायं सरजस्कं वा वस्त्रं हस्तेन वा पादेन वा काष्ठेन वा कलिञ्चेन वा अंगुल्या वा शलाकया वा शलाकाहस्तेन वा—नालिखेत् न

परिग्रह का ग्रहण करने वालों का अनुमोदन भी नहीं करूँगा, यावज्जीवन के लिए, तीन करण तीन योग से—मन से, वचन से, काया से—न करूँगा, न कराऊँगा और करने वाले का अनुमोदन भी नहीं करूँगा ।

भंते ! मैं अतीत के परिग्रह से निवृत्त होता हूं, उसकी निन्दा करता हूं, गर्हा करता हूं और आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूं।

भंते! मैं पाँचवें महाव्रत में उपस्थित हुआ हूँ। इसमें सर्व परिग्रह की विरति होती है।

१६—भंते ! इसके पश्चात् छठे व्रत में रात्रि-भोजन[५९] की विरति होती है ।

भंते ! मैं सब प्रकार के रात्रि-भोजन का प्रत्याख्यान करता हूँ । अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य[६०]—किसी भी वस्तु को रात्रि में मैं स्वयं नहीं खाऊँगा, दूसरों को नहीं खिलाऊँगा और खानेवालों का अनुमोदन भी नहीं करूँगा, यावज्जीवन के लिए तीन करण तीन योग से—मन से, वचन से, काया से—न करूँगा, न कराऊँगा और करने वाले का अनुमोदन भी नहीं करूँगा।

भंते ! मैं अतीत के रात्रि-भोजन से निवृत्त होता हूँ, उसकी निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ और आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूँ।

भंते ! मैं छठे व्रत में उपस्थित हुआ हूँ। इसमें सर्व रात्रि-भोजन की विरति होती है ।

१७—मैं इन पाँच महाव्रतों और रात्रि-भोजन-विरति रूप छठे व्रत को आत्महित के लिए[६१] अंगीकार कर विहार करता हूँ[६२] ।

१८—संयत विरत-प्रतिहत-प्रत्याख्यान-पापकर्मा[६३] भिक्षु अथवा भिक्षुणी, दिन में या रात में,[६४] एकान्त में या परिषद् में, सोते या जागते—पृथ्वी,[६५] भित्ति, (नदी पर्वत आदि की दरार),[६६] शिला,[६७] ढेले,[६८] सचित्त-रज से संसृष्ट[६९] काय अथवा सचित्त-रज से संसृष्ट वस्त्र या हाथ, पाँव, काष्ठ, खपाच,[७०] अंगुली, शलाका अथवा शलाका-समूह[७१] से न आलेखन[७२] करे, न विलेखन[७३] करे, न घट्टन[७४]

अंगुलियाए वा सलागाए वा सलागहत्थेण वा, न आलिहेज्जा न विलिहेज्जा न घट्टेज्जा न भिंदेज्जा अन्नं न आलिहावेज्जा न विलिहावेज्जा न घट्टावेज्जा न भिंदावेज्जा अन्नं आलिहंतं वा विलिहंतं वा घट्टंतं वा भिंदंतं वा न समणुजाणेज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करेंतं पि अन्नं न समणुजाणामि।

तस्स भंते! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि।

१९—से भिक्खू वा भिक्खुणी वा संजयविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्मे दिया वा राओ वा एगओ वा परिसागओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा—से उदगं वा ओसं वा हिमं वा महियं वा करगं वा हरतणुगं वा सुद्धोदगं वा उदओल्लं वा कायं उदओल्लं वा वत्थं ससिणिद्धं वा कायं ससिणिद्धं वा वत्थं, न आमुसेज्जा न संफुसेज्जा न आवीलेज्जा न पवीलेज्जा न अक्खोडेज्जा न पक्खोडेज्जा न आयावेज्जा न पयावेज्जा अन्नं न आमुसावेज्जा न संफुसावेज्जा न आवीलावेज्जा न पवीलावेज्जा न अक्खोडावेज्जा न पक्खोडावेज्जा न आयावेज्जा न पयावेज्जा अन्नं आमुसंतं वा संफुसंतं वा आवीलंतं वा पवीलंतं वा अक्खोडंतं वा पक्खोडंतं वा आयावंतं वा पयावंतं वा न समणुजाणेज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करेंतं पि अन्नं न समणुजाणामि।

विलिखेत् न घट्टयेत् न भिन्द्यात् अन्येन नालेखयेत् न विलेखयेत् न घट्टयेत् न भेदयेत् अन्यमालिखन्तं वा विलिखन्तं वा घट्टयन्तं वा भिन्दन्तं वा न समनुजानीयात् यावज्जीवं त्रिविधं त्रिविधेन मनसा वाचा कायेन न करोमि न कारयामि कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि।

तस्य भदन्त! प्रतिक्रामामि निन्दामि गर्हे आत्मानं व्युत्सृजामि ॥१८॥

स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा संयत-विरत-प्रतिहत-प्रत्याख्यात-पापकर्मा दिवा वा रात्रौ वा एकको वा परिषद्गतो वा सुप्तो वा जाग्रद्वा अथ उदकं वा ओसं वा हिमं वा महिकां वा करकं वा 'हरतनुकं' वा शुद्धोदकं वा उदकार्द्रं वा कायं उदकार्द्रं वा वस्त्रं सस्निग्धं वा कायं सस्निग्धं वा वस्त्रं—नाऽऽमृशेत् न संस्पृशेत् नाऽऽपीडयेत् न प्रपीडयेत् नाऽऽस्फोटयेत् न प्रस्फोटयेत् नाऽऽतापयेत् न प्रतापयेत् अन्येन नाऽऽमर्शयेत् न संस्पर्शयेत् नाऽऽपीडयेत् न प्रपीडयेत् नाऽऽस्फोटयेत् न प्रस्फोटयेत् नाऽऽतापयेत् न प्रतापयेत् अन्यमामृशन्तं वा संस्पृशन्तं वा आपीडयन्तं वा प्रपीडयन्तं वा आस्फोटयन्तं वा प्रस्फोटयन्तं वा आतापयन्तं वा प्रतापयन्तं वा न समनुजानीयात् यावज्जीवं त्रिविधं त्रिविधेन—मनसा वाचा कायेन न करोमि न कारयामि कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि।

करे और न भेदन[75] करे; दूसरे से न आलेखन कराए, न विलेखन कराए, न घट्टन कराए और न भेदन कराए; आलेखन, विलेखन, घट्टन या भेदन करने वाले का अनुमोदन न करे, यावज्जीवन के लिए, तीन करण तीन योग से—मन से, वचन से, काया से—न करूँगा, न कराऊँगा और करने वाले का अनुमोदन भी नहीं करूँगा।

भंते! मैं अतीत के पृथ्वी-समारम्भ से निवृत्त होता हूँ, उसकी निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ और आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूँ।

१९—संयत-विरत-प्रतिहत-प्रत्याख्यात-पापकर्मा भिक्षु अथवा भिक्षुणी, दिन में या रात में, एकान्त में या परिषद् में, सोते या जागते—उदक,[76] ओस,[77] हिम,[78] धूअर,[79] ओले,[80] भूमि को भेद कर निकले हुए जल बिन्दु,[81] शुद्ध उदक (आन्तरिक्ष जल)[82], जल से भीगे[83] शरीर अथवा जल से भीगे वस्त्र, जल से स्निग्ध[84] शरीर अथवा जल से स्निग्ध वस्त्र का न आमर्श करे, न संस्पर्श[85] करे, न आपीडन करे, न प्रपीडन करे,[86] न आस्फोटन करे, न प्रस्फोटन करे,[87] न आतापन करे, और न प्रतापन[88] करे, दूसरों से न आमर्श कराए, न संस्पर्श कराए, न आपीडन कराए, न प्रपीडन कराए, न आस्फोटन कराए, न प्रस्फोटन कराए, न आतापन कराए न प्रतापन कराए। आमर्श, संस्पर्श, आपीडन, प्रपीडन, आस्फोटन, प्रस्फोटन, आतापन या प्रतापन करने वाले का अनुमोदन न करे, यावज्जीवन के लिए, तीन करण, तीन योग से—मन से, वचन से, काया से—न करूँगा, न कराऊँगा और करने वाले का अनुमोदन भी नहीं करूँगा।

२३—से भिक्खू वा भिक्खुणी वा संजयविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्मे दिया वा राओ वा एगओ वा परिसागओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा—से कीडं वा पयंगं वा कुंथुं वा पिवीलियं वा हत्थंसि वा पायंसि वा बाहुंसि वा ऊरुंसि वा उदरंसि वा सीसंसि वा वत्थंसि वा पडिग्गहंसि वा रयहरणंसि वा गोच्छगंसि वा उंडगंसि वा दंडगंसि वा पीढगंसि वा फलगंसि वा सेज्जंसि वा संथारगंसि वा अन्नयरंसि वा तहप्पगारे उवगरणजाए तओ संजयामेव पडिलेहिय पडिलेहिय पमज्जिय पमज्जिय एगंतमवणेज्जा नो णं संघायमावज्जेज्जा ।

स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा संयत-विरत-प्रतिहत-प्रत्याख्यात-पापकर्मा दिवा वा रात्रौ वा एकको वा परिषद्गतो वा सुप्तो वा जाग्रद्वा—अथ कीटं वा पतङ्गं वा कुंथुं वा पिपीलिकां वा हस्ते वा पादे वा बाहौ वा ऊरौ वा उदरे वा शीर्षे वा वस्त्रे वा प्रतिग्रहे वा रजोहरणे वा गुच्छके वा 'उन्दुके' वा दण्डके वा पीठके वा फलके वा शय्यायां वा संस्तारके वा अन्यतरस्मिन् वा तथाप्रकारे उपकरणजाते ततः संयतमेव प्रतिलिख्य-प्रतिलिख्य प्रमृज्य प्रमृज्य एकान्तमपनयेत् नैनं संघातमापादयेत् ॥२३॥

२३—संयत-विरत-प्रतिहत-प्रत्याख्यात-पापकर्मा भिक्षु अथवा भिक्षुणी, दिन में या रात में, एकान्त में या परिषद् में, सोते या जागते—कीट, पतंग, कुंथु या पिपीलिका हाथ, पैर, बाहु, ऊरु, उदर, सिर,[११४] वस्त्र, पात्र, रजोहरण,[११५] गोच्छग,[११६] उन्दक—स्थंडिल, दण्डक[११७], पीठ, फलक[११८], शय्या या संस्तारक[११९] पर तथा उसी प्रकार के किसी अन्य उपकरण पर[१२०] चढ़ जाए तो सावधानी पूर्वक[१२१] धीमे-धीमे प्रतिलेखन कर, प्रमार्जन कर, उन्हें वहाँ से हटा एकान्त में[१२२] रख दे किन्तु उनका संघात[१२३] न करे—आपस में एक दूसरे प्राणी को पीड़ा पहुँचे वैसे न रखे ।

१—अजयं चरमाणो उ
पाणभूयाइं हिंसई ।
बंधई पावयं कम्मं
तं से होइ कडुयं फलं ॥

अयतं चरंस्तु
प्राणभूतानि हिनस्ति
बध्नाति पापकं कर्म
तत्तस्य भवति कटुक-फलम् ॥१॥

१—अयतनापूर्वक चलने वाला त्रस और स्थावर[१२४] जीवों की हिंसा करता है[१२५]। उससे पाप-कर्म का बंध होता है[१२६]। वह उसके लिए कटु फल वाला होता है[१२७]।

२—अजयं चिट्ठमाणो उ
पाणभूयाइं हिंसई ।
बंधई पावयं कम्मं
तं से होइ कडुयं फलं ॥

अयतं तिष्ठंस्तु
प्राणभूतानि हिनस्ति
बध्नाति पापकं कर्म
तत्तस्य भवति कटुक-फलम् ॥२॥

२—अयतनापूर्वक खड़ा होने वाला त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा करता है। उससे पाप-कर्म का बंध होता है। वह उसके लिए कटु फल वाला होता है ।

३—अजयं आसमाणो उ
पाणभूयाइं हिंसई ।
बंधई पावयं कम्मं
तं से होइ कडुयं फलं ॥

अयतमासीनस्तु
प्राणभूतानि हिनस्ति ।
बध्नाति पापकं कर्म
तत्तस्य भवति कटुक-फलम् ॥ ३ ॥

३—अयतनापूर्वक बैठने वाला त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा करता है । उससे पाप-कर्म का बंध होता है । वह उसके लिए कटु फल वाला होता है ।

४—अजयं सयमाणो उ
पाणभूयाइं हिंसई ।
बंधई पावयं कम्मं
तं से होइ कडुयं फलं ॥

अयतं शयानस्तु
प्राणभूतानि हिनस्ति ।
बध्नाति पापकं कर्म
तत्तस्य भवति कटुक-फलम् ॥ ४ ॥

४—अयतनापूर्वक सोने वाला त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा करता है । उससे पाप-कर्म का बंध होता है । वह उसके लिए कटु फल वाला होता है ।

५—अजयं भुंजमाणो उ
पाणभूयाइं हिंसई ।
बंधई पावयं कम्मं
तं से होइ कडुयं फलं ॥

अयतं भुञ्जानस्तु
प्राणभूतानि हिनस्ति ।
बध्नाति पापकं कर्म
तत्तस्य भवति कटुक-फलम् ॥ ५ ॥

५—अयतनापूर्वक भोजन करने वाला त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा करता है । उससे पाप-कर्म का बंध होता है । वह उसके लिए कटु फल वाला होता है ।

६—अजयं भासमाणो उ
पाणभूयाइं हिंसई ।
बंधई पावयं कम्मं
तं से होइ कडुयं फलं ॥

अयतं भाषमाणस्तु
प्राणभूतानि हिनस्ति ।
बध्नाति पापकं कर्म
तत्तस्य भवति कटुक-फलम् ॥ ६ ॥

६—अयतनापूर्वक बोलने वाला[128] त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा करता है । उससे पाप-कर्म का बंध होता है । वह उसके लिए कटु फल वाला होता है[129] ।

७—कहं चरे कहं चिट्ठे
कहमासे कहं सए ।
कहं भुंजंतो भासंतो
पावं कम्मं न बंधई ॥

कथं चरेत् कथं तिष्ठेत्
कथमासीत कथं शयीत ।
कथं भुञ्जानो भाषमाणः
पापं कर्म न बध्नाति ॥ ७ ॥

७—कैसे चले ? कैसे खड़ा हो ? कैसे बैठे ? कैसे सोए ? कैसे खाए ? कैसे बोले ? जिससे पाप-कर्म का बन्धन न हो[130] ।

८—[131]जयं चरे जयं चिट्ठे
जयमासे जयं सए ।
जयं भुंजंतो भासंतो
पावं कम्मं न बंधई ॥

यतं चरेत् यतं तिष्ठेत्
यतमासीत यतं शयीत ।
यतं भुञ्जानो भाषमाणः
पापं कर्म न बध्नाति ॥ ८ ॥

८—यतनापूर्वक चलने,[132] यतनापूर्वक खड़ा होने,[133] यतनापूर्वक बैठने,[134] यतनापूर्वक सोने,[135] यतनापूर्वक खाने[136] और यतनापूर्वक बोलने[137] वाला पाप-कर्म का बन्धन नहीं करता ।

९—सव्वभूयप्पभूयस्स
सम्मं भूयाइ पासओ ।
पिहियासवस्स दंतस्स
पावं कम्मं न बंधई ॥

सर्वभूतात्मभूतस्य
सम्यग् भूतानि पश्यतः ।
पिहितास्रवस्य दान्तस्य
पापं कर्म न बध्यते ॥ ९ ॥

९—जो सब जीवों को आत्मवत् मानता है, जो सब जीवों को सम्यक्-दृष्टि से देखता है, जो आस्रव का निरोध कर चुका है और जो दान्त है उसके पाप-कर्म का बन्धन नहीं होता[138] ।

१०—[१३९]पढमं नाणं तओ दया
एवं चिट्ठइ सव्वसंजए ।
अन्नाणी किं काही
किं वा नाहिइ छेय-पावगं ॥

प्रथमं ज्ञानं ततो दया
एवं तिष्ठति सर्वसंयतः ।
अज्ञानी किं करिष्यति
किं वा ज्ञास्यति छेक-पापकम् ॥ १० ॥

१०—पहले ज्ञान फिर दया[१४०]—इस प्रकार सब मुनि स्थित होते हैं[१४१]। अज्ञानी क्या करेगा ?[१४२] वह क्या जानेगा—क्या श्रेय है और क्या पाप ?[१४३]

११—सोच्चा जाणइ कल्लाणं
सोच्चा जाणइ पावगं ।
उभयं पि जाणई सोच्चा
जं छेयं तं समायरे ॥

श्रुत्वा जानाति कल्याणं
श्रुत्वा जानाति पापकम् ।
उभयमपि जानाति श्रुत्वा
यच्छेकं तत्समाचरेत् ॥ ११ ॥

११—जीव सुन कर[१४४] कल्याण को[१४५] जानता है और सुनकर ही पाप को[१४६] जानता है। कल्याण और पाप[१४७] सुनकर ही जाने जाते हैं। वह उनमें जो श्रेय है उसीका आचरण करे।

१२—जो जीवे वि न याणाइ
अजीवे वि न याणई ।
जीवाजीवे अयाणंतो
कहं सो नाहिइ संजमं ॥

यो जीवानपि न जानाति
अजीवानपि न जानाति ।
जीवाऽजीवानजानन्
कथं स ज्ञास्यति संयमम् ॥ १२ ॥

१२—जो जीवों को भी नहीं जानता, अजीवों को भी नहीं जानता वह जीव और अजीव को न जानने वाला संयम को कैसे जानेगा ?

१३—जो जीवे वि वियाणाइ
अजीवे वि वियाणई ।
जीवाजीवे वियाणंतो
सो हु नाहिइ संजमं ॥

यो जीवानपि विजानाति
अजीवानपि विजानाति ।
जीवाऽजीवान् विजानन्
स हि ज्ञास्यति संयमम् ॥ १३ ॥

१३—जो जीवों को भी जानता है, अजीवों को भी जानता है वही, जीव और अजीव दोनों को जानने वाला ही, संयम को जान सकेगा[१४८]।

१४—जया जीवे अजीवे य
दो वि एए वियाणई ।
तया गइं बहुविहं
सव्वजीवाण जाणई ॥

यदा जीवानजीवांश्च
द्वावप्येतौ विजानाति ।
तदा गतिं बहुविधां
सर्वजीवानां जानाति ॥ १४ ॥

१४—जब मनुष्य जीव और अजीव—इन दोनों को जान लेता है तब वह सब जीवों की बहुविध गतियों को भी जान लेता है[१४९]।

१५—जया गइं बहुविहं
सव्वजीवाण जाणई ।
तया पुण्णं च पावं च
बंधं मोक्खं च जाणई ॥

यदा गतिं बहुविधां
सर्वजीवानां जानाति ।
तदा पुण्यं च पापं च
बन्धं मोक्षं च जानाति ॥ १५ ॥

१५—जब मनुष्य सब जीवों की बहुविध गतियों को जान लेता है तब वह पुण्य, पाप, बन्ध और मोक्ष को भी जान लेता है[१५०]।

१६—जया पुण्णं च पावं च
बंधं मोक्खं च जाणई ।
तया निव्विंदए भोए
जे दिव्वे जे य माणुसे ॥

यदा पुण्यं च पापं च
बन्धं मोक्षं च जानाति ।
तदा निर्विन्ते भोगान्
यान् दिव्यान् यांश्च मानुषान् ॥ १६ ॥

१६—जब मनुष्य पुण्य, पाप, बन्ध और मोक्ष को जान लेता है तब जो भी देवों और मनुष्यों के भोग हैं उनसे विरक्त हो जाता है[१५१]।

१७—जया निव्विंदए भोए
जे दिव्वे जे य माणुसे ।
तया चयइ संजोगं
सब्भिंतरबाहिरं ॥

यदा निर्विन्ते भोगान्
यान् दिव्यान् यांश्च मानुषान् ।
तदा त्यजति संयोग
साभ्यन्तर-बाह्यम् ॥ १७ ॥

१७—जब मनुष्य दैविक और मानुषिक भोगों से विरक्त हो जाता है तब वह आभ्यन्तर और बाह्य संयोगों का त्याग देता है[१२२] ।

१८—जया चयइ संजोगं
सब्भिंतरबाहिरं ।
तया मुंडे भवित्ताणं
पव्वइए अणगारियं ॥

यदा त्यजति संयोग
साभ्यन्तर-बाह्यम् ।
तदा मुण्डो भूत्वा
प्रव्रजत्यनगारताम् ॥ १८ ॥

१८—जब मनुष्य आभ्यन्तर और बाह्य संयोगों को त्याग देता है तब वह मुंड होकर अनगार-वृत्ति को स्वीकार करता है[१२३] ।

१९—जया मुंडे भवित्ताणं
पव्वइए अणगारियं ।
तया संवरमुक्किट्ठं
धम्मं फासे अणुत्तरं ॥

यदा मुण्डो भूत्वा
प्रव्रजत्यनगारताम् ।
तदा संवरमुत्कृष्ट
धर्मं स्पृशत्यनुत्तरम् ॥ १९ ॥

१९—जब मनुष्य मुंड होकर अनगार-वृत्ति को स्वीकार करता है तब वह उत्कृष्ट संवरात्मक अनुत्तर धर्म का स्पर्श करता है[१२४] ।

२०—जया संवरमुक्किट्ठं
धम्मं फासे अणुत्तरं ।
तया धुणइ कम्मरयं
अबोहिकलुसं कडं ॥

यदा संवरमुत्कृष्टं
धर्मं स्पृशत्यनुत्तरम् ।
तदा धुनाति कर्मरज
अबोधि-कलुष-कृतम् ॥ २० ॥

२०—जब मनुष्य उत्कृष्ट संवरात्मक अनुत्तर धर्म का स्पर्श करता है तब वह अबोधि-रूप पाप द्वारा संचित कर्म-रज को प्रकम्पित कर देता है[१२५] ।

२१—जया धुणइ कम्मरयं
अबोहिकलुसं कडं ।
तया सव्वत्तगं नाणं
दंसणं चाभिगच्छई ॥

यदा धुनाति कर्मरज
अबोधि-कलुष-कृतम् ।
तदा सर्वत्रगं ज्ञान
दर्शनं चाभिगच्छति ॥ २१ ॥

२१—जब मनुष्य अबोधि-रूप पाप द्वारा संचित कर्म-रज को प्रकम्पित कर देता है तब वह सर्वत्र-गामी ज्ञान और दर्शन—केवलज्ञान और केवलदर्शन को प्राप्त कर लेता है[१२६] ।

२२—जया सव्वत्तगं नाणं
दंसणं चाभिगच्छई ।
तया लोगमलोगं च
जिणो जाणइ केवली ॥

यदा सर्वत्रगं ज्ञानं
दर्शनं चाभिगच्छति ।
तदा लोकमलोकं च
जिनो जानाति केवली ॥ २२ ॥

२२—जब मनुष्य सर्वत्र-गामी ज्ञान और दर्शन—केवलज्ञान और केवलदर्शन को प्राप्त कर लेता है तब वह जिन और केवली होकर लोक-अलोक को जान लेता है[१२७] ।

२३—जया लोगमलोगं च
जिणो जाणइ केवली ।
तया जोगे निरुंभित्ता
सेलेसिं पडिवज्जई ॥

यदा लोकमलोकं च
जिनो जानाति केवली ।
तदा योगान् निरुध्य
शैलेशीं प्रतिपद्यते ॥ २३ ॥

२३—जब मनुष्य जिन और केवली होकर लोक-अलोक को जान लेता है तब वह योगों का निरोध कर शैलेशी अवस्था को प्राप्त होता है[१२८] ।

२४—जया जोगे निरुंभित्ता
सेलेसिं पडिवज्जई ।
तया कम्मं खवित्ताणं
सिद्धिं गच्छइ नीरओ ॥

यदा योगान् निरुध्य
शैलेशीं प्रतिपद्यते ।
तदा कर्म क्षपयित्वा
सिद्धिं गच्छति नीरजाः ॥ २४ ॥

२४—जब मनुष्य योग का निरोध कर शैलेशी अवस्था को प्राप्त होता है तब वह कर्मों का क्षय कर रज-मुक्त बन सिद्धि को प्राप्त करता है[१५६] ।

२५—जया कम्मं खवित्ताणं
सिद्धिं गच्छइ नीरओ ।
तया लोगमत्थयत्थो
सिद्धो हवइ सासओ ॥

यदा कर्म क्षपयित्वा
सिद्धिं गच्छति नीरजाः ।
तदा लोकमस्तकस्थः
सिद्धो भवति शाश्वत. ॥ २५ ॥

२५—जब मनुष्य कर्मों का क्षय कर रजमुक्त बन सिद्धि को प्राप्त होता है तब वह लोक के मस्तक पर स्थित शाश्वत सिद्ध होता है[१६०] ।

२६—सुहसायगस्स समणस्स
सायाउलगस्स निगामसाइस्स ।
उच्छोलणापहोइस्स
दुलहा सुग्गइ तारिसगस्स ॥

सुखस्वादकस्य श्रमणस्य
साताकुलकस्य निकामशायिनः ।
उत्क्षालनाप्रधाविनः
दुर्लभा सुगतिस्तादृशकस्य ॥ २६ ॥

२६—जो श्रमण सुख का रसिक[१६१], सात के लिए आकुल[१६२], अकाल में सोने वाला[१६३] और हाथ, पैर आदि को बार-बार धोने वाला[१६४] होता है उसके लिए सुगति दुर्लभ है ।

२७—तवोगुणपहाणस्स
उज्जुमइ खंतिसंजमरयस्स ।
परीसहे जिणंतस्स
सुलहा सुग्गइ तारिसगस्स ॥

तपोगुणप्रधानस्य
ऋजुमतेः क्षान्तिसंयमरतस्य ।
परीषहान् जयतः
सुलभा सुगतिस्तादृशकस्य ॥ २७ ॥

२७—जो श्रमण तपो-गुण से प्रधान, ऋजुमति,[१६५] क्षान्ति तथा संयम में रत और परीषहों को[१६६] जीतने वाला होता है उसके लिए सुगति सुलभ है ।

[[१६७] पच्छा वि ते पयाया
खिप्पं गच्छंति अमरभवणाइं ।
जेसिं पिओ तवो संजमो य
खन्ती य बम्भचेरं च ॥]

[पश्चादपि ते प्रयाताः
क्षिप्रं गच्छन्ति अमरभवनानि ।
येषां प्रियं तपः संयमश्च
क्षान्तिश्च ब्रह्मचर्यं च ॥]

[जिन्हें तप, संयम, क्षमा, और ब्रह्मचर्य प्रिय हैं वे शीघ्र ही स्वर्ग को प्राप्त होते हैं-–भले ही वे पिछली अवस्था में प्रव्रजित हुए हों ।]

२८—इच्चेयं छज्जीवणियं
सम्मद्दिट्ठी सया जए ।
दुलहं लभित्तु सामण्णं
कम्मुणा न विराहेज्जासि ॥
त्ति बेमि ॥

इत्येतां षड्जीवनिकां
सम्यग्-दृष्टिः सदा यत. ।
दुर्लभं लब्ध्वा श्रामण्यं
कर्मणा न विराधयेत् ॥ २८ ॥
इति ब्रवीमि ।

२८—दुर्लभ श्रमण-भाव को प्राप्त कर सम्यक्-दृष्टि[१६८] और सतत सावधान श्रमण इस षड्जीवनिका की कर्मणा[१६९]—मन, वचन और काया से—विराधना[१७०] न करे ।

ऐसा मैं कहता हूँ ।

टिप्पण : अध्ययन ४

सूत्र : १

१. आयुष्मन् ! (आउसं !) :

इस शब्द के द्वारा शिष्य को आमन्त्रित किया गया है। जिसके आयु हो उसे आयुष्मान् कहते हैं। उसको आमन्त्रित करने का शब्द है 'आयुष्मन्'[1]। 'आउसं' शब्द द्वारा शिष्य को सम्बोधित करने की पद्धति जैन आगमों में अनेक स्थलों पर देखी जाती है। तथागत बुद्ध भी 'आउसो' शब्द द्वारा ही शिष्यों को सम्बोधित करते थे[2]। प्रश्न हो सकता है—शिष्य को आमन्त्रित करने के लिए यह शब्द ही क्यों चुना गया। इसका उत्तर है—सारे शिष्य के सब गुणों में प्रधान गुण दीर्घ-आयु ही है। जिसके दीर्घायु होती है वही पहले ज्ञान को प्राप्त कर बाद में दूसरों को दे सकता है। इस तरह शासन-परम्परा अव्यवच्छिन्न बनती है। 'आयुष्मन्' शब्द देश-कुल-शीलादि समस्त गुणों का सांकेतिक शब्द है। आयुष्मन् अर्थात् उत्तम देश, कुल, शीलादि समस्त गुण से संयुक्त दीर्घायुवाला[3]।

हरिभद्र सूरि लिखते हैं[4]—'प्रधानगुणनिष्पन्न आमन्त्रण वचन का आशय यह है कि गुणी शिष्य को आगम-रहस्य देना चाहिए, अगुणी को नहीं। कहा है—'जिस प्रकार कच्चे घड़े में भरा हुआ जल उस घड़े का ही विनाश कर देता है वैसे ही गुण रहित को दिया हुआ सिद्धान्त-रहस्य उस अल्पाधार का ही विनाश कर देता है।"

'आउसं' शब्द की एक व्याख्या उपर्युक्त है। विकल्प व्याख्याओं का इस प्रकार उल्लेख मिलता है

१—'आउसं' के बाद के 'तेणं' शब्द को साथ लेकर 'आउसंतेणं' को 'भगवया' शब्द का विशेषण मानने से दूसरा अर्थ होता है—मैंने सुना चिरजीवी भगवान् ने ऐसा कहा है अथवा भगवान् ने साक्षात् ऐसा कहा है[5]।

२—'आवसंतेणं' पाठान्तर मानने से तीसरा अर्थ होता है—गुरुकुल में रहते हुए मैंने सुना भगवान् ने ऐसा कहा है[6]।

३—'आमुसंतेणं' पाठान्तर मानने से अर्थ होता है—सिर से चरणों का स्पर्श करते हुए मैंने सुना भगवान् ने ऐसा कहा है[7]।

१—जि॰ चू॰ पृ॰ १३०: आयुस् प्रातिपदिकं प्रथममायुः, आयु अस्यास्ति मतुप्प्रत्ययः, आयुष्मान्, आयुष्मन्नित्यनेन शिष्यस्यामन्त्रणं।

२—विनयपिटक १।३.१४ पृ॰ १२५।

३—जि॰ चू॰ पृ॰ १३०-१: अनेन ···· गुणाश्च देशकुलशीलादिका अन्वाख्याता भवंति, दीर्घायुष्कत्वं च सर्वेषां गुणानां प्रतिविशिष्टतमं, कहं ?, जम्हा दिग्घाऊ सीसो तं नाणं अन्नेसिपि भवियाणं दाहिति, ततो य अव्वोच्छित्ती सासणस्स कया भविस्सइत्ति, तम्हा आउसंतग्गहणं कयंति।

४—हा॰ टी॰ प॰ १३७: प्रधानगुणनिष्पन्नेनामन्त्रणवचसा गुणवते शिष्यायागमरहस्यं देयं नागुणवत इत्याह, तदनुकम्पाप्रवृत्तेरिति, उक्तं च—

"आमे घडे निहत्तं जहा जलं तं घडं विणासेइ।
इअ सिद्धंतरहस्सं अप्पाहारं विणासेइ।"

५—(क) जि॰ चू॰ पृ॰ १३१: सुयं मयाऽऽयुष्मति समेतेन तीर्थंकरेण जीवमानेन कथितं, एष द्वितीयः विकल्पः।
(ख) हा॰ टी॰ प॰ १३७: 'आउसंतेणं' ति भगवत एव विशेषणम्, आयुष्मता भगवता—चिरजीविनेत्यर्थः मङ्गलवचनं चैतद्, अथवा जीवता साक्षादेव।

६—(क) जि॰ चू॰ पृ॰ १३१: श्रुतं मया गुरुकुलसमीपावस्थितेन तृतीयो विकल्पः।
(ख) हा॰ टी॰ प॰ १३७: अथवा 'आवसंतेणं' ति गुरुमूलमावसता।

७—(क) जि॰ चू॰ पृ॰ १३१: सुयं मया एयमज्झयणं आउसंतेणं भगवतः पादौ आमृशता।
(ख) हा॰ टी॰ प॰ १३७: अथवा 'आमुसंतेणं' आमृशता भगवत्पादारविन्दयुगलमुत्तमाङ्गेन।

२. उन भगवान् ने (तेणं भगवया) :

'भग' शब्द का प्रयोग ऐश्वर्य, रूप, यश, श्री, धर्म और प्रयत्न—इन छह अर्थों में होता है। कहा है :

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य, रूपस्य यशसः श्रियः।
धर्मस्याथ प्रयत्नस्य, पण्णां भग इतीङ्गना ॥

जिसके ऐश्वर्य आदि होते हैं उसे भगवान कहते हैं[1]।

'आयुष्मन् ! मैंने सुना उन भगवान ने इस प्रकार कहा' (सुयं मे आउसं तेणं भगवया एवमक्खायं)—इस वाक्य के 'उन भगवान्' शब्दों को टीकाकार हरिभद्र सूरि ने महावीर का द्योतक माना है[2]। चूर्णिकार जिनदास का भी ऐसा ही आशय है[3]। परन्तु यह ठीक नहीं लगता। ऐसा करने से बाद के संलग्न वाक्य- 'इह खलु छज्जीवणिया नामज्झयणं समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइया' की पूर्व वाक्य के साथ संगति नहीं बैठती। अतः पहले वाक्य के भगवान् शब्द को सूत्रकार के द्वारा अपने प्रज्ञापक आचार्य के लिए प्रयुक्त माना जाय तो व्याख्या का क्रम अधिक संगत हो सकता है। उत्तराध्ययन के सोलहवें और इस सूत्र के नवें अध्ययन में इसका आधार भी मिलता है। वहाँ अन्य प्रसंगों में क्रमशः निम्न पाठ मिलते हैं :

१—सुयं मे आउसं तेणं भगवया एवमक्खायं। इह खलु थेरेहिं भगवंतेहिं दस बम्भचेरसमाहिठाणा पन्नत्ता (उत्त० १६.१)

२—सुयं मे आउसं तेणं भगवया एवमक्खायं। इह खलु थेरेहिं भगवंतेहिं चत्तारि विणयसमाहिट्ठाणा पन्नत्ता (दश० ९.४.१)

हरिभद्र सूरि दशवैकालिक सूत्र के इस स्थल की टीका में 'थेरेहिं' शब्द का अर्थ स्थविर गणधर करते हैं[4]। स्थविर की प्रज्ञप्ति को तीर्थंकर के मुंह से सुनने का प्रसंग ही नहीं आता। ऐसी हालत में उक्त दोनों स्थलों में प्रयुक्त प्रथम 'भगवान्' शब्द का अर्थ महावीर अथवा तीर्थंकर नहीं हो सकता। यहाँ भगवान् शब्द का प्रयोग सूत्रकार के प्रज्ञापक आचार्य के लिए हुआ है। उक्त दोनों स्थलों पर सूत्रकार ने अपने प्रज्ञापक आचार्य के लिए 'भगवान्' शब्द का एक वचनात्मक और तत्त्व-निरूपक स्थविरों के लिए उसका बहुवचनात्मक प्रयोग किया है। इससे भी यह स्पष्ट होता है कि भगवान् शब्द का दो बार होने वाला प्रयोग भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के लिए है। इसी तरह प्रस्तुत प्रकरण में भी 'उन भगवान्' शब्दों का सम्बन्ध प्रज्ञापक आचार्य से बैठता है। वे भगवान् महावीर के द्योतक नहीं ठहरते।

३. काश्यप-गोत्री (कासवेणं)

'काश्यप' शब्द श्रमण भगवान् महावीर के विशेषण रूप से अनेक स्थलों पर व्यवहृत मिलता है। अनेक स्थानों पर भगवान महावीर को केवल 'काश्यप' शब्द से संकेतित किया है[5]। भगवान् महावीर काश्यप क्यों कहलाए—इस विषय में दो कारण मिलते हैं :

१—जि० चू० पृ० १३१ : भगशब्देन ऐश्वर्यरूपयशः श्रीधर्मप्रयत्ना अभिधीयंते, ते यस्यास्ति स भगवान्, भगो जसादी भण्णइ, सो जस्स अत्थि सो भगवं भण्णइ।

२—हा० टी० प० १३६ : 'तेने' ति भुवनभर्तुः परामर्शः·····तेन भगवता वर्धमानस्वामिनेत्यर्थः।

३ (क) जि० चू० पृ० १३१ : तेन भगवता—तिलोगबंधुणा।

(ख) वही पृ० १३२ : 'सुयं मे आउसंतेणं' एवं णज्जति समणेणं भगवया महावीरेणं एयमज्झयणं पन्नत्तमिति किं पुण गहणं कयमिति ?, आयरिओ भणइ—× × तत्थ नामठवणादव्वाणं पडिसेहनिमित्तं भावसमणभावभगवंतमहावीरगहणनिमित्तं पुणोगहणं कयं।

४—हा० टी० प० २५५ : 'स्थविरैः' गणधरैः।

५—(क) सू० १.६.७; १.१५.२१; १.३.२.१४; १.५.१.२; १.११.५,३२।

(ख) भग० १५.८७, ८६।

(ग) उत्त० २.१, ४६; २६.१।

(घ) कल्प० १०८, १०९।

१— भगवान् महावीर का गोत्र काश्यप था। इसलिए वे काश्यप कहलाते थे[1]।

२—काश्य का अर्थ इक्षु-रस होता है। उसका पान करने वाले को काश्यप कहते हैं। भगवान् ऋषभ ने इक्षु-रस का पान किया था अतः वे काश्यप कहलाये। उनके गोत्र में उत्पन्न व्यक्ति इसी कारण काश्यप कहलाने लगे। भगवान् महावीर २४ वें तीर्थङ्कर थे। अतः वे निश्चय ही प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभ के धर्म-वंश या विद्या-वंश में उत्पन्न कहे जा सकते हैं। इसलिए उन्हें काश्यप कहा है[2]।

धनञ्जय नाममाला में भगवान् ऋषभ का एक नाम काश्यप बतलाया है[3]। भाष्यकार ने काश्य का अर्थ क्षत्रिय-तेज किया है और उसकी रक्षा करने वाले को काश्यप कहा है[4]। भगवान् ऋषभ के बाद जो तीर्थङ्कर हुए वे भी सामान्य रूप से काश्यप कहलाने लगे। भगवान् महावीर अन्तिम तीर्थङ्कर थे अतः उनका नाम अन्त्य-काश्यप मिलता है[5]।

४. श्रमण⋯महावीर द्वारा (समणेण⋯महावीरेणं) :

आचाराङ्ग के चौबीसवें अध्ययन में चौबीसवें तीर्थङ्कर के तीन नाम बताए हैं। उनमें दूसरा नाम 'समण' और तीसरा नाम 'महावीर' है। सहज समभाव आदि गुण-समुदाय से सम्पन्न होने के कारण वे 'समण' कहलाए। भयङ्कर भय-भैरव तथा अचेलकता आदि कठोर परीषहों को सहन करने के कारण देवों ने उनका नाम महावीर रखा[6]।

'समण' शब्द की व्याख्या के लिए देखिए अ० १ टि० १४।

यश और गुणों से महान् वीर होने से भगवान् का नाम महावीर पड़ा[7]। जो शूर—विक्रान्त होता है उसे वीर कहते हैं। कषायादि महान् आन्तरिक शत्रुओं को जीतने से भगवान् महाविक्रान्त—महावीर कहलाए[8]। कहा है —

> विदारयति यत्कर्म, तपसा च विराजते।
> तपोवीर्येण युक्तश्च, तस्माद्वीर इति स्मृतः॥

अर्थात् जो कर्मों को विदीर्ण करता है, तपपूर्वक रहता है, जो इस प्रकार तप और वीर्य से युक्त होता है, वह वीर होता है। इन गुणों से महान् वीर थे महावीर[9]।

५. प्रवेदित (पवेइया) :

अगस्त्य चूर्णि के अनुसार इसका अर्थ है—अच्छी तरह विज्ञात—अच्छी तरह जाना हुआ[10]। हरिभद्र सूरि के अनुसार केवलज्ञान

१—(क) जि० चू० पृ० १३२ : काश्यप गोत्त कुल यस्य सोऽयं कासवगोत्तो।
 (ख) हा० टी० प० १३७ : 'काश्यपेने' ति काश्यपसगोत्रेण।

२—(क) अ० चू० पृ० ७३ : कास —उच्छू, तस्स विकारो—काश्य -रसः, सो जस्स पाणं सो कासवो उसभसामी, तस्स जो गोत्त-जाता ते कासवा, तेण वद्धमाणसामी कासवो,
 (ख) जि० चू० पृ० १३२ : कासो नाम इक्खू भण्णइ, जम्हा तं इक्खु पिबति तेन काश्यपा अभिधीयते।

३—धन० नाम० ११४ पृ० ५७ : वर्षीयान् वृषभो ज्यायान् पुरुराद्यः प्रजापतिः।
 ऐक्ष्वाकुः (कः) काश्यपो ब्रह्मा गौतमो नाभिजोऽग्रजः॥

४—धन० नाम० पृ० ५७ : काश्यक्षत्रियतेजः पातीति काश्यपः। तथा च महापुराणे—"काश्यमित्युच्यते तेजः काश्यपस्तस्य पालनात्"।

५—धन० नाम० ११५ पृ० ५८ : सन्मतिर्महतीवीरो महावीरोऽन्त्यकाश्यपः।
 नाथान्वयो वर्धमानो यत्तीर्थमिह साम्प्रतम्॥

६—आ० चू० १५.१६ : सहसमुइए समणे, भीमं भयभेरवं उरालं अचेलयं परीसहं सहइत्तिकट्टु देवेहिं से नाम कयं समणे भगवं महावीरे।

७—जि० चू० पृ० १३२ : महतो यशोगुणेहिं वीरोत्ति महावीरो।

८—हा० टी० प० १३७ : 'महावीरेण'—'शूरवीरविक्रान्ता' विति कषायादिशत्रुजयान्महाविक्रान्तो महावीरः।

९—हा० टी० प० १३७ : महांश्चासौ वीरश्च महावीरः।

१०—अ० चू० पृ० ७३ : 'विदिताते' साधु वेदिता पवेदिता—साधुविण्णाता।

के आलोक द्वारा स्वयं अच्छी तरह वेदित—जाना हुआ प्रवेदित है[१]। जिनदास ने इस शब्द का अर्थ किया है—विविध रूप से—अनेक प्रकार से कथित[२]।

६—सु-आख्यात (सुयक्खाया) :

इसका अर्थ है—भली भाँति कहा[३]। यह बात प्रसिद्ध है कि भगवान् महावीर ने देव, मनुष्य और असुरों की सम्मिलित परिषद् में जो प्रथम प्रवचन दिया वह षड्जीवनिका अध्ययन है[४]।

७—सु-प्रज्ञप्त (सुपन्नत्ता) :

'सु-प्रज्ञप्त का अर्थ है—जिस प्रकार प्ररूपित किया गया है उसी प्रकार आचीर्ण किया गया है। जो उपदिष्ट तो है पर आचीर्ण नहीं है वह सुप्रज्ञप्त नहीं कहलाता[५]।

प्रवेदित, सु-आख्यात और सु-प्रज्ञप्त का संयुक्त अर्थ है—भगवान् ने षड्जीवनिका को जाना, उसका उपदेश किया और जैसे उपदेश किया वैसे स्वयं उसका आचरण किया।

८—धर्म-प्रज्ञप्ति (धम्मपन्नत्ती) :

'छज्जीवणिया' अध्ययन का ही दूसरा नाम 'धर्म-प्रज्ञप्ति' है[६]। जिससे धर्म जाना जाय उसे धर्म-प्रज्ञप्ति कहते हैं[७]।

९—पठन (अहिज्जिउं) :

इसका अर्थ है—अध्ययन करना[८]। पाठ करना, सुनना, विचारना—ये सब भाव 'अहिज्जिउं' शब्द में निहित हैं[९]।

१०—मेरे लिए (मे) :

'मे' शब्द का अर्थ है—अपनी आत्मा के लिए—स्वयं के लिए[१०]। कई व्याख्याकार 'मे' को सामान्यतः 'आत्मा' के स्थान में

१—हा० टी० प० १३७ : स्वयमेव केवलालोकेन प्रकर्षेण वेदिता—विज्ञातेत्यर्थः।

२—जि० चू० पृ० १३२ : प्रवेदिता नाम विविहमनेकपकारं कथितेत्युक्तं भवति।

३—(क) जि० चू० पृ० १३२ : सोमणेण पगारेण अक्खाता सुट्ठु वा अक्खाया।

(ख) हा० टी० प० १३७ : सदेवमनुष्यासुराणां पर्षदि सुष्ठु आख्याता, स्वाख्याता।

४—श्री महावीर कथा पृ० २१६।

५—(क) जि० चू० पृ० १३२ : जहेव परूविया तहेव आइण्णावि, इतरहा जइ उवईसिऊण न तहा आयरंतो तो नो सुपण्णता होंतित्ति।

(ख) हा० टी० प० १३७ : सुष्ठु प्रज्ञप्ता यथैव आख्याता तथैव सुष्ठु—सूक्ष्मपरिहारासेवनेन प्रकर्षेण सम्यगासेवितेत्यर्थः, अनेकार्थत्वाद्धातूनां ज्ञपिरासेवनार्थः।

६—हा० टी० प० १३८ : अन्ये तु व्याचक्षते—अध्ययनं धर्मप्रज्ञप्तिरिति पूर्वोपन्यस्ताध्ययनस्यैवोपादेयतयाऽनुवादमात्रमेतदिति।

७—(क) अ० चू० पृ० ७३ : धम्मो पण्णविज्जए जाए सा धम्मपण्णत्ती, अज्झयणविसेसो।

(ख) जि० चू० पृ० १३२ : धम्मो पण्णविज्जमाणो विज्जति जत्थ सा धम्मपन्नत्ती।

(ग) हा० टी० प० १३८ : 'धर्मप्रज्ञप्तिः' प्रज्ञपनं प्रज्ञप्तिः धर्मस्य प्रज्ञप्तिः धर्मप्रज्ञप्तिः।

८—जि० चू० पृ० १३२ : अहिज्जिउं नाम अज्झाइउं।

९—हा० टी० प० १३८ : 'अध्येतु' मिति पठितुं श्रोतुं भावयितुम्।

१०—(क) जि० चू० पृ० १३२ : 'मे' त्ति अत्तणो निद्देसे।

(ख) हा० टी० प० १३७ : ममेत्यात्मनिर्देशः।

प्रमुख मानते हैं—ऐसा उल्लेख हरिभद्र सूरि ने किया है[१]। यह अर्थ ग्रहण करने से अनुवाद होगा—'इस धर्म-प्रज्ञप्ति अध्ययन का पठन आत्मा के लिए श्रेय है।'

सूत्र ३ :

११ पृथ्वी-कायिक ...... त्रस-कायिक (पुढविकाइया ...... तसकाइया) :

जिन छह प्रकार के जीव-निकाय का उल्लेख है, उनका क्रमशः वर्णन इस प्रकार है :

(१) काठिन्य आदि लक्षण से जानी जानेवाली पृथ्वी ही जिनका काय—शरीर होता है उन जीवों को पृथ्वीकाय कहते हैं। पृथ्वीकाय जीव ही पृथ्वीकायिक कहलाते हैं।[२] मिट्टी, बालू, लवण, सोना, चाँदी, अभ्र आदि पृथ्वीकायिक जीवों के प्रकार हैं। इनकी विस्तृत तालिका उत्तराध्ययन में मिलती है[३]।

(२) प्रवाहशील द्रव्य—जल ही जिनका काय—शरीर होता है उन जीवों को अप्काय कहते हैं। अप्काय जीव ही अप्कायिक कहलाते हैं[४]। शुद्धोदक, ओस, हरतनु, महिका, हिम—ये सब अप्कायिक जीवों के प्रकार हैं[५]।

(३) उष्णलक्षण तेज ही जिनका काय—शरीर होता है उन जीवों को तेजस्काय कहते हैं। तेजस्काय जीव ही तेजस्कायिक कहलाते हैं[६]। अंगार, मुर्मुर, अग्नि, अर्चि, ज्वाला, उल्काग्नि, विद्युत् आदि तेजस्कायिक जीवों के प्रकार हैं[७]।

(४) चलनधर्मा वायु ही जिनका काय—शरीर होता है उन जीवों को वायुकाय कहते हैं। वायुकाय जीव ही वायुकायिक कहलाते हैं[८]। उत्कलिकावायु, मण्डलिकावायु, घनवायु, गुंजावायु, संवर्तकवायु आदि वायुकायिक जीव हैं[९]।

(५) लतादि रूप वनस्पति ही जिनका काय—शरीर होता है उन जीवों को वनस्पतिकाय कहते हैं। वनस्पतिकाय जीव ही वनस्पतिकायिक कहलाते हैं[१०]। वृक्ष, गुच्छ, लता, फल, तृण, आलू, मूली आदि वनस्पतिकायिक जीवों के प्रकार हैं[११]।

(६) त्रसनशील को त्रस कहते हैं। त्रस ही जिनका काय—शरीर है उन जीवों को त्रसकाय कहते हैं। त्रसकाय जीव ही त्रसकायिक कहलाते हैं[१२]। कृमि, शंख, कुंथु, पिपीलिका, मक्खी, मच्छर आदि तथा मनुष्य, पशु-पक्षी, तिर्यञ्च, देव और नैरयिक जीव त्रसजीव हैं[१३]।

स्वार्थ में इकण् प्रत्यय होने पर पृथ्वीकाय आदि से पृथ्वीकायिक आदि शब्द बनते हैं[१४]।

१—हा० टी० प० १३७ : आत्मनस्त्वात्मानाय्येन प्रमेयात्मनिर्देश इत्यन्ये।

२—हा० टी० प० १३८ : पृथिवी—काठिन्यादिलक्षणा प्रतीता सैव कायः—शरीरं येषां ते पृथिवीकायाः पृथिवीकाया एव पृथिवीकायिकाः।

३—उत्त० ३६.७२-७७।

४—हा० टी० प० १३८ : आपो—द्रवाः प्रतीता एव ता एव कायः—शरीरं येषां तेऽप्कायाः अप्काया एव अप्कायिकाः।

५—उत्त० ३६.८५।

६—हा० टी० प० १३८ : तेजः—उष्णलक्षणं प्रतीतं तदेव कायः—शरीरं येषां ते तेजःकायाः, तेजःकाया एव तेजःकायिकाः।

७—उत्त० ३६.११०-१।

८—हा० टी० प० १३८ : वायुः—चलनधर्मा प्रतीत एव स एव कायः—शरीरं येषां ते वायुकायाः वायुकाया एव वायुकायिकाः।

९—उत्त० ३६.११८-९।

१०—हा० टी० प० १३८ : वनस्पतिः—लतादिरूपः प्रतीतः, स एव कायः—शरीरं येषां ते वनस्पतिकायाः, वनस्पतिकाया एव वनस्पतिकायिकाः।

११—उत्त०—३६.९४-९।

१२—हा० टी० प० १३८ : एवं त्रसनशीलास्त्रसाः—प्रतीता एव, त्रसाः कायाः—शरीराणि येषां ते त्रसकायाः, त्रसकाया एव त्रसकायिकाः।

१३—उत्त० ३६.१२८-१२९, १३६-१३९, १४६-१४८, १५५।

१४—हा० टी० प० १३८ : स्वार्थिकष्ठक्।

सूत्र : ४

१२. शस्त्र (सत्थ) :

घातक पदार्थ को शस्त्र कहा जाता है । वे तीन प्रकार के होते हैं—स्वकाय-शस्त्र, परकाय-शस्त्र और उभयकाय-शस्त्र। एक प्रकार की मिट्टी से दूसरी प्रकार की मिट्टी के जीवों की घात होती है। वहाँ मिट्टी उन जीवों के लिए स्वकाय-शस्त्र है। वर्ण, गंध, रस, स्पर्श के भेद से एक काय दूसरे काय का शस्त्र हो जाता है। पानी, अग्नि आदि से मिट्टी के जीवों की घात होती है। वे उनके लिए परकाय-शस्त्र है। स्वकाय और परकाय दोनों संयुक्त-रूप से घातक होते हैं तब उन्हें उभयकाय-शस्त्र कहा जाता है। जिस प्रकार काली मिट्टी जल में मिलने पर जल और धोली मिट्टी—दोनों का शस्त्र होती है[1]।

१३. शस्त्र-परिणति से पूर्व (अन्नत्थ सत्थपरिणएणं) :

पूर्व शब्द 'अन्नत्थ' का भावानुवाद है। यहाँ 'अन्नत्थ'—अन्यत्र—शब्द का प्रयोग 'वर्जन कर—छोड़कर' अर्थ में है। 'अन्नत्थ सत्थपरिणएणं' का शाब्दिक अनुवाद होगा—शस्त्र-परिणत पृथ्वी को छोड़ कर—उसके सिवा अन्य पृथ्वी 'सजीव' होती है[2]।

'अन्यत्र' शब्द के योग में पञ्चमी विभक्ति होती है। जैसे—अन्यत्र भीष्माद् गाङ्गेयाद् अन्यत्र च हनूमतः।

१४. चित्तवती (चित्तमंतं) :

चित्त का अर्थ है जीव अथवा चेतना। पृथ्वी, जल आदि सजीव होते हैं, उनमें चेतना होती है इसलिए उन्हें चित्तवत् कहा गया है[3]।

'चित्तमंतं' के स्थान में वैकल्पिक पाठ 'चित्तमत्तं' है[4]। इसका संस्कृत रूप चित्तमात्र होता है। मात्र शब्द के स्तोक और परिमाण ये दो अर्थ माने हैं। प्रस्तुत विषय में 'मात्र' शब्द स्तोकवाची है[5]। पृथ्वीकाय आदि पाँच जीवनिकायों में चैतन्य स्तोक—

१—(क) दश० नि० २३१, हा० टी० प० १३९ : किंचित्स्वकायशस्त्रं, यथा कृष्णा मृद् नीलादिमृदः शस्त्रम्, एवं गन्धरसस्पर्शभेदेऽपि शस्त्रयोजना कार्या, तथा 'किञ्चित्परकाये' ति परकायशस्त्रं, यथा पृथ्वी अप्तेजःप्रभृतीनाम् अप्तेजः प्रभृतयो वा पृथिव्याः, 'तदुभयं किञ्चि' दिति किञ्चित्तदुभयशस्त्रं भवति, यथा कृष्णा मृद् उदकस्य स्पर्शरसगन्धादिभिः पाण्डुमृदश्च, यदा कृष्णमृदा कलुषितमुदकं भवति तदाऽसौ कृष्णमृद् उदकस्य पाण्डुमृदश्च शस्त्रं भवति।

(ख) जि० चू० पृ० १३७ : किंची ताव दव्वसत्थं सकायसत्थं किंचि परकायसत्थं किंचि उभयकायसत्थंति, तत्थ सकायसत्थं जहा किण्हमट्टिया नीलमट्टियाए सत्थं, एवं पंचवण्णादि परोप्परं सत्थं भवति, जहा य वण्णा तहा गंधरसफासावि भाणियव्वा, परकायसत्थं नाम पुढविकायो आउक्कायस्स सत्थं पुढविकायो तेउक्कायस्स पुढविकाओ वाउकायस्स पुढविकाओ वणस्सइकायस्स पुढविकाओ तसकायस्स, एवं सव्वे परोप्परं सत्थं भवंति, उभयसत्थं णाम जाहे किण्हमट्टियाए कलुसियमुदगं भवइ जाव परिणया।

२—(क) अ० चू० पृ० ७४ : अण्णत्थसद्दो परिवज्जणे वट्टति।

(ख) जि० चू० पृ० १३६ : अण्णत्थसद्दो परिवज्जणे वट्टइ, किं परिवज्जइयइ ? सत्थपरिणयं पुढविं मोत्तूणं जा अण्णा पुढवी सा चित्तमंता इति तं परिवज्जयति।

(ग) हा० टी० प० १३८-९ : अन्यत्र शस्त्रपरिणतायाः'—शस्त्रपरिणतां पृथिवीं विहाय—परित्यज्यान्या चित्तवत्याख्यातेत्यर्थः।

३—(क) जि० चू० पृ० १३५ : चित्तं जीवो भण्णइ, तं चित्तं जाए पुढवीए अत्थि सा चित्तमंता, चेयणाभावो भण्णइ, सो चेयणाभावो जाए पुढवीए अत्थि सा चित्तमंता।

(ख) हा० टी० प० १३८ : 'चित्तवती' ति चित्तं—जीवलक्षणं तदस्या अस्तीति चित्तवती—सजीवेत्यर्थः।

४—(क) जि० चू० पृ० १३५ : अहवा एवं पढिज्जइ 'पुढवि चित्तमत्तं अक्खाया'।

(ख) हा० टी० प० १३८ : पाठान्तरं वा 'पुढवी चित्तमत्तमक्खाया'।

५—(क) अ० चू० पृ० ७४ : इह मत्तासद्दो थोवे।

(ख) जि० चू० पृ० १३५ : चित्तं चेयणाभावो चेव भण्णइ, मत्तासद्दो दोसु अत्थेसु वट्टइ, तं०—थोवे वा, परिमाणे वा थोवओ जहा सरिसवत्तीभागमत्तमणेण दत्तं, परिमाणे परमोही अलोगे लोगप्पमाणमेत्ताइं खंडाइं जाणइ पासइ इह पुण मत्तासद्दो थोवे वट्टइ।

(ग) हा० टी० प० १३८ : अत्र मात्रशब्दः स्तोकवाची, यथा सर्षपत्रिभागमात्रमिति।

अल्प-विकसित है। उनमें उच्छ्वास, निमेष आदि जीव के लक्षण व्यक्त नहीं हैं[1]।

'मत्त' का अर्थ मूर्च्छित भी किया है। जिस प्रकार चित्त के विघातक कारणों से अभिभूत मनुष्य का चित्त मूर्च्छित हो जाता है वैसे ही ज्ञानावरण के प्रबलतम उदय से (टीकाकार के अनुसार प्रबल मोह के उदय से) पृथ्वी आदि एकेन्द्रिय जीवों का चैतन्य सदा मूर्च्छित रहता है। उनमें चैतन्य का विकास न्यूनतम होता है[2]।

द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी-पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्च व सम्मूर्च्छिम मनुष्य, गर्भज-तिर्यञ्च, गर्भज-मनुष्य, वाणव्यन्तर देव, भवनवासी देव, ज्योतिष्क-देव और वैमानिक-देव (कल्पोपपन्न, कल्पातीत, ग्रैवेयक और अनुत्तर विमान के देव) इन सबके चैतन्य का विकास उत्तरोत्तर अधिक होता है। एकेन्द्रियों में चैतन्य इन सबसे जघन्य होता है[3]।

१५. अनेक जीव और पृथक् सत्त्वों वाली (अणेगजीवा पुढोसत्ता)

वनस्पति के सिवाय शेष पांच जीव-निकायों में से प्रत्येक में असंख्य-असंख्य जीव हैं और वनस्पतिकाय में अनन्त जीव हैं। यहां असंख्य और अनन्त दोनों के लिए 'अनेक' शब्द का प्रयोग हुआ है। जिस प्रकार वेदों में 'पृथिवी देवता आपो देवता' द्वारा पृथिवी आदि को एक-एक माना है उस प्रकार जैन दर्शन नहीं मानता। वह पृथ्वी आदि प्रत्येक को अनेक जीव मानता है[4]। यहां तक कि मिट्टी के कण, जल की बूंद और अग्नि की चिनगारी में असंख्य जीव होते हैं। इनका एक शरीर दृश्य नहीं बनता। इनके शरीरों का पिण्ड ही हमें दीख सकता है[5]।

अनेक जीवों को मानने पर भी कई मत में एक ही भूतात्मा मानते हैं। उनका कहना है—जैसे चन्द्रमा एक होने पर भी जल में भिन्न-भिन्न दिखाई देता है इसी तरह एक ही भूतात्मा जीवों में भिन्न-भिन्न दिखाई देती है[6]। जैन-दर्शन में प्रत्येक जीव-निकाय के जीव या आत्मा एक नहीं है किन्तु संख्या-दृष्टि से अनन्त हैं।

१—(क) जि० चू० पृ० १३६ : चित्तमात्रमेव तेषां पृथिवीकायिकानां जीवितलक्षणं, न पुनरुच्छ्वासादीनि विद्यन्ते।

(ख) हा० टी० प० १३८ : मत्तं च चित्तमात्रा स्तोकचित्तेत्यर्थः।

२—(क) अ० चू० पृ० ७४ : अहवा चित्त मत्तमेतेसिं ते चित्तमत्ता, जहा पुरिसस्स मज्जपाणविसोवयोग-सप्पावराह-हिप्पूरभक्खण-मुच्छादीहिं चेतोविघातकारणेहिं जुगवदभिभूतस्स चित्त मत्त एवं पुढविकाइयाणं।

(ख) जि० चू० पृ० १३६ : जारिसा पुरिसस्स मज्जपीतविसोवभुत्तस्स अहिभक्खियमुच्छादीहिं अभिभूतस्स चित्तमत्ता तओ पुढविक्काइयाणं कम्मोदएण पावयरी, तत्थ सव्व जहण्णयं चित्तं एगिंदियाणं।

(ग) हा० टी० प० १३८ : तथा च प्रबलमोहोदयात् सर्वजघन्यं चैतन्यमेकेन्द्रियाणाम्।

३—(क) अ० चू० पृ० ७४ : सव्व जहण्णं चित्तं एगिंदियाणं, ततो विसुद्धतरं बेइंदियाणं ततो तेइंदियाणं, ततो चउरिंदियाणं, ततो असण्णीपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं, सम्मुच्छिममणूसाण य, ततो गब्भवक्कंतियतिरियाणं, ततो गब्भवक्कंतियमणूसाणं, ततो वाणमंतराणं, ततो भवणवासिणं ततो जोतिसियाणं ततो सोधम्मगाणं जाव सव्वुक्कस्सं अणुत्तरोववातियाणं देवाणं।

(ख) जि० चू० पृ० १३६ : तत्थ सव्वजहण्णयं चित्तं एगिंदियाणं, तओ विसुद्धयरं बेइंदियाणं, तओ विसुद्धतरागं तेइंदियाणं, तओ विसुद्धयरागं चउरिंदियाणं, तओ असण्णीणं पंचेंदियाणं सम्मुच्छिममणुयाण य, तओ सुद्धतरागं पंचिंदियतिरियाणं, तओ गब्भवक्कंतियमणुयाणं, तओ वाणमंतराणं, तओ भवणवासीणं ततो जोइसियाणं, ततो सोधम्माणं जाव सव्वुक्कोसं अणुत्तरोववाइयाण देवाणंति।

४—(क) जि० चू० पृ० १३६ : अणेगे जीवा णाम न जहा वेदिएहिं एगो जीवो पुढवित्ति, उक्तं—"पृथिवी देवता आपो देवता" इच्चेवमादि, इह पुण जिणसासणे अणेगे जीवा पुढवी भवति।

(ख) हा० टी० प० १३८ : इयं च 'अनेकजीवा' अनेके जीवा यस्यां साऽनेकजीवा, न पुनरेकजीवा, यथा वैदिकानां 'पृथिवी देवते' त्येवमादिवचनप्रामाण्यादिति।

५—(क) अ० चू० पृ० ७४ : ताणि पुण असंखेज्जाणि समुदिताणि चक्खुविसयमागच्छंति।

(ख) जि० चू० पृ० १३६ : असंखेज्जाण पुण पुढविजीवाण सरीराणि संहिताणि चक्खुविसयमागच्छंतित्ति।

६—हा० टी० प० १३८ : अनेकजीवाऽपि कैश्चिदेकभूतात्मापेक्षयेष्यत एव, यथाहुरेके "एक एव हि भूतात्मा, भूते भूते व्यवस्थितः। एकधा बहुधा चैव, दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥" अत आह—'पृथक्सत्त्वा' पृथग्भूताः सत्त्वाः—आत्मानो यस्यां सा पृथक्सत्त्वा।

जीवों में स्वरूप की सत्ता है। वे किसी एक ही महान् आत्मा के अवयव नहीं हैं, उनका स्वतन्त्र अस्तित्व है इसीलिए वे पृथक्सत्त्व हैं। जिनमें पृथक्भूत सत्त्व—आत्मा हो उन्हें पृथक्सत्त्व कहते हैं। इनकी अवगाहना इतनी सूक्ष्म होती है कि अंगुल के असंख्येय भाग-मात्र में अनेक जीव समा जाते हैं। यदि इन्हें सिलादि पर वांटा जाय तो कुछ पिसते हैं कुछ नहीं पिसते। इससे इनका पृथक् सत्त्व सिद्ध होता है।[1]

मुक्तिवाद और मितात्मवाद—ये दोनों आपस में टकराते हैं। आत्मा परिमित होगी तो या तो मुक्त आत्माओं को फिर से जन्म लेना होगा या संसार जीव-शून्य हो जाएगा। ये दोनों प्रमाण संगत नहीं हैं। आचार्य हेमचन्द्र ने इसे काव्य की भाषा में यों गाया है—

"मुक्तोऽपि वाभ्येतु भवं भवो वा,
भवस्थशून्योऽस्तु मितात्मवादे ।
षड्जीवकायं त्वमनन्तसंख्य-
माख्यस्तथा नाथ यथा न दोषः[2] ॥"

सूत्र ८ :

१६. अग्र-बीज.... (अग्गबीया)

वनस्पति के भिन्न-भिन्न भेद उत्पत्ति की भिन्नता के आधार पर किये गए हैं। उनके उत्पादक भाग को बीज कहा जाता है। वे विभिन्न होते हैं। 'कोरंटक' आदि के बीज उनके अग्र भाग होते हैं इसीलिए वे अग्रबीज कहलाते हैं[3]। उत्पल-कंद आदि के मूल ही उनके बीज हैं इसलिए वे मूलबीज कहलाते हैं[4]। इक्षु आदि के पर्व ही बीज हैं इसलिए वे 'पर्वबीज' कहलाते हैं[5]। थूहर, अश्वत्थ, कपित्थ (कैंथ) आदि के स्कंध ही बीज हैं इसलिए वे 'स्कंधबीज' कहलाते हैं[6]। शालि, गेहूं आदि मूल बीजरूप में ही हैं। वे 'बीजरुह' कहलाते हैं[7]।

१—(क) जि० चू० पृ० १३६ : पुढो सत्ता नाम पुढविक्कमोदएण सिलेसेण वट्टिया वट्टी पिहप्पिहं चऽवत्थियत्ति वुत्तं भवइ।
(ख) हा० टी० प० १३८ : अंगुलासंख्येयभागमात्रावगाहनया पारमार्थिक्याऽनेकजीवसमाश्रितेति भावः।

२—अन्ययोगव्यच्छेदद्वात्रिंशिका, श्लो० २६।

३—(क) अ० चू० पृ० ७५ : कोरेंटगादीणि अग्गाणि रुप्पंति ते अग्गबीता।
(ख) जि० चू० पृ० १३८ : अग्गबीया नाम अगं बीयाणि जेसिं ते अग्गबीया जहा कोरेंटगादी, तेसिं अग्गाणि रुप्पंति।
(ग) हा० टी० प० १३६ : अग्रं बीजं येषां ते अग्रबीजाः—कोरण्टकादयः।

४—(क) अ० चू० पृ० ७५ : कंदलिकंदादि मूलबीया।
(ख) जि० चू० पृ० १३८ : मूलबीया नाम उप्पलकंदादी।
(ग) हा० टी० प० १३६ : मूलं बीजं येषां ते मूलबीजा—उत्पलकंदादयः।

५—(क) अ० चू० पृ० ७५ : इक्खुमादि पोरबीया।
(ख) जि० चू० पृ० १३८ : पोरबीया नाम उक्खुमादी।
(ग) हा० टी० प० १३६ : पर्व बीजं येषां ते पर्वबीजा—इक्ष्वादयः।

६—(क) अ० चू० पृ० ७५ : णिहूमादी खंधबीया।
(ख) जि० चू० पृ० १३८ : खंधबीया नाम अस्सोत्थकविट्ठसल्लादिमायी।
(ग) हा० टी० प० १३६ : स्कंधो बीजं येषां ते स्कंधबीजाः—शल्लक्यादयः।

७—(क) अ० चू० पृ० ७५ : सालिमादी बीयरुहा।
(ख) जि० चू० पृ० १३८ : बीयरुहा नाम सालीवीहीमादी।
(ग) हा० टी० प० १३६ : बीजाद्रोहन्तीति बीजरुहाः—शाल्यादयः।

१७. सम्मूर्च्छिम (सम्मुच्छिमा) :

पद्मिनी, तृण आदि जो प्रसिद्ध बीज के बिना केवल पृथ्वी, पानी आदि कारणों को प्राप्त कर उत्पन्न होते हैं वे 'सम्मूर्च्छिम' कहलाते हैं। सम्मूर्च्छिम उत्पन्न नहीं होते हैं ऐसी बात नहीं है। वे दग्ध भूमि में भी उत्पन्न हो जाते हैं[१]।

१८. तृण (तण) :

घास मात्र को तृण कहा जाता है। दूब, काश, नागरमोथा, कुश अथवा दर्भ, उशीर आदि प्रसिद्ध घास हैं। 'तृण' शब्द के द्वारा सभी प्रकार के तृणों का ग्रहण किया गया है[२]।

१९. लता (लया) :

पृथ्वी पर या किसी बड़े वृक्ष पर लिपटकर ऊपर फैलने वाले पौधे को लता कहा जाता है। 'लता' शब्द के द्वारा सभी लताओं का ग्रहण किया गया है[३]।

२०. बीजपर्यन्त (सबीया) :

वनस्पति के दस प्रकार होते हैं मूल, कन्द, स्कन्ध, त्वचा, शाखा, प्रवाल, पत्र, पुष्प, फल और बीज। मूल की अंतिम परिणति बीज में होती है इसलिए 'स-बीज' शब्द वनस्पति के इन दसों प्रकारों का संग्राहक है[४]।

इसी सूत्र (८.२) में 'सबीयग' शब्द के द्वारा वनस्पति के इन्हीं दस भेदों को ग्रहण किया गया है[५]। शीलाङ्कसूरि ने 'सबीयग' शब्द के द्वारा केवल 'अनाज' का ग्रहण किया है[६]।

सूत्र ९ :

२१. अनेक बहु त्रस प्राणी (अणेगे बहवे तसा पाणा) :

त्रस जीवों की द्वीन्द्रिय आदि अनेक जातियाँ होती हैं और प्रत्येक जाति में बहुत प्रकार के जीव होते हैं इसलिए उनके पीछे 'अनेक' और 'बहु'—ये दो विशेषण प्रयुक्त किए हैं[७]। इनमें उच्छ्वासादि विद्यमान होते हैं अतः ये प्राणी कहलाते हैं[८]।

१—(क) अ० चू० पृ० ७५ : पउमिणिमादी उदगपुढविसिणेहसमुच्छणा समुच्छिमा।
(ख) जि० चू० पृ० १३८ : सम्मुच्छिमा नाम जे विणा बीयेण पुढविवरिसादीणि कारणाणि पप्प उट्ठेंति।
(ग) हा० टी० प० १४० : सम्मूर्च्छन्तीति सम्मूर्च्छिमा —प्रसिद्धबीजाभावेन पृथिवीवर्षादिसमुद्भवास्तथाविधास्तृणादयः, न चैते न सम्भवन्ति, दग्धभूमावपि सम्भवात्।

२—जि० चू० पृ० १३८ : तणग्गहणेण तणभेया गहिया।

३—जि० चू० पृ० १३८ : लताग्गहणेण लताभेदा गहिया।

४—(क) जि० चू० पृ० १३८ : सबियग्गहणेण एतस्स चेव वणस्सइकाइयस्स बीयपज्जवसाणा दस भेदा गहिया भवन्ति—तं जहा—
मूले कंदे खंधे तया य साले तहप्पवाले य।
पत्ते पुप्फे य फले बीए दसमे य नायव्वा॥
(ख) अ० चू० पृ० ७५ : सबीया इति बीयावसाणा दस वनस्सतिभेदा संगहतो दरिसिता।

५—जि० चू० पृ० २७४ : सबीयग्गहणेण मूलकन्दादिबीयपज्जवसाणस्स पुव्वभणितस्स दसपगारस्स वणप्फतिणो गहणं।

६—सू० १.९.८ टी० प० १७९ : 'पुढवी उ अगणी वाऊ, तणरुक्ख सबीयगा' सह बीजैर्वर्तन्त इति सबीजाः, बीजानि तु शालिगोधूमयवादीनि।

७—(क) अ० चू० पृ० ७७ : 'अणेगा' अनेग भेदा बेइन्दियादतो। 'बहवे' इति बहुभेदा जाति-कुलकोडि-जोणी-पमुहसतसहस्सेहिं पुणरवि संखेज्जा।
(ख) जि० चू० पृ० १३९ : अणेगे नाम एक्कम्मि चेव जातिभेदे असंखेज्जा जीवा इति।
(ग) हा० टी० प० १४१ अनेके—द्वीन्द्रियादिभेदेन बहवः एकैकस्यां जातौ।

८—(क) अ० चू० पृ० ७७ : 'पाणा' इति जीवाः प्राणन्ति वा निःश्वसन्ति वा।
(ख) हा० टी० प० १४१ : प्राणा—उच्छ्वासादय एषां विद्यन्त इति प्राणिनः।

त्रस दो प्रकार के होते हैं—लब्धि-त्रस और गति-त्रस। जिन जीवों में साभिप्राय गति करने की शक्ति होती है वे लब्धि-त्रस होते हैं और जिनमें अभिप्रायपूर्वक गति नहीं होती, केवल गति मात्र होती है, वे गति-त्रस कहलाते हैं। अग्नि और वायु को सूत्रों में त्रस कहा है पर वे गति-त्रस हैं। जिन्हें उदार त्रस प्राणी कहा है वे लब्धि-त्रस हैं[1]। प्रस्तुत सूत्र में त्रस के जो लक्षण बतलाए हैं वे लब्धि-त्रस के हैं।

२२. अण्डज (अंडया) :

अण्डों से उत्पन्न होने वाले मयूर आदि अण्डज कहलाते हैं[2]।

२३. पोतज (पोयया) :

'पोत' का अर्थ शिशु है। जो शिशुरूप में उत्पन्न होते हैं, जिन पर कोई आवरण लिपटा हुआ नहीं होता, वे पोतज कहलाते हैं। हाथी, चर्म-जलौका आदि पोतज प्राणी हैं[3]।

२४. जरायुज (जराउया) :

जन्म के समय में जो जरायु-वेष्टित दशा में उत्पन्न होते हैं वे जरायुज कहलाते हैं। भैंस, गाय आदि इसी रूप में उत्पन्न होते हैं। जरायु का अर्थ गर्भ-वेष्टन या वह झिल्ली है जो शिशु को आवृत किए रहती है[4]।

२५. रसज (रसया) :

छाछ, दही आदि रसों में उत्पन्न होने वाले सूक्ष्म शरीरी जीव रसज कहलाते हैं[5]।

२६. संस्वेदज (संसेइमा) :

पसीने से उत्पन्न होने वाले खटमल, यूका—जूं आदि जीव संस्वेदज कहलाते हैं[6]।

२७. सम्मूर्च्छनज (सम्मुच्छिमा) :

बाहरी वातावरण के संयोग से उत्पन्न होने वाले शलभ, चींटी, मक्खी आदि जीव सम्मूर्च्छनज कहलाते हैं[7]। सम्मूर्च्छिम मातृ-पितृहीन प्रजनन है। यह सर्दी, गर्मी आदि बाहरी कारणों का संयोग पाकर उत्पन्न होता है। सम्मूर्च्छन का शाब्दिक अर्थ है— घना होने,

---

१—ठा० ३.३२६ : तिविहा तसा प० तं०—तेउकाइया वाउकाइया उराला तसा पाणा।

२—(क) अ० चू० पृ० ७७ : अण्डजाता 'अण्डजा' मयूरादयः।
(ख) जि० चू० पृ० १३९ : अंडसंभवा अंडजा जहा हंसमयूरायिणो।
(ग) हा० टी० प० १४१ : पक्षिगृहकोकिलादयः।

३—(क) अ० चू० पृ० ७७ : पोतमिव सूयते 'पोतजा' वल्गुलीमादयः।
(ख) जि० चू० पृ० १३९ : पोतया नाम वग्गुलीमाइणो।
(ग) हा० टी० प० १४१ : पोता एव जायन्त इति पोतजाः·········ते च हस्तीवल्गुलीचर्मजलौकाप्रभृतयः।

४—(क) अ० चू० पृ० ७७ : जराउवेढिता जायंती 'जराउजा' गवादयः।
(ख) जि० चू० पृ० १३९-४० : जराउया नाम जे जरवेढिया जायंति जहा गोमहिसादि।
(ग) हा० टी० प० १४१ : जरायुवेष्टिता जायन्त इति जरायुजा—गोमहिष्यजाविकमनुष्यादयः।

५—(क) अ० चू० पृ० ७७ : रसा ते भवंति रसजा, तक्कादौ सुहुमसरीरा।
(ख) जि० चू० पृ० १४० : रसया नाम तक्कंबिलमाइसु भवंति।
(ग) हा० टी० प० १४१ : रसाज्जाता रसजाः—तक्रारनालदधितीमनादिषु पायुकृम्याकृतयोऽतिसूक्ष्मा भवन्ति।

६—(क) अ० चू० पृ० ७७ : 'संस्वेदजा' यूगादतः।
(ख) जि० चू० पृ० १४० : संसेयणा नाम जूयादी।
(ग) हा० टी० प० १४१ : संस्वेदाज्जाता इति संस्वेदजा—मत्कुणयूकाशतपदिकादयः।

७—(क) अ० चू० पृ० ७७ : सम्मुच्छिमा करीसादिसु मच्छिकादतो भवंति।
(ख) जि० चू० पृ० १४० : संमुच्छिमा नाम करीसादिसंमुच्छिया।
(ग) हा० टी० प० १४१ : संमूर्च्छनाज्जाता संमूर्च्छनजाः—शलभपिपीलिकामक्षिकाशालूकादयः।

बढ़ते या फैलते भी नहीं। जो जीव गर्भ के बिना उत्पन्न होते हैं, बढ़ते हैं और फैलते हैं वे 'सम्मूर्च्छनज' या सम्मूर्च्छिम कहलाते हैं। वनस्पति जीवों के सभी प्रकार 'सम्मूर्च्छिम' होते हैं। फिर भी उत्पादक अवयवों के विकास-भेद से केवल उन्हीं को सम्मूर्च्छिम कहा गया है जिनका बीज प्रसिद्ध न हो और जो पृथ्वी, पानी और स्नेह के उचित योग से उत्पन्न होते हों।

इसी प्रकार रसज, संस्वेदज और उद्भिज ये सभी प्राणी 'सम्मूर्च्छिम' हैं। फिर भी उत्पत्ति की विशेष सामग्री को ध्यान में रख कर इन्हें 'सम्मूर्च्छिम' से पृथक् माना गया है। चार इन्द्रिय तक के सभी जीव सम्मूर्च्छिम ही होते हैं और पञ्चेन्द्रिय जीव भी सम्मूर्च्छिम होते हैं। इनकी योनि पृथक्-पृथक् होती है जैसे पानी की योनि पवन है, घास की योनि पृथ्वी और पानी है। इनमें कई जीव स्वतन्त्र भाव से उत्पन्न होते हैं और कई अपनी जाति के पूर्वोत्पन्न जीवों के संसर्ग से। ये संसर्ग से उत्पन्न होने वाले जीव गर्भज समझे जाते हैं। किन्तु वास्तव में गर्भज नहीं होते। उनमें गर्भज जीव का लक्षण मानसिक ज्ञान नहीं मिलता। सम्मूर्च्छिम और गर्भज जीवों में भेद करने वाला मन है। जिनके मन होता है वे गर्भज और जिनके मन नहीं होता वे सम्मूर्च्छिम होते हैं।

२८. उद्भिज (उब्भिया) :

पृथ्वी को भेदकर उत्पन्न होने वाले पतंग, खञ्जरीट (शरद् ऋतु से शीतकाल तक दिखाई देने वाला एक प्रसिद्ध पक्षी) आदि उद्भिज्ज या उद्भिज कहलाते हैं[1]।

छान्दोग्य उपनिषद् में पक्षी आदि भूतों के तीन बीज माने हैं —अण्डज, जीवज और उद्भिज्ज[2]। शाङ्कर भाष्य में 'जीवज' का अर्थ जरायुज किया है[3]। स्वेदज और संशोकज का यथासम्भव अण्डज और उद्भिज्ज में अन्तर्भाव किया है[4]। उद्भिज्ज —जो पृथ्वी को ऊपर की ओर भेदन करता है उसे उद्भिद् यानी स्थावर कहते हैं, उससे उत्पन्न हुए का नाम उद्भिज्ज है, अथवा धाना (बीज) उद्भिद् है उससे उत्पन्न हुआ उद्भिज्ज स्थावर बीज अर्थात् स्थावरों का बीज है[5]।

ऊष्मा से उत्पन्न होने वाले जीवों को संशोकज माना गया है। जैन दृष्टि से इसका सम्मूर्च्छिम में अन्तर्भाव हो सकता है।

२९. औपपातिक (उववाइया)

उपपात का अर्थ है—अचानक घटित होने वाली घटना। देवता और नारकीय जीव एक मुहूर्त्त के भीतर ही पूर्ण युवा बन जाते हैं इसीलिए इन्हें औपपातिक - अकस्मात् उत्पन्न होने वाला कहा जाता है[6]। इनके मन होता है इसलिए ये सम्मूर्च्छिम नहीं हैं। इनके माता-पिता नहीं होते इसलिए ये गर्भज भी नहीं हैं। इनकी औत्पत्तिक-योग्यता पूर्वोक्त सभी से भिन्न है इसलिए इनकी जन्म-पद्धति को स्वतन्त्र नाम दिया गया है।

ऊपर में वर्णित पृथ्वीकायिक से लेकर वनस्पतिकायिक पर्यंत जीव स्थावर कहलाते हैं।

त्रस जीवों का वर्गीकरण अनेक प्रकार से किया गया है। जन्म के प्रकार की दृष्टि से जो वर्गीकरण होता है वही अण्डज आदि रूप है।

३०. सब प्राणी सुख के इच्छुक हैं (सव्वे पाणा परमाहम्मिया) :

'परम' का अर्थ प्रधान है। जो प्रधान है वह सुख है। 'अपरम' का अर्थ है न्यून। जो न्यून है वह दुःख है। 'धर्म' का अर्थ है

१—(क) अ॰ चू॰ पृ॰ ७७ : 'उब्भिया' भूमिं भिंदिऊण निद्धावंति सलभादयो।
(ख) जि॰ चू॰ पृ॰ १४० : उब्भिया नाम भूमिं भेत्तूण पसालया सत्ता उप्पज्जंति।
(ग) हा॰ टी॰ प॰ १४१ : उद्भेदाज्जन्म येषां ते उद्भेदाः, अथवा उद्भेदनमुद्भित् उद्भिज्जन्म येषां ते उद्भिज्जाः — पतङ्गखञ्जरीटपारिप्लवादयः।

२—छान्दो॰ ६.३.१ : तेषां खल्वेषां भूतानां त्रीण्येव बीजानि भवन्त्याण्डजं जीवजमुद्भिज्जमिति।

३—वही, शाङ्कर भाष्य — जीवाज्जातं जीवजं जरायुजमित्येतत्पुरुषपश्वादि।

४—वही, स्वेदजसंशोकजयोरण्डजोद्भिज्जयोरेव यथासंभवमन्तर्भावः।

५—वही, उद्भिज्जमुद्भिनत्तीत्युद्भित्स्थावरं ततो जातमुद्भिज्जं धाना वोद्भित्ततो जायत इत्युद्भिज्जं स्थावरबीजं स्थावराणां बीजमित्यर्थः।

६—(क) अ॰ चू॰ पृ॰ ७७ : 'उववातिया' नारग-देवा।
(ख) जि॰ चू॰ पृ॰ १४० : उववाइया नाम नारगदेवा।
(ग) हा॰ टी॰ प॰ १४१ : उपपाताज्जाता उपपातजाः अथवा उपपाते भवा औपपातिकाः—देवा नारकाश्च।

स्वभाव । परम जिनका धर्म है अर्थात् सुख जिनका स्वभाव है वे परम-धार्मिक कहलाते हैं[1]। दोनों चूर्णियों में 'पर-धम्मिता' ऐसा पाठान्तर है। एक जीव से दूसरा जीव 'पर' होता है। जो एक का धर्म है वही पर का है—दूसरे का है। सुख की जो अभिलाषा एक जीव में है वही पर में है—शेष सब जीवों में है। इस दृष्टि से जीवों को 'पर-धार्मिक' कहा जाता है[2]।

चूर्णिकार 'सव्वे' शब्द के द्वारा केवल त्रस जीवों का ग्रहण करते हैं। किन्तु टीकाकार उसे त्रस और स्थावर दोनों प्रकार के जीवों का संग्राहक मानते हैं[3]।

सुख की अभिलाषा प्राणी का सामान्य लक्षण है। त्रस और स्थावर सभी जीव सुखाकांक्षी होते हैं। इसलिए 'परमाहम्मिया' केवल त्रस जीवों का ही विशेषण क्यों? यह प्रश्न होता है। टीकाकार इसे त्रस और स्थावर दोनों का विशेषण मान उक्त प्रश्न का उत्तर देते हैं। किन्तु वहाँ एक दूसरा प्रश्न और खड़ा हो जाता है। वह यह है—प्रस्तुत सूत्र में त्रस जीवनिकाय का निरूपण है। इसमें त्रस जीवों के लक्षण और प्रकार बतलाए गए हैं। इसलिए यहाँ स्थावर का संग्रहण प्रासंगिक नहीं लगता। इन दोनों बाधाओं को पार करने का एक तीसरा मार्ग है। उसके अनुसार 'पाणा परमाहम्मिया' का अर्थ वह नहीं होता, जो चूर्णिकार और टीकाकार ने किया है। यहाँ 'पाणा' शब्द का अर्थ मातंग[4] और 'परमाहम्मिया' का अर्थ परमाधार्मिक देव होना चाहिए[5]। जिस प्रकार तिर्यग्-योनिक, नैरयिक, मनुष्य और देव ये त्रस जीवों के प्रकार बतलाये हैं, उसी प्रकार परमाधार्मिक भी उन्हीं का एक प्रकार है। परमाधार्मिकों का शेष सब जीवों से पृथक् उल्लेख आवश्यक[6] और उत्तराध्ययन[7] आगम में मिलता है। बहुत संभव है यहां भी उनका और सब जीवों से पृथक् उल्लेख किया गया हो। 'पाणा परमाहम्मिया' का उक्त अर्थ करने पर इसका अनुवाद और पूर्वापर संगति इस प्रकार होगी—सब मनुष्य और सब मातंग स्थानीय परमाधार्मिक हैं—वे त्रस हैं।

सूत्र १० :

३१. इन (इच्चेसिं) :

'इति' शब्द का व्यवहार अनेक अर्थों में होता है। प्रस्तुत व्याख्याओं में प्राप्त अर्थ ये हैं—

हेतु—वर्षा हो रही है इसलिए दौड़ रहा है।

इस प्रकार—ब्रह्मवादी इस प्रकार कहते हैं।

आमंत्रण—'धम्मएति' हे धार्मिक, 'उवएसएति'—हे उपदेशक!

परिसमाप्ति—इति खलु समणे भगवं महावीरे।

प्रकार।

उप-प्रदर्शन—पूर्व वृत्तान्त या पुरावृत्त को बताने के लिए—इच्चेये पंचविहे ववहारे—ये पाँच प्रकार के व्यवहार हैं।

१—(क) अ० चू० पृ० ७७ : सव्वेपाणा 'परमाहम्मिया'। परमं पहाणं, तं च सुहं। अपरमं ऊणं तं पुण दुक्खं। धम्मो सभावो। परमो धम्मो जेसिं ते परमधम्मिता। यदुक्तम्—सुखस्वभावाः।

(ख) जि० चू० पृ० १४१ : परमाहम्मिया नाम अपरमं दुक्खं परमं सुहं भण्णइ, सव्वे पाणा परमाधम्मिया-सुहाभिकंखिणोत्ति वुत्तं भवइ।

(ग) हा० टी० प० १४२ : परमधर्माण इति—अत्र परमं—सुखं तद्धर्माणः सुखधर्माणः—सुखाभिलाषिण इत्यर्थः।

२—(क) अ० चू० पृ० ७७ : पाठविसेसो परधम्मिता—परा जाति जाति पडुच्च सेसा—जो त परेति धम्मो सो तेसिं, जहा एगस्स अभिलासप्रीतिप्पभितीणि संभवंति तहा सेसाण वि अतो परधम्मिता।

(ख) जि० चू० पृ० १४१ : अहवा एयं सुत्तं एवं पढिज्जइ 'सव्वे पाणा परधम्मिता' इक्किक्कस्स जीवस्स सेसा जीवभेदा परा, ते य सव्वे सुहाभिकंखिणोत्ति वुत्तं भवति, जो तेसिं एक्कस्स धम्मो सो सेसाणंपित्तिकाऊण सव्वे पाणा परमाहम्मिया।

३—(क) जि० चू० पृ० १४१ : सव्वे तसा भवंति।

(ख) हा० टी० प० १४२ : 'सर्वे प्राणिनः परमधर्माण' इति सर्व एते प्राणिनो—द्वीन्द्रियादयः पृथिव्यादयश्च।

४—पाइ० ना० १०५ : मायंगा तह जणंगमापाणा।

५—सम० १५ टीका प० २६ : तत्र परमाश्च तेऽधार्मिकाश्च संक्लिष्टपरिणामत्वात्परमाधार्मिकाः—असुरविशेषाः।

६—आव० ४.६ : चउद्दसहिं भूयगामेहिं, पन्नरसहिं परमाहम्मिएहिं।

७—उत्त० ३१.१२ : किरियासु भूयगामेसु, परमाहम्मिएसु य।
जे भिक्खू जयई निच्चं, से न अच्छइ मण्डले॥

अगस्त्यसिंह के अनुसार प्रस्तुत प्रकरण में 'इति' शब्द का प्रयोग 'प्रकार' अथवा 'हेतु' के अर्थ में हुआ है। जिनदास महत्तर के अनुसार उसका प्रयोग उप-प्रदर्शन के अर्थ में और हरिभद्र सूरि के अनुसार हेतु के अर्थ में हुआ है[1]।

'इच्चेतेहिं छहिं जीवनिकाएहिं' अगस्त्यसिंह स्थविर ने यहाँ सप्तमी विभक्ति के स्थान पर तृतीया विभक्ति मानी है[2]। टीकाकार को 'इच्चेसिं छण्हं जीवनिकायाणं' यह पाठ अभिमत है और उनके अनुसार यहाँ सप्तमी विभक्ति के अर्थ में षष्ठी विभक्ति का प्रयोग हुआ है[3]।

३२. दंड-समारम्भ (दंडं समारंभेज्जा) :

अगस्त्य चूर्णि में 'दंड' का अर्थ शरीर आदि का निग्रह—दमन करना किया है[4]। जिनदास चूर्णि[5] और टीका[6] में इसका अर्थ संघट्टन, परितापन आदि किया है। कौटिल्य ने इसके तीन अर्थ किए हैं : वध—प्राणहरण, परिक्लेश—बन्धन, ताड़ना आदि से क्लेश उत्पन्न करना और अर्थ-हरण—धनापहरण[7]।

'दण्ड' शब्द का अर्थ यहाँ बहुत ही व्यापक है। मन, वचन और काया की कोई भी प्रवृत्ति जो दुःख-जनक या परिताप-जनक हो वह दण्ड शब्द के अन्तर्गत है। समारम्भ का अर्थ है करना।

३३. यावज्जीवन के लिए (जावज्जीवाए)

'यावज्जीवन' अर्थात् जीवन-भर के लिए। जब तक शरीर में प्राण रहे उस समय तक के लिए[8]। हरिभद्र सूरि के अनुसार 'इच्चेसिं ... न समणुजाणेज्जा' तक के शब्द भगवान् के हैं[9]। जिनदास महत्तर के अनुसार 'इच्चेसिं ... तिविहं तिविहेणं' तक के शब्द आचार्य के हैं[10]।

१—(क) अ० चू० पृ० ७८ : इतिसद्दो अणेगत्थो अत्थि, हेतौ—वरिसतीति धावति, एवमत्थो—इति 'ब्रह्मवादिनो' वदन्ति, आद्यर्थे—इत्याह भगवां नास्तिक, परिसमाप्तौ—अ अ इति, प्रकारे—इति बहुविह-मुक्खा। इह इतिसद्दो प्रकारे—पुढविकाइयादिसु विहुमट्टितादिप्रकारेसु, अहवा हेतौ—जम्हा परमन्नियमा सुहसाया दुक्खपडिकूला। 'इच्चेतेसु', एतेसु अणन्तराणुवत्तं पच्चक्खमुवदंसिज्जति।

(ख) जि० चू० पृ० १४२ : इतिसद्दो अणेगेसु अत्थेसु वट्टइ, त—आमंतणे परिसमत्तीए उवप्पदरिसणे य, आमंतणे जहा धम्मएति वा उवएसएति वा एवमादी, परिसमत्तीए जहा 'इति खलु समणे भगवं ! महावीरे' एवमादी, उवप्पदरिसणे जहा 'इच्चेए पंचविहे ववहारे' एत्थ पुण इच्चेतेहिं एसो सद्दो उवप्पदरिसणे दट्ठव्वो, किं उवप्पदरिसयति ?, जे एते जीवाभिगमस्स छ भेया भणिया।

(ग) हा० टी० प० १४३ : 'इच्चेसिं' इत्यादि, सर्वे प्राणिनः परमधर्माण इत्यनेन हेतुना।

२—अ० चू० पृ० ७८ : हिसद्दो सत्तम्यर्थेनेव।

३—(क) अ० चू० पृ० ७८ : 'एतेहिं छहिं जीवनिकाएहिं'।

(ख) हा० टी० प० १४३ : 'एतेषां षण्णां जीवनिकायाना' मिति, सुपां सुपो भवन्तीति सप्तम्यर्थे षष्ठी।

४—अ० चू० पृ० ७८ : दण्डो सरीरादिनिग्गहो।

५—जि० चू० पृ० १४२ : दंडो संघट्टणपरितावणादि।

६—हा० टी० प० १४३ : 'दण्डं' संघट्टनपरितापनादिलक्षणम्।

७—कौटिलीय अर्थ० २.१०.२८ : वध-परिक्लेशोऽर्थहरणं दण्ड इति (व्याख्या)—वधो व्यापादनं, परिक्लेशो बन्धनताडनादिभिर्दुःखोत्पादनम्, अर्थ-हरणं धनापहार, इदं त्रयं दण्डः।

८—(क) अ० चू० पृ० ७८ : असमारम्भकालावधारणमिदम्—'जावज्जीवाए' जाव पाणा धारेति।

(ख) जि० चू० पृ० १४२ : सीसो भणइ—केच्चिरं कालं ?, आयरिओ भणइ—जावज्जीवाए, ण उ जहा लोइयाणं विन्नवओ होऊण पच्छा पडिसेवइ, किन्तु अरहाण जावज्जीवाए वट्टति।

(ग) हा० टी० प० १४३ : जीवनं जीवा यावज्जीवा यावज्जीवम्—आप्राणोपरमात्।

९—हा० टी० प० १४३ : 'न समनुजानीयात्' नानुमोदयेदिति विधायकं भगवद्वचनम्।

१०—जि० चू० पृ० १४२-४३ : आयरिओ भणइ—जावज्जीवाए ... तिविहं तिविहेणं'ति तत्थ मणसा न चिंतयइ ... इत्युक्तेवं न करेइ।

३४. तीन करण तीन योग से (तिविहं तिविहेणं) :

क्रिया के तीन प्रकार हैं—करना, कराना और अनुमोदन करना। इन्हें योग कहा जाता है। क्रिया के साधन भी तीन होते हैं—मन, वाणी और शरीर। इन्हें करण कहा जाता है। स्थानांग में इन्हें योग, प्रयोग और करण कहा है।[1]

हरिभद्र सूरि ने 'त्रिविधं' से कृत, कारित और अनुमति का तथा 'त्रिविधेन' से मन, वाणी और शरीर इन तीन करणों का ग्रहण किया है[2]। यहाँ अगस्त्यसिंह मुनि की परम्परा दूसरी है। वे 'तिविहं' से मन, वाणी और शरीर का तथा 'तिविहेणं' से कृत, कारित और अनुमति का ग्रहण करते हैं[3]। इसके अनुसार कृत, कारित और अनुमोदन को करण तथा मन, वाणी और शरीर को योग कहा जाता है। आगम की भाषा में योग का अर्थ है—मन, वाणी और शरीर का कर्म। साधारण दृष्टि से यह क्रिया है किन्तु जितना भी किया जाता है, कराया जाता है और अनुमोदन किया जाता है उसका साधन मन, वाणी और शरीर ही है। इस दृष्टि से इन्हें करण भी कहा जा सकता है। जहाँ क्रिया और क्रिया के हेतु की अभेद-विवक्षा हो वहाँ ये क्रिया या योग कहलाते हैं और जहाँ उनकी भेद-विवक्षा हो वहाँ ये करण कहलाते हैं। इसलिए इन्हें कहीं योग और कहीं करण कहा गया है[4]।

३५. मन से, वचन से, काया से (मणेणं वायए काएणं) :

मन, वचन और काया—कृत, कारित और अनुमोदन—इनके योग से हिंसा के नौ विकल्प बनते हैं। अगस्त्यसिंह स्थविर ने उन्हें इस प्रकार स्पष्ट किया है—

जो दूसरे को मारने के लिए सोचे कि मैं इसे कैसे मारूँ? वह मन के द्वारा हिंसा करता है। वह इसे मार डाले—ऐसा सोचना मन के द्वारा हिंसा कराना है। कोई किसी को मार रहा हो—उससे सन्तुष्ट होना—राजी होना मन के द्वारा हिंसा का अनुमोदन है।

वैसा बोलना जिससे कोई दूसरा मर जाए—वचन से हिंसा करना है। किसी को मारने का आदेश देना—वचन से हिंसा कराना है। अच्छा मारा—यह कहना वचन से हिंसा का अनुमोदन है।

स्वयं किसी को मारे—यह कायिक हिंसा है। हाथ आदि से किसी को मरवाने का संकेत करना—काया से हिंसा कराना है। कोई किसी को मारे—उसकी शारीरिक संकेतों से प्रशंसा करना—काय से हिंसा का अनुमोदन है[5]।

'मणेणं...न समणुजाणामि' इन शब्दों में शिष्य कहता है—मैं मन, वचन, काया से षट्-जीवनिकाय के जीवों के प्रति दंड-समारंभ नहीं करूँगा, नहीं कराऊँगा[4] और न करने वाले का अनुमोदन करूँगा[6]।

१—ठा० ३.१३-१५ : तिविहे जोगे—मणजोगे, वतिजोगे, कायजोगे।
तिविहे पओगे—मणपओगे, वतिपओगे, कायपओगे।
तिविहे करणे मणकरणे, वतिकरणे, कायकरणे।

२—हा० टी० प० १४३ : 'त्रिविधं त्रिविधेने'ति तिस्रो विधा—विधानानि कृतादिरूपा अस्येति त्रिविधः, दण्ड इति गम्यते, तं त्रिविधेन - करणेन, एतदुपन्यस्यति—मनसा वाचा कायेन।

३—अ० चू० पृ० ७८ : तिविहं ति मणो-वयण-कातो। तिविहेणं ति करण-कारावणा-अणुमोयणाणि।

४ भगवती जोड़ श० १५ दु० १११-११२ : अथवा तिविहेणं तिकी, त्रिविध त्रिभेदे शुद्ध।
करण करावण अनुमति, द्वितीय अर्थ अनिरुद्ध ॥
त्रिकरण शुद्धे णं कह्यो, मन, वच, काया जोय।
ए तीनूइं जोग तसूं, शुद्ध करी अवलोय ॥

५—(क) अ० चू० पृ० ७८ : मणेण दंडं करेति—सयं मारणं चिन्तयति कहमहं मारेज्जामि, मणेण कारयति - जदि एसो मारेज्जा, मनसा अनुमोदति—मारेंतस्स तुस्सति, वायाए पाणातिवातं करेति - तं भणति जेण अद्धितीए मरति, वायाए कारेति—मारणं संदिसति, वायाए अणुमोदति—सुट्ठु हतो; कातेण मारेति—सयमाहणति काएण कारयति - पाणिप्पहारादिणा, काएणाणुमोदति मारेंतं छोडिकादिना पसंसति।

(ख) जि० चू० पृ० १४२-१४३ : सयं मणसा न चितयइ जहा वहयामित्ति, वायाएवि न एवं भणइ—जहा एस वहेज्जउ, कायेन न पहिणति, अन्नस्सवि णेत्तादीहिं णो तारिसं भावं दरिसयइ जहा परो तस्स माणसियं णाऊण सत्तोवघायं करेइ, वायाएवि संदेसं न देइ जहा तं घाएहित्ति, काएणवि णो हत्थादिणा सण्णेई जहा एयं मारयाहि, घातंतंपि अन्नं दट्ठूणं मनसा तुट्ठिं न करेइ, वायाएवि पुच्छिओ संतो अणुमइं न देइ, काएणावि परेण पुच्छिओ संतो हत्थुक्खेवं न करेइ।

६—हा० टी० प० १४३ : मनसा वाचा कायेन, एतेषां स्वरूपं प्रसिद्धमेव, अस्य च करणस्य कर्म उक्तलक्षणो दण्डः।

३६ भंते (भंते) :

यह गुरु का सम्बोधन है। टीकाकार ने इसके संस्कृत रूप तीन दिए हैं— भदन्त, भवान्त और भयान्त[1]। व्रत-ग्रहण गुरु के साक्ष्य से होता है। इसलिए शिष्य गुरु को सम्बोधित कर अपनी भावना का निवेदन करता है[2]।

इस सम्बोधन की उत्पत्ति के विषय में चूर्णिकार कहते हैं : गणधरों ने भगवान से अर्थ सुन कर व्रत ग्रहण किये। उस समय उन्होंने 'भंते' शब्द का व्यवहार किया। तभी से इसका प्रयोग गुरु को आमन्त्रण करने के लिए होता आ रहा है[3]।

३७ अतीत में किये (तस्स) :

गत काल में दण्ड-समारम्भ किये हैं उनसे। सम्बन्ध या अवयव में षष्ठी का प्रयोग है[4]।

३८. निवृत्त होता हूँ (पडिक्कमामि) :

अकरणीय कार्य के परिहार की जैन-प्रक्रिया इस प्रकार है अतीत का प्रतिक्रमण, वर्तमान का संवरण और अनागत का प्रत्याख्यान। प्रतिक्रमण का अर्थ है अतीतकालीन पाप-कर्म से निवृत्त होना[5]।

३९. निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ (निंदामि गरिहामि) :

निन्दा का अर्थ आत्मालोचन है। वह अपने-आप किया जाता है। दूसरों के समक्ष जो निन्दा की जाती है। उसे गर्हा कहा जाता है। हरिभद्र सूरि ने निन्दा तथा गर्हा में यही भेद बताया है[6]। पहले जो अज्ञान भाव से किया हो उसके सम्बन्ध में पश्चात्ताप से हृदय में दाह का अनुभव करना—जैसे मैंने बुरा किया, बुरा कराया, बुरा अनुमोदन किया—वह निन्दा है। गर्हा का अर्थ है—भूत, वर्तमान और आगामी काल में न करने के लिए उद्यत होना[7]।

१—(क) जि० चू० पृ० १४३ : 'भंते !' त्ति भयवं भावान्त एवमादी भगवतो आमतणं।
(ख) हा० टी० प० १४४ : भदन्तेति गुरोरामन्त्रणम्, भदन्त भवान्त भयान्त इति साधारणा श्रुतिः।
(ग) अ० चू० पृ० ७८ : भंते ! इति भगवतो आमतणं।

२—हा० टी० प० १४४ : एतच्च गुरुसाक्षिक्येव व्रतप्रतिपत्तिः साध्वीति ज्ञापनार्थम्।

३—(क) अ० चू० पृ० ७८ : गणहरा भगवतो सकासे अत्थं सोऊण वतपडिवत्तीए एवमाहु—तस्स भंते०। जहा जे वि इमम्मि काले ते वि वताइं पडिवज्जमाणा एव भणंति—तस्स भंते !
(ख) जि० चू० पृ० १४३ गणहरा भगवओ सगासे अत्थ सोऊण वताणि पडिवज्जमाणा एवमाहु।

४—हा० टी० प० १४४ तस्येत्यधिकृतो दण्ड सम्बध्यते, सम्बन्धलक्षणा अवयवलक्षणा वा षष्ठी।

५—(क) अ० चू० पृ० ७८ : पडिक्कमामि, प्रतीपं क्रमामि—नियत्तामि।
(ख) जि० चू० पृ० १४३ : पडिक्कमामि नाम ताओ दडाओ नियत्तामित्ति वुत्तं भवइ।
(ग) हा० टी० प० १४४ : योऽसौ त्रिकालविषयो दण्डस्तस्य संबंधिनमतीतमवयवं प्रतिक्रामामि, न वर्तमानमनागतं वा, अतीतस्यैव प्रतिक्रमणात्, प्रत्युत्पन्नस्य संवरणादनागतस्य प्रत्याख्यानादिति। ·· ···प्रतिक्रामामीति भूताद्दण्डान्निवर्तेऽहमित्युक्तं भवति, तस्माच्च निवृत्तिर्यत्तदनुमतेर्विरमणमिति।

६ हा० टी० प० १४४ : 'निन्दामि गर्हामी' ति, अत्रात्मसाक्षिकी निन्दा परसाक्षिकी गर्हा—जुगुप्सोच्यते।

७—(क) अ० चू० पृ० ७८ : जं पुव्वमण्णाणेण कत तस्स णिंदामि "णिदि कुत्सायाम् इति कुत्सामि। गरहामि' 'गर्ह परिभाषणे' इति प्रगासीकरेमि।
(ख) जि० चू० पृ० १४३ : जं पुण पुव्विं अन्नाणभावेण कय त णिंदामिना।
हा ! दुट्ठु कय हा ! दुट्ठु कारियं अणुमयवि हा दुट्ठु।
अतो-अतो डज्झइ, हियय पच्छाणुतावेण।, 'गरिहामि' णाम तिविह तीताणागतवट्टमाणेसु कालेसु अकरणयाए अब्भुट्ठेमि।

४०. आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूँ (अप्पाणं वोसिरामि) :

आत्मा हेय या उपादेय कुछ भी नहीं है। उसकी प्रवृत्तियाँ हेय या उपादेय बनती हैं। साधना की दृष्टि से हिंसा आदि असत्-प्रवृत्तियाँ, जिनसे आत्मा का बन्धन होता है, हेय हैं और अहिंसा आदि सत्-प्रवृत्तियाँ एवं संवर उपादेय हैं।

साधक कहता है—मैं अतीत काल में असत्-प्रवृत्तियों में प्रवृत्त आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूँ अर्थात् आत्मा की असत्-प्रवृत्ति का त्याग करता हूँ[1]।

प्रश्न किया जा सकता है कि अतीत के दण्ड का ही यहाँ प्रतिक्रमण यावत् व्युत्सर्ग किया है अतः वर्तमान दण्ड का संवर और अनागत दण्ड का प्रत्याख्यान यहाँ नहीं होता। टीकाकार इसका उत्तर देते हुए कहते हैं—ऐसी बात नहीं है। 'न करोमि' आदि से वर्तमान के संवर और भविष्यत् के प्रत्याख्यान की सिद्धि होती है[2]।

'तस्स भंते···वोसिरामि' दण्ड समारंभ न करने की प्रतिज्ञा ग्रहण करने के बाद शिष्य जो भावना प्रकट करता है वह उपर्युक्त शब्दों में व्यक्त है।

सूत्र ४-९ में षट्-जीवनिकायों का वर्णन है। प्रस्तुत अनुच्छेद में इन षट्-जीवनिकायों के प्रति दण्ड-समारंभ के प्रत्याख्यान का उल्लेख है। यह क्रम आकस्मिक नहीं पर सम्पूर्णतः वैज्ञानिक और अनुभवपूर्ण है। जिसको जीवों का ज्ञान नहीं होता, उनके अस्तित्व में श्रद्धा-विश्वास नहीं होता, वह व्यक्ति जीवन-व्यवहार में उनके प्रति संयमी, अहिंसक अथवा चारित्रवान नहीं हो सकता। कहा है—"जो जिन-प्रज्ञप्ति पृथ्वीकायादि जीवों के अस्तित्व में श्रद्धा नहीं करता वह पुण्य-पाप से अनभिगत होने के कारण उपस्थापन के योग्य नहीं होता। जिसे जीवों में श्रद्धा होती है वही पुण्य-पाप से अभिगत होने के कारण उपस्थापन के योग्य होता है।"

व्रत ग्रहण के पूर्व जीवों के ज्ञान और उनमें विश्वास की कितनी आवश्यकता है, इसको बताने के लिए निम्नलिखित दृष्टान्त मिलते हैं :

१—जैसे मलिन वस्त्र पर रंग नहीं चढ़ता और स्वच्छ वस्त्र पर सुन्दर रंग चढ़ता है, उसी तरह जिसे जीवों का ज्ञान नहीं होता, जिसे उनके अस्तित्व में शंका होती है वह अहिंसा आदि महाव्रतों के योग्य नहीं होता। जिसे जीवों का ज्ञान और उनमें श्रद्धा होती है वह उपस्थापन के योग्य होता है और उसी के व्रत सुन्दर और स्थिर होते हैं।

२—जिस प्रकार प्रासाद-निर्माण के पूर्व भूमि को परिष्कृत कर देने से भवन स्थिर और सुन्दर होता है और अपरिष्कृत भूमि पर असुन्दर और अस्थिर होता है, उसी तरह मिथ्यात्व की परिशुद्धि किये बिना व्रत ग्रहण करने पर व्रत टिक नहीं पाते।

३—जिस तरह रोगी को औषधि देने के पूर्व उसे वमन-विरेचन कराने से औषधि लागू पड़ती है, उसी तरह जीवों के अस्तित्व में श्रद्धा रखते हुए जो व्रत ग्रहण करता है उसके महाव्रत स्थिर होते हैं।

सारांश यह है - जो जीवों के विषय में कहा गया है, उसे जानकर, उसकी परीक्षा कर मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदित रूप से जो षट्-जीवनिकाय के प्रति दण्ड-समारम्भ का परिहार करता है वही चारित्र के योग्य होता है।

कहा है—'अशोधित शिष्य को व्रतारोहण नहीं कराना चाहिए, शोधित को कराना चाहिए। अशोधित को व्रतारूढ़ कराने से

१—(क) अ० चू० पृ० ७८ : अप्पाणं सव्वसत्ताणं दरिसिज्जए, वोसिरामि विविहेहिं प्रकारेहिं सव्वावत्थं परिच्चयामि। दंड-समारंभपरिहरणं चरित्तधम्मप्पमुहमिदं।

(ख) हा० टी० प० १४८ : 'आत्मानम्' अतीतदण्डकारिणमश्लाघ्यं 'व्युत्सृजामी'ति विविधार्थो विशेषार्थो वा विशब्दः उच्छब्दो भृशार्थः सृजामीति—त्यजामि, ततश्च विविधं विशेषेण वा भृशं त्यजामि व्युत्सृजामीति।

२—हा० टी० प० १४४ : आह—यद्येवमतीतदण्डप्रतिक्रमणमात्रमस्यैदम्पर्यं न प्रत्युत्पन्नसंवरणमनागतप्रत्याख्यानं चेति, नं तदेवं, न करोमीत्यादिना तदुभयसिद्धेरिति।

गुरु को दोष लगता है। शोधित को उपस्थापन कराने से अगर वह पालन नहीं करता तो उसका दोष शिष्य को लगता है, गुरु को नहीं लगता[1]।"

सूत्र ११ :

इसके पूर्व अनुच्छेद में शिष्य द्वारा सार्वत्रिक रूप से दण्ड-समारम्भ का प्रत्याख्यान किया गया है। प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन और परिग्रह—ये प्राणियों के प्रति सूक्ष्म दण्ड हैं। इन कृतियों से दूसरे जीवों को परिताप होता है। प्रस्तुत तथा बाद के चार सूत्रों में प्राणातिपात आदि सूक्ष्म दण्डों के त्याग की शिष्य द्वारा स्वतन्त्र प्रतिज्ञाएँ की गई हैं[2]।

४१. पहले (पढमे) :

सापेक्ष दृष्टि के अनुसार कोई वस्तु अपने आप में अमुक प्रकार की नहीं कही जा सकती। किसी अन्य वस्तु की अपेक्षा से ही वह इस प्रकार की कही जा सकती है। उदाहरणस्वरूप कोई वस्तु स्वय में हल्की या भारी नहीं कही जा सकती। वह अन्य भारी वस्तु की अपेक्षा से ही हल्की और अन्य हल्की वस्तु की अपेक्षा से ही भारी कही जा सकती है। यहाँ जो 'पढमे'—पहले शब्द का प्रयोग है वह

१—(क) जि० चू० पृ० १४३-४४ : जो ऐसो दंडनिक्खेवो एवं महव्वयारुहणं तं किं सव्वेसि अविसेसियाणं महव्वयारुहणं कीरति उदाहो परिक्खिऊणं ?, आयरिओ भणइ—जो इमाणि कारणाणि सद्दहइ, 'जीवे पुढविक्काए ण सद्दहइ जे जिणेहिं पण्णत्ते। अणभिगयपुण्णपावो न सो उवट्ठावणे जोगो ॥ १ ॥ एवं आउक्काइए जीवे एवं जाव तसकाइए जीवे, एयारिसस्स पुण समारुभिज्जति, तं०—'पुढविक्काइए जीवे सद्दहइ जे जिणेहिं पण्णत्ते। अभिगतपुण्णपावो सो उवट्ठावणाजोगो' ॥ १ ॥ एवं आउक्काइए जीवे एवं जाव तसकाइए जीवे, अभिगतपुण्णपावो सो उवट्ठावणाजोगो, छज्जीवनिकाए पढियाए ताहे परिक्खिज्जइ, किं ?—परिहरइण परिहरइत्ति, जइ परिहरइ तो उवट्ठाविज्जइ, इतरो न उवट्ठाविज्जति, कहं ?, जहा मइलो पडो रंगिओ न सुंदरो भवइ सो, इयरो रंगिज्जमाणो सुंदरो भवइ, एवं जइ असद्दहियाए छज्जीवणियाए उवट्ठाविज्जइ तो महव्वयाणि न धरेइ, सद्दहियाए छज्जीवणियाए उवट्ठाविज्जमाणे थिरया भवति सुंदरो य भवइ, जहा वा पासाओ कज्जमाणो जइ कयवर सोहित्ता कज्जइ तो सुंदरो य थिरो य भवइ, असोहिए पुण अथिरो भवइ, एवं कयवरथाणीए मिच्छत्ते असोहिए उवट्ठाविज्जइ तो महव्वयाणि न थिराणि भवति, जहा आउरस्स ओसहं विपरिज्जई तं जइ वमणविरेयणाणि काऊण दिज्जइ तो लग्गइ, एवं जइ सद्दहिताइसु उवट्ठाविज्जति ता धरेइ महव्वए असद्दहितासु अथिराणि भवंति, जम्हा एते दोसा तम्हा पढियाए कहियाए सद्दहियाए परिक्खिते परिहरिए, अभिगते णाम जति अपच्चावयिज्जाण पण्णत्तरो न भवति ताहे विसुद्धो उवट्ठाविज्जति, तस्स य महव्वयाणि अभंगयाणि न भज्जति तओ ताणि भण्णंति।

(ख) हा० टी० प० १४५ : अनेन सूत्रार्थपरिज्ञानादिगुणयुक्त उपस्थापनार्ह इत्येतदाह, उक्तं च—

पढिए य कहिय अहिगय परिहरउवठावणाइ जोगोत्ति।
छक्कं तीहिं विसुद्धं परिहर नवएण भेदेण ॥ १ ॥
पडपासाउरमाई दिट्ठंता होंति वयसमारुहणे।
जह मलिणाइसु दोसा सुद्धाइसु णेवमिहइं पि ॥ २ ॥

इत्यादि, एतेसि सेगुद्देसेण सीसहियट्ठाए अत्थो भण्णइ—पढियाए सत्थपरिण्णाए दसकालिए छज्जीवणिकाए वा, कहियाए अत्थओ, अभिगयाए सम्मं परिक्खिऊण—परिहरइ छज्जीवणियाए मणवयणकाएहिं कयकारावियाणुमइभेदेण, तओ ठाविज्जइ, ण अण्णहा। इमे य इत्थ पडादी दिट्ठंता—मइलो पडो ण रंगिज्जइ सोहिओ रंगिज्जइ, असोहिए मूलपाए पासाओ ण किज्जइ सोहिए किज्जइ, वमणाईहिं असोहिए आउरे ओसह न दिज्जइ सोहिए दिज्जइ, असठविए रयणे पडिबन्धो न किज्जइ संठविए किज्जइ, एवं पढियकहियाईहिं असोहिए सीसे ण वयारोवणं किज्जइ,...असोहिए य करणे गुरुणो दोसा, सोहियापालणे सिस्सस्स दोसो त्ति कयं पसंगेण।

२—हा० टी० प० १४४ : अयं चात्मप्रतिपत्त्यर्हो दण्डनिक्षेपः सामान्यविशेषरूप इति, सामान्येनोक्तलक्षण एव, स तु विशेषतः। पञ्चमहाव्रतरूपतयाऽङ्गीकर्तव्य इति महाव्रतान्याह।

भी बाद के अन्य मृषावाद आदि की अपेक्षा से है[1]। सूत्रक्रम के प्रमाण से पहला महाव्रत सर्व प्राणातिपातविरमण व्रत है।

४२. महाव्रत (महव्वए) :

'व्रत' का अर्थ है विरति[2]। वह असत् प्रवृत्ति की होती है। उसके पांच प्रकार हैं—प्राणातिपात-विरति, मृषावाद-विरति, अदत्तादान-विरति, मैथुन-विरति और परिग्रह-विरति। अकरण, निवृत्ति उपरम और विरति—ये पर्यायवाची शब्द हैं[3]। 'व्रत' शब्द का प्रयोग निवृत्ति और प्रवृत्ति—दोनों अर्थों में होता है। 'वृषलान्नं व्रतयति' का अर्थ है वह शूद्र के अन्न का परिहार करता है। 'पयो व्रतयति' —का अर्थ है कोई व्यक्ति केवल दूध पीता है, उसके अतिरिक्त कुछ नहीं खाता। इसी प्रकार असत्-प्रवृत्ति का परिहार और सत्प्रवृत्ति का आसेवन—इन दोनों अर्थों में व्रत शब्द का प्रयोग किया गया है। जो प्रवृत्ति निवृत्ति-पूर्वक होती है वही सत् होती है। इस प्रधानता की दृष्टि से व्रत का अर्थ उसमें अन्तर्हित होता है[4]।

व्रत शब्द साधारण है। यह विरति-मात्र के लिए प्रयुक्त होता है। इसके अणु और महान्—ये दो भेद विरति की अपूर्णता तथा पूर्णता के आधार पर किए गए हैं। मन, वचन और शरीर से न करना, न कराना और न अनुमोदन करना—ये नौ विकल्प हैं। जहाँ ये समग्र होते हैं वहाँ विरति पूर्ण होती है। इनमें से कुछ एक विकल्पों द्वारा जो विरति की जाती है वह अपूर्ण होती है। अपूर्ण विरति अणुव्रत तथा पूर्ण विरति महाव्रत कहलाती है[5]। साधु त्रिविध पापों का त्याग करते हैं अतः उनके व्रत महाव्रत होते हैं। श्रावक के त्रिविध-द्विविध रूप से प्रत्याख्यान होने से देशविरति होती है, अतः उनके व्रत अणु होते हैं[6]। यहाँ प्राणातिपात-विरति आदि को महाव्रत और रात्रि-भोजन-विरति को व्रत कहा गया है। यह व्रत शब्द अणुव्रत और महाव्रत दोनों से भिन्न है। ये दोनों मूल-गुण हैं परन्तु रात्रि-भोजन मूल-गुण नहीं है। व्रत शब्द का यह प्रयोग सामान्य विरति के अर्थ में है। मूल-गुण—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—पाँच हैं। महाव्रत इन्हीं की संज्ञा है।

४३. प्राणातिपात से विरमण होता है (पाणाइवायाओ वेरमणं) :

इन्द्रिय, आयु आदि प्राण कहलाते हैं। प्राणातिपात का अर्थ है—प्राणी के प्राणों का अतिपात करना—जीव से प्राणों का वियोग

१—(क) जि० चू० पृ० १४४ : पढमंति नाम सेसाणि मुसावादादीणि पडुच्च एतं पढमं भण्णइ।
(ख) हा० टी० प० १४४ : सूत्रक्रमप्रामाण्यात् प्राणातिपातविरमणं प्रथमम्।
(ग) अ० चू० पृ० ८० : पढमे इति आवेक्खिगं, सेसाणि पडुच्च आदिल्लं, पढमे एसा सप्तमी, तम्मि उट्ठावणाधारविवक्खिता।

२—तत्त्वा० ७.१ : हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्।

३—तत्त्वा० ७.१ भा० : अकरणं निवृत्तिरुपरमो विरतिरित्यनर्थान्तरम्।

४—तत्त्वा० ७.१ भा० सि० टी० : व्रतशब्दः शिष्टसमाचारात् निवृत्तौ प्रवृत्तौ च प्रयुज्यते लोके। निवृत्ते चेद् हिंसातो विरति निवृत्तिर्व्रतं, यथा—वृषलान्नं व्रतयति—परिहरति। वृषलान्नान्निवर्तत इति, ज्ञात्वा प्राणिनः प्राणातिपातादेर्निवर्तते। केवलं सादिलक्षणं तु क्रियाकलापं नानुतिष्ठतीति तदनुष्ठानप्रवृत्त्यर्थश्च व्रतशब्दः। पयोव्रतयतीति यथा, पयोऽभ्यवहार एव प्रवर्तते न अन्यत्रेति, एवं हिंसादिभ्यो निवृत्तः शास्त्रविहितक्रियानुष्ठान एव प्रवर्तते, अतो निवृत्तिप्रवृत्तिक्रियासाध्यं कर्मक्षपणमिति प्रतिपादय... प्राधान्यात् तु निवृत्तिरेव साक्षात् प्राणातिपातादिभ्योदर्शिता, तत्पूर्विका च प्रवृत्तिर्गम्यमाना। अन्यथा तु निवृत्तिनिष्फलं स्यादिति।

५—तत्त्वा० ७.२ भा० : एभ्यो हिंसादिभ्य एकदेशविरतिरणुव्रतं, सर्वतो विरतिर्महाव्रतमिति।

६—(क) जि० चू० पृ० १४४ : महव्वयं नाम महंतं वतं, महव्वयं कयं ? सावगवयाणि खुड्डुगाणि, ताणि पडुच्च साहूण वयाणि महंताणि भवंति।
(ख) जि० चू० पृ० १४६ : जम्हा य भगवंतो साधवो तिविहं तिविहेण पच्चक्खायंति तम्हा तेसिं महव्वयाणि भवंति, सावगाणं पुण तिविहं दुविहं पच्चक्खायमाणाणं देसविरईए खुड्डलगाणि वयाणि भवंति।
(ग) हा० टी० प० १४४ : महच्च तद्व्रतं च महाव्रतं, महत्त्वं चास्य श्रावकसंबंध्यणुव्रतापेक्षयेति।
(घ) अ० चू० पृ० ८० : सकले महति वते महव्वते।

रना। केवल जीवों को मारना ही अतिपात नहीं है, उनको किसी प्रकार का कष्ट देना भी प्राणातिपात है[1]। पहले महाव्रत का स्वरूप है – प्राणातिपात विरमण।

विरमण का अर्थ है—ज्ञान और श्रद्धापूर्वक प्राणातिपात न करना—सम्यक्‌ज्ञान और श्रद्धापूर्वक उससे सर्वथा निवृत्त होना[2]।

४४. सर्व (सव्वं) :

वृत्ति कहता है—श्रावक जब ग्रहण करते समय प्राणातिपात की कुछ छूट रख लेता है उस तरह परिस्थूल नहीं पर सर्व प्रकार के प्राणातिपात का प्रत्याख्यान करना है। सर्व अर्थात् निरवशेष अर्द्ध या विभाग नहीं[3]। जैसे ब्राह्मण को नहीं मारूँगा—यह प्राणातिपात का देश त्याग है। 'मैं किसी प्राणी को मन-वचन काया और कृत-कारित अनुमोदन रूप से नहीं मारूँगा'—यह सर्वप्राणातिपात का त्याग है।

प्रत्याख्यान में 'प्रति' शब्द निषेध अर्थ में, 'आ' अभिमुख अर्थ में और 'ख्या' धातु कहने के अर्थ में है। उसका अर्थ है—प्रतीप-अभिमुख कथन करना। 'प्राणातिपात का प्रत्याख्यान करता हूँ' अर्थात् प्राणातिपात के प्रतीप—अभिमुख कथन करता हूँ—प्राणातिपात न करने की प्रतिज्ञा करता हूँ। अथवा मैं संवृतात्मा वर्तमान में समता रखते हुए अनागत पाप के प्रतिषेध के लिये आदरपूर्वक—भावपूर्वक अभिधान करता हूँ। साम्प्रतकाल में संवृतात्मा अनागत काल में पाप न करने के लिये प्रत्याख्यान करता है—व्रतारोपण करता है[4]।

४५. सूक्ष्म या स्थूल (सुहुमं वा बायरं वा) :

जिस जीव की शरीर-अवगाहना अति अल्प होती है, उसे सूक्ष्म कहा है, और जिस जीव की शरीर-अवगाहना बड़ी होती है उसे बादर कहा है। सूक्ष्म नाम कर्मोदय के कारण जो जीव अत्यन्त सूक्ष्म है, उसे यहाँ ग्रहण नहीं किया गया है क्योंकि ऐसे जीव की अवगाहना इतनी सूक्ष्म होती है कि उसकी काया द्वारा हिंसा संभव नहीं। जो स्थूल दृष्टि से सूक्ष्म या स्थूल अवगाहना वाले जीव हैं, उन्हें ही यहाँ सूक्ष्म या बादर कहा है[5]।

४६. त्रस या स्थावर (तसं वा थावरं वा) :

जो सूक्ष्म और बादर जीव कहे गये हैं उनमें से प्रत्येक के दो-दो भेद होते हैं—त्रस और स्थावर। त्रस जीवों की परिभाषा पहले

१—(क) अ० चू० पृ० ८० : पाणातिवाता [तो] अतिवातो हिंसण तनो, एसा पंचमी अपादाणे भयहेतुसक्खणा वा, भीतार्थानां भयहेतुरिति।

(ख) जि० चू० पृ० १४६ : पाणाइवाओ नाम इंदिया आउप्पाणादिणो छव्विहो पाणा य जेसि अत्थि ते पाणिणो भण्णंति, तेसिं पाणाणमइवाओ, तेहिं पाणेहिं सह विसंजोगकरणन्ति वुत्तं भवइ।

(ग) हा० टी० प० १४४ : प्राणा – इन्द्रियादयः तेषामतिपातः प्राणातिपातः—जीवस्य महादुःखोत्पादनं, न तु जीवातिपात एव।

२—(क) अ० चू० पृ० ८० : वेरमण नियत्तण।

(ख) जि० चू० पृ० १४६ : पाणाइवायवेरमणं नाम नाउं सद्दहिऊण पाणातिवायस्स अकरणं भण्णइ।

(ग) हा० टी० प० १४४ विरमणं नाम सम्यग्ज्ञानश्रद्धानपूर्वकं सर्वथा निवर्तनम्।

३—(क) अ० चू० पृ० ८० सव्वं ण विसेसेण, यथा लोके—न ब्राह्मणो हन्तव्यः।

(ख) जि० चू० पृ० १४६ . सव्वं नाम तमेरिसं पाणाइवायं सव्वं—निरवसेसं पच्चक्खामि नो अद्धं तिभागं वा पच्चक्खामि।

(ग) हा० टी० प० १४४ । सर्वमिति—निरवशेषं, न तु परिस्थूरमेव।

४—(क) अ० चू० पृ० ८० : पाणातिवातमिति व पच्चक्खाणं, ततो नियत्तणं।

(ख) जि० चू० पृ० १४६ : सपइकालं संवरियप्पणो अणागते अकरणणिमित्त पच्चक्खाण।

(ग) हा० टी० प० १४४-४५ प्रत्याख्यामीति प्रतिशब्दः प्रतिषेधे आङाभिमुख्ये ख्या प्रकथने, प्रतीपमभिमुखं ख्यापनं प्राणातिपातस्य करोमि प्रत्याख्यामीति, अथवा—प्रत्याचक्षे – संवृतात्मा साम्प्रतमनागतप्रतिषेधस्य आदरेणाभिधानं करोमीत्यर्थः।

५—(क) अ० चू० पृ० ८१ : सुहुमं अतीव अप्पसरीरं तं वा, बात रातीति 'बातरो' महासरीरो त वा।

(ख) जि० चू० पृ० १४६ . सुहुम नाम ज सरीरावगाहणाए सुट्ठु अप्पमिति, बादरं नाम थूलं भण्णइ।

(ग) हा० टी० प० १४५ : अत्र सूक्ष्मोऽल्प. परिगृह्यते न तु सूक्ष्मनामकर्मोदयात्सूक्ष्मः, तस्य कायेन व्यापादनासंभवात्……बादरो पि स्थूरः।

आ चुकी है। जो त्रास का अनुभव करते हैं, उन्हें त्रस कहते हैं। जो एक ही स्थान पर अवस्थित रहते हैं, उन्हें स्थावर कहते हैं।[1] कुंथु आदि सूक्ष्म त्रस हैं और गाय आदि बादर त्रस हैं। साधारण वनस्पति आदि सूक्ष्म स्थावर हैं और पृथ्वी आदि बादर स्थावर है।[2]

'सुहुमं वा बायरं वा तसं वा थावरं वा' इसके पूर्व 'से' शब्द है। 'से' शब्द का प्रयोग निर्देश में होता है। यहाँ यह शब्द पूर्वोक्त 'प्राणातिपात' की ओर निर्देश करता है। वह प्राणातिपात सूक्ष्म शरीर अथवा बादर शरीर के प्रति होता है।[3] अगस्त्य चूर्णि के अनुसार यह आत्मा का निर्देश करता है।[4] हरिभद्र सूरि के अनुसार यह शब्द मागधी भाषा का है। इसका शब्दार्थ है—अथ। इसका प्रयोग किसी बात के कहने के आरम्भ में किया जाता है।[5]

४७. (अइवाएज्जा) :

हरिभद्र सूरि के अनुसार 'अइवाएज्जा' शब्द 'अतिपातयामि' के अर्थ में प्रयुक्त है। प्राकृत शैली में आर्ष-प्रयोगों में ऐसा होता है।

इस प्रकार सभी महाव्रत और व्रत में जो पाठ है उसे टीकाकार ने प्रथम पुरुष मान प्राकृत शैली के अनुसार उसका उत्तम पुरुष में परिवर्तन किया है[6]। अगस्त्य चूर्णि में सर्वत्र उत्तम पुरुष के प्रयोग हैं, जैसे—"नेव सयं पाणे अइवाएमि'। उत्तम पुरुष का भी 'अइवाएज्जा' रूप बनता है[7]। इसलिए पुरुष परिवर्तन की आवश्यकता भी नहीं है। उक्त स्थलों में प्रथम पुरुष की क्रिया मानी जाय तो उसकी संगति यों होगी—'पढमे भंते ! महव्वए पाणाइवायाओ वेरमणं' से लेकर 'नेव सयं' के पहले का कथन शिष्य की ओर से है और 'नेव सयं' से आचार्य उपदेश देते हैं और 'न करेमि' से शिष्य आचार्य के उपदेशानुसार प्रतिज्ञा ग्रहण करता है। उपदेश की भाषा का प्रकार सूत्रकृताङ्ग (२.१.१५) में भी यही है।

आचारचूला (१५।४३) में महाव्रत प्रत्याख्यान की भाषा इस प्रकार है—"पढमं भंते ! महव्वयं—पच्चक्खामि सव्वं पाणाइवायं—से सुहुमं वा वायरं वा, तसं वा थावरं वा—णेवसयंपाणाइवायं कारेज्जा णेवण्णेहिं पाणाइवायं कारवेज्जा, णेवण्णं पाणाइवायं करंतं समणुजाणेज्जा, जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणसा वयसा कायसा। तस्स भंते ! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि।"

स्वीकृत पाठ का अगस्त्य चूर्णि में पाठान्तर के रूप में उल्लेख हुआ है। पाँच महाव्रत और छट्ठे व्रत में अगस्त्य चूर्णि के अनुसार जो पाठ-भेद है उनका अनुवाद इस प्रकार है :—

"भंते ! मैं प्राणातिपात-विरति रूप पहले महाव्रत को ग्रहण करने के लिए उपस्थित हुआ हूँ···। भंते ! मैं पहले महाव्रत में प्राणातिपात से विरत हुआ हूँ।"

यही क्रम सभी महाव्रतों और व्रत का है।

४८-४९—मैं स्वयं नहीं करूँगा·· अनुमोदन भी नहीं करूँगा (नेव सयं पाणे अइवाएज्जा···· न समणुजाणेज्जा) :

इस तरह त्रिविध-त्रिविध—तीन करण और तीन योग से प्रत्याख्यान करने वाले के ४९ भङ्गों (विकल्पों) से त्याग होते हैं। इन

१—(क) अ० चू० पृ० ८१ : 'तसं वा' 'त्रसी उद्वेजने' त्रस्यतीति त्रसः तं वा, 'थावरो' जो थाणातो ण विचलति तं वा। वा सद्दो विकप्पे, सव्वे पगारा ण हंतव्वा। वेदिका पुण "क्षुद्रजन्तुषु णत्थि पाणातिवातो" त्ति एतस्स विसेसणत्थं सुहुमातिवयणं। जीवस्स असंखेज्जपदेसत्तो सव्वे सुहुम-वायरविसेसा सरीरदव्वगता इति सुहुम-वायरसंसद्दणेण एगग्गहणे समानजातीयग्गहणमिति।

(ख) जि० चू० पृ० १४६-४७ : तत्थ जे ते सुहुमा बादरा य ते दुविहा तं० - तसा य थावरा वा, तत्थ तसंतीति तसा, एगंमि ठाणे अवट्ठिया चिट्ठंति ते थावरा भण्णंति।

२—हा० टी० प० १४५ : सूक्ष्मत्रसः कुन्थ्वादिः स्थावरो वनस्पत्यादिः, बादरस्त्रसो गवादिः स्थावरः पृथिव्यादिः।

३—जि० चू० पृ० १४६ : 'से' त्ति निद्देसे वट्टइ, किं निद्दिसति ?, जो सो पाणातिवाओ तं निद्देसेइ, से य पाणाइवाए सुहुमसरीरे वा बादरसरीरेसु वा होज्जा।

४—अ० चू० पृ० ८१ : से इति वयणाधारेण अप्पणो निद्देसं करेति, सो अहमेव अब्भुवगम्म कत पच्चक्खाणो।

५—हा० टी० प० १४५ : 'से' शब्दो मागधदेशीप्रसिद्धः अथ शब्दार्थः, स चोपन्यासे।

६—हा० टी० प० १४५ : 'नेव सयं पाणे अइवाएज्जा' त्ति प्राकृतशैल्या छान्दसत्वात्, 'तिङां तिङो भवन्ती' ति न्यायात् नैव स्वयं प्राणिनः अतिपातयामि, नैवान्यैः प्राणिनोऽतिपातयामि, प्राणिनोऽतिपातयतोऽप्यन्यान्न समनुजानामि।

७—हैमश० ३.१७७ वृ० : यथा तृतीयत्रये। अइवाएज्जा। अइवायावेज्जा। न समणुजाणामि। न समणुजाणेज्जा वा।

भङ्गों का विस्तार इस प्रकार है[१] :

१—करण १ योग १, प्रतीक-अङ्क ११, भङ्ग ९ :

१	करूँ	नहीं	मन से	१
२	करूँ	नहीं	वचन से	२
३	करूँ	नहीं	काया से	३
४	कराऊँ	नहीं	मन से	४
५	कराऊँ	नहीं	वचन से	५
६	कराऊँ	नहीं	काया से	६
७	अनुमोदूँ	नहीं	मन से	७
८	अनुमोदूँ	नहीं	वचन से	८
९	अनुमोदूँ	नहीं	काया से	९

२—करण १ योग २, प्रतीक-अङ्क १२, भङ्ग ९ :

१	करूँ	नहीं	मन से	वचन से	१०
२	करूँ	नहीं	मन से	काया से	११
३	करूँ	नहीं	वचन से	काया से	१२
४	कराऊँ	नहीं	मन से	वचन से	१३
५	कराऊँ	नहीं	मन से	काया से	१४
६	कराऊँ	नहीं	वचन से	काया से	१५
७	अनुमोदूँ	नहीं	मन से	वचन से	१६
८	अनुमोदूँ	नहीं	मन से	काया से	१७
९	अनुमोदूँ	नहीं	वचन से	काया से	१८

३—करण १ योग ३, प्रतीक-अङ्क १३, भङ्ग ३ :

१	करूँ	नहीं	मन से	वचन से	काया से	१९
२	कराऊँ	नहीं	मन से	वचन से	काया से	२०
३	अनुमोदूँ	नहीं	मन से	वचन से	काया से	२१

४—करण २ योग १, प्रतीक-अङ्क २१, भङ्ग ९

१	करूँ	नहीं	कराऊँ	नहीं	मन से	२२
२	करूँ	नहीं	कराऊँ	नहीं	वचन से	२३
३	करूँ	नहीं	कराऊँ	नहीं	काया से	२४
४	करूँ	नहीं	अनुमोदूँ	नहीं	मन से	२५
५	करूँ	नहीं	अनुमोदूँ	नहीं	वचन से	२६
६	करूँ	नहीं	अनुमोदूँ	नहीं	काया से	२७
७	कराऊँ	नहीं	अनुमोदूँ	नहीं	मन से	२८
८	कराऊँ	नहीं	अनुमोदूँ	नहीं	वचन से	२९
९	कराऊँ	नहीं	अनुमोदूँ	नहीं	काया से	३०

५—करण २ योग २, प्रतीक-अङ्क २२, भङ्ग ९ :

१	करूँ	नहीं	कराऊँ	नहीं	मन से वचन से	३१
२	करूँ	नहीं	कराऊँ	नहीं	वचन से काया से	३२

१—हा० टी० प० १५० : "तिन्नि तिया तिन्नि दुया तिन्निक्केक्का य होंति जोएसु।
तिदुएक्क तिदुएक्क तिदुएक्क चेव करणाइं॥"

३	करूँ नहीं	कराऊँ नहीं	मन से	काया से	३३
४	करूँ नहीं	अनुमोदूँ नहीं	मन से	काया से	३४
५	करूँ नहीं	अनुमोदूँ नहीं	वचन से	काया से	३५
६	करूँ नहीं	अनुमोदूँ नहीं	मन से	काया से	३६
७	कराऊँ नहीं	अनुमोदूँ नहीं	मन से	वचन से	३७
८	कराऊँ नहीं	अनुमोदूँ नहीं	वचन से	काया से	३८
९	कराऊँ नहीं	अनुमोदूँ नहीं	मन से	काया से	३९

६—करण २ योग ३, प्रतीक-अङ्क २३, भङ्ग ३ :

१	करूँ नहीं	कराऊँ नहीं	मन से	वचन से	काया से	४०
२	करूँ नहीं	अनुमोदूँ नहीं	मन से	वचन से	काया से	४१
३	कराऊँ नहीं	अनुमोदूँ नहीं	मन से	वचन से	काया से	४२

७—करण ३ योग १, प्रतीक-अङ्क ३१, भङ्ग ३ :

१	करूँ नहीं	कराऊँ नहीं	अनुमोदूँ नहीं	मन से	४३
२	करूँ नहीं	कराऊँ नहीं	अनुमोदूँ नहीं	वचन से	४४
३	करूँ नहीं	कराऊँ नहीं	अनुमोदूँ नहीं	काया से	४५

८—करण ३ योग २, प्रतीक-अङ्क ३२, भङ्ग ३ :

१	करूँ नहीं	कराऊँ नहीं	अनुमोदूँ नहीं	मन से	वचन से	४६
२	करूँ नहीं	कराऊँ नहीं	अनुमोदूँ नहीं	मन से	काया से	४७
३	करूँ नहीं	कराऊँ नहीं	अनुमोदूँ नहीं	वचन से	काया से	४८

९—करण ३ योग ३, प्रतीक-अङ्क ३३, भङ्ग १ :

१	करूँ नहीं	कराऊँ नहीं	अनुमोदूँ नहीं	मन से	वचन से	काया से	४९

इन ४९ भङ्गों को अतीत, अनागत और वर्तमान इन तीन से गुणन करने पर १४७ भङ्ग होते हैं। इससे अतीत का प्रतिक्रमण, वर्तमान का संवरण और भविष्य के लिए प्रत्याख्यान होता है[1]। कहा है—"प्रत्याख्यान सम्बन्धी १४७ भङ्ग होते हैं। जो इन भङ्गों से प्रत्याख्यान करता है वह कुशल है और अन्य सब अकुशल हैं[2]।"

१—(क) हा० टी० प० १५१ : "लद्धफलमाणमेयं भंगा उ हवंति अउणपन्नासं।
तीयाणागयसंपतिगुणियं कालेण होइ इमं ॥ १ ॥
सीयालं भंगसयं, कह ? कालतिएण होंति गुणणा उ।
तीतस्स पडिक्कमणं पच्चुप्पन्नस्स संवरणं ॥ २ ॥
पच्चक्खाणं च तहा होइ य एसस्स एस गुणणा उ।
कालतिएणं भणियं जिणगणधरवायएहिं च ॥ ३ ॥"

(ग) अ० चू० पृ० ८१ : एते सव्वे वि संकलिज्जंति —तिविहं अमुयंतेहिं सत्त लद्धा, दुविहं तिविहेण तिण्णि, एते संकलिता जाता दस। दुविहं दुविहेण णव लद्धा, ते दससु पक्खित्ता जाता एकूणवीसं। दुविहं एक्कविहेण णव लद्धा, ते एगूणवीसाए पक्खित्ता जाता अट्ठावीसं। एक्कविहं तिविहेण तिण्णि अट्ठावीसाए पक्खित्ता जाता एक्कतीसा। एक्कविहं दुविहेण णव लद्धा एक्कतीसाए पक्खित्ता जाता चत्तालीसं। एक्कविहं एक्कविहेण णव चत्तालीसाए पक्खित्ता जाता एगूणपन्ना। एते पडुप्पन्नं संवरेंति, एगूणपन्ना अतीतं निंदंति, एतेच्चेव तहा अणागतं पच्चक्खाति, तिण्णि एगूणपण्णातो सीतालं भंगसतं।

एत्थ पढमभंगो साधूण जुज्जति तेण अधिकारो, सेसा सावगाणं संभवतो उच्चारितसरूव त्ति परूवणं। पाणातिवात-पच्चक्खाणं सवित्थरं भणितं।

२—दशा० नि० गा० २९९ : सीयालं भंगसयं पच्चक्खाणम्मि जस्स उवलद्धं।
सो पच्चक्खाणकुसलो सेसा सव्वे अकुसला उ ॥

प्रश्न हो सकता है अन्य व्रतों की अपेक्षा प्राणातिपात-विरमण व्रत को पहले क्यों रखा गया ? इसका उत्तर चूर्णिकारद्वय इस प्रकार देते हैं—"अहिंसा मूलव्रत है। अहिंसा परम धर्म है। शेष महाव्रत उत्तरगुण हैं, उसकी पुष्टि करने वाले हैं, उसी के अनुपालन के लिए प्ररूपित हैं[1]।"

सूत्र १२ :

५०. मृषावाद का (मुसावायाओ) :

मृषावाद चार प्रकार का होता है[2] :

१—सद्भाव प्रतिषेध : जो है उसके विषय में कहना कि यह नहीं है। जैसे जीव आदि हैं, उनके विषय में कहना कि जीव नहीं है, पुण्य नहीं है, पाप नहीं है, बन्ध नहीं है, मोक्ष नहीं है, आदि।

२—असद्भाव उद्भावन : जो नहीं है उसके विषय में कहना कि यह है। जैसे आत्मा के सर्वगत, सर्वव्यापी न होने पर भी उसे वैसा बतलाना अथवा उसे श्यामाक तन्दुल के तुल्य कहना।

३—अर्थान्तर : एक वस्तु को अन्य बताना। जैसे गाय को घोड़ा कहना आदि।

४—गर्हा : जैसे काने को काना कहना।

अगस्त्य चूर्णि के अनुसार मिथ्या भाषण के पहले तीन भेद हैं।

५१. क्रोध से या लोभ से (कोहा वा लोहा वा) :

यहाँ मृषावाद के चार कारण बतलाये हैं। वास्तव में मनुष्य क्रोध आदि की भावनाओं से ही झूठ बोलता है। यहाँ जो चार कारण बतलाये हैं वे उपलक्षण मात्र हैं। क्रोध के कथन द्वारा मान को भी सूचित कर दिया गया है। लोभ का कथन कर माया के ग्रहण की सूचना दी है। भय और हास्य के ग्रहण से राग, द्वेष, कलह, अभ्याख्यान आदि का ग्रहण होता है[3]। इस तरह मृषावाद अनेक कारणों से बोला जाता है। यही बात अन्य पापों के सम्बन्ध में लागू होती है।

१—(क) अ० चू० पृ० ८२ : महव्वताणं पाणातिवाताओ वेरमणं पढमो मूलगुण इति, जेण 'अहिंसा परमो धम्मो' सेसाणि महव्वताणि एतस्सेव अत्थविसेसगाणीति तदणंतरं। अणुपरिनिग्गमणत्थं पदुच्चारणमुक्तार्थस्य 'पढमे भंते ! महव्वते पाणातिवातातो वेरमणं'।

(ख) जि० चू० पृ० १४७ : सीसो आह—किं कारणं सेसाणि वयाणि मोत्तूण पाणाइवायवेरमणं पढमं भणियंति ?, आयरिओ भणइ—एयं मूलवयं 'अहिंसा परमो धम्मो' त्ति सेसाणि पुण महव्वयाणि उत्तरगुणा, एतस्स चेव अणुपालनत्थं परूवियाणि।

२—(क) अ० चू० पृ० ८२ : मुसावातो तिविहो, तं० सब्भावपडिसेहो १ अभूतुब्भावणं २ अत्थंतरं ३। सब्भावपडिसेहो जहा 'नत्थि जीवे' एवमादि १। अभूतुब्भावणं 'अत्थि, सव्वगतो पुण' २। अत्थंतरं गाविं अस्सं ति भणति एवमादि ३।

(ख) जि० चू० पृ० १४८ : तत्थ मुसावाओ चउव्विहो, तं०—सब्भावपडिसेहो असब्भूयुब्भावणं अत्थंतरं गरहा, तत्थ सब्भावपडिसेहो णाम जहा नत्थि जीवो नत्थि पुण्णं नत्थि पावं नत्थि बंधो नत्थि मोक्खो एवमादी, असब्भूयुब्भावणं नाम जहा अत्थि जीवो (सव्ववावी) सामागतंदुलमेत्तो वा एवमादी, अत्थंतरं नाम जो गाविं भणइ एसो आसोत्ति, गरहा णाम 'तहेव काणं काणित्ति' एवमादी।

३—(क) अ० चू० पृ० ८२ : मुसावातवेरमणे कारणाणि इमाणि—से कोहा वा लोभा वा भता वा हासा वा, "दोसा विभागे समाणासना" इति कोहे माणो अतग्गतो, एव लोभे माता, भतहस्सेसु पेज्जकलहादतो सविसेसा।

(ख) जि० चू० पृ० १४८ : सो य मुसावाओ एतेहिं कारणेहिं भासिज्जइ—'से कोहा वा लोहा वा भया वा हासा वा' कोहगहणेण माणस्सवि गहणं कयं, लोभगहणेण माया गहिया, भयहासगहणेण पेज्जदोसकलहअब्भक्खाणाइणो गहिया, कोहाइगहणेण भावओ गहणं कयं, एगग्गहणेण गहणं तज्जातीयाणमितिकाउं सेसावि दव्वखेत्तकाला गहिया।

(ग) हा० टी० प० १४६ : 'क्रोधाद्वा लोभाद्वे' त्यनेनाद्यन्तग्रहणान्मानमायापरिग्रह, 'भयाद्वा हास्याद्वा' इत्यनेन तु प्रेमद्वेषकलहाभ्याख्यानादिपरिग्रहः।

सूत्र १३ :

५२. अदत्तादान का (अदिन्नादाणाओ) :

बिना दिया हुआ लेने की बुद्धि से दूसरे के द्वारा परिगृहीत अथवा अपरिगृहीत तृण, काष्ठ आदि द्रव्य-मात्र का ग्रहण करना अदत्तादान है[1]।

५३. गाँव में ˙ अरण्य में (गामे वा नगरे वा रण्णे वा) :

ये शब्द क्षेत्र के द्योतक हैं। इन शब्दों के प्रयोग का भावार्थ है—किसी भी जगह, किसी भी क्षेत्र में। जो बुद्धि आदि गुणों को ग्रस्त करे, उसे ग्राम कहते हैं[2]। जहाँ कर न हो उसे नकर—नगर कहते हैं[3]। कानन आदि को अरण्य कहते हैं[4]।

५४. अल्प या बहुत (अप्पं वा बहुं वा) :

अल्प के दो भेद होते हैं[5]—(१) मूल्य में अल्प—जैसे जिसका मूल्य एक कौड़ी हो। (२) परिणाम में अल्प—जैसे एक एरण्ड-काष्ठ। इसी तरह 'बहुत' के भी दो भेद होते हैं—(१) मूल्य में बहुत—जैसे वैडूर्य (२) परिमाण में बहुत—जैसे तीन-चार वैडूर्य।

५५. सूक्ष्म या स्थूल (अणुं वा थूलं वा) :

सूक्ष्म—जैसे—मूलक की पत्ती अथवा काष्ठ की चिरपट आदि। स्थूल—जैसे—सुवर्ण का टुकड़ा अथवा उपकरण आदि[6]।

५६. सचित्त या अचित्त (चित्तमंतं वा अचित्तमंतं वा)

चेतन अथवा अचेतन। पदार्थ तीन तरह के होते हैं : चेतन, अचेतन और मिश्र। चेतन—जैसे मनुष्यादि। अचेतन—जैसे कार्षापण आदि। मिश्र—जैसे अलङ्कारों से विभूषित मनुष्यादि[7]।

सूत्र १४ :

५७. देव..........तिर्यञ्च सम्बन्धी मैथुन (मेहुणं.. दिव्वं वा...तिरिक्खजोणियं वा) :

ये शब्द द्रव्य के द्योतक हैं। मैथुन दो तरह का होता है—(१) रूप में (२) रूपसहित द्रव्य में। रूप में अर्थात् निर्जीव वस्तुओं के

१—(क) अ० चू० पृ० ८३ : परेहिं परिग्गहितस्स वा अपरिग्गहितस्स वा, अणणुण्णातस्स गहणमदिण्णादाणं।

(ख) जि० चू० पृ० १४६ : सीसो भणइ—तं अदिण्णादाणं केरिसं भवइ ?, आयरिओ भणइ—ज अदिण्णादाणबुद्धीए परेहिं परिग्गहियस्स वा अपरिग्गहियस्स वा तणकट्ठाइदव्वजातस्स गहणं करेइ तमदिण्णादाणं भवइ।

२—हा० टी० प० १४७ : ग्रसति बुद्ध्यादीन् गुणानिति ग्रामः।

३—हा० टी० प० १४७ : नास्मिन् करो विद्यत इति नकरम्।

४—हा० टी० प० १४७ : अरण्णं—काननादि।

५—(क) अ० चू० पृ० ८३ : अप्पं परिमाणतो मुल्लतो वा; परिमाणतो जहा एगा सुवण्णा गुंजा, मुल्लतो कवड्डितामुल्भं वत्थुं। बहुं परिमाणतो मुल्लतो वा, परिमाणतो सहस्सपमाणं मुल्लतो एक्कं वेरुलितं।

(ख) जि० चू० पृ० १४६ : अप्पं परिमाणओ य मुल्लओय, तत्थ परिमाणओ जहा एगं एरंडकट्ठं एवमादि, मुल्लओ जस्स एगो कवड्डुओ पूणो या अप्पमुल्लं, बहुं नाम परिमाणओ मुल्लओ य, परिमाणओ जहा तिण्णि चत्तारिवि वइरा वेरुलिया, मुल्लओ एगमवि वेरुलियं महामोल्लं।

(ग) हा० टी० प० १४७ : अल्पं—मूल्यतं एरण्डकाष्ठादि बहु—वज्रादि।

६—(क) अ० चू० पृ० ८३ : अणुं तण-मुगादि, थूलं कोययगादी।

(ख) जि० चू० पृ० १४६ : अणु मूलगपत्तादी अहवा कट्ठं कलिचं वा एवमादि, थूलं सुवण्णखोडी वेरुलिया वा उवगरणं।

(ग) हा० टी० प० १४७ : अनु—प्रमाणतो वज्रादि स्थूलम्—एरण्डकाष्ठादि।

७—(क) अ० चू० पृ० ८३ : चित्तमंत गयादि। अचित्तमंतं करिसावणादी।

(ख) जि० चू० पृ० १४६ : सव्वंपियं सचित्तं वा होज्जा अचित्तं वा होज्जा मिस्सयं वा, तत्थ सचित्तं मणुयादि अचित्तं काहाव-णादि मीसगं से चेव मणुयाइ अलंकियविभूसिया।

(ग) हा० टी० प० १४७ : चेतनाचेतनमित्यर्थः।

साथ—जैसे प्रतिमा या मृत शरीर के साथ। रूप सहित मैथुन तीन प्रकार का होता है—दिव्य, मानुषिक और तिर्यञ्च सम्बन्धी। देवी अप्सरा सम्बन्धी मैथुन को दिव्य कहते हैं। नारी से सम्बन्धित मैथुन को मानुषिक और पशु-पक्षी आदि के साथ के मैथुन को तिर्यञ्च विषयक मैथुन कहते हैं[1]। इसका वैकल्पिक अर्थ इस प्रकार है—रूप अर्थात् आभरण रहित, रूपसहित अर्थात् आभरण सहित[2]।

सूत्र १५ :

५८ परिग्रह को (परिग्गहाओ) :

चेतन अचेतन पदार्थों में मूर्च्छाभाव को परिग्रह कहते हैं[3]।

सूत्र १६ :

५९. रात्रि-भोजन को (राईभोयणाओ) :

रात में भोजन करना इसी सूत्र के तृतीय अध्ययन में अनाचीर्ण कहा गया है। प्रस्तुत अध्ययन में रात्रि-भोजन-विरमण को साधु का छठा व्रत कहा है। सर्व प्राणातिपात-विरमण आदि पाँच विरमणों का स्वरूप बताते हुए उन्हें महाव्रत कहा है, जबकि सर्व रात्रि-भोजन-विरमण को केवल 'व्रत' कहा है। उत्तराध्ययन २३, १२, २३ में केशी-गौतम के संवाद में श्रमण भगवान् महावीर के मार्ग को 'पाँच शिक्षा वाला' और पार्श्व के मार्ग को 'चार याम वाला' कहा है। आचार चूला (१५) में तथा प्रश्नव्याकरण सूत्र में संवरों के रूप में केवल पाँच महाव्रत और उनकी भावनाओं का ही उल्लेख है। वहाँ रात्रि-भोजन-विरमण का अलग उल्लेख नहीं है। जहाँ-जहाँ प्रव्रज्या-ग्रहण के प्रसंग हैं, वहाँ-वहाँ प्रायः सर्वत्र पाँच महाव्रत ग्रहण करने का ही उल्लेख मिलता है। इससे प्रतीत होता है कि सर्व हिंसा आदि के त्याग की तरह रात्रि-भोजन-विरमण व्रत को याम, शिक्षा या महाव्रत के रूप में मानने की परम्परा नहीं थी।

दूसरी ओर इसी सूत्र के छट्ठे अध्ययन में श्रमण के लिए जिन अठारह गुणों की अखण्ड साधना करने का विधान किया है, उनमें सर्व प्रथम छह व्रतों (वयछक्कं) का उल्लेख है और सर्व प्राणातिपात यावत् रात्रि-भोजन-विरमण पर समान रूप से बल दिया है। उत्तराध्ययन सूत्र (अ० १९) में साधु के अनेक कठोर गुणों—आचार का—उल्लेख करते हुए प्राणातिपात-विरति आदि पाँच सर्व विरतियों के साथ ही रात्रि-भोजन त्याग (सर्व प्रकार के आहार का रात्रि में वर्जन) का भी उल्लेख आया है और उसे महाव्रतों की तरह ही दुष्कर कहा है। रात्रि-भोजन का अपवाद भी कहीं नहीं मिलता। ऐसी हालत में प्रथम पाँच विरमणों को महाव्रत कहने और रात्रि-भोजन विरमण को व्रत कहने में आचरण की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं, यह स्पष्ट है। रात्रि-भोजन-विरमण सर्व हिंसा-त्याग आदि महाव्रतों की रक्षा के लिए ही है इसलिए साधु के प्रथम पाँच व्रतों को प्रधान गुणों के रूप में लेकर उन्हें महाव्रत और सर्व रात्रि-भोजन-विरमण व्रत को उत्तर (सहकारी) गुणरूप मान उसे मूलगुणों से पृथक् समझाने के लिए केवल 'व्रत' की संज्ञा दी है। हालाँकि उसका पालन एक साधु के लिए उतना ही अनिवार्य माना है जितना कि अन्य महाव्रतों का। मैथुन-सेवन करने वाले की तरह ही रात्रि-भोजन करने वाला भी अनुद्घातिक प्रायश्चित्त का भागी होता है।

सर्व रात्रि-भोजन-विरमण व्रत के विषय में इसी सूत्र (६.२३-२५) में बड़ी ही सुन्दर गाथाएँ मिलती हैं।

रात्रि-भोजन-विरमण व्रत में सन्निहित अहिंसा-दृष्टि स्वयं स्पष्ट है।

रात को आलोकित पान-भोजन और ईर्यासमिति (देख-देख कर चलने) का पालन नहीं हो सकता तथा रात में आहार का संग्रह करना अपरिग्रह की मर्यादा का बाधक है। इन सभी कारणों से रात्रि-भोजन का निषेध किया गया है। आलोकित पान-भोजन और ईर्यासमिति अहिंसा महाव्रत की भावनाएँ हैं[4]।

१—(क) अ० चू० पृ० ८४ : रूवतो रूवेसु वा रूवसहगतेसु वा दव्वेसु, रूवं—पडिमामयसरीरादि, रूवसहगतं सजीवं।
(ख) जि० चू० पृ० १५० : दव्वओ मेहुणं रूवेसु वा रूवसहगएसु वा दव्वेसु तत्य रूवेत्ति णिज्जीवे भवइ, पडिमाए वा मय-सरीरे वा, रूवसहगय तिविहं भवति, तं०—दिव्वं माणुसं तिरिक्खजोणियंति।
(ग) हा० टी० प० १४८ : देवीनामिदं दैवम्, अप्सरोऽमरसम्बन्धीतिभावः, एतच्च रूपेषु वा रूपसहगतेषु वा द्रव्येषु भवति, तत्र रूपाणि—निर्जीवानि प्रतिमारूपाण्युच्यन्ते, रूपसहगतानि तु सजीवानि।

२—(क) अ० चू० पृ० ८४ : अहवा रूवं आभरणविरहितं, रूवसहगतं आभरणसहितं।
(ख) जि० चू० पृ० १५० : अहवा रूवं भूसणवज्जियं सहगयं भूसणेण सह।
(ग) हा० टी० प० १४८ : भूषणविकलानि वा रूपाणि भूषणसहितानि तु रूपसहगतानि।

३—जि० चू० पृ० १५१ : सो य परिग्गहो चेयणाचेयणेसु दव्वेसु मुच्छानिमित्तो भवइ।

४—(क) आ० चू० १५.४४।
(ख) प्रश्न० सं० १।

३—काल-दृष्टि से उसका विषय रात्रि है।
४—भाव-दृष्टि से चतुर्भङ्ग।

सूत्र १७ :

६१. आत्महित के लिए (अत्तहियट्ठयाए) :

आत्महित का अर्थ मोक्ष है। मुनि मोक्ष के लिए या उत्कृष्ट मङ्गलमय धर्म के लिए महाव्रत और व्रत को स्वीकार करता है अन्य हेतु से व्रत ग्रहण करने पर व्रत का अभाव होता है। आत्महित से बढ़कर कोई सुख नहीं है, इसलिए भगवान ने इहलौकिक सुख समृद्धि के लिए आचार को प्रतिपन्न करने की अनुज्ञा नहीं दी। पौद्गलिक सुख अनैकान्तिक हैं। उनके पीछे दुःख का प्रबल संयोग होता है। पौद्गलिक सुख के जगत् में ऐश्वर्य का तरतमभाव होता है—ईश्वर, ईश्वरतर और ईश्वरतम। इसी प्रकार हीन, मध्यम और उत्कृष्ट अवस्थाएँ होती हैं। मोक्ष जगत् में ये दोष नहीं होते। इसलिए समदर्शी श्रमण के लिए आत्महित—मोक्ष ही उपास्य होता है और वह उसी की सिद्धि के लिए महाव्रतों का कठोर मार्ग अङ्गीकार करता है[1]।

६२. अंगीकार कर विहार करता हूँ (उवसंपज्जित्ताणं विहरामि) :

उपसंपद्य का अर्थ है—उप—समीप, में संपद्य—अंगीकार कर अर्थात् गुरु के समीप ग्रहण कर सुसाधु की विधि के अनुसार विचरण करता हूँ। हरिभद्र सूरि कहते हैं ऐसा न करने पर लिए हुए व्रत अभाव को प्राप्त होते हैं। भावार्थ है—आरोपित व्रतों का अच्छी तरह अनुपालन करते हुए अप्रतिबंध विहार से ग्राम, नगर, पत्तन आदि में विहार करूँगा।

चूर्णिकारों ने इसका दूसरा अर्थ इस प्रकार दिया है—"गणधर भगवान् से पांच महाव्रतों के अर्थ को सुनकर ऐसा कहते हैं—'इन्हें ग्रहण कर विहार करेंगे[2]।"

सूत्र १८ :

६३. संयत-विरत-प्रतिहत-प्रत्याख्यात-पापकर्मा (संजय-विरय-पडिहय-पच्चक्खाय-पावकम्मे) :

सतरह प्रकार के संयम में अच्छी तरह अवस्थित साधक को संयत कहते हैं[3]।

---

१ (क) अ० चू० पृ० ८६ : अत्तहियट्ठताए अप्पणोहितं जो धम्मो मंगलमिति भणितो तदट्ठं।
(ख) जि० चू० पृ० १५३ : अत्तहियं नाम मोक्खो भण्णइ, सेसाणि देवादीणि ठाणाणि बहुदुक्खाणि अप्पसुहाणि य, कहं? जम्हा तत्थवि इस्सरो इस्सरतरो इस्सरतमो एवमादी हीणमज्झिमउत्तिमविसेसा उवलब्भंति, अणेगंतियाणि य सोक्खाणि मोक्खे य एते दोसा नत्थि, तम्हा तस्स अट्ठयाए एयाणि पंच महव्वयाणि राईभोयणवेरमणछट्ठाइं अत्तहियट्ठाए उवसंपज्जित्ताणं विहरामि।
(ग) हा० टी० प० १५० : आत्महितो—मोक्षस्तदर्थम्, अनेनान्यार्थं तत्त्वतो व्रताभावमाह, तदभिलाषानुमत्या हिंसादावनुमतिभावात्।

२ (क) अ० चू० पृ० ८६ : "उवसंपज्जित्ताणं विहरामि" "समानकर्तृकयोः पूर्वकाले" इति 'उपसंपद्य विहरामि' महव्वतानि पडिवज्जतस्स वयणं, गणहराणं वा सुत्तीकरेंताणं।
(ख) हा० टी० प० १५० : 'उपसंपद्य' सामीप्येनाङ्गीकृत्य व्रतानि 'विहरामि' सुसाधुविहारेण, तदभावे चाङ्गीकृतानामपि व्रतानामभावात्।
(ग) जि० चू० पृ० १५३ : उवसंपज्जित्ताणं विहरामि नाम ताणि आरुहिऊण अणुपालयंतो अब्भुज्जएण विहारेण अनियतं गामनगरपट्टणाईणि विहरिस्सामि। अहवा गणहरा भगवतो सगासे पंचमहव्वयाणं अत्थं सोऊण एवं भणंति—'उवसंपज्जित्ताणं विहरिस्सामि'।

३—(क) अ० चू० पृ० ८७ : संजतो एकीभावेण सत्तरसविहे संजमे ठितो।
(ख) जि० चू० पृ० १५४ : संजओ नाम सोभणेण पगारेण सत्तरसविहे संजमे अवट्ठिओ संजतो भवति।
(ग) हा० टी० प० १५२ : सामस्त्येन यतः संयतः—सप्तदशप्रकारसंयमोपेतः।

अगस्त्यसिंह के अनुसार पापों से निवृत्त भिक्षु विरत कहलाता है[1]। जिनदास और हरिभद्र सूरि के अभिमत से बारह प्रकार के तप में अनेक प्रकार से रत भिक्षु विरत कहलाता है[2]।

'पापकर्म' शब्द का सम्बन्ध 'प्रतिहत' और 'प्रत्याख्यात' इनमें से प्रत्येक के साथ है[3]।

जिनदास और हरिभद्र के अनुसार जिसने ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्मों में से प्रत्येक को हत किया हो वह प्रतिहत-पापकर्मा है[4]।

जिनदास और हरिभद्र के अनुसार जो आस्रवद्वार (पाप कर्म आने के मार्ग) को निरुद्ध कर चुका वह प्रत्याख्यात-पापकर्मा कहलाता है[5]।

जिनदास महत्तर ने आगे जाकर इन शब्दों को एकार्थक भी कहा है[6]।

अनगार या साधु के विशेषण रूप से इन चार शब्दों का प्रयोग अन्य आगमों में भी प्राप्त है। संयत विरत-प्रतिहत-प्रत्याख्यात-पापकर्मा अनगार के विषय में विविध प्रश्नोत्तर आगमों में मिलते हैं। अतः इन शब्दों के मर्म को समझ लेना आवश्यक है।

पाँच महाव्रत और छठे रात्रि-भोजन-विरमण व्रत को अंगीकार कर लेने के बाद व्यक्ति भिक्षु कहलाता है। यह बताया जा चुका है कि महाव्रत ग्रहण करने की प्रक्रिया में तीन बातें रहती हैं—(१) अतीत के पापों का प्रतिक्रमण (२) भविष्य के पापों का प्रत्याख्यान और (३) वर्तमान में मन-वचन काया से पाप न करने, न कराने और न अनुमोदन करने की प्रतिज्ञा। भिक्षु-भिक्षुणी के सम्बन्ध में प्रयुक्त इन चारों शब्दों में महाव्रत ग्रहण करने के बाद व्यक्ति जिस स्थिति में पहुँचता है उसका सरल, सादा चित्र है। प्रतिहत-पापकर्मा वह इस लिए है कि अतीत के पापों से प्रतिक्रमण, निंदा, गर्हा द्वारा निवृत्त हो वह अपनी आत्मा के पापों का हनन कर चुका है। वह प्रत्याख्यात-पापकर्मा इसलिए है कि उसने भविष्य के लिए सर्व पापों का सर्वथा परित्याग किया है। वह संयत-विरत इसलिए है कि वह वर्तमान काल में किसी प्रकार का पाप किसी प्रकार से नहीं करता। उससे वह निवृत्त है। संयत और विरत शब्द एकार्थक हैं। इस एकार्थकता को निष्प्रयोजन समझ सम्भवतः विरत का अर्थ तपस्या में रत किया हो। जो ऐसा भिक्षु या भिक्षुणी है उसका व्रतारोपण के बाद छह जीव-निकाय के प्रति कैसा बर्ताव रहना चाहिए उसी का वर्णन यहाँ से आरम्भ होता है।

६४. दिन में या रात में (दिया वा राओ वा ..):

अध्यात्मरत श्रमण के लिए दिन और रात का कोई अन्तर नहीं होता अर्थात् वह अकरणीय कर्म को जैसे दिन में नहीं करता वैसे रात में भी नहीं करता, जैसे परिषद् में नहीं करता वैसे अकेले में भी नहीं करता, जैसे जागते हुए नहीं करता वैसे शयन-काल में भी नहीं करता।

जो व्यक्ति दिन में, परिषद् में या जागृत दशा में दूसरों के संकोचवश पाप से बचते हैं वे बहिर्दृष्टि हैं—आध्यात्मिक नहीं हैं। जो व्यक्ति दिन और रात, विजन और परिषद्, सुप्ति और जागरण में अपने आत्म-पतन के भय से, किसी बाहरी संकोच या भय से नहीं, पाप से बचते हैं—परम आत्मा के सान्निध्य में रहते हैं वे आध्यात्मिक हैं।

'दिन में या रात में, एकान्त में या परिषद् में, सोते हुए या जागते हुए'—ये शब्द हर परिस्थिति, स्थान और समय के सूचक हैं[7]। साधु कहीं भी, कभी भी आगे बतलाये जाने वाले कार्य न करे।

'साधु अकेला विचरण नहीं करता'—इस नियम को दृष्टि में रखकर ही जिनदास और हरिभद्र सूरि ने 'कारणवश अकेला' ऐसा

१—अ० चू० पृ० ८७ : पावेहिन्तो विरतो पडिनियत्तो।

२—(क) जि० चू० पृ० १५४ : विरओ णाम अणेगपगारेण बारसविहे तवे रओ।

(ख) हा० टी० प० १५२ : अनेकधा द्वादशविधे तपसि रतो विरतः।

३—(क) अ० चू० पृ० ८७ : पावकम्म सद्दो पत्तेयं परिसमप्पति।

(ख) जि० चू० पृ० १५४ : पावकम्मसद्दो पत्तेयं पत्तेयं दोसुवि वट्टइ, तं०—पडिहयपावकम्मे पच्चक्खायपावकम्मे य।

४—(क) जि० चू० पृ० १५४ : तत्थ पडिहयपावकम्मो नाम नाणावरणादीणि अट्ठ कम्माणि पत्तेयं पत्तेयं जेण हयाणि सो पडिहय-पावकम्मो।

(ख) हा० टी० प० १५२ : प्रतिहत—स्थितिह्रासतो ग्रन्थिभेदेन।

५—(क) जि० चू० पृ० १५४ : पच्चक्खायपावकम्मो नाम निरुद्धासवदुवारो भण्णति।

(ख) हा० टी० प० १५२ : प्रत्याख्यात—हेत्वभावतः पुनर्वृद्ध्यभावेन पाप कर्म—ज्ञानावरणीयादि येन स तथाविध।

६—जि० चू० पृ० १५४ : अहवा सव्वाणि एताणि एगट्ठियाणि।

७—(क) अ० चू० पृ० ८७ : सव्वकालिओ नियमो त्ति कालविसेसणं—दिवा वा रातो वा सव्वदा।

(ख) वही, पृ० ८७ : चेट्ठा अवस्सकरणीयविसेसणत्थमिदं—सुत्ते वा जहासमितनिद्दामोक्खत्थमुत्ते जागरमाणे वा सेस काल।

अर्थ किया है[1]। यहाँ 'एगओ' शब्द का वास्तविक अर्थ अकेले में—एकांत में है। कई साधु एक साथ हों और वहाँ कोई गृहस्थ आदि उपस्थित न हो तो उन साधुओं के लिए वह भी एकांत कहा जा सकता है।

६५. पृथ्वी (पुढवि) :

पाषाण, ढेला आदि के सिवा अन्य पृथ्वी[2]।

६६. भित्ति (भित्ति) :

जिनदास ने इसका अर्थ नदी किया है[3]। हरिभद्र ने इसका अर्थ नदीतटी किया है[4]। अगस्त्यसिंह के अनुसार इसका अर्थ पर्वतादि की दरार, रेखा या राजि है[5]। यही अर्थ उचित लगता है।

६७. शिला (सिलं) :

विशाल पाषाण या विच्छिन्न विशाल पाषाण को शिला कहते हैं[6]।

६८. ढेले (लेलुं) :

मिट्टी का लघु पिण्ड अथवा पाषाण का छोटा टुकड़ा[7]।

६९. सचित्त रज से संसृष्ट (ससरक्खं) :

अरण्य के वे रजकण जो गमनागमन से आक्रान्त नहीं होते सजीव माने गए हैं[8]। उनसे संश्लिष्ट वस्तु को 'सरजस्क' कहा है। (आवश्यक ४.१ की चूर्णि में 'ससरक्ख' की व्याख्या—'सहसरक्खेणं ससरक्खे' की है।)

हरिभद्र सूरि के अनुसार इसका संस्कृत रूप 'सरजस्क' है[9]। अर्थ की दृष्टि से 'सरजस्क' शब्द संगत है किन्तु प्राकृत शब्द संस्कृत छाया करने की दृष्टि से वह संगत नहीं है। व्याकरण की दृष्टि से 'सरजस्क' का प्राकृत रूप 'सरयक्ख' या 'सरक्ख' होता किन्तु यह शब्द 'ससरक्ख' है इसलिए इसका संस्कृत रूप 'ससरक्ष' होना चाहिए। अगस्त्यसिंह स्थविर ने इसकी जो व्याख्या है (५.८) वह 'ससरक्ष' के अनुकूल है। राख के समान अत्यन्त सूक्ष्म रजकणों को 'सरक्ख' और 'सरक्ख' से संश्लिष्ट वस्तु को 'ससर कहा जाता है[10]। ओघनिर्युक्ति की वृत्ति में 'सरक्ख' का अर्थ राख किया गया है[11]।

१—(क) जि० चू० पृ० १५४ : कारणिएण वा एगेण।
(ख) हा० टी० प० १५२ : कारणिक एकः।
२—(क) अ० चू० पृ० ८७ : पुढवी सक्करादीविकप्पा।
(ख) जि० चू० पृ० १५४ : पुढविग्गहणेणं पासाणलेट्ठुमाईहिं रहियाए पुढवीए गहणं।
(ग) हा० टी० प० १५२ :
३—जि० चू० पृ० १५४ : भित्ती नाम नदी भण्णइ।
४—हा० टी० प० १५२ : भित्तिः—नदीतटी।
५—अ० चू० पृ० ८७ : भित्ती—णदी-पव्वतादि तडी ततो वा जं अवद्दलितं।
६—(क) अ० चू० पृ० ८७ : सिला सवित्थारो पाहाणविसेसो।
(ख) जि० चू० १५४ : सिला नाम विच्छिण्णो जो पाहाणो स सिला।
(ग) हा० टी० प० १५२ : विशालः पाषाणः।
७—(क) अ० चू० पृ० ८७ : लेलू मट्टियापिंडो।
(ख) जि० चू० पृ० १५४ : लेलु लेट्ठुओ।
८—ओ० नि० २४-२५।
९—हा० टी० प० १५२ : सह रजसा—आरण्यपांशुलक्षणेन वर्तत इति सरजस्कः।
१०—अ० चू० पृ० १०१ : 'सरक्खो'—सुमुण्हो छारसरिसो पुढविरतो। सहसरक्खेण ससरक्खो।
११—ओघ नि० ३५६ वृत्ति : सरक्खो—भस्म।

जिनदास महत्तर ने प्रस्तुत सूत्र की व्याख्या में 'सरक्ख' का अर्थ 'पांशु' किया है और उस अरण्यपांशु सहित वस्तु को 'ससरक्ख' माना है[1]। प्रस्तुत सूत्र की व्याख्या में अगस्त्यसिंह स्थविर के शब्द भी लगभग ऐसे ही हैं[2]।

७०. खपाच (किलिचेण) :

बाँस की खपाची, क्षुद्र काष्ठ-खण्ड[3]।

७१. शलाका-समूह (सलागहत्थेण) :

काष्ठ, ताँबे या लोहे के गढ़े हुए या अनगढ़ टुकड़े को शलाका कहा जाता है[4]। हस्त भूयस्त्ववाची शब्द है[5]। शलाकाहस्त अर्थात् शलाका-समूह[6]।

७२ आलेखन (आलिहेज्जा) :

यह 'आलिह' (आ+लिख्) धातु का विधि रूप है। इसका अर्थ है - कुरेदना, खोदना, विन्यास करना, चित्रित करना, रेखा करना। प्राकृत में 'आलिह' धातु स्पर्श करने के अर्थ में भी है। किन्तु यहाँ स्पर्श करने की अपेक्षा कुरेदने का अर्थ अधिक संगत लगता है।

जिनदास ने इसका अर्थ —'ईसि लिहण' किया है। हरिभद्र 'आलिखेत्' संस्कृत छाया देकर ही छोड़ देते हैं।

७३. विलेखन (विलिहेज्जा) :

(वि+लिख्) आलेखन और विलेखन में 'धातु' एक ही है केवल उपसर्ग का भेद है। आलेखन का अर्थ थोड़ा या एक बार कुरेदना और विलेखन का अर्थ अनेक बार कुरेदना या खोदना है[7]।

७४. घट्टन (घट्टेज्जा) :

यह 'घट्ट' (घट्ट्) धातु का विधि-रूप है। इसका अर्थ है हिलाना, चलाना[8]।

७५. भेदन (भिंदेज्जा) :

यह भिद (भिद्) धातु का विधि-रूप है। इसका अर्थ है—भेदन करना, तोड़ना, विदारण करना, दो-तीन आदि भाग करना[9]।

१—जि० चू० पृ० १५४ : सरक्खो नाम पंसू भण्णइ, तेण आरण्णपंसुणा अणुगतं ससरक्खं भण्णइ।

२—अ० चू० पृ० ८७ : सरक्खो पंसू, तेण अरण्णपंसुणासहगतं —ससरक्खं।

३—(क) नि० चू० ४.१०७ : किलिंचो—वंसकप्परी।
　(ख) जि० चू० पृ० १५४ : कलिंच—कारसोहिसाईणं खंडं।
　(ग) हा० टी० प० १५२ : कलिञ्जेन वा—क्षुद्रकाष्ठरूपेण।
　(घ) अ० चू० पृ० ८७ : किलिंचं तं चेव सण्हं।

४—(क) अ० चू० : सलागा कट्ठमेव घडितगं। अघडितगं कट्ठं।
　(ख) नि० चू० ४.१०७ : अण्णतरकट्ठघडिया सलागा।
　(ग) जि० चू० पृ० १५४ : सलागा घडियाओ संबाईण।

५—अ० चि० ३.२३२।

६—(क) जि० चू० पृ० १५४ : सलागाहत्थओ बहुपरिआयो अहवा सलागातो घडितिल्लियाओ तासिं सलागाणं संघाओ सलागाहत्थो।
　(ख) हा० टी० पृ० १५२ : शलाकया वा—अयःशलाकादिरूपया शलाकाहस्तेन वा—शलाकासंघातरूपेण।

७—(क) अ० चू० पृ० ८७ : ईसि लिहणमालिहणं विविहं लिहणं विलिहणं।
　(ख) जि० चू० पृ० १५४ : आलिहणं नाम ईसि, विलिहणं विविहेहिं पगारेहिं लिहणं।
　(ग) हा० टी० प० १५२ : ईषत्सकृद्वाऽऽलेखनं, नितरामनेकशो वा विलेखनम्।

८—(क) अ० चू० पृ० ८७ : घट्टण संचालण।
　(ख) जि० चू० पृ० १५४ : घट्टणं चालणं।
　(ग) हा० टी० प० १५२ : घट्टनं चालनम्।

९—(क) अ० चू० पृ० ८७ : भिंदण भेदकरणम्।
　(ख) जि० चू० पृ० १५४ : भिंदणं दुहा वा तिहा वा करणंति।
　(ग) हा० टी० प० १५२। भेदो विदारणम्।

न आलेखन करे....न भेदन करे (न आलिहेज्जा....न भिंदेज्जा) : दसवें सूत्र में छह प्रकार के जीवों के प्रति त्रिविध-त्रिविध से दण्ड-समारम्भ न करने का त्याग किया गया है। हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह—ये जीवों के प्रति दण्ड-स्वरूप होने से मुमुक्षु ने प्राणातिपात-विरमण आदि महाव्रत ग्रहण किये। सूत्र १८ से २३ में छह प्रकार के जीवों के कुछ नामों का उल्लेख करते हुए उनके प्रति हिंसक क्रियाओं से बचने का मार्मिक उपदेश है और साथ ही भिक्षु द्वारा प्रत्येक की हिंसा से बचने के लिए प्रतिज्ञा-ग्रहण है।

पृथ्वी, भित्ति, शिला, ढेले, सचित्त रज—ये पृथ्वीकाय जीवों के साधारण-से-साधारण उदाहरण हैं। हाथ, पाँव, काष्ठ, खंपाच आदि उपकरण भी साधारण-से-साधारण हैं। आलेखन, विलेखन, घट्टन और भेदन—हिंसा की ये क्रियाएँ भी बड़ी साधारण हैं। इसका तात्पर्य यह है कि भिक्षु साधारण-से-साधारण पृथ्वीकायिक जीवों का भी साधारण-से-साधारण साधनों द्वारा तथा साधारण क्रियाओं द्वारा भी हनन नहीं कर सकता; फिर क्रूर साधनों द्वारा तथा स्थूल क्रियाओं द्वारा हिंसा करने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। यहाँ भिक्षु को यह विवेक दिया गया है कि वह हर समय, हर स्थान में, हर अवस्था में किसी भी पृथ्वीकायिक जीव की किसी भी उपकरण से किसी प्रकार हिंसा न करे और सब तरह की हिंसक क्रियाओं से बचे।

यही बात अन्य स्थावर और त्रस जीवों के विषय में सूत्र १९ से २३ में कही गयी है और उन सूत्रों को पढ़ते समय इसे ध्यान में रखना चाहिए।

सूत्र १९ :

७६. उदक (उदगं) :

जल दो प्रकार का होता है—भौम और आन्तरिक्ष। जल को शुद्धोदक कहा जाता है[1]। उसके चार प्रकार हैं—(१) धारा-जल, (२) करक-जल, (३) हिम-जल और (४) तुषार-जल। इनके अतिरिक्त ओस भी आन्तरिक्ष जल है। भूम्याश्रित या भूमि के स्रोतों में बहने वाला जल भौम कहलाता है। इस भौम-जल के लिए 'उदक'[2] शब्द का प्रयोग किया गया है। उदक अर्थात् नदी, तालाबादि का जल, शिरा से निकलने वाला जल।

७७. ओस (ओसं) :

रात में, पूर्वाह्न या अपराह्न में जो सूक्ष्म जल पड़ता है उसे ओस कहते हैं। शरद् ऋतु की रात्रि में मेघोत्पन्न स्नेह विशेष को ओस कहते हैं[3]।

७८. हिम (हिमं) :

बरफ या पाला को हिम कहते हैं। अत्यन्त शीत ऋतु में जो जल जम जाता है उसे हिम कहते हैं[4]।

७९. धूंअर (महियं) :

शिशिर में जो अंधकार कारक तुषार गिरता है उसे महिका, कुहरा या धूमिका कहते हैं[5]।

१—अ० चू० पृ० ८८ : अन्तरिक्खपाणितं सुद्धोदगं।

२—(क) अ० चू० पृ० ८८ : नदि-तलागादिसंसितं पाणियमुदगं।
(ख) जि० चू० पृ० १५५ : उदगग्गहणेण भोमस्स आउक्कायस्स गहणं कयं।
(ग) हा० टी० प० १५३ : उदकं—शिरापानीयम्।

३—(क) अ० चू० पृ० ८८ : सरयादौ णिसि मेघसंभवो सिणेहविसेसो तोस्सा।
(ख) जि० चू० पृ० १५५ : उस्सा नाम निसि पडइ, पुव्वण्हे अवरण्हे वा, सा य उस्सा तेहो भण्णइ।
(ग) हा० टी० प० १५३ । अवश्याय:—त्रेहः।

४—(क) अ० चू० पृ० ८८ : अतिसीतावत्थंभितमुदगमेव हिमं।
(ख) हा० टी० प० १५३ : हिमं—स्त्यानोदकम्।

५—(क) अ० चू० पृ० ८८ : पातो सिसिरे दिसामंधकारकारिणी महिता।
(ख) जि० चू० पृ० १५५ : जो सिसिरे तुसारो पडइ सो महिया भण्णइ।
(ग) हा० टी० प० १५३ : महिका—धूमिका।

८०. ओले (करगं) :

आकाश से गिरने वाले उदक के कठिन ढेले[1]।

८१. भूमि को भेदकर निकले हुए जल-बिन्दु (हरतणुगं) :

जिनदास ने इस शब्द की व्याख्या करते हुए लिखा है—जो भूमि को भेदकर ऊपर उठता है उसे हरतनु कहते हैं। यह गीली भूमि पर स्थित पात्र के नीचे देखा जाता है[2]। हरिभद्र ने लिखा है—भूमि को उद्भेदन कर जो जल-बिन्दु तृणाग्र आदि पर होते हैं वे हरतनु हैं[3]। व्याख्याओं के अनुसार ये बिन्दु औद्भिद जल के होते हैं[4]।

८२ शुद्ध-उदक (सुद्धोदगं) :

आन्तरिक्ष-जल को शुद्धोदक कहते हैं[5]।

८३ जल से भींगे (उदओल्लं) :

जल के ऊपर जो भेद दिये गये हैं उनके बिंदुओं से आर्द्र—गीला[6]।

८४ जल से स्निग्ध (ससिणिद्धं) :

जो स्निग्धता से युक्त हो उसे सस्निग्ध कहते हैं। उसका अर्थ है जल-बिंदु रहित आर्द्रता। उन गीली वस्तुओं को जिनसे जल बिंदु नहीं गिरते, 'सस्निग्ध' कहते हैं[7]।

८५ आमर्श संस्पर्श (आमुसेज्जा संफुसेज्जा) :

आमृश (आ+मृश्) थोड़ा या एक बार स्पर्श करना आमर्श है; संस्पृश (सम्+स्पृश्) अधिक या बार-बार स्पर्श करना संस्पर्श है[8]।

८६. आपीड़न · प्रपीड़न (आवीलेज्जा · पवीलेज्जा) :

आवील (आ+पीड्) थोड़ा या एक बार निचोड़ना, दबाना। पवील [प्र+पीड्] प्रपीड़न—अधिक या बार-बार निचोड़ना, दबाना[9]।

१—(क) अ० चू० पृ० ८८ : करिसोदगं कठिणीभूतं करगो।
(ख) हा० टी० प० १५३ : करकः—कठिनोदकरूप।

२—जि० चू० पृ० १५५ : हरतणुओ भूमि भेत्तूण उट्ठेइ, सो य उवुगाइसु तिताए भूमीए ठवितेसु हेट्ठा दीसति।

३—हा० टी० प० १५३ : हरतनु—भुवमुद्भिद्य तृणाग्रादिषु भवति।

४ अ० चू० पृ० ८८ : सिंचि ससिणिद्धं भूमि भेत्तूण कहिंचि समस्सयति सफुसितो सिणेहविसेसो हरतणुतो।

५ (क) अ० चू० पृ० ८८ : अंतरिक्खपाणितं सुद्धोदगं।
(ख) जि० चू० पृ० १५५ : अंतलिक्खपाणियं सुद्धोदगं भण्णइ।
(ग) हा० टी० प० १५३ : शुद्धोदकम्—अन्तरिक्षोदकम्।

६—(क) अ० चू० पृ० ८८ : तोलित उदओल्लं वा कात सरीरं।
(ख) जि० चू० पृ० १५५ : अ० एतेसिं उदगभेएहिं बिंदुसहियं भवइ त उदउल्लं भण्णई।
(ग) हा० टी० प० १५३ : उदकार्द्रता चेह गलद्बिन्दुतुषारादि अनन्तरोदितोदकभेदसमिश्रता।

७—(क) अ० चू० पृ० ८८ : ससणिद्धं [म] बिन्दुगं ओल्लं ईसि।
(ख) जि० चू० पृ० १५५ : ससिणिद्धं ज न गलति तितयं तं ससणिद्धं भण्णइ।
(ग) हा० टी० प० १५३ : अत्र स्नेहनं स्निग्धमिति भावे निष्ठाप्रत्ययः, सह स्निग्धेन वर्तत इति सस्निग्धः, सस्निग्धता चेह बिन्दुरहितानन्तरोदितोदकभेदसमिश्रता।

८—(क) अ० चू० पृ० ८८ : ईसि मुसणमामुसणं समेच्चमुसणं संमुसणं।
(ख) जि० चू० पृ० १५५ : आमुसणं नाम ईषत्स्पर्शनं आमुसनं अहवा एगवारं फरिसणं आमुसणं, पुणो पुणो संफुसणं।
(ग) हा० टी० प० १५३ : सकृदीषद्वा स्पर्शनमामर्शनम् अतोऽन्यत्संस्पर्शनम्।

९—(क) अ० चू० पृ० ८८ : ईसि पीलणमापीलणं, अधिक पीलनं निप्पीलणं।
(ख) जि० चू० पृ० १५५ : ईसि निपीलणं आपीलणं अच्चत्थं पीलणं पवीलणं।
(ग) हा० टी० प० १५३ : सकृदीषद्वा पीडनमापीडनमतोऽन्यत्प्रपीडनम्।

८७. आस्फोटन ··प्रस्फोटन (अक्खोडेज्जा··· पक्खोडेज्जा) :

अक्खोड (आ+स्फोटय्)—थोड़ा या एक वार झटकना। पक्खोड (प्र+स्फोटय्)—बहुत या अनेक वार झटकना[1]।

८८. आतापन ··प्रतापन (आयावेज्जा ···पयावेज्जा) :

आयाव (आ+तापय्)—थोड़ा या एक वार सुखाना, तपाना। पयाव (प्र+तापय्)—बहुत या अनेक वार सुखाना, तपान

सूत्र २० :

८९. अग्नि (अगणिं) :

अग्नि से लगा कर उल्का तक तेजस्-काय के प्रकार वतलाये गए हैं। अग्नि की व्याख्या इस प्रकार है : लोह-पिंड में प्र स्पर्शग्राह्य तेजस् को अग्नि कहते हैं[3]।

९०. अंगारे (इंगालं) :

ज्वालारहित कोयले को अंगार कहते हैं। लकड़ी का जलता हुआ धूम-रहित खण्ड[4]।

९१. मुर्मुर (मुम्मुरं) :

कंडे या करसी की आग, तुषाग्नि—चोकर या भूसी की आग, क्षारादिगत अग्नि को मुर्मुर कहते हैं। भस्म के विरल अ कण मुर्मुर है[5]।

९२. अर्चि (अच्चिं) :

मूल अग्नि से विच्छिन्न ज्वाला, आकाशानुगत परिच्छिन्न अग्निशिखा, दीपशिखा के अग्रभाग को अर्चि कहते हैं[6]।

९३. ज्वाला (जालं) :

प्रदीप्ताग्नि से प्रतिबद्ध अग्निशिखा को ज्वाला कहते हैं[7]।

१—(क) अ० चू० पृ० ८८ : एक्कं खोडनं अक्खोडणं, भिसं खोडनं पक्खोडणं।
(ख) जि० चू० पृ० १५५ : एगं वारं जं अक्खोडेइ, तं बहुवारं पक्खोडणं।
(ग) हा० टी० प० १५३ : सकृदीषद्वा स्फोटनमास्फोटनमतोऽन्यत्प्रस्फोटनम्।

२—(क) अ० चू० पृ० ८८ : ईसि तावणमातावणं, प्रगतं तावणं पतावणं।
(ख) जि० चू० पृ० १५५ : ईसित्ति तावणं आतावणं, अतीव तावणं पतावणं।
(ग) हा० टी० प० १५३ : सकृदीषद्वा तापनमातापनं विपरीतं प्रतापनम्।

३—(क) जि० चू० पृ० १५५-५६ : अगणी नाम जो अयपिंडाणुगयो फरिसगेज्झो सो आयपिंडो भण्णइ।
(ख) हा० टी० प० १५४ : अयस्पिण्डानुगतोऽग्निः।

४—(क) अ० चू० पृ० ८९ : इंगालं वा खदिरादीण णिद्दड्ढाण धूमविरहितो इंगालो।
(ख) जि० चू० प० १५६ : इंगालो नाम जालारहिओ।
(ग) हा० टी० प० १५४ : ज्वालारहितोऽङ्गारः।

५—(क) अ० चू० पृ० ८९ : करिसगादीण किंचि सिट्ठो अग्गी मुम्मुरो।
(ख) जि० चू० पृ० १५६ : मुम्मुरो नाम जो छाराणुगओ अग्गी सो मुम्मुरो।
(ग) हा० टी० प० १५४ : विरलाग्निकणं भस्म मुर्मुरः।

६—(क) अ० चू० पृ० ८९ : दीवसिहासिहरादि अच्ची।
(ख) जि० चू० पृ० १५६ : अच्ची नाम आगासाणुगआ परिच्छिण्णा अग्गिसिहा।
(ग) हा० टी० प० १५४ : मूलाग्निविच्छिन्ना ज्वाला अर्चिः।

७—(क) अ० चू० पृ० ८९ : उद्दित्तोवरि अविच्छिण्णा जाला।
(ख) जि० चू० पृ० १५६ : ज्वाला पसिद्धा चेव।
(ग) हा० टी० प० १५४ : प्रतिबद्धा ज्वाला।

९४. अलात (अलायं):

अधजली लकड़ी[1]।

९५. शुद्ध अग्नि (सुद्धागणि):

ईंधनरहित अग्नि[2]।

९६. उल्का (उक्कं):

गगनाग्नि—विद्युत् आदि[3]।

९७. उत्सेचन (उंजेज्जा):

उञ्ज (सिच्)—सींचना, प्रदीप्त करना[4]।

९८. घट्टन (घट्टेज्जा):

सजातीय या अन्य द्रव्यों द्वारा चालन या घर्षण[5]।

९९. उज्ज्वालन (उज्जालेज्जा):

पंखे आदि से अग्नि को ज्वलित करना—उसकी वृद्धि करना[6]।

१००. निर्वाण करे (निव्वावेज्जा):

निर्वाण का अर्थ है—बुझाना[7]।

सूत्र २१ :

१०१. चामर (सिएण):

सित का अर्थ चंवर किया गया है[8]। किन्तु संस्कृत साहित्य में 'सित' का चंवर अर्थ प्रसिद्ध नहीं है। 'सित' चामर के विशेषण के रूप में प्रयुक्त होता है—सित-चामर—श्वेत-चामर।

१—(क) अ० चू० पृ० ८९ : अलातं उमुतं।
(ख) जि० चू० पृ० १५६ : अलाय नाम उम्मुआहिय पज्ज (पज्ज) लियं।
(ग) हा० टी० प० १५४ : अलातमुल्मुकम्।

२—(क) अ० चू० पृ० ८९ : एतं विसेसे मोत्तूण सुद्धागणि।
(ख) जि० चू० पृ० १५६ : इंधणरहिओ सुद्धागणी।
(ग) हा० टी० प० १५४ : निरिन्धनः शुद्धोऽग्निः।

३—(क) अ० चू० पृ० ८९ : उक्का विज्जुतादि।
(ख) जि० चू० पृ० १५६ : उक्कादिविज्जुयादि।
(ग) हा० टी० प० १५४ : उल्का—गगनाग्निः।

४—(क) अ० चू० पृ० ८९ : अवसंतुयण उंजणं।
(ख) जि० चू० पृ० १५६ : उंजण णाम अवसतुअणं।
(ग) हा० टी० प० १५४ : उञ्जनमुत्सेचनम्।

५—(क) अ० चू० पृ० ८९ परोप्परमुमुताणं अण्णेण वा आहणणं घट्टणं।
(ख) जि० चू० पृ० १५६ : घट्टणं परोप्परं उम्मुगाणि घट्टयति, वा अण्णेण तारिसेण दव्वजाएण घट्टयति।
(ग) हा० टी० प० १५४ : घट्टनं—सजातीयादिना चालनम्।

६—(क) अ० चू० पृ० ८९ : वीयणमादीहिं जालाकरणमुज्जालणं।
(ख) जि० चू० पृ० १५६ : उज्जलणं नाम वीयणमाईहिं जालाकरणं।
(ग) हा० टी० प० १५४ : उज्ज्वालनं—व्यजनादिभिर्वृद्ध्यापादनम्।

७—(क) अ० चू० पृ० ८९ : विज्झवणं निव्वावणं।
(ख) जि० चू० पृ० १५६ : निव्वावणं नाम विज्झावणं।
(ग) हा० टी० प० १५४ : निर्वापणं—विध्यापनम्।

८—(क) अ० चू० पृ० : ८९ : चामरं सितं।
(ख) जि० चू० पृ० १५६ : सीतं चामरं भण्णइ।
(ग) हा० टी० प० १५४ : सितं चामरम्।

आयार चूला (१।८६) में वही प्रकरण है जो कि इस सूत्र में है। वहाँ पर 'सिएण वा' के स्थान पर 'सूवेण वा' का प्रयोग हुआ है—सूवेण वा विहुणेण वा.................।

निशीथ भाष्य (गा० २३६) में भी 'सुप्पं का प्रयोग मिलता है :—

सुप्पे य तालवेंटे, हत्थे मत्ते य चेलकण्णे य।
अच्छिफुमे पव्वए, णालिया चेव पत्ते य॥

यह परिवर्तन विचारणीय है।

१०२. पंखे (विहुयणेण) :

व्यजन, पंखा[1]।

१०३. वीजन (तालियंटेण) :

जिसके बीच में पकड़ने के लिए छेद हो और जो दो पुट वाला हो उसे तालवृन्त कहा जाता है। कई-कई इसका अर्थ ताड़पत्र का पंखा भी करते हैं[2]।

१०४. पत्र, शाखा, शाखा के टुकड़े (पत्तेण वा साहाए वा साहाभंगेण वा) :

'पत्तेण वा' 'साहाए वा' के मध्य में 'पत्तभंगेण वा' पाठ भी मिलता है। टीका-काल तक 'पत्तभंगेण वा' यह पाठ नहीं रहा। इसकी व्याख्या टीका की उत्तरवर्ती व्याख्याओं में मिलती है। आचाराङ्ग (२.१.७.२६२) में 'पत्तेण वा' के बाद 'साहाए वा' रहा है किन्तु उनके मध्य में 'पत्तभंगेण वा' नहीं है और यह आवश्यक भी नहीं लगता।

पत्र – पद्मिनी पत्र आदि[3]।

शाखा—वृक्ष की डाल।

शाखा के टुकड़े—डाल का एक अंश[4]।

१०५. मोर-पंख (पिहुणेण) :

इसका अर्थ मोर-पिच्छ अथवा वैसा ही अन्य पिच्छ होता है[5]।

१—(क) अ० चू० पृ० ८६: वीयणं विहुवणं।
(ख) जि० चू० पृ० १५६ : विहुवणं वीयनं णाम।
(ग) हा० टी० प० १५४ : विधुवनं—व्यजनम्।

२—(क) अ० चू० पृ० ८६ : तालवेंटमुक्खेवजाती।
(ख) जि० चू० पृ० १५६ : तालियंटो नाम लोगपसिद्धो।
(ग) हा० टी० प० १५४ : तालवृन्तं— तदेव मध्यग्रहणच्छिद्रम् द्विपुटम्।

३—(क) अ० चू० पृ० ८६ : पउमिणिपण्णमादी पत्तं।
(ख) जि० चू० पृ० १५६ : पत्तं नाम पोमिणिपत्तादी।
(ग) हा० टी० प० १५४ पत्रं—पद्मिनीपत्रादि।

४—(क) अ० चू० पृ० ८६ : रुक्खडालं साहा, तदेगदेसो साहा भंगतो।
(ख) जि० चू० पृ० १५६ : साहा रुक्खस्स डालं, साहाभंगओ तस्सेव एगदेसो।
(ग) हा० टी० प० १५४ : शाखा—वृक्षशाखा शाखाभङ्गं—तदेकदेशः।

५—(क) अ० चू० पृ० ८६ : पेहुणं मोरंगं।
(ख) जि० चू० पृ० १५६ पेहुणं मोरपिच्छगं वा अण्णं किंचि वा तारिसं पिच्छं।
(ग) हा० टी० प० १५४ पेहुणं मयूरादिपिच्छम्।

१०६. मोर-पिच्छी (पिहुणहत्थेण) :

मोर-पिच्छों अथवा अन्य पिच्छों का समूह—एक साथ बंधा हुआ गुच्छ[1]।

१०७. वस्त्र के पल्ले (चेलकण्णेण) :

वस्त्र का एक देश—भाग[2]।

१०८. अपने शरीर अथवा बाहरी पुद्गलों को (अप्पणो वा कायं बाहिरं वा वि पुग्गलं) :

अपने गात्र को तथा उष्ण ओदन आदि पदार्थों को[3]।

सूत्र : २२

१०९. स्फुटित बीजों पर (रूढेसु) :

बीज जब भूमि को फोड़ कर बाहर निकलता है तब उसे रूढ़ कहा जाता है[4]। यह बीज और अंकुर के बीच की अवस्था है। अंकुर नहीं निकला हो ऐसे स्फुटित बीजों पर।

११०. पत्ते आने की अवस्था वाली वनस्पति पर (जाएसु) :

अगस्त्य चूर्णि में बद्ध-मूल वनस्पति को जात कहा है[5]। यह भू-भाग के प्रकट होने की अवस्था है। जिनदास चूर्णि और टीका में इस दशा को स्तम्ब कहा गया है[6]।

जो वनस्पति अंकुरित हो गई हो, जिसकी पत्तियाँ भूमि पर फैल गई हों या जो घास कुछ बढ़ चली हो—उसे स्तम्बीभूत कहा जाता है।

१११. छिन्न वनस्पति के अङ्गों पर (छिन्नेसु) :

वायु द्वारा भग्न अथवा परशु आदि द्वारा वृक्ष से अलग किए हुए आर्द्र अपरिणत डालादि अङ्गों पर[7]।

१—(क) अ० चू० पृ० ८६ : तेसिं कलावो पेहुणहत्थतो
(ख) जि० चू० पृ० १५६ : पिहुणहत्थओ मोरिगकुच्चओ, गिद्धपिच्छाणि वा एगओ बद्धाणि।
(ग) हा० टी० प० १५४ : पेहुणहस्त - तत्समूहः।

२—(क) अ० चू० पृ० ८६ : तदेकदेसो चेलकण्णो।
(ख) जि० चू० पृ० १५६ : चेलकण्णो तस्सेव एगदेसो।
(ग) हा० टी० प० १५४ : चेलकर्णः—तदेकदेशः।

३—(क) अ० चू० पृ० ८६ : अप्पणो सरीरं सरीरवज्जो बाहिरो पोग्गलो।
(ख) जि० चू० पृ० १५६ : पोग्गल—उसिणोदग।
(ग) हा० टी० प० १५४ : आत्मनो वा कायं—स्वदेहमित्यर्थः, बाह्यं वा पुद्गलम् उष्णोदनादि।

४—(क) अ० चू० पृ० ६० : उब्भिज्जंतं रूढं।
(ख) जि० चू० पृ० १५७ : रूढ णाम बीयाणि चेव फुडियाणि, ण ताव अंकुरो निप्फज्जइ।
(ग) हा० टी० प० १५५ : रूढानि—स्फुटितबीजानि।

५—अ० चू० पृ० ६० : आबद्धमूलं जातं।

६—(क) जि० चू० पृ० १५७ : जाय नाम एताणि चेव थंबीभूयाणि।
(ख) हा० टी० प० १५५ : जातानि—स्तम्बीभूतानि।

७—(क) अ० चू० पृ० ६० : छिण्णं विहीकतं तं अपरिणतं।
(ख) जि० चू० पृ० १५७ : छिण्णग्गहणेण वाउणा भग्गस्स अण्णेण वा परसुमाइणा छिण्णस्स अद्दभावे वट्टमाणस्स अपरिणयस्स गहणं कयमिति।
(ग) हा० टी० पृ० १५५ : छिन्नानि—परशवादिभिर्वृक्षात् पृथक्स्थापितान्यार्द्राणि अपरिणतानि तदङ्गानि गृह्यन्ते।

११२. अण्डों एवं काष्ठ-कीट से युक्त काष्ठ आदि पर (सचित्तकोलपडिनिस्सिएसु) :

सूत्र के इस वाक्यांश का 'प्रतिनिश्रित' शब्द सचित्त और कोल— दोनों से सम्बन्धित है। सचित्त का अर्थ अण्डा और कोल का अर्थ घुण—काष्ठ-कीट होता है। प्रतिनिश्रित अर्थात् जिसमें अण्डे और काष्ठ-कीट हों वैसे काष्ठ आदि पर[1]।

११३. सोये (तुयट्टेज्जा[2]) :

(त्वग् + वृत्)—सोना, करवट लेना[3]।

सूत्र २३ :

११४. सिर (सीसंसि) :

अगस्त्य चूर्णि में 'बाहुंसि वा' के पश्चात् 'उदसीसंसि वा' है। अवचूरी और दीपिकाकार ने 'उदरंसिवा' के पश्चात् 'सीसंसिवा' माना है किन्तु टीका में वह व्याख्यात नहीं है। 'वत्थंसि वा' के पश्चात् 'पडिग्गहंसि वा' 'कंबलंसि वा' 'पायपुंछणंसि वा' ये पाठ और हैं, उनकी टीकाकार और अवचूरीकार ने व्याख्या नहीं की है। दीपिकाकार ने उनकी व्याख्या की है। अगस्त्य चूर्णि में 'वत्थंसि वा' नहीं है, 'कंबलंसि वा' है। 'पायपुंछण' (पादपुञ्छन) रयहरण (रजोहरण) का पुनरुक्त है—'पादपुञ्छनशब्देन रजोहरणमेव गृह्यते' (ओघनिर्युक्ति गाथा ७०६ वृत्ति)। पादप्रोञ्छनम्—रजोहरणम् (स्थानाङ्ग ५.७४ टी० पृ० २६०)। इसलिए यह अनावश्यक प्रतीत होता है। अगस्त्य चूर्णि में 'पडिग्गह' और 'पाय' दोनों पात्रवाचक हैं।

११५. रजोहरण (रयहरणंसि) :

स्थानाङ्ग (५.१६१) और बृहत्कल्प (२.२६) में ऊन, ऊँट के बाल, सन, वच्चक नाम की एक प्रकार की घास और मूंज का रजोहरण करने का विधान है। ओघनिर्युक्ति (७०६) में ऊन, ऊँट के बाल और कम्बल के रजोहरण का विधान मिलता है। ऊन आदि के धागों को तथा ऊँट आदि के बालों को बंट कर उनकी कोमल फलियाँ बनाई जाती हैं और वैसी दो सौ फलियों का एक रजोहरण होता है। रखी हुई वस्तु को लेना, किसी वस्तु को नीचे रखना, कायोत्सर्ग करना या खड़ा होना, बैठना, सोना और शरीर को सिकोड़ना ये सारे कार्य प्रमार्जन पूर्वक (स्थान और शरीर को किसी साधन से झाड़कर या साफकर) करणीय होते हैं। प्रमार्जन का साधन रजोहरण है। वह मुनि का चिह्न भी है'—

आयाणे निक्खेवे ठाणनिसीयणतुयट्टसंकोए।
पुव्वं पमज्जणट्ठा लिंगट्ठा चेव रयहरणं ॥—ओघनिर्युक्ति ७१०

इस गाथा में रात को चलते समय प्रमार्जन पूर्वक (भूमि को बुहारते हुए) चलने का कोई संकेत नहीं है। किन्तु रात को या अँधेरे में दिन को भी उससे भूमि को साफ कर चला जाता है। यह भी उसका एक उपयोग है। इसे पादप्रोञ्छन[4] धर्मध्वज और ओघा भी कहा जाता है।

१—(क) अ० चू० पृ० ६० : सचित्त-कोलपडिणिस्सितेसु वा, पडिणिस्सित सद्दो दोसु वि, सचित्तेसु पडिणिस्सिताणि अंडग-उद्देहिगादिसु, कोला घुणा ते जाणि अस्सिता ते कोलपडिणिस्सिता।
(ख) जि० चू० पृ० १५७ : सचित्तकोलपडिणिस्सियसद्दो दोसु वट्टइ, सचित्तसद्दे य कोलसद्दे य, सचित्तपडिणिस्सियाणि दारुयाणि सचित्तकोलपडिनिस्सिताणि, तत्थ सचित्तग्गहणेण अंडगउद्देहिगादीहिं अणुगताणि जाणि दारुगादीणिस चित्तनिस्सियाणि, कोलपडिनिस्सयाणि नाम कोलो घुणो भण्णति, सो कोलो जेसु दारुगेसु अणुगओ ताणि कोलपडिनिस्सियानि।
(ग) हा० टी० प० १५५ : सचित्तानि—अण्डकादीनि, कोलः—घुणः।
२—(क) अ० चू० पृ० ६० : गमणं चंकमणं, चिट्ठणं ठाणं, णिसीदणं उपविसणं, तुयट्टणं निवज्जणं।
(ख) जि० चू० पृ० १५७ : गमणं आगमन वा चंकमणं भण्णइ, चिट्ठणं नाम तेसि उवरिं ठियस्स अच्छणं, निसीयणं उवट्ठियस्स आवेसणं।
(ग) हा० टी० प० १५५ : गमनम्—अन्यतोऽन्यत्र स्थानम्—एकत्रैव निषीदनम्—उपवेशनम्।
३—जि० चू० पृ० १५७ : तुयट्टणं निवज्जण।
४—हा० टी० प० १६६ : 'पादपुंछन' रजोहरणम्।

११६. गोच्छग (गोच्छगंसि) :

इसका अर्थ है—एक वस्त्र जो पटल (पात्र को ढांकने के वस्त्र) को साफ करने के काम आता है।[1]

११७. दंडक (दंडगंसि) :

ओघनिर्युक्ति (७३०) में औपग्रहिक (विशेष परिस्थिति में रखे जाने वाले) उपधियों की गणना है। वहाँ दण्ड का उल्लेख है। इसकी कोटि के तीन उपाधि और बतलाए गये हैं—यष्टि, वियष्टि और विदण्ड। यष्टि शरीर-प्रमाण, वियष्टि शरीर से चार अंगुल कम, दण्ड कंधे तक और विदण्ड कुक्षि (कांख) तक लम्बा होता है। यवनिका (पर्दा) बांधने के लिए यष्टि और उपाश्रय के द्वार को हिलाने के लिए वियष्टि रखी जाती थी। दण्ड ऋतुबद्ध (चातुर्मासातिरिक्त) काल में भिक्षाटन के समय पास में रखा जाता था और वर्षाकाल में भिक्षाटन के समय विदण्ड रखा जाता था। भिक्षाटन करते समय बरसात आ जाने पर उसे भीगने से बचाने के लिए उत्तरीय के भीतर रखा जा सके इसलिए वह छोटा होता था। वृत्ति में नालिका का भी उल्लेख है। उसकी लम्बाई शरीर से चार अंगुल अधिक बतलाई गई है। उसका उपयोग नदी को पार करते समय उसका जल मापने के लिए होता था[2]।

व्यवहार सूत्र के अनुसार दण्ड रखने का अधिकारी केवल स्थविर ही है[3]।

११८. पीठ, फलक (पीढगंसि वा फलगंसि वा) :

पीठ—काठ आदि का बना हुआ बैठने का बाजोट। फलक—लेटने का पट्ट अथवा पीढ़ा[4]।

११९ शय्या या संस्तारक (सेज्जंसि वा संथारगंसि वा) :

शरीर-प्रमाण बिछौने को शय्या और ढाई हाथ लम्बे और एक हाथ चार अंगुल चौड़े बिछौने को संस्तारक कहा जाता है[5]।

१२०. उसी प्रकार के अन्य उपकरण पर (अन्नयरंसि वा तहप्पगारे उवगरणजाए) :

साधु के पास उपयोग के लिए रही हुई अन्य कल्पिक वस्तुओं पर[6]। 'तहप्पगारे उवगरणजाए'—इतना पाठ चूर्णियों में नहीं है।

१२१ सावधानी पूर्वक (संजयामेव)

कीट, पतंग आदि को पीड़ा न हो इस प्रकार। यतनापूर्वक, संयमपूर्वक[7]।

१२२. एकान्त में (एगंतं) :

ऐसे स्थान में जहाँ कीट, पतङ्गादि का उपघात न हो[8]।

१२३. संघात (संघायं) :

उपकरण आदि पर चढ़े हुए कीट, पतंग आदि का परस्पर ऐसा गात्रस्पर्श करना, जो उन प्राणियों के लिए पीड़ा रूप हो, संघात

१—ओ० नि० ६६५ : होइ पमज्जणहेउ तु, गोच्छओ भाणवत्थाणं।

२—ओ० नि० ७३० वृत्ति : अन्या नालिका भवति आत्मप्रमाणाच्चतुर्भिरंगुलैरतिरिक्ता, तत्थ नालियाए जलथाओ गिज्झइ।....

३—व्य० ८.५ पृ० २१ : थेराणं थेरभूमिपत्ताणं कप्पइ दण्डए वा·····

४—अ० चू० पृ० ९१ : पीढगं कट्ठमयं छगणमयं वा। फलगं जत्थ सुप्पति चपगपट्टादिपेढगं वा।

५—(क) अ० चू० पृ० ९१ : सेज्जा सव्वंगिया। संथारगो अड्ढाइज्जहत्थायतो सचउरंगुलं हत्थं विच्छिण्णो।

(ख) जि० चू० पृ० १५८ : सेज्जा सव्वंगिया, संथारो अड्ढाइज्जा हत्था आयतो हत्थं सचउरंगुलं विच्छिण्णो।

६—(क) अ० चू० पृ० ९१ : अण्णतरग्गहणेण सोवग्गहियमणेगागारं भणितं।

(ख) जि० चू० पृ० १५८ : अण्णतरग्गहणेण बहुविहस्स तहप्पगारस्स संजतपायोग्गस्स उवगरणस्स गहणं कयंति।

(ग) हा० टी० प० १५९ : अन्यतरस्मिन् वा तथाप्रकारे साधुक्रियोपयोगिनि उपकरणजाते।

७—(क) अ० चू० पृ० ९१ : संजतामेव जयणाए जहा ण परितावितज्जति।

(ख) जि० चू० पृ० १५८ : संजयामेवत्ति जहा तस्स पीडा ण भवति तहा घेत्तूण।

(ग) हा० टी० प० १५९ : संयत एव सन् प्रयत्नेन वा।

८—(क) अ० चू० पृ० ९१ : एकते जत्थ तस्स उवघातो ण भवति तहा अवणेज्जा।

(ख) जि० चू० पृ० १५८ : एगंते नाम जत्थ तस्स उवघाओ न भवइ तत्थ।

(ग) हा० टी० प० १५९ : तस्यानुपघातके स्थाने।

कहलाता है। यह नियम है कि एक के ग्रहण से जाति का ग्रहण होता है। अतः अवशेष परितापना, क्लामना आदि को भी संघात के साथ ग्रहण कर लेना चाहिए। संघात के बाद का आदि शब्द लुप्त समझना चाहिए[1]।

श्लोक १ :

१२४. त्रस और स्थावर (पाणभूयाइं ख) :

"प्राणा द्वि त्रि चतुः प्रोक्ता, भूतास्तु तरवः स्मृताः"— इस बहु प्रचलित श्लोक के अनुसार दो, तीन और चार इन्द्रिय वाले जीव प्राण तथा तरु (या एक इन्द्रिय वाले जीव) भूत कहलाते हैं। अगस्त्यसिंह स्थविर ने प्राण और भूत को एकार्थक भी माना है तथा वैकल्पिक रूप में प्राण को त्रस और भूत को स्थावर अथवा जिनका श्वास-उच्छ्वास व्यक्त हो उन्हें प्राण और शेष जीवों को भूत माना है[2]।

१२५. हिंसा करता है (हिंसई ख) :

'अयतनापूर्वक चलने, खड़ा होने आदि से साधु प्राण-भूतों की हिंसा करता है'—इस वाक्य के दो अर्थ हैं—(१) वह वास्तव में ही जीवों का उपमर्दन करता हुआ उनकी हिंसा करता है और (२) कदाचित् कोई जीव न भी मारा जाय तो भी वह छह प्रकार के जीवों की हिंसा के पाप का भागी होता है। प्रमत्त होने से जीव-हिंसा हो या न हो वह साधु भावतः हिंसक है[3]।

१२६. उससे पापकर्म का बंध होता है (बंधइ पावयं कम्मं ग) :

अयतनापूर्वक चलने वाले को हिंसक कहा गया है भले ही उसके चलने से जीव मरे या न मरे। प्रमाद के सद्भाव से उसके परिणाम अकुशल और अशुभ होते हैं। इससे उसके क्लिष्ट ज्ञानावरणीय आदि कर्मों का बंध होता रहता है।

कर्म दो तरह के होते हैं—(१) पुण्य और (२) पाप। शुभ योगों से पुण्य कर्मों का बंध होता है और अशुभ से पाप कर्मों का। कर्म ज्ञानावरणीय आदि आठ हैं। उनके स्वभाव भिन्न-भिन्न हैं। अशुभ योगों से साधु आठों ही पाप-कर्म-प्रकृतियों का बंध करता है।

आत्मा के असंख्य प्रदेश होते हैं। अशुभ क्रियाओं से राग-द्वेष के द्वारा खिंच कर पुद्गल-निर्मित कर्म इन प्रदेशों में प्रवेश पा वहीं रहे हुए पूर्व कर्मों से संबद्ध हो जाते हैं—एक-एक आत्मप्रदेश को आठों ही कर्म आवेष्टित-परिवेष्टित कर लेते हैं। यही कर्मों का बंध कहलाता है। पाप-कर्म का बंध अर्थात् अत्यन्त स्निग्ध कर्मों का उपचय—संग्रह। इसका फल बुरा होता है[4]।

१२७. कटु फल वाला होता है (होइ कडुयं फलं घ) :

प्रमादी के मोहादि हेतुओं से पाप कर्मों का बंध होता है। पाप कर्मों का विपाक बड़ा दारुण होता है। प्रमत्त को कुदेव, कुमनुष्य आदि गतियों की ही प्राप्ति होती है। वह दुर्लभ-बोधि होता है[5]।

१—(क) अ० चू० पृ० ६१ : परिताव परोप्परं गत्तपीडणं संघातो। एत्थ आदिसद्दलोपो, संगट्टण-परितावणोद्दवणाणि सूतिज्जंति।
(ख) जि० चू० पृ० १५८ : संघातं नाम परोप्परतो गत्ताणं संपिंडणं, एगग्गहणेण गहणं तज्जाईयाणंतिकाऊणं सेसावि परितावणकिलावणादिभेदा गहिया।
(ग) हा० टी० प० १५६ : संघातं—परस्परगात्रसंस्पर्शपीडारूपम्।

२—(क) अ० चू० पृ० ६१ : पाणाणि चेव भूताणि पाणभूताणि, अहवा पाणा तसा, भूता थावरा, फुडऊसासनीसासा पाणा सेसा भूता।
(ख) जि० चू० पृ० १५८ : पाणाणि चेव भूयाणि, अहवा पाणगहणेण तसाणं गहणं, सत्ताणं विविहेहिं पगारेहिं।
(ग) हा० टी० प० १५६ : प्राणिनो—द्वीन्द्रियादयः भूतानि—एकेन्द्रियास्तानि।

३—(क) अ० चू० पृ० ६१ : हिंसतो मारेमाणस्स।
(ख) हा० टी० प० १५६ : हिनस्ति—प्रमादानाभोगाभ्यां व्यापादयतीति भावः, तानि च हिंसन्।

४—(क) अ० चू० पृ० ६१ : पावगं कम्मं, बज्झति एक्केक्को जीवपदेसो अट्ठहिं कम्मपगडीहि आवेढिज्जति, पावगं कम्मं असायवेदणिज्जादि। अजयणातो हिंसा ततो पावोवचतो।
(ख) जि० चू० पृ० १५८ : बंधइ नाम एक्केक्कं जीवप्पदेसं अट्ठहिं कम्मपगडीहिं आवेढियपरिवेढियं करेति, पावगं नाम असुभकम्मोवचयो घननिचयो भण्णइ।
(ग) हा० टी० प० १५६ : अकुशलपरिणामादादत्ते क्लिष्टं ज्ञानावरणीयादि।

५—(क) अ० चू० पृ० ६१ : तस्स फलं तं से होति कडुयं फलं कडुगविवागं कुगति—अबोधिलाभनिव्वत्तगं।
(ख) जि० चू० पृ० १५८ : कडुयं फलं नाम कुदेवत्तकुमाणुसत्तनिव्वत्तकं पमत्तस्स भवइ।
(ग) हा० टी० प० १५६ : तद्—पाप कर्म से—तस्यायतचारिणो भवति, कटुकफलमित्यनुस्वारोऽलाक्षणिकः अशुभफलं भवति, मोहादिहेतुतया विपाकदारुणमित्यर्थः।

श्लोक १-६ :

१२८. अयतनापूर्वक चलनेवाला···अयतनापूर्वक बोलनेवाला (श्लोक १-६) ,

सूत्र १८ से २३ में प्राणातिपात-विरमण महाव्रत के पालन के लिए पृथ्वीकायादि जीवों के हनन की क्रियाओं का उल्लेख करते हुए उनसे बचने का उपदेश है। शिष्य उपदेश को सुन उन क्रियाओं को मन, वचन, काया से करने, कराने और अनुमोदन करने का यावज्जीवन के लिए प्रत्याख्यान करता है।

जीव-हिंसा की विविध क्रियाओं के त्याग-प्रत्याख्यान के साथ-साथ जीवन-व्यवहार में यतना (सावधानी) की भी पूरी आवश्यकता है। अयतनापूर्वक चलने वाला, खड़ा होने वाला, बैठने वाला, भोजन करने वाला, सोने वाला, बोलने वाला हिंसा का भागी होता है और उसको कैसा फल मिलता है, इसी का उल्लेख श्लोक १ से ६ तक में है।

साधु के लिए चलने के नियम इस प्रकार हैं—वह धीरे-धीरे युग-प्रमाण भूमि को देखते हुए चले; बीज, घास, जल, पृथ्वी, त्रस आदि जीवों का परिवर्जन करते हुए चले; सरजस्क पैरों से अंगार, छाई, गोबर आदि पर न चले, वर्षा, कुहासा गिरने के समय न चले; जोर से हवा बह रही हो अथवा कीट-पतंग आदि सम्पातिम प्राणी उड़ते हों उस समय न चले, वह न ऊपर देखता चले, न नीचे देखता चले, न बातें करता चले और न हँसते हुए चले। वह हिलते हुए तख्ते, पत्थर, ईंट पर पैर रख कर कर्दम या जल के पार न हो।

चलने सम्बन्धी इन तथा ऐसे ही अन्य ईर्या समिति के नियमों व शास्त्रीय आज्ञाओं का उल्लंघन तद्विषयक अयतना है[1]।

खड़े होने के नियम इस प्रकार हैं—सचित्त भूमि पर खड़ा न हो, जहाँ खड़ा हो वहाँ से खिड़कियों आदि की ओर न झाँके; खड़े-खड़े हाथ पैरों को असमाहित भाव से न हिलाये-डुलाए, पूर्ण संयम से खड़ा रहे; हरित, उदक, उत्तिङ्ग तथा पनक पर खड़ा न हो।

खड़े होने सम्बन्धी इन या ऐसे ही अन्य नियमों का उल्लंघन तद्विषयक अयतना है।

बैठने के नियम इस प्रकार हैं—सचित्त भूमि या आसन पर न बैठे, बिना प्रमार्जन किए न बैठे, गलीचे, दरी आदि पर न बैठे, गृहस्थ के घर न बैठे। हाथ, पैर, शरीर और इन्द्रियों को नियन्त्रित कर बैठे। उपयोगपूर्वक बैठे।

बैठने के इन तथा ऐसे ही नियमों का उल्लंघन तद्विषयक अयतना है। बैठे-बैठे हाथ-पैरादि को अनुपयोगपूर्वक पसारना, सकोचना आदि अयतना है[2]।

सोने के नियम इस प्रकार हैं—बिना प्रमार्जित भूमि, शय्या आदि पर न सोये, अकारण दिन में न सोये; सारी रात न सोये, प्रकाम निद्रा सेवी न हो।

सोने के विषय में इन नियमों का उल्लंघन तद्विषयक अयतना है[3]।

भोजन के नियम इस प्रकार हैं—सचित्त, अर्द्धपक्व न ले, सचित्त पर रखी हुई वस्तु न ले, स्वाद के लिए न खाये, प्रकामभोजी न हो, थोड़ा खाये; संग्रह न करे; औद्देशिक, क्रीत आदि न ले; संविभाग कर खाये, संतोष के साथ खाये; जूठा न छोड़े; मित मात्रा में ग्रहण करे; गृहस्थ के बरतन में भोजन न करे आदि।

१—(क) अ० चू० पृ० ९१ : चरमाणस्स गच्छमाणस्स, रियासमितिविरहितो सत्तोपघातमातोवघात वा करेज्जा।

(ख) जि० चू० पृ० १५८ : अजयं नाम अणुवएसेणं, चरमाणो नाम गच्छमाणो।

(ग) हा० टी० प० १५६ : अयतम् अनुपदेशेनासूत्राज्ञया इति, क्रियाविशेषणमेतत् "अयतमेव चरन्, ईर्यासमितिमुल्लङ्घ्य।

२—(क) अ० चू० पृ० ९२ : आसमाणो उवेट्ठो सरीरकुरुकुयादि।

(ख) जि० चू० पृ० १५९ : आसमाणो नाम उवट्ठिओ, सो तत्थ सरीराकुंचणादीणि करेइ, हत्थपाए विच्छुभइ, तओ सो उवरोधे वट्टइ।

(ग) हा० टी० प० १५७ : अयतमासीनो—निषण्णतया अनुपयुक्त आकुञ्चनादिभावेन।

३—(क) अ० चू० पृ० ९२ : आउंटण-पसारणादिसु एडिलेहणप्पमज्जणमकरितस्स पकाम-णिकामं रत्तिं दिवा य सुयन्तस्स।

(ख) जि० चू० पृ० १५९ : अजयति आउंटेमाणो य ण पडिलेहइ ण पमज्जइ, सव्वराइ सुयइ, दिवसओवि सुयइ, पगाम निगामं वा सुवई।

(ग) हा० टी० प० १५७ : अयतं स्वपन्—असमाहितो दिवा प्रकामशय्यादिना (वा)।

१३५. यतनापूर्वक सोने (जयं सए ख) :

यतनापूर्वक सोने का अर्थ है—पार्श्व आदि फेरते समय या अङ्गों को फैलाते समय निद्रा छोड़कर शय्या का प्रतिलेखन और प्रमार्जन करना । रात्रि में प्रकामशायी—प्रगाढ़ निद्रावाला न होना, समाहित होना[1] ।

१३६. यतनापूर्वक खाने (जयं भुंजंतो ग) :

यतनापूर्वक खाने का अर्थ है—शास्त्र-विहित प्रयोजन के लिए निर्दोष, अप्रणीत (रसरहित) पान-भोजन को अगृद्ध भाव से खाना[2]।

१३७. यतनापूर्वक बोलने (जयं भासंतो ग) :

यतनापूर्वक बोलने का अर्थ है—इसी सूत्र के 'वाक्य-शुद्धि' नामक सातवें अध्याय में वर्णित भाषा सम्बन्धी नियमों का पालन करना । मुनि के योग्य मृदु, समयोचित भाषा का प्रयोग करना[3] ।

श्लोक ९ :

१३८. जो सब जीवों को आत्मवत् मानता है…उसके…बंधन नहीं होता (श्लोक ९) :

जब शिष्य के सामने यह उत्तर आया कि यतना से चलने, खड़ा होने आदि से पाप-कर्म का बंध नहीं होता तो उसके मन में एक जिज्ञासा हुई—यह लोक छह काय के जीवों से समाकुल है। यतनापूर्वक चलने, खड़ा होने, बैठने, सोने, भोजन करने और बोलने पर भी जीव-वध संभव है फिर यतनापूर्वक चलने वाले अनगार को पाप-कर्म क्यों नहीं होगा ? शिष्य की इस शंका को अपने ज्ञान से समझ कर गुरु जो उत्तर देते हैं वह इस श्लोक में समाहित है ।

इसकी तुलना गीता के (५।७) निम्न श्लोक से होती है :

> योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।
> सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥

इस नौवें श्लोक का भावार्थ यह है :

जिसके मन में यह बात अच्छी तरह जम चुकी है कि जैसा मैं हूँ वैसे ही सब जीव हैं, जैसे मुझे दुःख अनिष्ट है वैसे जीवों को अनिष्ट है, जैसे पैर में कांटा चुभने से मुझे वेदना होती है वैसे ही सब जीवों को होती है, उसने जीवों के प्रति सम्यक् उपलब्धि कर ली । वह 'सर्वभूतात्मभूत' कहलाता है[4] ।

१—(क) अ० चू० पृ० ९२ : सुवणा जयणाए सुवेज्जा ।
(ख) जि० चू० पृ० १६० : एवं निद्दामोक्खं करेमाणो आउंटणपसारणाणि पडिलेहिय पमज्जिय करेज्जा ।
(ग) हा० टी० प० १५७ : यतं स्वपेत् - समाहितो रात्रौ प्रकामशय्यादिपरिहारेण ।

२—(क) अ० चू० पृ० ९२ : दोसवज्जितं भुंजेज्ज ।
(ख) जि० चू० पृ० १६० : एवं दोसवज्जियं भुंजेज्जा ।
(ग) हा० टी० प० १५७ : यतं भुञ्जानः—सप्रयोजनमप्रणीतं प्रतरसिंहभक्षितादिना ।

३—(क) अ० चू० पृ० ९२ : जहा 'वक्कसुद्धीए' भण्णिहिति तहा भासेज्जा ।
(ग) हा० टी० प० १५७ : एवं यतं भाषमाणः—साधुभाषया मृदुकालप्राप्तम् ।

४—(क) अ० चू० पृ० ९२ : सव्वभूता सव्वजीवा तेसु सव्वभूतेसु अप्पभूतस्स जहा अप्पाणं तहा सव्वजीवे पासति, 'जह मम दुक्खं अणिट्ठं एवं सव्वसत्ताणं' ति जाणिऊण ण हिंसति, एवं सम्मं दिट्ठाणि भूताणि भवति तस्स ।
(ख) जि० चू० पृ० १६० : सव्वभूता—सव्वजीवा तेसु सव्वभूतेसु अप्पभूतो, कहं ? जहा मम दुक्खं अणिट्ठं इह एवं सव्वजीवाणंतिकाउं पीडा णो उप्पायइ, एवं जो सव्वभूएसु अप्पभूतो तेण जीवा सम्मं उवलद्धा भवंति, भणियं च—

"कट्ठेण कंटएण य पादे विद्धस्स वेदणा तस्स ।
जा होइ अणेव्वाणी णायव्वा सव्वजीवाणं ॥"

(ग) हा० टी० प० १५७ : सर्वभूतेष्वात्मभूतः सर्वभूतात्मभूतो, य आत्मवत् सर्वभूतानि पश्यतीत्यर्थः, तस्यैवं सम्यग्—वीतरागोक्तेन विधिना भूतानि—पृथिव्यादीनि पश्यतः सतः ।

प्रस्तुत श्लोक हिंसा न करते हुए सम्पूर्ण विरत महात्यागी को उसके निमित्त से हुई अशक्यकोटि की जीव-हिंसा के पाप से ही मुक्त घोषित करता है। जो जीव-हिंसा में रत है, वह भले ही आवश्यकतावश या परवशता से उसमें लगा हो, हिंसा के पाप से मुक्त नहीं रह सकता। अनासक्ति केवल इतना ही अन्तर ला सकती है कि उसके पाप-कर्मों का बंध अधिक गाढ़ नहीं होता।

श्लोक १० :

१३९. श्लोक १० :

इसकी तुलना गीता के (४।३८)—'नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते' के साथ होती है। पिछले श्लोक में 'दान्त' के पाप कर्म का बंधन नहीं होता ऐसा कहा गया है। इससे चारित्र की प्रधानता सामने आती है। इस श्लोक में यह कहा गया है कि चारित्र ज्ञान-पूर्वक होना चाहिए। इस तरह यहाँ ज्ञान की प्रधानता है। जैन धर्म ज्ञान और क्रिया—दोनों के युगपद्भाव से मोक्ष मानता है। इस अध्ययन में दोनों की सहचारिता पर बल है।

१४०. पहले ज्ञान, फिर दया (पढमं नाणं तओ दया[क]) :

पहले जीवों का ज्ञान होना चाहिए। दया उसके बाद आती है[1]। जीवों का ज्ञान जितना स्वल्प या परिमित होता है, मनुष्य में दया (अहिंसा) की भावना भी उतनी ही संकुचित होती है। अतः पहले जीवों का व्यापक ज्ञान होना चाहिए जिससे कि सब प्रकार के जीवों के प्रति दया-भाव का उद्भव और विकास हो सके और वह सर्वग्राही व्यापक जीवन-सिद्धान्त बन सके। इस अध्ययन में पहले षड् जीवनिकाय को बताकर बाद में अहिंसा की चर्चा की है, वह इसी दृष्टि से है। जीवों के व्यापक ज्ञान के बिना व्यापक अहिंसा-धर्म उत्पन्न नहीं हो सकता।

ज्ञान से जीव-स्वरूप, संरक्षणोपाय और फल का बोध होता है। अतः उसका स्थान प्रथम है। दया संयम है[2]।

१४१. इस प्रकार सब मुनि स्थित होते हैं (एवं चिट्ठइ सव्वसंजए[ख]) :

जो संयति हैं—सत्रह प्रकार के संयम को धारण किए हुए हैं, उनको सब जीवों का ज्ञान भी होता है। जिनका जीव-ज्ञान अपरिशेष नहीं उनका संयम भी सम्पूर्ण नहीं हो सकता और बिना सम्पूर्ण संयम के अहिंसा सम्पूर्ण नहीं होती क्योंकि सर्वभूतों के प्रति संयम ही अहिंसा है। यही कारण है कि जीवाजीव के भेद को जानने वाले निर्ग्रन्थ श्रमणों की दया जहाँ सम्पूर्ण है वहाँ जीवाजीव का विशेष भेद-ज्ञान न रखने वाले वादों की दया वैसी विशाल व सर्वग्राही नहीं। वहाँ दया कहीं तो मनुष्यों तक रुक गयी है और कहीं थोड़ी आगे जाकर पशु-पक्षियों तक या कीट-पतंगों तक। इसका कारण पृथ्वीकायिक आदि स्थावर जीवों के ज्ञान का ही अभाव है।

संयति ज्ञानपूर्वक क्रिया करने की प्रतिपत्ति में स्थित होते है, ज्ञानपूर्वक क्रिया (दया) का पालन करते हैं[3]।

१४२. अज्ञानी क्या करेगा ? (अन्नाणी किं काही[ग]) :

जिसे मालूम ही नहीं कि यह जीव है अथवा अजीव, वह अहिंसा की बात सोचेगा ही कैसे ? उसे भान ही कैसे होगा

१—(क) अ० चू० पृ० ८३ : पढमं जीवाज्जीवाहिगमो, ततो जीवेसु दता।
(ख) जि० चू० पृ० १६० : पढमं ताव जीवाभिगमो भणितो, तओ पच्छा जीवेसु दया।

२—हा० टी० प० १५७ : प्रथमम्—आदौ ज्ञानं—जीवस्वरूपसंरक्षणोपायफलविषयं 'ततः' तथाविधज्ञानसमनन्तरं 'दया' संयम-स्तदेकान्तोपादेयतया भावतस्तत्प्रवृत्तेः।

३—(क) अ० चू० पृ० ८३ : 'एवं चिट्ठति' एवं सद्दो प्रकाराभिधाणे, एतेण जीवादिविण्णाणप्पगारेण चिट्ठति अवट्ठाणं करेति।... सव्वसंजते सव्वसद्दो अपरिसेसवादी, सव्वसंजता णाणपुव्वं चरित्तधम्मं पडिवालेंति।
(ख) जि० चू० पृ० १६०-६१ : एव सद्दोऽवधारणे किमवधारयति ? सम्पूर्णं चेव संपुण्णा दया जीवाजीवविसेसं जाणमाणस्स ण उ अण्णाणीण जीवाजीवविसेसं अजाणमाणाण संपुण्णा दया भवइत्ति, चिट्ठइ नाम अच्छइ, सव्वसद्दो अपरिसेसवादी... सव्वसंजयाणं अपरिसेसाणं जीवाजीवादिसु णातेसु सतरसविधो संजमो भवइ।
(ग) हा० टी० प० १५७ : 'एवम्' अनेन प्रकारेण ज्ञानपूर्वकक्रियाप्रतिपत्तिरूपेण 'तिष्ठति' आस्ते 'सर्वसंयतः' सर्वः प्रव्रजितः

कि उसे अमुक कार्य नहीं करना है क्योंकि उससे अमुक जीव की घात होती है। अत: जीवों का ज्ञान प्राप्त करना अहिंसावादी की पहली शर्त है। बिना इस शर्त को पूरा किये कोई सम्पूर्ण अहिंसक नहीं हो सकता।

जिसे साध्य, उपाय और फल का ज्ञान नहीं, वह क्या करेगा ? वह तो अन्धे के तुल्य है। उसमें प्रवृत्ति और निवृत्ति के निमित्त का अभाव होता है[1]।

१४३. वह क्या जानेगा—क्या श्रेय है और क्या पाप (किं वा नाहिइ छेय पावगं[घ]) :

श्रेय हित को कहते हैं, पाप अहित को। संयम श्रेय है—हितकर है। असंयम—पाप है—अहितकर है। जो अज्ञानी है, जिसे जीवाजीव का ज्ञान नहीं, उसे किसके प्रति संयम करना है, यह भी कैसे ज्ञान होगा ? इस प्रकार संयम के स्वरूप को नहीं जानता हुआ वह श्रेय और पाप को भी नहीं समझेगा।

जिस प्रकार महानगर में दाह लगने पर नयनविहीन अन्धा नहीं जानता कि उसे किस दिशा-भाग से भाग निकलना है, उसी तरह जीवों के विशेष ज्ञान के अभाव में अज्ञानी नहीं जानता कि उसे असंयमरूपी दावानल से कैसे बच निकलना है[2] ?

जो यह नहीं जानता कि यह हितकर है—कालोचित है तथा यह उससे विपरीत है, उसका कुछ करना नहीं करने के बराबर है। जैसे कि आग लगने पर अन्धे का दौड़ना और घुन का अक्षर लिखना[3]।

श्लोक ११ :

१४४. सुनकर (सोच्चा[क]) :

आगम रचना-काल से लेकर वीर निर्वाण के दसवें शतक से पहले तक जैनागम प्राय: कण्ठस्थ थे। उनका अध्ययन आचार्य के मुख से सुनकर होता था[4]। इसीलिए श्रवण या श्रुति को ज्ञान-प्राप्ति का पहला अंग माना गया है। उत्तराध्ययन (३.१) में चार परमाङ्गों को दुर्लभ कहा है। उनमें दूसरा परमाङ्ग श्रुति है[5]। श्रद्धा और आचरण का स्थान उसके बाद का है। यही क्रम उत्तराध्ययन

१—(क) अ० चू० पृ० ९३ : अण्णाणी जीवो जीवविण्णाणविरहितो सो किं काहिति ? किं सद्दो खेवणातो, किं विण्णाण विणा करिस्सति ?

(ख) जि० चू० पृ० १६१ : जो पुण अण्णाणी सो किं काहिई ?

(ग) हा० टी० प० १५७ : य पुन: 'अज्ञानी' साध्योपायफलपरिज्ञानविकल: स किं करिष्यति ? सर्वत्रान्धतुल्यत्वात्प्रवृत्ति-निवृत्तिनिमित्ताभावात्।

२—(क) अ० चू० पृ० ९३ : किं वा णाहिति, वा सद्दो समुच्चये, 'णाहिति' जाणिहिति 'छेयं' जं सुगतिगमणलक्खणो चिट्ठति, पावकं तव्विवरीतं। निदरिसणं जहा अंधो महानगरदाहे पलित्तमेव विसमं वा पविसति, एवं छेद पावगमजाणतो संसारमेवाणुपडति।

(ख) जि० चू० पृ० १६१ : तत्थ छेयं नाम हितं, पावं अहियं, ते य संजमो असंजमो य, दिट्ठंतो अंधलओ, महानगरदाहे नयणविउत्तो न याणाति केण दिसाभाएण मए गंतव्वंति, तहा सोवि अन्नाणी नाणस्स विसेसं अयाणमाणो कहं असंजम-दवाउ निग्गच्छिहि त्ति ?

३—हा० टी० प० १५७ : 'छेकं' निपुणं हितं कालोचितं 'पापकं वा' अतो विपरीतमिति, ततश्च तत्करणं भावतोऽकरणमेव, समग्र-निमित्ताभावात्, अन्धप्रदीप्तपलायनघुणाक्षरकरणवत्।

४—अ० चू० पृ० ९३ : गणहरा तित्थगरातो, सेसो गुरुपरंपरेण सुणेऊणं।

५—उत्त० ३.१ : चत्तारि परमंगाणि दुल्लहाणीह जन्तुणो।
　　माणुसत्तं सुई सद्धा संजमंमि य वीरियं॥

के तीसरे[1] और दसवें[2] अध्ययन में प्रतिपादित हुआ है। श्रमण की पर्युपासना के दस फल बतलाए हैं। उनमें पहला फल श्रवण है। इसके बाद ही ज्ञान, विज्ञान आदि का क्रम है[3]।

स्वाध्याय के पाँच प्रकारों में भी श्रुति का स्थान है। स्वाध्याय का पहला प्रकार वाचना है। आजकल हम बहुत कुछ आँखों से देखकर जानते हैं। इसके अर्थ में वाचन और पठन शब्द का प्रयोग भी होता है। यही कारण है कि हमारा मानस वाचन का वही अर्थ ग्रहण करता है जो आँखों से देखकर जानने का है। पर वाचन व पठन का मूल बोलने में है। इनकी उत्पत्ति 'वचंक् भाषणे' और 'पठ् व्यक्तायां वाचि' धातु से है। इसलिए वाचन और पठन से श्रवण का गहरा सम्बन्ध है। अध्ययन के क्षेत्र में आज जैसे आँखों का प्रभुत्व है वैसे ही आगम-काल में कानों का प्रभुत्व रहा है।

'सुनकर'—इस शब्द की जिनदास ने इस प्रकार व्याख्या की है—सूत्र, अर्थ और सूत्रार्थ—इन तीनों को सुनकर अथवा ज्ञान, दर्शन और चारित्र को सुनकर अथवा जीव-अजीव आदि पदार्थों को सुनकर[4]। हरिभद्र ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है—मोक्ष के साधन, तत्त्वों के स्वरूप और कर्म-विपाक के विषय में सुनकर[5]।

१४५. कल्याण को (कल्लाणं [क]) :

जिनदास के अनुसार 'कल्ल' शब्द का अर्थ है 'नीरोगता', जो मोक्ष है। जो नीरोगता प्राप्त कराए वह है कल्याण अर्थात् ज्ञान-दर्शन-चारित्र[6]। हरिभद्र सूरि ने इसका अर्थ किया है—कल्य अर्थात् मोक्ष—उसे जो प्राप्त कराए वह कल्याण अर्थात् दया—संयम[7]। अगस्त्य चूर्णि के अनुसार इसका अर्थ है—आरोग्य। जो आरोग्य को प्राप्त कराए वह है कल्याण, अर्थात् संसार से मोक्ष। संसार-मुक्ति का हेतु धर्म है, इसलिए उसे कल्याण कहा गया है[8]।

१—उत्त० ३.८-१० :

माणुस्सं विग्गहं लद्धुं, सुई धम्मस्स दुल्लहा।
जं सोच्चा पडिवज्जंति, तवं खंतिमहिंसयं॥
आहच्च सवणं लद्धुं, सद्धा परमदुल्लहा।
सोच्चा नेआउयं मग्गं, बहवे परिभस्सई॥
सुइं च लद्धुं सद्धं च, वीरियं पुण दुल्लहं।
बहवे रोयमाणा वि, नो एणं पडिवज्जए॥

२—उत्त० १०.१८-२० :

अहीणपंचेन्दियत्तं पि से लहे, उत्तमधम्मसुई हु दुल्लहा।
कुतित्थिनिसेवए जणे, समयं गोयम ! मा पमायए॥
लद्धूण वि उत्तमं सुइं, सद्दहणा पुणरावि दुल्लहा।
मिच्छत्तनिसेवए जणे, समयं गोयम ! मा पमायए॥
धम्मं पि हु सद्दहन्तया, दुल्लहया काएण फासया।
इह कामगुणेहि मुच्छिया, समयं गोयम ! मा पमायए॥

३—ठा० ३.४१८ : सवणे णाणे य विन्नाणे पच्चक्खाणे य संजमे।
अणण्हते तवे चेव वोदाणे अकिरिय निव्वाणे॥

४—जि० चू० पृ० १६१ : सोच्चा नाम सुत्तत्थतदुभयाणि सोऊण णाणदंसणचरित्ताणि वा सोऊण जीवाजीवादी पयत्था वा सोऊण।

५—हा० टी० प० १५८ : 'श्रुत्वा' आकर्ण्य समाधनस्वरूपविपाकम्।

६—जि० चू० पृ० १६१ : कल्लं नाम नीरोगया, सा य मोक्खो, तमणेइ जं तं कल्लाणं, ताणि य णाणाईणि।

७—हा० टी० प० १५८ : कल्यो—मोक्षस्तमणति—प्रापयतीति कल्याणं—दयाख्यं संयमस्वरूपम्।

८—अ० चू० पृ० ८३ : कल्लाणं कल्लं—आरोग्गं तं आणेइ कल्लाणं संसारातो विमोक्खणं, सो य धम्मो।

१४६. पाप को (पावगं[ख]) :

जिसके करने से पाप-कर्मों का बन्ध हो उसे पापक—पाप कहते हैं। वह असंयम है[1]।

१४७. कल्याण और पाप (उभयं ग) :

'उभय' शब्द का अर्थ हरिभद्र ने—'श्रावकोपयोगी संयमासंयम का स्वरूप' किया है[2]। जिनदास के समय में भी ऐसा मत रहा है[3]। जिनदास ने स्वयं 'कल्याण और पाप' इसी अर्थ को ग्रहण किया है। अगस्त्यसिंह ने 'उभय' का अर्थ किया है—कल्याण और पाप—दोनों को[4]।

श्लोक १२-१३ :

१४८. श्लोक १२-१३ :

जो साधु को नहीं जानता वह असाधु को भी नहीं जानता। जो साधु और असाधु—दोनों को नहीं जानता वह किसकी संगत करनी चाहिए यह कैसे जानेगा ?

जो साधु को जानता है वह असाधु को भी जानता है। जो साधु और असाधु—दोनों को जानता है वह यह भी जानता है कि किसकी संगत करनी चाहिए।

उसी तरह जो मुमुक्षु जीव को नहीं जानता, वह उसके प्रतिपक्षी अजीव को भी नहीं जान पाता। जो दोनों का ज्ञान नहीं रखता वह संयम को भी नहीं जान सकता।

जो मुमुक्षु जीव को जानता है वह उसके प्रतिपक्षी अजीव को भी जान लेता है। जो जीव और अजीव—दोनों को जानता है वह संयम को भी जानता है।

संयम दो तरह का होता है—जीव-संयम और अजीव-संयम। किसी जीव को नहीं मारना—यह जीव-संयम है। मद्य, मांस, स्वर्ण आदि जो संयम के घातक हैं, उनका परिहार करना अजीव-संयम है। जो जीव और अजीव को जानता है वही उनके प्रति संयत हो सकता है[5]। जो जीव-अजीव को नहीं जानता वह संयम को भी नहीं जानता, वह उनके प्रति संयम भी नहीं कर सकता। कहा है—

१—(क) अ० चू० पृ० ९३ : पावगं अकल्लाणं।

(ख) जि० चू० पृ० १६१ : जेण य कएण कम्मं बज्झइ तं पावं सो य असंजमो।

(ग) हा० टी० प० १५८ : पापकम्—असंयमस्वरूपम्।

२—हा० टी० प० १५८ : 'उभयमपि' संयमासंयमस्वरूपं श्रावकोपयोगि।

३—जि० चू० पृ० १६१ : केइ पुण आयरिया कल्लाणपावयं च देसविरयस्स पावयं इच्छंति।

४—अ० चू० पृ० ९३ : उभयं एतदेव कल्लाणं पावगं।

५—(क) अ० चू० पृ० ९४ : 'जो' इति उद्देसवयणं। जीवंतीति 'जीवा' आउप्पाणा धरेंति, ते सरीर-संठाण-संघयण-द्विति—पज्जत्तिविसेसादीहिं जो ण जाणाति, 'अज्जीवे वि' रूवरसादिप्पभवपरिणामेहिं 'ण' जाणति। 'सो' एवं जीवा अजीवविसेसे 'अजाणंतो कहं' केण प्रकारेण णाहिति सत्तरसविहं संजम···णाहिंति जाणिहिंति सत्थपज्जाएहिं। कहं ? सो दुक्खं च जाणतो कूडगहपरिहरणेण देहस्स उपादाणं करेति, जीवगतमुपरोहकतमसमं परिहरतो अज्जीवाण वि मज्ज-मंसादीण परिहरणेण संजमाणुपालणं करेति। जीवे णाऊण वहं परिहरमाणो ण वड्ढयति वेरं, वेरविकारविरहितो पावति निरवद्दं थाणं।

(ख) जि० चू० पृ० १६१-६२ : एत्थ निदरिसणं जो साहुं जाणइ सो तप्पडिपक्खमसाधुमवि जाणइ, एवं जस्स जीवाजीव-परिण्णा अत्थि सो जीवाजीवसंजमं वियाणइ, तत्थ जीवा न हंतव्वा एसो जीवसंजमो भण्णइ, अजीवावि संसमज्जहिरण्णा-दिदव्वा संजमोवघाइया ण घेतव्वा एसो अजीवसंजमो, तेण जीवा य अजीवा य परिण्णाया जो तेसु संजमइ।

(ग) हा० टी० प० १५८ : यो 'जीवानपि' पृथिवीकायिकादिभेदभिन्नान् न जानाति 'अजीवानपि' संयमोपघातिनो मद्यहिरण्या-दीन्न जानाति, जीवाजीवानजानन्कथमसौ ज्ञास्यति 'संयमं ? तद्विषय, तद्विषयाज्ञानादिति भावः। ततश्च यो जीवानपि जानात्यजीवानपि जानाति जीवाजीवान् विजानन् स एव ज्ञास्यति संयममिति।

८—घ्राण इन्द्रिय-मुण्ड—घ्राण इन्द्रिय के विकार का अपनयन करने वाला।

९—रसन इन्द्रिय-मुण्ड—रसन इन्द्रिय के विकार का अपनयन करने वाला।

१०—स्पर्शन इन्द्रिय-मुण्ड—स्पर्शन इन्द्रिय के विकार का अपनयन करने वाला।

जब मनुष्य भोगों से निवृत्त हो जाता है तथा बाह्याभ्यन्तर संयोगों का त्याग कर देता है तब उसके गृहवास में रहने की इच्छा भी नहीं रहती। वह द्रव्य और भाव-मुंड हो, घर छोड़, अनगारिता अर्थात् अनगार-वृत्ति को धारण करता है—प्रव्रजित हो जाता है[1]। जिसके अगार—घर नहीं होता उसे अनगार कहा जाता है। अनगारिता अर्थात् गृह-रहित अवस्था—श्रमणत्व—साधुत्व।

श्लोक १९ :

१५४. श्लोक १९ :

'संवर' का अर्थ है—प्राणातिपात आदि आस्रवों का निरोध। यह दो तरह का है : देश संवर और सर्व संवर। देश संवर का अर्थ है—आस्रवों का एक देश त्याग—आंशिक त्याग। सर्व संवर का अर्थ है—आस्रवों का सर्व त्याग—सम्पूर्ण त्याग। देश संवर से सर्व संवर उत्कृष्ट होता है। जब सर्व भोग, बाह्याभ्यन्तर ग्रंथि और घर को छोड़कर मनुष्य द्रव्य और भाव रूप अनगारिता को ग्रहण करता है तब उसके उत्कृष्ट संवर होता है क्योंकि महाव्रतों को ग्रहण कर वह पापास्रवों को सम्पूर्णतः संवृत कर चुका होता है।

जिसके सर्व संवर होता है उसके सम्पूर्ण चारित्र धर्म होता है। सम्पूर्ण चारित्र धर्म से बढ़कर कोई दूसरा धर्म नहीं है। अतः स[र्व] चारित्र का स्वामी अनुत्तर धर्म का स्पर्श करता है—उसका अच्छी तरह आसेवन करता है।

अनगार के जो उत्कृष्ट संवर कहा है वह देश विरति के संवर की अपेक्षा से कहा है और उसके जो अनुत्तर धर्म कहा है पर-मतों की अपेक्षा से कहा है[2]।

श्लोक २० :

१५५. श्लोक २० :

जब अनगार उत्कृष्ट संवर और अनुत्तर धर्म का पालन करता है तब उसके फलस्वरूप अबोधि—अज्ञान या मिथ्यात्व रूपी क[लुष] से सञ्चित कर्म-रज को धुन डालता है—विध्वंस कर डालता है[3]।

१—(क) अ० चू० पृ० ९५ : मुंडो भवित्ताणंपंचादि अणगारियं प्रव्रजति प्रपद्यते अगारं—घरं तं जस्स नत्थि सो अणगारो, त[स्स] भावो अणगारिता तं पवज्जति।

(ख) जि० चू० पृ० १६२ : अणगारियं नाम अगारं—गिहं भण्णइ तं जेसिं नत्थि ते अणगारा, ते य साहुणो, ण उद्देसियावी[णि] भुंजमाणा अन्नतित्थिया अणगारा भवंति।

(ग) हा० टी० प० १५६ : मुण्डो भूत्वा द्रव्यतो भावतश्च 'प्रव्रजति' प्रकर्षेण व्रजत्यपवर्गं प्रत्यनगारं, द्रव्यतो भावतश्चावि[द्य]मानागारमिति भावः।

२—(क) अ० चू० पृ० ९५ : संवरं संवरो—पाणातिवातादीण आसवाण निवारणं, स एव संवरो उक्कट्ठो धम्मो तं फासे ति। [स] य अणुत्तरो, ण तातो अण्णो उत्तरतरो। अथवा संवरेण उक्करिसियं धम्ममणुत्तरं 'पासे' त्ति उक्किट्ठाणंतरं विसे[स] उक्किट्ठो, जं णं देसविरती अणुत्तरो कुतित्थियधम्मेहिंतो पहाणो।

(ख) जि० चू० पृ० १६२-६३ : संवरो नाम पाणवहादीण आसवाणं निरोहो भण्णइ, देससंवराओ सव्वसंवरो उक्किट्ठो, ते[ण] सव्वसंवरेण संपुण्णं चरित्तधम्मं फासेइ, अणुत्तरं नाम न ताओ धम्माओ अण्णो उत्तरोत्तरो अत्थि, सीसो आह,—ननु ज[ो] उक्किट्ठो सो चेव अणुत्तरो ? आयरिओ भणइ—उक्किट्ठगहणं देसविरइपडिसेहणत्थं कयं, अणुत्तरगहणं एसेव एगो जिणप्पणीओ धम्मो अणुत्तरो ण परवादिमताणित्ति।

(ग) हा० टी० प० १५६ : 'संवरमुक्किट्ठं' ति प्राकृतशैल्या उत्कृष्टसंवरं धर्मं—सर्वप्राणातिपातादिविनिवृत्तिरूपं, चारित्रधर्मं मित्यर्थः, स्पृशत्यनुत्तरं—सम्यगासेवत इत्यर्थः।

३—(क) अ० चू० पृ० ९५ : तदा धुणति कम्मरयं—धुणति विद्धंसयति कम्ममेव रतो कम्मरतो। 'अबोहिकलुसं कडं'—अबोहि—अण्णाणं, अबोहिकलुसेण कडं अबोहिणा वा कलुसं कतं।

(ख) हा० टी० प० १५६ : धुनोति—अनेकार्थत्वात्पातयति 'कर्मरजः' कर्मैव आत्मरञ्जनाद्रज इव रजः,...'अबोधिकलुषकृतं' अबोधिकलुषेण मिथ्यादृष्टिनोपात्तमित्यर्थः।

श्लोक २१ :

१५६. श्लोक २१ :

आत्मावरण कर्म-रज ही है। जब अनगार इसको धुन डालता है तब उसकी आत्मा अपने स्वाभाविक स्वरूप में प्रकट हो जाती है। उसके अनन्त ज्ञान और अनन्त दर्शन प्रकट हो जाते हैं, जो सर्वत्रग होते हैं।

सर्वत्रग का अर्थ है—सब स्थानों में जानेवाले—सर्व व्यापी। यहाँ यह ज्ञान और दर्शन का विशेषण है। इसलिए इसका अर्थ है केवल-ज्ञान और केवल-दर्शन। नैयायिकों के मतानुसार आत्मा सर्व व्यापी है। जैन-दर्शन के अनुसार ज्ञान सर्व व्यापी है। यह सर्व-व्यापकता क्षेत्र की दृष्टि से नहीं किन्तु विषय की दृष्टि से है। केवल-ज्ञान के द्वारा सब विषय जाने जा सकते हैं इसलिए वह सर्वत्रग कहलाता है[1]।

श्लोक २२ :

१५७. श्लोक २२ :

जिसमें धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, जीवास्तिकाय और काल—ये छह द्रव्य होते हैं उसे 'लोक' कहते हैं। लोक के बाहर जहाँ केवल आकाश है अन्य द्रव्य नहीं, वह 'अलोक' कहलाता है। जो सर्वत्रग ज्ञान-दर्शन को प्राप्त कर जिन—केवली होता है वह समूचे लोकालोक को देखने-जानने लगता है[2]।

श्लोक २३ :

१५८. श्लोक २३ :

आत्मा स्वभाव से अप्रकम्प होती है। उसमें जो गति, स्पन्दन या कम्पन है वह आत्मा और शरीर के संयोग से उत्पन्न है। इसे योग कहा जाता है। योग अर्थात् मन, वाणी और शरीर की प्रवृत्ति। इसका निरोध तद्भव-मोक्षगामी जीव के अन्तकाल में होता है। पहले मन का, फिर वचन का और उसके पश्चात् शरीर का योग निरुद्ध होता है और आत्मा सर्वथा अप्रकम्प बन जाती है। इस अवस्था का नाम है शैलेशी। शैलेश का अर्थ है मेरु। यह अवस्था मेरु की तरह अडोल होती है इसलिए इसका नाम शैलेशी है[3]।

जो लोकालोक को जानने—देखनेवाला जिन—केवली होता है वह अन्तकाल के समय योग का निरोध कर निष्कम्प शैलेशी अवस्था को प्राप्त होता है। निश्चल अवस्था को प्राप्त होने से अब उसके पुण्य कर्मों का भी बन्ध नहीं होता।

श्लोक २४ :

१५९. श्लोक २४ :

जिन—केवली के नाम, वेदनीय, गोत्र और आयुष्य ये चार कर्म ही अवशेष होते हैं। ये केवल भवधारण के लिए होते हैं। जब वह सब सम्पूर्ण अयोगी हो शैलेशी अवस्था को धारण करता है तब उसके ये कर्म भी सम्पूर्णतः क्षय को प्राप्त हो जाते हैं और वह नीरज—कर्म रूपी रज से सम्पूर्ण रहित हो सिद्धि को प्राप्त करता है। सिद्धि लोकान्त क्षेत्र को कहते हैं[4]।

१—(क) अ० चू० पृ० ९५ : सव्वत्थ गच्छती सव्वत्तगं केवलनाणं केवलदंसणं च।
(ख) *जि० चू० पृ० १६२ :*
(ग) हा० टी० प० १५९ : 'सर्वत्रगं ज्ञानम्—अशेषज्ञेयविषयं 'दर्शनं च' अशेषदृश्यविषयम्।

२—हा० टी० प० १५९ : 'लोकं' चतुर्दशरज्ज्वात्मकम् 'अलोकं च' अनन्तं जिनो जानाति केवली, लोकालोकौ च सर्वं नान्यतर-मेवेत्यर्थः।

३—(क) अ० चू० पृ० ९६ : 'तदा जोगे निरु भित्ता' भवधारणिज्जकम्मविसारणत्थं सोलस्स ईसति—वसयति सेलेसि।
(ख) जि० चू० पृ० १६३ : तदा जोगे निरु भिऊण सेलेसिं पडिवज्जइ, भवधारणिज्जकम्मक्खयट्ठाए।
(ग) हा० टी० प० १५९ : उचितसमयेन योगान्निरुध्य मनोयोगादीन् शैलेशीं प्रतिपद्यते, भवोपग्राहिकर्मांशक्षयाय।

४—(क) अ० चू० पृ० ९६ : ततो सेलेसिप्पभावेण 'तदा कम्म' भवधारणिज्जं कम्मं सेसं खवित्ताण सिद्धिं गच्छति णीरतो निक्कम्ममलो।
(ख) जि० चू० पृ० १६३ : भवधारणिज्जाणि कम्माणि खवेउं सिद्धिं गच्छइ, कहं ? जेण सो नीरओ, नीरओनाम अवगत-रओ नीरओ।
(ग) हा० टी० प० १५९ : कर्म क्षपयित्वा भवोपग्राह्यपि 'सिद्धिं गच्छति', लोकान्तक्षेत्ररूपां 'नीरजाः' सकलकर्मरजोविनिर्मुक्तः।

श्लोक २५ :

१६०. श्लोक २५ :

मुक्त होने के पश्चात् आत्मा लोक के मस्तक पर—ऊर्ध्व लोक के छोर पर—जाकर प्रतिष्ठित होती है इसलिए उसे लोकमस्तकस्थ कहा गया है। भगवान् से पूछा गया—मुक्त जीव कहाँ प्रतिहत होते हैं ? कहाँ प्रतिष्ठित होते हैं ? कहाँ शरीर को छोड़ते हैं ? कहाँ जाकर सिद्ध होते हैं ? उत्तर मिला—वे अलोक में प्रतिहत हैं, लोकाग्र में प्रतिष्ठित हैं, यहाँ—मनुष्य-लोक में शरीर छोड़ते हैं, और वहाँ—लोकाग्र में जाकर सिद्ध होते हैं—

कहिं पडिहया सिद्धा ? कहिं सिद्धा पइट्ठिया ?
कहिं बोन्दि चइत्ताणं ? कत्थ गन्तूण सिज्झई ?
अलोए पडिहया सिद्धा, लोयग्गे य पइट्ठिया।
इहं बोन्दि चइत्ताणं, तत्थ गन्तूण सिज्झई ॥

उत्तराध्ययन ३६.५५,५६

लोक के मस्तक पर पहुँचने के बाद वह सिद्ध आत्मा पुनः जन्म धारण नहीं करती और न लोक में कभी आती है। अतः शा सिद्ध रूप में वहीं रहती है[1]।

श्लोक २६ :

१६१. सुख का रसिक (सुहसायगस्स [क]) :

सुख-स्वादक के अर्थ इस प्रकार किये गये हैं :

(१) अगस्त्य सिंह के अनुसार जो सुख को चखता है वह सुखस्वादक है[2]।

(२) जिनदास के अनुसार जो सुख की प्रार्थना—कामना करता है वह सुखस्वादक कहलाता है[3]।

(३) हरिभद्र के अनुसार जो प्राप्त सुख को भोगने में आसक्त होता है उसे सुखस्वादक—सुख का रसिक कहा जाता है[4]।

१६२. सात के लिए आकुल (सायाउलगस्स [ख]) :

साताकुल के अर्थ इस प्रकार मिलते हैं :

(१) अगस्त्यसिंह के अनुसार सुख के लिए आकुल को साताकुल कहते हैं[5]।

(२) जिनदास के अनुसार 'मैं कब सुखी होऊँगा'—ऐसी भावना रखनेवाले को साताकुल कहते हैं[6]।

(३) हरिभद्र के अनुसार जो भावी सुख के लिए व्याक्षिप्त हो उसे साताकुल कहते हैं[7]।

अगस्त्य चूर्णि में 'सुहसायगस्स' के स्थान में 'सुहसीलगस्स' पाठ उपलब्ध है। सुखशीलक, सुख-स्वादक और साताकुल में आ ने निम्नलिखित अन्तर बतलाया है :

१—(क) अ० चू० पृ० ९६ : लोगमत्थगे लोगसिरसि ठितो सिद्धो कतत्थो [सासतो] सव्वकालं तहा भवति।
(ख) जि० चू० पृ० १६३ : सिद्धो भवति सासयोत्ति, जाव य ण परिणेव्वाति ताव अकुच्छियं देवलोगफलं सुकुलुप्पत्तिं पावतित्ति।
(ग) हा० टी० प० १५६ : त्रैलोक्योपरिवर्ती सिद्धो भवति 'शाश्वतः' कर्मबीजाभावादनुत्पत्तिधर्म इति भावः।

२—अ० चू० पृ० ९६ : 'सुहसायगस्स' तत्रा सुखं स्वादयति चक्खति।

३—जि० चू० पृ० १६३ : सुहं सायतीति सुहसायगो, सायति णाम पत्थयतित्ति, जो समणो होऊण सुहं कामयति सो सुहसाए भण्णइ।

४—हा० टी० प० १६० : सुखास्वादकस्य—अभिष्वङ्गेण प्राप्तसुखभोक्तुः।

५—अ० चू० पृ० ९६ : सायाउलगस्स—तेणेव सुहेण आउलस्स, आउलो—अणेवकग्गो।

६—जि० चू० पृ० १६३ : सायाउलो नाम तेण सातेण आउलीकओ, कहं सुही होज्जामित्ति ? सायाउलो।

७—हा० टी० प० १६० : 'साताकुलस्य' भाविसुखार्थं व्याक्षिप्तस्य।

(१) अगस्त्य मुनि के अनुसार जो कभी-कभी सुख का अनुशीलन करता है उसे सुखशीलक कहा जाता है और जिसे सुख का सतत ध्यान रहता है उसे सातकुल कहा जाता है[1]।

(२) जिनदास के अनुसार अप्राप्त सुख की जो प्रार्थना—कामना है वह सुख-स्वादकता है। प्राप्त-सात में जो प्रतिबंध होता है वह साताकुलता है[2]।

(३) हरिभद्र के अनुसार सुखास्वादकता का सम्बन्ध प्राप्त सुख के साथ है और साताकुल का सम्बन्ध अप्राप्त—भावी सुख के साथ[3]।

आचार्यों में इन शब्दों के अर्थ के विषय में जो मतभेद है, वह स्पष्ट है।

अगस्त्य मुनि के अनुसार सुख और सात एकार्थक हैं। जिनदास के अनुसार सुख का अर्थ है—अप्राप्त भोग और सात का अर्थ है—प्राप्त भोग। हरिभद्र का अर्थ ठीक इसके विपरीत है : प्राप्त सुख सुख है और अप्राप्त सुख सात।

१६३. अकाल में सोने वाला (निगामसाइस्स ग) :

जिनदास ने निकामशायी को 'प्रकामशायी' का पर्यायवाची माना है[4]। हरिभद्र के अनुसार सूत्र में जो सोने की वेला बताई गई है उसे उल्लंघन कर सोनेवाला निकामशायी है[5]। भावार्थ है—अतिशय सोनेवाला—अत्यन्त निद्राशील। अगस्त्यसिंह के अनुसार कोमल बिस्तर बिछाकर सोने की इच्छा रखने वाला निकामशायी है[6]।

१६४. हाथ, पैर आदि को बार-बार धोने वाला (उच्छोलणापहोइस्स ग) :

थोड़े जल से हाथ, पैर आदि को धोने वाला 'उत्सोलनाप्रधावी' नहीं होता। जो प्रभूत जल से बार-बार अयतनापूर्वक हाथ, पैर आदि को धोता है वह 'उत्सोलनाप्रधावी' कहलाता है। जिनदास ने विकल्प से—प्रभूत जल से भाजनादि का धोना—अर्थ भी किया है[7]।

श्लोक २७ :

१६५. ऋजुमती (उज्जुमइ ग) :

जिसकी मति ऋजु—सरल हो उसे ऋजुमती कहते हैं अथवा जिसकी बुद्धि मोक्ष-मार्ग में प्रवृत्त हो वह ऋजुमती कहलाता है[8]।

१—अ० चू० पृ० ९६ : अत्रा सुहसीलगस्स सदा सातातुसएण विसेसो—एगो सुहं कयाति अणुसीलेति, साताकुलो पुण सदा तदभिज्झाणो।

२—जि० चू० पृ० १६३ : सीसो आह—सुहसायगसायाउलाण को पतिविसेसो ? आयरिओ आह—सुहसायगहणेण अप्पत्तस्स सुहस्स जा पत्थणा सा गहिया, सायाउलगहणेण पत्ते य साते जो पडिबंधो तस्स गहण कयं।

३—हा० टी० प० १६० : सुखास्वादकस्य—अभिष्वङ्गेण प्राप्तसुखभोक्तुः ···· 'साताकुलस्य' भाविसुखार्थं व्याक्षिप्तस्य।

४—जि० चू० पृ० १६४ : निगामं नाम पगाम भण्णइ, निगामं सुयतीति निगामसायी।

५—हा० टी० प० १६० : 'निकामशायिनः' सूत्रार्थवेलामप्युल्लङ्घ्य शयानस्य।

६—अ० चू० पृ० ९६ : निकामसाइस्स सुपच्छण्णे मउए सुइतुं सीलमस्स निकामसाती।

७—(क) अ० चू० पृ० ९६ : उच्छोलणापहोतो पभूतेण अजयणाए धोवति।

(ख) जि० चू० पृ० १६४ : उच्छोलणापहावी णाम जो पभूओदगेण हत्थपायादी अभिक्खण पक्खालयइ, धोवेण कुक्कुचियत्तं कुव्वमाणो (ण) उच्छोलणापहोवी लब्भइ, अहवा भायणाणि पभूतेण पाणिएण पक्खालयमाणो उच्छोलणापहोवी।

(ग) हा० टी० प० १६० : 'उत्सोलनाप्रधाविनः' उत्सोलनया—उदकायतनया प्रकर्षेण धावति—पादादिशुद्धिं करोति यः स तथा तस्य।

८—(क) अ० चू० पृ० ९७ : उज्जुया मती उज्जुमती—अमाती।

(ख) जि० चू० पृ० १६४ : अज्जवा मती जस्स सो उज्जुमती।

(ग) हा० टी० प० १६० : 'ऋजुमतेः' मार्गप्रवृत्तबुद्धेः।

१६६. परीषहों को (परीसहे ग) :

क्षुधा, प्यास आदि बाईस प्रकार के कष्टों को[1]। इसकी व्याख्या के लिए देखिए अ० ३ : टिप्पणी नं० ५७ पृ० १०३।

१६७.

कई आदर्शों में २७ वें श्लोक के पश्चात् यह श्लोक है। दोनों चूर्णियों और टीका में इसकी व्याख्या नहीं है। इसलिए यह प्रक्षिप्त हुआ जान पड़ता है।

श्लोक २८ :

१६८. सम्यग्-दृष्टि (सम्मदिट्ठी ख) :

जिसे जीव आदि तत्त्वों में श्रद्धा है वह[2]।

१६९. कर्मणा (कम्मुणा घ) :

हरिभद्र सूरि के अनुसार इसका अर्थ है—मन, वचन और काया की क्रिया। ऐसा काम जिससे षट्-जीवनिकाय जीवों के प्रकार की हिंसा हो[3]।

१७०. विराधना (विराहेज्जासि घ) :

विराधना का अर्थ है—दुःख पहुँचाने से लेकर प्राण-हरण तक की क्रिया[4]। अप्रमत्त साधु के द्वारा भी जीवों की कथञ्चित् विराधना हो जाती है, पर यह अविराधना ही है।

१—(क) अ० चू० पृ० ९७ : परीसहे बावीसं जिणंतस्सं।
(ख) जि० चू० पृ० १६४ : परीसहा—दिगिच्छादि बावीसं ते अहियासंतस्स।
(ग) हा० टी० प० १६० : 'परीषहान्' क्षुत्पिपासादीन्।

२—हा० टी० प० १६० : 'सम्यग्दृष्टिः' जीवस्तत्त्वश्रद्धावान्।

३—(क) अ० चू० पृ० ९७ : कम्मुणा छज्जीवणियजीवोवरोहकारकेण।
(ख) जि० चू० पृ० १६४ : कम्मुणा णाम जहोवएसो भण्णइ तं छज्जीवणियं जहोवदिट्ठं तेण णो विराहेज्जा।
(ग) हा० टी० प० १६० : 'कर्मणा'—मनोवाक्कायक्रियया।

४—(क) अ० चू० पृ० ९७ : ण विराहेज्जासि मज्झिमपुरिसेण वपदेसो एवं सोम्म! ण विगणीया छक्काता।
(ख) हा० टी० प० १६० : 'न विराधयेत्' न खण्डयेत्, अप्रमत्तस्य तु द्रव्यविराधना यद्यपि कथञ्चिद् भवति तथाऽप्यसावविराधनैव
धर्मेकियर्थः।

पंचमं अज्झयणं
पिंडेसणा
(पढमोद्देसो)

पंचम अध्ययन
पिण्डैषणा
(प्रथम उद्देशक)

निर्दोष भिक्षा

भिक्षु को जो कुछ मिलता है वह भिक्षा द्वारा मिलता है इसलिए कहा गया है—"सव्वं से जाइयं होई णत्थि किंचि अजा (उत्त० २.२८) भिक्षु को सब कुछ मांगा हुआ मिलता है। उसके पास अयाचित कुछ भी नहीं होता। मांगना परीषह—कष्ट है (दे उत्त० २ गद्य भाग)

दूसरों के सामने हाथ पसारना सरल नहीं होता—"पाणी नो सुप्पसारए" (उत्त०२.२९)। किन्तु अहिंसा की मर्यादा का ध्यान हुए भिक्षु को वैसा करना होता है। भिक्षा जितनी कठोर चर्या है उससे भी कहीं कठोर चर्या है उसके दोषों को टालना। उसके बयालीस हैं। उनमें उद्गम और उत्पादन के सोलह-सोलह और एषणा के दस—सब मिलकर बयालीस होते हैं और पांच दोष परिभोगैषणा के हैं

"गवेसणाए गहणे य परिभोगेसणाय य।
आहारोवहिसेज्जाए एए तिन्नि विसोहए ॥
उग्गमुप्पायणं पढमे बीए सोहेज्ज एसणं।
परिभोयंमि चउक्कं विसोहेज्ज जयं जई ॥" (उत्त० २४. ११, १२)

(क) गृहस्थ के द्वारा लगने वाले दोष 'उद्गम' के दोष कहलाते हैं। ये आहार की उत्पत्ति के दोष हैं। ये इस प्रकार हैं—

१	आहाकम्म	—	आधाकर्म
२	उद्देसिय	—	औद्देशिक
३	पूइकम्म	—	पूतिकर्म
४.	मीसजाय	—	मिश्रजात
५.	ठवणा	—	स्थापना
६.	पाहुडिया	—	प्राभृतिका
७.	पाओयर	—	प्रादुष्करण
८.	कीअ	—	क्रीत
९.	पामिच्च	—	प्रामित्य
१०.	परियट्टि	—	परिवर्त
११.	अभिहड	—	अभिहृत
१२	उब्भिन्न	—	उद्भिन्न
१३.	मालोहड	—	मालापहृत
१४.	अच्छिज्ज	—	आच्छेद्य
१५.	अणिसिट्ठ	—	अनिसृष्ट
१६.	अज्झोयरय	—	अध्यवतरक

(ख) साधु के द्वारा लगने वाले दोष उत्पादन के दोष कहलाते हैं। ये आहार की याचना के दोष हैं—

१.	धाई	—	धात्री
२.	दूई	—	दूती
३.	निमित्त	—	निमित्त
४.	आजीव	—	आजीव
५.	वणीमग	—	वनीपक
६.	तिगिच्छा	—	चिकित्सा
७.	कोह	—	क्रोध
८.	माण	—	मान
९.	माया	—	माया
१०.	लोह	—	लोभ
११.	पुव्विं-पच्छा-संथव	—	पूर्व-पश्चात्-संस्तव

१२.	विज्जा	—	विद्या
१३.	मंत	—	मन्त्र
१४.	चुण्ण	—	चूर्ण
१५	जोग	—	योग
१६.	मूलकम्म	—	मूलकर्म

(ग) साधु और गृहस्थ दोनों के द्वारा लगने वाले दोष 'एषणा' के दोष कहलाते हैं। ये आहार विधिपूर्वक न लेने-देने और शुद्धाशुद्ध की छानबीन न करने से पैदा होते हैं। वे ये हैं—

१.	संकिय	—	शङ्कित
२	मक्खिय	—	म्रक्षित
३.	निक्खित्त	—	निक्षिप्त
४	पिहिय	—	पिहित
५	साहरिय	—	संहृत
६.	दायग	—	दायक
७	उम्मिस्स	—	उन्मिश्र
८	अपरिणय	—	अपरिणत
९	लित्त	—	लिप्त
१०	छड्डिय	—	छर्दित

भोजन सम्बन्धी दोष पाँच हैं। ये भोजन की सराहना व निन्दा आदि करने से उत्पन्न होते हैं। वे इस प्रकार हैं—

(१) अङ्गार, (२) धूम, (३) संयोजन, (४) प्रमाणातिरेक और (५) कारणातिक्रान्त।

ये सैंतालिस दोष आगम साहित्य में एकत्र कहीं भी वर्णित नहीं हैं किन्तु प्रकीर्ण रूप में मिलते हैं। श्री जयाचार्य ने उनका अनुतरतः संकलन किया है।

आधाकर्म, औद्देशिक, मिश्रजात, अध्यवतर, पूति-कर्म, क्रीत-कृत, प्रामित्य, आच्छेद्य, अनिसृष्ट और अभ्याहृत ये स्थानाङ्ग (९.६२) में बतलाए गए हैं। धात्री-पिण्ड, दूती-पिण्ड, निमित्त-पिण्ड, आजीव-पिण्ड, वनीपक-पिण्ड, चिकित्सा-पिण्ड, कोप-पिण्ड, मान-पिण्ड, माया-पिण्ड, लोभ-पिण्ड, विद्या-पिण्ड, मन्त्र-पिण्ड, चूर्ण-पिण्ड, योग-पिण्ड और पूर्व-पश्चात्-संस्तव—ये निशीथ (उद्दे० १२) में बतलाए गए हैं। परिवर्त का उल्लेख आचारचूला (१.२१) में मिलता है। अङ्गार, धूम, संयोजना, प्राभृतिका—ये भगवती (७.१) में मिलते हैं। मूलकर्म प्रश्नव्याकरण (संवर १.१५) में है। उद्भिन्न, मालापहृत, अध्यवतर, शङ्कित, म्रक्षित, निक्षिप्त, पिहित, संहृत, दायक, उन्मिश्र, अपरिणत, लिप्त और छर्दित—ये दशवैकालिक के पिण्डैषणा अध्ययन में मिलते हैं। कारणातिक्रान्त उत्तराध्ययन (२६.३२) और प्रमाणातिरेक भगवती (७.१) में मिलते हैं। हमने टिप्पणियों में यथास्थान इनका निर्देश किया है।

पंचमं अज्झयणं : पञ्चम अध्ययन

पिंडेसणा : पिण्डैषणा

पढमोद्देसो : प्रथम उद्देशक

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१—[1]संपत्ते भिक्खकालम्मि असंभंतो अमुच्छिओ । इमेण कमजोगेण भत्तपाणं गवेसए ॥	संप्राप्ते भिक्षाकाले, असंभ्रान्तोऽमूर्च्छितः । अनेन क्रमयोगेन, भक्तपानं गवेषयेत् ॥१॥	१—भिक्षा का काल प्राप्त होने प[र] मुनि असंभ्रांत[3] और अमूर्च्छित[4] रहता हु[आ] इस—आगे कहे जाने वाले, क्रम-योग [से] भक्त-पान की[5] गवेषणा करे ।
२—[6]से गामे वा नगरे वा गोयरग्गगओ मुणी । चरे मंदमणुव्विग्गो अव्वक्खित्तेण चेयसा ॥	स ग्रामे वा नगरे वा, गोचराग्रगतो मुनिः । चरेन्मन्दमनुद्विग्नः, अव्याक्षिप्तेन चेतसा ॥२॥	२—गाँव या नगर में गोचराग्र के लि[ए] निकला हुआ[7] वह[8] मुनि[9] धीमे-धीमे,[10] अनुद्विग्न[11] और अव्याक्षिप्त चित्त से[12] चले ।
३—[13]पुरओ जुगमायाए पेहमाणो महिं चरे । वज्जंतो बीयहरियाइं पाणे य दगमट्टियं ॥	पुरतो युगमात्रया, प्रेक्षमाणो महीं चरेत् । वर्जयन् बीजहरितानि. प्राणांश्च दक-मृत्तिकाम् ॥३॥	३—आगे[14] युग-प्रमाण भूमि को[15] देखता हुआ और बीज, हरियाली,[16] प्राणी,[17] जल तथा सजीव-मिट्टी को[18] टालता हुआ चले ।
४—[19]ओवायं विसमं खाणुं विज्जलं परिवज्जए । संकमेण न गच्छेज्जा विज्जमाणे परक्कमे[20] ॥	अवपातं विषमं स्थाणुं, 'विज्जलं' परिवर्जयेत् । संक्रमेण न गच्छेत्, विद्यमाने पराक्रमे ॥४॥	४—दूसरे मार्ग के होते हुए गड्ढे[20], ऊबड़ खाबड़[21] भू-भाग, कटे हुए सूखे पेड़ या अनाज के डंठल[22] और पंकिल मार्ग को[23] टाले तथा संक्रम (जल या गड्ढे को पार करने के लिए काष्ठ या पाषाण-रचित पुल) के ऊपर से[24] न जाये ।
५—[25]पवडंते व से तत्थ पक्खलंते व संजए । हिंसेज्ज पाणभूयाइं तसे अदुव थावरे ॥	प्रपतन् वा स तत्र, प्रस्खलन् वा संयतः । हिंस्यात् प्राणभूतानि, त्रसानथवा स्थावरान् ॥५॥	५-६—वहाँ गिरने या लड़खड़ा जाने से वह संयमी प्राणी-भूतों—त्रस अथवा स्थावर जीवों की हिंसा करता है, इसलिए सुसमाहित संयमी दूसरे मार्ग के होते हुए[27] उस मार्ग से न जाये । यदि दूसरा मार्ग न हो तो यतनापूर्वक जाये[28] ।
६—तम्हा तेण न गच्छेज्जा संजए सुसमाहिए । सइ अन्नेण मग्गेण जयमेव परक्कमे[26] ॥	तस्मात्तेन न गच्छेत्, संयतः सुसमाहितः । सत्यन्यस्मिन् मार्गे, यतमेव पराक्रमेत् ॥६॥	

७—[३०]इंगालं छारियं रासिं
तुसरासिं च गोमयं ।
ससरक्खेहिं पाएहिं
संजओ तं न अक्कमे ॥

अङ्गारं क्षारिकं राशिं,
तुषराशिं च गोमयम् ।
ससरक्षाभ्यां पादाभ्याम्,
संयतस्तं नाक्रामेत् ॥७॥

७—संयमी मुनि सचित्त-रज से भरे हुए पैरों से[३१] कोयले[३२], राख, भूसे और गोबर के ढेर के[३३] ऊपर होकर न जाये ।

८—[३४]न चरेज्ज वासे वासंते
महियाए व पडंतीए ।
महावाए व वायंते
तिरिच्छसंपाइमेसु वा ॥

न चरेद्वर्षे वर्षति
महिकायां वा पतन्त्याम् ।
महावाते वा वाति,
तिर्यक्संपातेषु वा ॥८॥

८—वर्षा बरस रही हो,[३५] कुहरा गिर रहा हो,[३६] महावात चल रहा हो[३७] और मार्ग में तिर्यक् संपातिम जीव छा रहे हों[३८] तो भिक्षा के लिए न जाये ।

९—[३९]न चरेज्ज वेससामंते
बंभचेरवसाणुए ।
बंभयारिस्स दंतस्स
होज्जा तत्थ विसोत्तिया ॥

न चरेद् वेशसामन्ते,
ब्रह्मचर्यवशानुगः ।
ब्रह्मचारिणो दान्तस्य,
भवेत्तत्र विस्रोतसिका ॥९॥

९—ब्रह्मचर्य का वशवर्ती मुनि[४०] वेश्या-बाड़े के समीप[४१] न जाये । वहाँ दमितेन्द्रिय ब्रह्मचारी के भी विस्रोतसिका[४२] हो सकती है—साधना का स्रोत मुड़ सकता है ।

१०—अणायणे चरंतस्स
संसग्गीए अभिक्खणं ।
होज्ज वयाणं पीला
सामण्णम्मि य संसओ ॥

अनायतने चरत.,
संसर्गेणाऽभीक्ष्णम् ।
भवेद् व्रतानां पीडा,
श्रामण्ये च संशयः ॥१०॥

१०—अस्थान में[४३] बार-बार जाने वाले के (वेश्याओं का) संसर्ग होने के कारण[४४] व्रतों की पीड़ा (विनाश)[४५] और श्रामण्य में सन्देह हो सकता है[४६] ।

११—तम्हा एयं वियाणित्ता
दोसं दुग्गइवड्ढणं ।
वज्जए वेससामंतं
मुणी एगंतमस्सिए ॥

तस्मादेतद् विज्ञाय,
दोषं दुर्गति-वर्द्धनम् ।
वर्जयेद्वेशसामन्तं,
मुनिरेकान्तमाश्रितः ॥११॥

११ इसलिए इसे दुर्गति बढ़ाने वाला दोष जानकर एकान्त (मोक्ष-मार्ग)[४७] का अनुगमन करने वाला मुनि वेश्या-बाड़े के समीप न जाये ।

१२—[४८]साणं सूइयं गाविं
दित्तं गोणं हयं गयं ।
संडिब्भं कलहं जुद्धं
दूरओ परिवज्जए ॥

श्वानं सूतिकां गां,
दृप्तं गां हयं गजम् ।
'संडिब्भं' कलहं युद्धं,
दूरतः परिवर्जयेत् ॥१२॥

१२ श्वान, ब्याई हुई गाय,[४९] उन्मत्त बैल, अश्व और हाथी, बच्चों के क्रीड़ा-स्थल,[५०], कलह[५१] और युद्ध (के स्थान) को[५२] दूर से टाल कर जाये[५३] ।

१३—[५४]अणुन्नए नावणए
अप्पहिट्ठे अणाउले ।
इंदियाणि जहाभागं
दमइत्ता मुणी चरे ॥

अनुन्नतो नावनत.,
अप्रहृष्टोऽनाकुलः ।
इन्द्रियाणि यथाभागं,
दमयित्वा मुनिश्चरेत् ॥१३॥

१३—मुनि न ऊंचा मुंहकर[५५], न झुक-कर[५६], न हृष्ट होकर[५७], न आकुल होकर[५८], (किन्तु) इन्द्रियों को अपने-अपने विषय के अनुसार[५९] दमन कर चले[६०] ।

१४—[61]दवदवस्स न गच्छेज्जा
भासमाणो य गोयरे।
हसंतो नाभिगच्छेज्जा
कुलं उच्चावयं सया॥

द्रवं द्रवं न गच्छेत्,
भाषमाणश्च गोचरे।
हसन् नाभिगच्छेत्,
कुलमुच्चावचं सदा॥१४॥

१४—उच्च-नीच कुल में[62] गोचरी गया हुआ मुनि दौड़ता हुआ न चले,[63] बोलता और हँसता हुआ न चले।

१५—[64]आलोयं थिग्गलं दारं
संधिं दगभवणाणि य।
चरंतो न विणिज्झाए
संकट्ठाणं विवज्जए॥

आलोकं 'थिग्गलं' द्वारं,
सन्धिं दकभवनानि च।
चरन् न विनिध्यायेत्,
शङ्कास्थानं विवर्जयेत्॥१५॥

१५—मुनि चलते समय आलोक, थिग्गल,[66] द्वार, संधि[67] तथा पानी-घर को न देखे। शंका उत्पन्न करने वाले स्थान से[69] बचता रहे।

१६—[70]रन्नो गिहवईणं च
रहस्सारक्खियाण[72] य।
संकिलेसकरं ठाणं
दूरओ परिवज्जए॥

राज्ञो गृहपतीनां च,
रहस्यारक्षिकाणाञ्च।
संक्लेशकरं स्थानं,
दूरतः परिवर्जयेत्॥१६॥

१६—राजा, गृहपति,[71] अन्तःपुर और आरक्षिकों के उस स्थान का मुनि दूर से ही वर्जन करे, जहां जाने से उन्हें संक्लेश उत्पन्न हो।[73]

१७—[74]पडिकुट्ठकुलं न पविसे
मामगं परिवज्जए।
अचियत्तकुलं न पविसे
चियत्तं पविसे कुलं॥

प्रतिकुष्ट-कुलं न प्रविशेत्,
मामकं परिवर्जयेत्।
'अचियत्त'-कुलं न प्रविशेत्,
'चियत्तं' प्रविशेत् कुलम्॥१७॥

१७—मुनि निंदित कुल में[75] प्रवेश न करे। मामक (गृह-स्वामी द्वारा प्रवेश निषिद्ध हो उस) का[76] परिवर्जन करे। अप्रीतिकर कुल में[77] प्रवेश न करे। प्रीतिकर[78] कुल में प्रवेश करे।

१८—[79]साणीपावारपिहियं
अप्पणा नावपंगुरे।
कवाडं नो पणोल्लेज्जा
ओग्गहं से अजाइया॥

शाणी-प्रावार-पिहितं,
आत्मना नापवृणुयात्।
कपाटं न प्रणोदयेत्,
अवग्रहं तस्य अयाचित्वा॥१८॥

१८—मुनि गृहपति की आज्ञा लिए बिना[80] सन[81] और मृग-रोम के बने वस्त्र से[82] ढँका द्वार स्वयं न खोले,[83] किवाड़ न खोले[84]।

१९—[85]गोयरग्गपविट्ठो उ
वच्चमुत्तं न धारए।
ओगासं फासुयं नच्चा
अणुन्नविय वोसिरे॥

गोचराग्रप्रविष्टस्तु,
वर्चोमूत्रं न धारयेत्।
अवकाशं प्रासुकं ज्ञात्वा,
अनुज्ञाप्य व्युत्सृजेत्॥१९॥

१९—गोचराग्र के लिए उद्यत मुनि मल-मूत्र की बाधा को न रखे[86]। (गोचरी करते समय मल-मूत्र की बाधा हो जाए तो) प्रासुक-स्थान[87] देख, उसके स्वामी की अनुमति लेकर वहां मल-मूत्र का उत्सर्ग करे।

२०—नीयदुवारं तमसं
कोट्ठगं परिवज्जए।
अचक्खुविसओ जत्थ
पाणा दुप्पडिलेहगा॥

नीचद्वारं तमो(मयं),
कोष्ठकं परिवर्जयेत्।
अचक्षुर्विषयो यत्र,
प्राणाः दुष्प्रतिलेख्यकाः॥२०॥

२०—जहां चक्षु का विषय न होने के कारण प्राणी न देखे जा सकें, वैसे निम्न-द्वार वाले[89] तमपूर्ण कोष्ठक का परिवर्जन करे।

२१—[९०]जत्थ पुप्फाइ बीयाइं
विप्पइण्णाइं कोट्ठए ।
अहुणोवलित्तं उल्लं
दट्ठूणं परिवज्जए ॥

यत्र पुष्पाणि बीजानि,
विप्रकीर्णानि कोष्ठके ।
अधुनोपलिप्तमार्द्रं,
दृष्ट्वा परिवर्जयेत् ॥२१॥

२१—जहाँ कोष्ठक में या कोष्ठक द्वार पर पुष्प, बीजादि बिखरे हों वहाँ मुनि न जाये। कोष्ठक को तत्काल का लीपा और गीला[९१] देखे तो मुनि उसका परिवर्जन करे।

२२—[९२]एलगं दारगं साणं
वच्छगं वावि कोट्ठए ।
उल्लंघिया न पविसे
विऊहित्ताण व संजए ॥

एडकं दारकं श्वानं,
वत्सकं वाऽपि कोष्ठके ।
उल्लंघ्य न प्रविशेत्,
व्यूह्य वा संयतः ॥२२॥

२२—मुनि भेड़,[९३] बच्चे, कुत्ते और बछड़े को लांघकर या हटाकर कोठे में प्रवेश न करे[९४]।

२३—[९५]असंसत्तं पलोएज्जा
नाइदूरावलोयए ।
उप्फुल्लं न विणिज्झाए
नियट्टेज्ज अयंपिरो ॥

असंसक्तं प्रलोकेत,
नातिदूरमवलोकेत ।
उत्फुल्लं न विनिध्यायेत्,
निवर्तेताऽजल्पिता ॥२३॥

२३—मुनि अनासक्त दृष्टि से देखे[९६]। अति दूर न देखे[९७]। उत्फुल्ल दृष्टि से न देखे[९८]। भिक्षा का निषेध करने पर बिना कुछ कहे वापस चला जाये[९९]।

२४—[१००]अइभूमिं न गच्छेज्जा
गोयरग्गगओ मुणी ।
कुलस्स भूमिं जाणित्ता
मियं भूमिं परक्कमे ॥

अतिभूमिं न गच्छेत्,
गोचराग्रगतो मुनिः ।
कुलस्य भूमिं ज्ञात्वा,
मितां भूमिं पराक्रमेत् ॥२४॥

२४—गोचराग्र के लिए घर में प्रविष्ट मुनि अति-भूमि (अननुज्ञात) में न जाये[१०१] कुल-भूमि (कुल-मर्यादा) को जानकर[१०२] मित-भूमि (अनुज्ञात) में प्रवेश करे[१०३]।

२५—[१०४]तत्थेव पडिलेहेज्जा
भूमिभागं वियक्खणो ।
सिणाणस्स य वच्चस्स
संलोगं परिवज्जए ॥

तत्रैव प्रतिलिखेत्,
भूमि-भागं विचक्षणः ।
स्नानस्य च वर्चसः,
संलोकं परिवर्जयेत् ॥२५॥

२५—विचक्षण मुनि[१०५] मित-भूमि में ही[१०६] उचित भू-भाग का प्रतिलेखन करे। जहाँ से स्नान और शौच का स्थान[१०७] दिखाई पड़े उस भूमि-भाग का[१०८] परिवर्जन करे।

२६—[१०९]दगमट्टियआयाणं
बीयाणि हरियाणि य ।
परिवज्जंतो चिट्ठेज्जा
सव्विंदियसमाहिए ॥

दकमृत्तिकाऽऽदानं,
बीजानि हरितानि च ।
परिवर्जयंस्तिष्ठेत्,
सर्वेन्द्रिय-समाहितः ॥२६॥

२६—सर्वेन्द्रिय-समाहित मुनि[११०] उदक और मिट्टी[१११] लाने के मार्ग[११२] तथा बीज और हरियाली[११३] को वर्जकर खड़ा रहे।

२७—[११४]तत्थ से चिट्ठमाणस्स
आहरे पाणभोयणं ।
अकप्पियं न इच्छेज्जा
पडिगाहेज्ज कप्पियं[११५] ॥

तत्र तस्य तिष्ठतः,
आहरेत् पान-भोजनम् ।
अकल्पिकं न इच्छेत्,
प्रतिगृह्णीयात् कल्पिकम् ॥२७॥

२७—वहाँ खड़े हुए उस मुनि के लिए कोई पान-भोजन लाए तो वह अकल्पिक न ले। कल्पिक ग्रहण करे।

२८—[116]आहरंती सिया तत्थ
परिसाडेज्ज भोयणं ।
देंतियं पडियाइक्खे
न मे कप्पइ तारिसं ॥

आहरन्ती स्यात् तत्र,
परिशाटयेद् भोजनम् ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत,
न मे कल्पते तादृशम् ॥२८॥

२८—यदि साधु के पास भोजन
हुई गृहिणी उसे गिराए तो मुनि उस
हुई[117] स्त्री को प्रतिषेध करे—इस प्रका
आहार मैं नहीं ले सकता ।

२९—सम्मद्दमाणी पाणाणि
बीयाणि हरियाणि य ।
असंजमकरिं नच्चा
तारिसं परिवज्जए ॥

सम्मर्दयन्ती प्राणान्,
बीजानि हरितानि च ।
असंयमकरीं ज्ञात्वा,
तादृशं परिवर्जयेत् ॥२९॥

२९—प्राणी, बीज और[118] हरि
को कुचलती हुई स्त्री असंयमकरी होती
यह जान[119] मुनि उसके पास से
पान[120] न ले ।

३०—साहट्टु निक्खिवित्ताणं
सच्चित्तं घट्टियाण य ।
तहेव समणट्ठाए
उदगं संपणोल्लिया ॥

संहृत्य निक्षिप्य,
सचित्तं घट्टयित्वा च ।
तथैव श्रमणार्थं,
उदकं संप्रणुद्य ॥३०॥

३१—आगाहइत्ता चलइत्ता
आहरे पाणभोयणं ।
देंतियं पडियाइक्खे
न मे कप्पइ तारिसं ।

अवगाह्य चालयित्वा
आहरेत्पान-भोजनम् ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत,
न मे कल्पते तादृशम् ॥३१॥

३०-३१—एक वर्तन में से दूसरे
में निकाल कर[121], सचित्त वस्तु पर रख
सचित्त को हिलाकर, इसी तरह श्र
सचित्त जल को हिलाकर, जल में अवगा
कर, आंगन में ढुले हुए जल को चालित
श्रमण के लिये आहार-पानी लाए तो मु
उस देती हुई स्त्री को प्रतिषेध करे—
प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता[122] ।

३२—पुरेकम्मेण हत्थेण
दव्वीए भायणेण वा ॥
देंतियं पडियाइक्खे
न मे कप्पइ तारिसं ॥

पुरःकर्मणा हस्तेन,
दर्व्या भाजनेन वा ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत,
न मे कल्पते तादृशम् ॥३२॥

३२—पुराकर्म-कृत[123] हाथ, कड़
और वर्तन से[124] भिक्षा देती हुई स्त्री
मुनि प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहा
मैं नहीं ले सकता ।

३३—[125]एवं उदओल्ले ससिणिद्धे
ससरक्खे मट्टिया ऊसे ।
हरियाले हिंगुलए
मणोसिला अंजणे लोणे ॥

एवं उदकार्द्रः सस्निग्धः,
ससरक्षो मृत्तिका ऊषः ।
हरितालं हिंगुलकं,
मनःशिला अञ्जनं लवणम् ॥३३॥

३४—गेरुय वण्णिय सेडिय
सोरट्ठिय पिट्ठ कुक्कुसकए य ।
उक्कट्ठमसंसट्ठे
संसट्ठे चेव बोधव्वे ॥

गैरिकं वर्णिका सेटिका,
सौराष्ट्रिका पिष्टं कुक्कुसकृतश्च ।
उत्कृष्टमसंसृष्टः,
संसृष्टश्चैव बोद्धव्यः ॥३४॥

३३-३४—इसी प्रकार जल से आर्द्र,
सस्निग्ध,[126] सचित्त रज-कण,[127]
मृत्तिका,[128] क्षार,[129] हरिताल, हिंगुल,
मैनशिल, अञ्जन, नमक, गैरिक,[130]
वर्णिका,[131] श्वेतिका,[132] सौराष्ट्रिका,[133]
तत्काल पीसे हुए आटे[134] या कच्चे
चावलों के आटे, अनाज के भूसे व
छिलके[135] और फल के सूक्ष्म खण्ड[136] से
सने हुए (हाथ, कड़छी और वर्तन से भिक्षा
देती हुई स्त्री) को मुनि प्रतिषेध करे—
इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता
तथा संसृष्ट और असंसृष्ट को जानना
चाहिये[137] ।

३५—असंसट्ठेण हत्थेण
दव्वीए भायणेण वा ।
दिज्जमाणं न इच्छेज्जा
पच्छाकम्मं जहिं भवे ।

असंसृष्टेन हस्तेन,
दर्व्या भाजनेन वा ।
दीयमानं नेच्छेत्,
पश्चात्कर्म यत्र भवेत् ॥३५॥

३५—जहाँ पश्चात्-कर्म का प्रसङ्ग हो[128] वहाँ असंसृष्ट[129] (भक्त-पान से अलिप्त) हाथ, कड़छी और बर्तन से दिया जाने वाला आहार मुनि न ले ।

३६—संसट्ठेण हत्थेण
दव्वीए भायणेण वा ।
दिज्जमाणं पडिच्छेज्जा
जं तत्थेसणियं भवे ॥

संसृष्टेन हस्तेन,
दर्व्या भाजनेन वा ।
दीयमानं प्रतीच्छेत्,
यत्तत्रैषणीयं भवेत् ॥३६॥

३६—संसृष्ट[130] (भक्त-पान से लिप्त) हाथ, कड़छी और बर्तन से दिया जाने वाला आहार, जो वहाँ एषणीय हो, मुनि ले ले ।

३७—[131]दोण्हं तु भुंजमाणाणं
एगो तत्थ निमंतए ।
दिज्जमाणं न इच्छेज्जा
छंदं से पडिलेहए ॥

द्वयोस्तु भुञ्जानयोः,
एकस्तत्र निमन्त्रयेत् ।
दीयमानं न इच्छेत्,
छन्दं तस्य प्रतिलेखयेत् ॥३७॥

३७—दो स्वामी या भोक्ता हों[131] और एक निमन्त्रित करे तो मुनि वह दिया जाने वाला आहार न ले । दूसरे के अभिप्राय को देखे[132] - उसे देना अप्रिय लगता हो तो न ले और प्रिय लगता हो तो ले ले ।

३८—[133]दोण्हं तु भुंजमाणाणं
दोवि तत्थ निमंतए ।
दिज्जमाणं पडिच्छेज्जा
जं तत्थेसणियं भवे ॥

द्वयोस्तु भुञ्जानयोः,
द्वावपि तत्र निमन्त्रयेयाताम् ।
दीयमानं प्रतीच्छेत्,
यत्तत्रैषणीयं भवेत् ॥३८॥

३८—दो स्वामी या भोक्ता हों और दोनों ही निमन्त्रित करें तो मुनि उस दीयमान आहार को, यदि वह एषणीय हो तो, ले ले ।

३९—गुव्विणीए उवन्नत्थं
विविहं पाणभोयणं ।
भुज्जमाणं विवज्जेज्जा
भुत्तसेसं पडिच्छए ॥

गुर्विण्या उपन्यस्तं,
विविधं पान-भोजनम् ।
भुज्यमानं विवर्जयेत्,
भुक्तशेषं प्रतीच्छेत् ॥३९॥

३९—गर्भवती स्त्री के लिए बना हुआ विविध प्रकार का भक्त-पान वह खा रही हो तो मुनि उसका विवर्जन करे,[134] खाने के बाद बचा हो वह ले ले ।

४०—सिया य समणट्ठाए
गुव्विणी कालमासिणी ।
उट्ठिया वा निसीएज्जा
निसन्ना वा पुणुट्ठए ॥

स्याच्च श्रमणार्थं,
गुर्विणी कालमासिनी ।
उत्थिता वा निषीदेत्,
निषण्णा वा पुनरुत्तिष्ठेत् ॥४०॥

४१—तं भवे भत्तपाणं तु
संजयाण अकप्पियं ।
देंतियं पडियाइक्खे
न मे कप्पइ तारिसं[136] ॥

तद्भवेद् भक्त-पानं तु,
संयतानामकल्पिकम् ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत,
न मे कल्पते तादृशम् ॥४१॥

४०-४१—काल-मासवती[135] गर्भिणी खड़ी हो और श्रमण को भिक्षा देने के लिए कदाचित् बैठ जाए अथवा बैठी हो और खड़ी हो जाए तो उसके द्वारा दिया जाने वाला भक्त-पान संयमियों के लिए अकल्प्य होता है । इसलिए मुनि देती हुई स्त्री को प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता ।

४२—थणगं पिज्जेमाणी
दारगं वा कुमारियं ।
तं निक्खिवित्तु रोयंतं
आहरे पाणभोयणं ॥

स्तनकं पाययन्ती,
दारकं वा कुमारिकाम् ।
तं (तां) निक्षिप्य रुदन्तं,
आहरेत् पान-भोजनम् ॥४२॥

४३—तं भवे भत्तपाणं तु
संजयाण अकप्पियं ।
देंतियं पडियाइक्खे
न मे कप्पइ तारिसं ॥

तद्भवेद् भक्तपानं तु,
संयतानामकल्पिकम् ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत,
न मे कल्पते तादृशम् ॥४३॥

४२-४३—बालक या बालिका को स्त
पान कराती हुई स्त्री उसे रोते हुए छोड़
भक्त-पान लाए, वह भक्त-पान संयति
लिए अकल्पनीय होता है, इसलिए मु
देती हुई स्त्री को प्रतिषेध करे—इस प्रक
का आहार मैं नहीं ले सकता ।

४४—जं भवे भत्तपाणं तु
कप्पाकप्पम्मि संकियं ।
देंतियं पडियाइक्खे
न मे कप्पइ तारिसं ॥

यद्भवेद् भक्त-पानं तु,
कल्प्याकल्प्ये शङ्कितम् ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत,
न मे कल्पते तादृशम् ॥४४॥

४४—जो भक्त-पान कल्प और अक
की दृष्टि से शंका-युक्त हो,[१४८] उसे देती ह
स्त्री को मुनि प्रतिषेध करे—इस प्रकार क
आहार मैं नहीं ले सकता ।

४५—दगवारएण पिहियं
नीसाए पीढएण वा ।
लोढेण वा वि लेवेण
सिलेसेण व केणइ ॥

'दगवारएण' पिहितं,
'नीसाए' पीठकेन वा ।
'लोढेण' वाऽपि लेपेन,
श्लेषेण वा केनचित् ॥४५॥

४६—तं च उब्भिंदिया देज्जा
समणट्ठाए व दावए ।
देंतियं पडियाइक्खे
न मे कप्पइ तारिसं[१४९] ॥

तच्चोद्भिद्य दद्यात्,
श्रमणार्थं वा दायकः ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत,
न मे कल्पते तादृशम् ॥४६॥

४५-४६ जल-कुंभ, चक्की, पी
शिलापुत्र (लोढ़ा), मिट्टी के लेप और ला
आदि श्लेष द्रव्यों से पिहित (ढंके, लिपे औ
मूंदे हुए) पात्र का श्रमण के लिए मुंह खो
कर, आहार देती हुई स्त्री को मुनि प्रतिषे
करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं
सकता ।

४७—असणं पाणगं वा वि
खाइमं साइमं तहा ।
जं जाणेज्ज सुणेज्जा वा
दाणट्ठा पगडं इमं ॥

अशनं पानकं वाऽपि,
खाद्यं स्वाद्यं तथा ।
यज्जानीयात् शृणुयाद्वा,
दानार्थं प्रकृतमिदम् ॥४७॥

४८—तं भवे भत्तपाणं तु
संजयाण अकप्पियं ।
देंतियं पडियाइक्खे
न मे कप्पइ तारिसं ॥

तद्भवेद् भक्त-पानं तु,
संयतानामकल्पिकम् ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत,
न मे कल्पते तादृशम् ॥४८॥

४७-४८—यह अशन, पानक,[१५०] खा
और स्वाद्य दानार्थ तैयार किया हुआ[१५१] है
मुनि यह जान जाए या सुन ले तो वह भा
पान संयति के लिए अकल्पनीय होता है
इसलिए मुनि देती हुई स्त्री को प्रति
करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं
सकता ।

४९—असणं पाणगं वा वि
खाइमं साइमं तहा ।
जं जाणेज्ज सुणेज्जा वा
पुण्णट्ठा पगडं इमं ॥

अशनं पानकं वाऽपि,
खाद्यं स्वाद्यं तथा ।
यज्जानीयात् शृणुयाद्वा,
पुण्यार्थं प्रकृतमिदम् ॥४९॥

५०—तं भवे भत्तपाणं तु
संजयाण अकप्पियं ।
देंतियं पडियाइक्खे
न मे कप्पइ तारिसं ॥

तद्भवेद् भक्त-पानं तु,
संयतानामकल्पिकम् ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत,
न मे कल्पते तादृशम् ॥५०॥

४९-५०—यह अशन, पानक, खाद्य और स्वाद्य पुण्यार्थ तैयार किया हुआ[१५२] है, मुनि यह जान जाये या सुन ले तो वह भक्त-पान संयति के लिये अकल्पनीय होता है, इसलिए मुनि देती हुई स्त्री को प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता ।

५१—असणं पाणगं वा वि
खाइमं साइमं तहा ।
जं जाणेज्ज सुणेज्जा वा
वणिमट्ठा पगडं इमं ॥

अशनं पानकं वाऽपि,
खाद्यं स्वाद्यं तथा ।
यज्जानीयात् शृणुयाद्वा,
वनीपकार्थं प्रकृतमिदम् ॥५१॥

५२—तं भवे भत्तपाणं तु
संजयाण अकप्पियं ।
देंतियं पडियाइक्खे
न मे कप्पइ तारिसं ॥

तद्भवेद् भक्त-पानं तु,
संयतानामकल्पिकम् ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत,
न मे कल्पते तादृशम् ॥५२॥

५१-५२—यह अशन, पानक, खाद्य और स्वाद्य वनीपकों—भिखारियों के निमित्त तैयार किया हुआ[१५३] है, मुनि यह जान जाये या सुन ले तो वह भक्त-पान संयति के लिए अकल्पनीय होता है, इसलिए मुनि देती हुई स्त्री को प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता ।

५३—असणं पाणगं वा वि
खाइमं साइमं तहा ।
जं जाणेज्ज सुणेज्जा वा
समणट्ठा पगडं इमं ॥

अशनं पानकं वाऽपि,
खाद्यं स्वाद्यं तथा ।
यज्जानीयात् शृणुयाद्वा,
श्रमणार्थं प्रकृतमिदम् ॥५३॥

५४—तं भवे भत्तपाणं तु
संजयाण अकप्पियं ।
देंतियं पडियाइक्खे
न मे कप्पइ तारिसं ॥

तद्भवेद् भक्त-पानं तु,
संयतानामकल्पिकम् ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत,
न मे कल्पते तादृशम् ॥५४॥

५३-५४—यह अशन, पानक, खाद्य और स्वाद्य श्रमणों के निमित्त तैयार किया हुआ है, मुनि यह जान जाये या सुन ले तो वह भक्त-पान संयति के लिए अकल्पनीय होता है, इसलिए मुनि देती हुई स्त्री को प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता ।

५५—उद्देसियं कीयगडं
पूइकम्मं च आहडं ।
अज्झोयर पामिच्चं
मीसजायं च वज्जए ॥

औद्देशिकं क्रीतकृतं,
पूतिकर्म आहृतम् ।
अध्यवतरं प्रामित्यं,
मिश्रजातं च वर्जयेत् ॥५५॥

५५—औद्देशिक, क्रीतकृत, पूतिकर्म,[१] आहृत, अध्यवतर[१५५] प्रामित्य[१५६] और मिश्रजात[१५७] आहार मुनि न ले ।

५६—उग्गमं से पुच्छेज्जा कस्सट्ठा केण वा कडं । सोच्चा निस्संकियं सुद्धं पडिगाहेज्ज संजए ॥	उद्गमं तस्य पृच्छेत्, कस्यार्थं केन वा कृतम् । श्रुत्वा निःशङ्कितं शुद्धं, प्रतिगृह्णीयात् संयतः ॥५६॥	५६—संयमी आहार का ... किस लिए किया है ? किसने किया है ? इस प्रकार पूछे । दाता से प्रश्न का ... सुनकर निःशंकित और शुद्ध आहार ले।
५७—असणं पाणगं वा वि खाइमं साइमं तहा । पुप्फेसु होज्ज उम्मीसं बीएसु हरिएसु वा ॥	अशनं पानकं वाऽपि, खाद्यं स्वाद्यं तथा । पुष्पैर्भवेदुन्मिश्रं, बीजैर्हरितैर्वा ॥५७॥	५७-५८—यदि अशन, पानक ... और स्वाद्य, पुष्प, बीज और हरियाली से उन्मिश्र हो[१४१] तो वह भक्त-पान ... लिए अकल्पनीय होता है, इसलिए ... देती हुई स्त्री को प्रतिषेध करे ... का आहार मैं नहीं ले सकता ।
५८—तं भवे भत्तपाणं तु संजयाण अकप्पियं । देंतियं पडियाइक्खे न मे कप्पइ तारिसं ॥	तद्भवेद् भक्त-पानं तु, संयतानामकल्पिकम् । ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥५८॥	
५९—असणं पाणगं वा वि खाइमं साइमं तहा । उदगम्मि होज्ज निक्खित्तं उत्तिंगपणगेसु वा ॥	अशनं पानकं वाऽपि, खाद्यं स्वाद्यं तथा । उदके भवेन्निक्षिप्तं, 'उत्तिङ्ग'-'पनकेषु' वा ॥५९॥	६०—यदि अशन, पानक ... पानी, ... और ... (रखा ... हो
६०—तं भवे भत्तपाणं तु संजयाण अकप्पियं । देंतियं पडियाइक्खे न मे कप्पइ तारिसं ॥	तद्भवे[illegible]-पानं तु, सं[illegible] दद[illegible] न मे[illegible]	
६१—असणं पाणगं वा वि खाइमं साइमं तहा । तेउम्मि होज्ज निक्खित्तं तं च संघट्टिया दए ॥	अशनं [illegible] खाद्यं [illegible] तेजसि भवे[illegible] तच्च सङ्घट्[illegible]	
६२—तं भवे भत्तपाणं तु संजयाण अकप्पियं । देंतियं पडियाइक्खे न मे कप्पइ तारिसं ॥	तद्भवेद् भक्त-पान[illegible] संयतानामकल्पिकम् ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥६[illegible]	

६३—[१६४]एवं उस्सक्किया ओसक्किया
उज्जालिया पज्जालिया निव्वाविया ।
उस्सिंचिया निस्सिंचिया
ओवत्तिया ओयारिया दए ॥

एवमुत्ष्वष्क्य अवष्वष्क्य,
उज्ज्वाल्य प्रज्वाल्य निर्वाप्य ।
उत्सिच्य निषिच्य,
अपवर्त्य अवतार्य दद्यात् ॥६३॥

६४—तं भवे भत्तपाणं तु
संजयाण अकप्पियं ।
देंतियं पडियाइक्खे
न मे कप्पइ तारिसं ॥

तद्भवेद् भक्त-पानं तु,
संयतानामकल्पिकम् ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत,
न मे कल्पते तादृशम् ॥६४॥

६५—होज्ज कट्ठं सिलं वा वि
इट्टालं वा वि एगया ।
ठवियं संकमट्ठाए
तं च होज्ज चलाचलं ॥

भवेत् काष्ठं शिला वाऽपि,
'इट्टालं' वाऽपि एकदा ।
स्थापितं संक्रमार्थं,
तच्च भवेच्चलाचलम् ॥६५॥

६६—[१७५]न तेण भिक्खू गच्छेज्जा
दिट्ठो तत्थ असंजमो ।
गंभीरं झुसिरं चेव
सव्विंदियसमाहिए ॥

न तेन भिक्षुर्गच्छेत्,
दृष्टस्तत्रासंयमः ।
गंभीरं शुषिरं चैव,
सर्वेन्द्रिय-समाहितः ॥६६॥

६७—निस्सेणिं फलगं पीढं
उस्सवित्ताणमारुहे ।
मंचं कीलं च पासायं
समणट्ठाए व दावए ॥

निश्रेणि फलकं पीठ,
उत्सृत्य आरोहेत् ।
मञ्च कील च प्रासाद,
श्रमणार्थं वा दायकः ॥६७॥

६८—दुरुहमाणी पवडेज्जा
हत्थं पायं व लूसए ।
पुढविजीवे वि हिंसेज्जा
जे य तन्निस्सिया जगा ॥

आरोहन्ती प्रपतेत्,
हस्तं पादं वा लूषयेत् ।
पृथिवी-जीवान् विहिंस्यात्,
यांश्च तन्निश्रितान् 'जगा' ॥६८॥

६९—एयारिसे महादोसे
जाणिऊण महेसिणो ।
तम्हा मालोहडं भिक्खं
न पडिगेण्हंति संजया ॥

एतादृशान्महादोषान्,
ज्ञात्वा महर्षयः ।
तस्मान्मालापहृतां भिक्षां,
न प्रतिगृह्णन्ति संयताः ॥६९॥

६३-६४—इसी प्रकार (चूल्हे में) ईंधन डालकर,[१६५] (चूल्हे मे) ईंधन निकाल कर,[१६६] (चूल्हे को) उज्ज्वलित कर (सुलगा कर),[१६७] प्रज्वलित कर[१६८] (प्रदीप्त कर), बुझाकर,[१६९] अग्नि पर रखे हुए पात्र में से आहार निकाल कर,[१७०] पानी का छींटा देकर,[१७१] पात्र को टेढ़ा कर,[१७२] उतार कर,[१७३] दे तो वह भक्त पान संयति के लिए अकल्पनीय होता है, इसलिए मुनि देती हुई स्त्री को प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता।

६५-६६ यदि कभी काठ, शिला या ईंट के टुकड़े[१७४] संक्रमण के लिए रखे हुए हों और वे चलाचल हों तो सर्वेन्द्रिय समाहित भिक्षु उन पर होकर न जाए। इसी प्रकार वह प्रकाश-रहित और पोली भूमि पर से न जाए। भगवान् ने वहाँ असंयम देखा है।

६७-६९—श्रमण के लिए दाता निसैनी, फलक और पीढ़े को ऊँचा कर, मचान,[१७६] स्तम्भ और प्रासाद पर (चढ़ भक्त-पान लाए तो साधु उसे ग्रहण न करे)। निसैनी आदि द्वारा चढ़ती हुई स्त्री गिर सकती है, हाथ-पैर टूट सकते हैं। उसके गिरने से नीचे दब-कर पृथ्वी के तथा पृथ्वी-आश्रित अन्य जीवों की विराधना हो सकती है। अतः ऐसे महा-दोषों को जानकर संयमी महर्षि मालापहृत[१७७] भिक्षा नहीं लेते।

७०—कंदं मूलं पलंबं वा
आमं छिन्नं व सन्निरं ।
तुंबागं सिंगबेरं च
आमगं परिवज्जए ॥

कन्दं मूलं प्रलम्बं वा,
आमं छिन्नं वा 'सन्निरम्' :
तुम्बकं शृङ्गबेरञ्च,
आमकं परिवर्जयेत् ॥७०॥

७०—मुनि अपक्व कंद, मूल, फल, छिला हुआ पत्ती का शाक,[१७८] घीया[१७९] और अदरक न ले ।

७१—तहेव सत्तुचुण्णाइं
कोलचुण्णाइं आवणे ।
सक्कुलिं फाणियं पूयं
अन्नं वा वि तहाविहं ॥

तथैव सक्तु-चूर्णानि,
कोल-चूर्णानि आपणे ।
शष्कुलीं फाणितं पूपं,
अन्यद्वाऽपि तथाविधम् ॥७१॥

७२—विक्कायमाणं पसढं
रएण परिफासियं ।
देंतियं पडियाइक्खे
न मे कप्पइ तारिसं ॥

विक्रीयमाणं प्रसृतं,
रजसा परिस्पृष्टम् ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत,
न मे कल्पते तादृशम् ॥७२॥

७१-७२—इसी प्रकार सत्तू,[१८०] बेर का चूर्ण,[१८१] तिल-पपड़ी,[१८२] गीला-गुड़ (राब), पूआ, इस तरह की दूसरी वस्तुएं भी जो बेचने के लिए दुकान में रखी हों, परन्तु न बिकी हों,[१८३] रज से[१८४] स्पृष्ट (लिप्त) हो गई हों तो मुनि देती हुई स्त्री को प्रतिषेध करे—इस प्रकार की वस्तुएं मैं नहीं ले सकता ।

७३—बहु-अट्ठियं पुग्गलं
अणिमिसं वा बहु-कंटयं ।
अत्थियं तिंदुयं बिल्लं
उच्छुखंडं व सिंबलिं ॥

बह्वस्थिकं पुद्गलं,
अनिमिषं बहुकण्टकम् ।
अस्थिकं तिन्दुकं बिल्वं,
इक्षुखण्डं वा शिम्बिम् ॥७३॥

७४—अप्पे सिया भोयणजाए
बहु-उज्झिय-धम्मिए ।
देंतियं पडियाइक्खे
न मे कप्पइ तारिसं ॥

अल्पं स्याद् भोजन-जातं,
बहु-उज्झित-धर्मकम् ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत,
न मे कल्पते तादृशम् ॥७४॥

७३-७४—बहुत अस्थि वाले पुद्गल, बहुत कांटों वाले अनिमिष,[१८५] आस्थिक,[१८६] तेन्दू[१८७] और बेल के फल, गण्डेरी और फली[१८८]—जिनमें खाने का भाग थोड़ा हो और डालना अधिक पड़े—देती हुई स्त्री को मुनि प्रतिषेध करे—इस प्रकार के फल आदि मैं नहीं ले सकता ।

७५—[१८९]तहेवुच्चावयं पाणं
अदुवा वारधोयणं ।
संसेइमं चाउलोदगं
अहुणाधोयं विवज्जए ॥

तथैवोच्चावचं पानं,
अथवा वार-धावनम् ।
संस्वेदजं (संसेकजं) तण्डुलोदकं,
अधुना-धौतं विवर्जयेत् ॥७५॥

७६ जं जाणेज्ज चिराधोयं
मईए दंसणेण वा ।
पडिपुच्छिऊण सोच्चा वा
जं च निस्संकियं भवे ॥

यज्जानीयाच्चिराद्धौतं,
मत्या दर्शनेन वा ।
प्रतिपृच्छ्य श्रुत्वा वा,
यच्च निःशङ्कितं भवेत् ॥७६॥

७५-७७—इसी प्रकार उच्चावच और बुरा पानी[१९०] या गुड़ के घड़े का धोवन,[१९१] आटे का धोवन,[१९२] चावल का धोवन, जो अधुना-धौत (तत्काल का धोवन) हो,[१९३] उसे मुनि न ले । अपनी मति[१९४] या दर्शन से, पूछकर या सुनकर जान ले—'यह धोवन चिरकाल का है' और निःशंकित हो जाए तो उसे जीव-

७७—अजीवं परिणयं नच्चा
पडिगाहेज्ज संजए ।
अह संकियं भवेज्जा
आसाइत्ताण रोयए ॥

अजीवं परिणतं ज्ञात्वा,
प्रतिगृह्णीयात् संयतः ।
अथ शंकितं भवेत्,
आस्वाद्य रोचयेत् ॥७७॥

रहित और परिणत जानकर संयमी मुनि ले ले। यह जल मेरे लिए उपयोगी होगा या नहीं—ऐसा सन्देह हो तो उसे चखकर लेने का निश्चय करे ।

७८—थोवमासायणट्ठाए
हत्थगम्मि दलाहि मे ।
मा मे अच्चंबिलं पूइं
नालं तण्हं विणित्तए ॥

स्तोकमास्वादनार्थं,
हस्तके देहि मे ।
मा मे अत्यम्लं पूति,
नालं तृष्णां विनेतुम् ॥७८॥

७८—दाता से कहे—'चखने के लिए थोड़ा-सा जल मेरे हाथ में दो । बहुत खट्टा,[195] दुर्गंध-युक्त और प्यास बुझाने में असमर्थ जल लेकर मैं क्या करूँगा ?,

७९—तं च अच्चंबिलं पूइं
नालं तण्हं विणित्तए ।
देंतियं पडियाइक्खे
न मे कप्पइ तारिसं ॥

तच्चात्यम्लं पूति,
नालं तृष्णां विनेतुम् ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत,
न मे कल्पते तादृशम् ॥७९॥

७९ यदि वह जल बहुत खट्टा, दुर्गन्ध-युक्त और प्यास बुझाने में असमर्थ हो तो देती हुई स्त्री को मुनि प्रतिषेध करे—इस प्रकार का जल मैं नहीं ले सकता ।

८०—तं च होज्ज अकामेण
विमणेण पडिच्छियं ।
तं अप्पणा न पिबे
नो वि अन्नस्स दावए ॥

तच्च भवेदकामेन,
विमनसा प्रतीप्सितम् ।
तद् आत्मना न पिबेत्,
नो अपि अन्यस्मै दापयेत् ॥८०॥

८१—एगंतमवक्कमित्ता
अचित्तं पडिलेहिया ।
जयं परिट्ठवेज्जा
परिट्ठप्प पडिक्कमे ॥

एकान्तमवक्रम्य,
अचित्तं प्रतिलेख्य ।
यतं परिस्था(ष्ठा)पयेत्,
परिस्था(ष्ठा)प्य प्रतिक्रामेत् ॥८१॥

८०-८१ यदि वह पानी अनिच्छा या असावधानी से लिया गया हो तो उसे न स्वयं पीए और न दूसरे साधुओं को दे । परन्तु एकान्त में जा, अचित्त भूमि को[196] देख, यतना-पूर्वक[197] उसे परिस्थापित करे[198] । परिस्थापित करने के पश्चात् स्थान में आकर प्रतिक्रमण करे[199]।

८२—[200]सिया य गोयरग्गगओ
इच्छेज्जा परिभोत्तुयं ।
कोट्ठगं भित्तिमूलं वा
पडिलेहित्ताण फासुयं ॥

स्याच्च गोचराग्रगतः,
इच्छेत् परिभोक्तुम् ।
कोष्ठकं भित्तिमूलं वा,
प्रतिलेख्य प्रासुकम् ॥८२॥

८३—अणुन्नवेत्तु मेहावी
पडिच्छन्नम्मि संवुडे ।
हत्थगं संपमज्जित्ता
तत्थ भुंजेज्ज संजए ॥

अनुज्ञाप्य मेधावी,
प्रतिच्छन्ने संवृते ।
हस्तकं सम्प्रमृज्य,
तत्र भुञ्जीत संयतः ॥८३॥

८२-८३—गोचराग्र के लिए गया हुआ मुनि कदाचित् आहार करना चाहे तो प्रासुक कोष्ठक या भित्तिमूल[201] को देख कर, उसके स्वामी की अनुज्ञा लेकर[202] छाये हुए एवं संवृत स्थल में[203] बैठे, हस्तक से[204] शरीर का प्रमार्जन कर मेधावी संयति वहाँ भोजन करे ।

८४—तत्थ से भुंजमाणस्स
अट्ठियं कंटओ सिया ।
तण-कट्ठ-सक्करं वा वि
अन्नं वा वि तहाविहं ॥

तत्र तस्य भुञ्जानस्य,
अस्थिकं कण्टकः स्यात् ।
तृण-काष्ठ-शर्करा वाऽपि,
अन्यद्वाऽपि तथाविधम् ॥८४॥

८५—तं उक्खिवित्तु न निक्खिवे
आसएण न छड्डए ।
हत्थेण तं गहेऊणं
एगंतमवक्कमे ॥

तद् उत्क्षिप्य न निक्षिपेत्,
आस्यकेन न छर्दयेत् ।
हस्तेन तद् गृहीत्वा,
एकान्तमवक्रामेत् ॥८५॥

८६—एगंतमवक्कमित्ता
अचित्तं पडिलेहिया ।
जयं परिट्ठवेज्जा
परिट्ठप्प पडिक्कमे ॥

एकान्तमवक्रम्य,
अचित्तं प्रतिलेख्य ।
यतं परिस्था(ष्ठा)पयेत्,
परिस्था(ष्ठा)प्य प्रतिक्रामेत् ॥८६॥

८४-८६—वहां भोजन करते हुए मुनि के आहार में गुठली, कांटा,[२०६] तिनका, काठ का टुकड़ा, कंकड या इसी प्रकार की कोई दूसरी वस्तु निकले तो उसे उठाकर न फेंके, मुंह से न थूके, किन्तु हाथ में लेकर एकान्त चला जाए। एकान्त में जा अचित्त भूमि को देख, यतना-पूर्वक उसे परिस्थापित करे। परिस्थापित करने के पश्चात् स्थान में आकर प्रतिक्रमण करे।

८७—[२०७]सिया य भिक्खू इच्छेज्जा
सेज्जमागम्म भोत्तुयं ।
सपिंडपायमागम्म
उंडुयं पडिलेहिया ॥

स्याच्च भिक्षुरिच्छेत्,
शय्यामागम्य भोक्तुम् ।
सपिण्डपातमागम्य,
'उंडुयं' प्रतिलेख्य ॥८७॥

८८—विणएण पविसित्ता ।
सगासे गुरुणो मुणी
इरियावहियमायाय
आगओ य पडिक्कमे ॥

विनयेन प्रविश्य,
सकाशे गुरोर्मुनिः ।
ऐर्यापथिकीमादाय,
आगतश्च प्रतिक्रामेत् ॥८८॥

८७-८८—कदाचित्[२०७] भिक्षु शय्या (उपाश्रय) में आकर भोजन करना चाहे तो भिक्षा सहित वहां आकर स्थान की प्रतिलेखना करे। उसके पश्चात् विनयपूर्वक[२०८] उपाश्रय में प्रवेश कर गुरु के समीप उपस्थित हो, 'इर्यापथिकी' सूत्र को पढ़कर प्रतिक्रमण (कायोत्सर्ग) करे।

८९—आभोएत्ताण नीसेसं
अइयारं जहक्कमं ।
गमणागमणे चेव
भत्तपाणे व संजए ॥

आभोग्य निश्शेषम्,
अतिचारं यथाक्रमम् ।
गमनागमने चैव,
भक्त-पाने च संयतः ॥८९॥

९०—उज्जुप्पन्नो अणुव्विग्गो
अव्वक्खित्तेण चेयसा ।
आलोए गुरुसगासे
जं जहा गहियं भवे ॥

ऋजुप्रज्ञः अनुद्विग्नः,
अव्याक्षिप्तेन चेतसा ।
आलोचयेद् गुरुसकाशे,
यद् यथा गृहीतं भवेत् ॥९०॥

८९-९०—आने-जाने में और भक्त-पान लेने में लगे समस्त अतिचारों को यथाक्रम याद कर ऋजु-प्रज्ञ, अनुद्विग्न संयति व्याक्षेप-रहित चित्त से गुरु के समीप आलोचना करे। जिस प्रकार से भिक्षा ली हो उसी प्रकार से गुरु को कहे।

९१—न सम्ममालोइयं होज्जा
पुव्विं पच्छा व जं कडं ।
पुणो पडिक्कमे तस्स
वोसट्ठो चिंतए इमं ॥

न सम्यगालोचितं भवेत्
पूर्वं पश्चाद्वा यत्कृतम् ।
पुनः प्रतिक्रामेत्तस्य,
व्युत्सृष्टश्चिन्तयेदिदम् ॥९१॥

९१—सम्यक् प्रकार से आलोचना न हुई हो अथवा पहले-पीछे की हो (आलोचना का क्रम-भंग हुआ हो) उसका फिर प्रतिक्रमण करे, शरीर को स्थिर बना यह चिन्तन करे—

९२—अहो[209] जिणेहिं असावज्जा
वित्ती साहूण देसिया ।
मोक्खसाहणहेउस्स
साहुदेहस्स धारणा ॥

अहो ! जिनैः असावद्या,
वृत्तिः साधुभ्यो देशिता ।
मोक्षसाधनहेतोः,
साधुदेहस्य धारणाय ॥९२॥

९२—कितना आश्चर्य है—भगवान् ने साधुओं के मोक्ष-साधना के हेतु-भूत संयमी-शरीर की धारणा के लिए निरवद्य-वृत्ति का उपदेश किया है ।

९३—नमोक्कारेण पारेत्ता
करेत्ता जिणसंथवं ।
सज्झायं पट्ठवेत्ताणं
वीसमेज्ज खणं मुणी ॥

नमस्कारेण पारयित्वा,
कृत्वा जिनसंस्तवम् ।
स्वाध्यायं प्रस्थाप्य,
विश्राम्येत् क्षणं मुनिः ॥९३॥

९३—इस चिन्तनमय कायोत्सर्ग को नमस्कार मन्त्र के द्वारा पूर्ण कर जिन-संस्तव (तीर्थङ्कर-स्तुति) करे, फिर स्वाध्याय की प्रस्थापना (प्रारम्भ) करे, फिर क्षण-भर विश्राम ले[210] ।

९४—वीसमंतो इमं चिंते
हियमट्ठं लाभमट्ठिओ[211] ।
जइ मे अणुग्गहं कुज्जा
साहू होज्जामि तारिओ ॥

विश्राम्यन् इमं चिन्तयेत्,
हितमर्थं लाभार्थिकः,
यदि मेऽनुग्रहं कुर्युः,
साधवो भवामि तारितः ॥९४॥

९४—विश्राम करता हुआ लाभार्थी (मोक्षार्थी) मुनि इस हितकर अर्थ का चिन्तन करे—यदि आचार्य और साधु मुझ पर अनुग्रह करें तो मैं निहाल हो जाऊँ—मानूं कि उन्होंने मुझे भवसागर से तार दिया ।

९५—साहवो तो चियत्तेणं
निमंतेज्ज जहक्कमं ।
जइ तत्थ केइ इच्छेज्जा
तेहिं सद्धिं तु भुंजए ॥

साधूंस्ततः 'चियत्तेण',
निमन्त्रयेद् यथाक्रमम् ।
यदि तत्र केचित् इच्छेयुः,
तैः सार्धं तु भुञ्जीत ॥९५॥

९५—वह प्रेमपूर्वक साधुओं को यथाक्रम निमन्त्रण दे । उन निमन्त्रित साधुओं में से यदि कोई साधु भोजन करना चाहे तो उनके साथ भोजन करे ।

९६—अह कोइ न इच्छेज्जा
तओ भुंजेज्ज एक्कओ ।
आलोए भायणे साहू
जयं अपरिसाडयं[212] ॥

अथ कोपि नेच्छेत्,
ततः भुञ्जीत एककः ।
आलोके भाजने साधुः,
यतमपरिशाटयन् ॥९६॥

९६—यदि कोई साधु न चाहे तो अकेला ही खुले पात्र में[213] यतना पूर्वक नीचे नहीं डालता हुआ भोजन करे ।

९७—तित्तगं व कडुयं व कसायं
अंबिलं व महुरं लवणं वा ।
एय लद्धमन्नट्ठ-पउत्तं
महुघयं व भुंजेज्ज संजए ॥

तिक्तकं वा कटुकं वा कषायं,
अम्लं वा मधुरं लवणं वा ।
एतल्लब्धमन्यार्थप्रयुक्तं,
मधुघृतमिव भुञ्जीत संयतः ॥९७॥

९७—गृहस्थ के लिए बना हुआ[214]—तीता (तिक्त)[215] या कडुवा,[216] कसैला[217] या खट्टा[218], मीठा[219] या नमकीन[220] जो भी आहार उपलब्ध हो उसे संयमी मुनि मधुघृत की भाँति खाए ।

९८—अरसं विरसं वा वि
सूइयं वा असूइयं ।
उल्लं वा जइ वा सुक्कं
मन्थु-कुम्मास-भोयणं ॥

अरसं विरसं वाऽपि,
सूपितं (च्यं) वा असूपितम् (च्यम्) ।
आर्द्रं वा यदि वा शुष्कं,
मन्थु-कुल्माष-भोजनम् ॥ ९८ ॥

९९—उप्पण्णं नाइहीलेज्जा
अप्पं पि वहु फासुयं ।
मुहालद्धं मुहाजीवी
भुंजेज्जा दोसवज्जियं ॥

उत्पन्नं नातिहीलयेत्,
अल्पमपि वहु प्रासुकम् ।
मुधालब्धं मुधाजीवी,
भुञ्जीत दोषवर्जितम् ॥ ९९ ॥

९८-९९—मुधाजीवी[222] मुनि अरस[223] या विरस,[224] व्यंजन सहित या व्यंजन रहित,[225] आर्द्र[226] या शुष्क,[227] मन्थु[228] और कुल्माष[229] का जो भोजन विधिपूर्वक प्राप्त हो उसकी निन्दा न करे। निर्दोष आहार अल्प या अरस होते हुए भी बहुत या सरस होता है[230]। इसलिए उस मुधालब्ध[231] और दोष-वर्जित आहार को समभाव से खा ले[232]।

१००—दुल्लहा उ मुहादाई
मुहाजीवी वि दुल्लहा ।
मुहादाई मुहाजीवी
दो वि गच्छंति सोग्गइं ॥
॥ त्ति वेमि ॥

दुर्लभास्तु मुधादायिनः,
मुधाजीविनोऽपि दुर्लभाः ।
मुधादायिनो मुधाजीविनः,
द्वावपि गच्छतः सुगतिम् ॥१००॥
इति ब्रवीमि ।

१००—मुधादायी[233] दुर्लभ है और मुधाजीवी भी दुर्लभ है। मुधादायी और मुधाजीवी दोनों सुगति को प्राप्त होते हैं।
ऐसा मैं कहता हूँ।

पिण्डैषणायां प्रथमः उद्देशः समाप्तः।

टिप्पण : अध्ययन ५ (प्रथम उद्देशक)

श्लोक १ :

१. श्लोक १ :

प्रथम श्लोक में भिक्षु को यथासमय भिक्षा करने की आज्ञा दी गई है। भिक्षा-काल के उपस्थित होने के समय भिक्षु की वृत्ति कैसी रहे, इसका भी मार्मिक उल्लेख इस श्लोक में है। उसकी वृत्ति 'सम्भ्रम' और 'मूर्च्छा' से रहित होनी चाहिए। इन शब्दों की भावना का स्पष्टीकरण यथास्थान टिप्पणियों में आया है।

२. भिक्षा का काल प्राप्त होने पर (संपत्ते भिक्खकालम्मि क) :

जितना महत्त्व कार्य का होता है, उतना ही महत्त्व उसकी विधि का होता है। बिना विधि से किया हुआ कार्य फल-दायक नहीं होता। काल का प्रश्न भी कार्य-विधि से जुड़ा हुआ है। जो कोई भी कार्य किया जाये वह क्यों किया जाये? कब किया जाये? कैसे किया जाये? ये शिष्य के प्रश्न रहते हैं। आचार्य इसका समाधान देते हैं—अमुक कार्य इसलिए किया जाये, इस समय में किया जाये और इस प्रकार किया जाये। यह उद्देश्य, काल और विधि का ज्ञान कार्य को पूर्ण बनाता है।

इस श्लोक में भिक्षा-काल का नामोल्लेख मात्र है[1]। काल-प्राप्त और अकाल भिक्षा का विधि-निषेध इसी अध्ययन के दूसरे उद्देशक के चौथे, पाँचवें और छठे श्लोक में मिलता है। वहाँ भिक्षा-काल में भिक्षा करने का विधान और असमय में भिक्षा के लिए जाने से उत्पन्न होने वाले दोषों का वर्णन किया गया है। प्रश्न यह है कि भिक्षा का काल कौन-सा है? सामाचारी अध्ययन में बतलाया गया है कि मुनि पहले प्रहर में स्वाध्याय करे, दूसरे में ध्यान करे, तीसरे में भिक्षा के लिए जाय और चौथे प्रहर में फिर स्वाध्याय करे[2]।

उत्सर्ग-विधि से भिक्षा का काल तीसरा प्रहर ही माना जाता रहा है।[3] "एगभत्तं च भोयणं"[4] के अनुसार भी भिक्षा का काल यही प्रमाणित होता है; किन्तु यह काल-विभाग सामयिक प्रतीत होता है। बौद्ध-ग्रन्थों में भी भिक्षु को एकभक्त-भोजी कहा है तथा उनमें भी यथाकाल भिक्षा प्राप्त करने का विधान है[5]।

प्राचीन काल में भोजन का समय प्रायः मध्याह्नोत्तर था। सम्भवतः इसीलिए इस व्यवस्था का निर्माण हुआ हो अथवा यह व्यवस्था विशेष अभिग्रह (प्रतिज्ञा) रखनेवाले मुनियों के लिए हुई हो। कैसे ही हो, पर एक बार भोजन करने वालों के लिए यह उपयुक्त समय है। इस औचित्य से इसे भिक्षा का सार्वत्रिक उपयुक्त समय नहीं माना जा सकता। सामान्यतः भिक्षा का काल वही है, जिस प्रदेश में जो समय लोगों के भोजन करने का हो। इसके अनुसार रसोई बनने से पहले या उसके उठने के बाद भिक्षा के लिए जाना भिक्षा का अकाल है और रसोई बनने के समय भिक्षा के लिए जाना भिक्षा का काल है।

१—(क) अ० चू० : भिक्खाणं समूहो 'भिक्षादिभ्योऽण्' [पाणि० ४.२.३८] इति भैक्षम्, भेक्खस्स कालो तम्मि संपत्ते।
(ख) जि० चू० पृ० १६६ : भिक्खाए कालो भिक्खाकालो तम्मि भिक्खकाले संपत्ते।
(ग) हा० टी० प० १६३ : 'संप्राप्ते' शोभनेन प्रकारेण स्वाध्यायकरणादिना प्राप्ते 'भिक्षाकाले' भिक्षासमये, अनेनासंप्राप्ते भक्तपानैषणाप्रतिषेधमाह, अलाभाज्ञाखण्डनाभ्यां दृष्टादृष्टविरोधादिति।

२—उत्त० २६.१२ : पढमं पोरिसि सज्झायं, बीयं झाणं झियायई।
तइयाए भिक्खायरियं, पुणो चउत्थीइ सज्झायं॥

३—उत्त० ३०.२१ बृ० वृ० : उत्सर्गतो हि तृतीयपौरुष्यामेव भिक्षाटनमनुज्ञातम्।

४—दश० ६.२२।

५—(क) वि० पि० : महावग्ग पालि ५.१२।
(ख) The Book of the Gradual Sayings Vol. IV. VIII. V. 41 page 171.

३. असंभ्रांत (असंभंतो [ख]) :

भिक्षा-काल में बहुत से भिक्षाचर भिक्षा के लिए जाते हैं। मन में ऐसा भाव हो सकता है कि उनके भिक्षा लेने के बाद मुझे क्या मिलेगा ? मन की ऐसी दशा से गवेषणा के लिए जाने में शीघ्रता करना संभ्रान्त वृत्ति है।

ऐसी संभ्रान्त दशा में भिक्षु त्वरा—शीघ्रता करने लगता है। त्वरा से प्रतिलेखन में प्रमाद होता है। ईर्या समिति का शोधन नहीं होता। उचित उपयोग नहीं रह पाता। ऐसे अनेक दोषों की उत्पत्ति होती है। अतः आवश्यक है कि भिक्षा-काल के समय भिक्षु असंभ्रान्त रहे अर्थात् अनाकुल भाव से यथा उपयोग भिक्षा की गवेषणा के लिए जाए[१]।

४. अमूर्च्छित (अमुच्छिओ [ख]) :

भिक्षा के समय संयम-यात्रा के लिए भिक्षा की गवेषणा करना विहित अनुष्ठान है। आहार की गवेषणा में प्रवृत्त होते समय भिक्षु की वृत्ति मूर्च्छारहित होनी चाहिए। मूर्च्छा का अर्थ है—मोह, लालसा या आसक्ति। जो आहार में गृद्धि या आसक्ति रखता है, वह मूर्च्छित होता है। जिसे भोजन में मूर्च्छा होती है वही संभ्रान्त बनता है। यथा-लब्ध भिक्षा में संतुष्ट रहने वाला संभ्रान्त नहीं बनता। गवेषणा में प्रवृत्त होने के समय भिक्षु की चित्त-वृत्ति मूर्च्छारहित हो। वह अच्छे भोजन की लालसा या भावना से गवेषणा में प्रवृत्त न हो। जो ऐसी भावना से गवेषणा करता है उसकी भिक्षा-चर्या निर्दोष नहीं होती।

भिक्षा के लिए जाते समय विविध प्रकार के शब्द सुनने को मिलते हैं और रूप देखने को मिलते हैं। उनकी कामना से भिक्षु आहार की गवेषणा में प्रवृत्त न हो। वह अमूर्च्छित रहते हुए अर्थात् आहार तथा शब्दादि में मूर्च्छा नहीं रखते हुए केवल आहार-प्राप्ति के अभिप्राय से गवेषणा करे, यह उपदेश है[२]।

अमूर्च्छाभाव को समझने के लिए एक दृष्टान्त इस प्रकार मिलता है : एक युवा वणिक्-स्त्री अलंकृत, विभूषित हो, सुन्दर वस्त्र धारण कर गोवत्स को आहार देती है। वह (गोवत्स) उसके हाथ से उस आहार को ग्रहण करता हुआ भी उस स्त्री के रंग, रूप, आभरणादि के शब्द, गंध और स्पर्श में मूर्च्छित नहीं होता है। ठीक इसी प्रकार साधु विषयादि शब्दों में अमूर्च्छित रहता हुआ आहारादि की गवेषणा में प्रवृत्त हो[३]।

५. भक्त-पान (भत्तपाणं [घ]) :

जो खाया जाता है वह 'भक्त' और जो पीया जाता है वह 'पान' कहलाता है[४]। 'भक्त' शब्द का प्रयोग छट्ठे अध्ययन के २२ वें श्लोक में भी हुआ है। वहां इसका अर्थ 'बार' है[५]। यहां इसका अर्थ तण्डुल आदि आहार है[६]। पूर्व-काल में विहार

१—(क) अ० चू० पृ० ९९ : असंभंतो 'मा वेला फिट्टिहिति, विलुप्पिहिति वा भिक्खयरेहिं भेक्खं' एतेण अत्थेण असंभंतो।
(ख) जि०चू०पृ०१६६ : असंभंतो नाम सव्वे भिक्खायरा पविट्ठा तेहिं उञ्छिए भिक्खं न लभिस्सामित्तिकाउं मा तूरेज्जा, तूरमाणो य पडिलेहणापमादं करेज्जा, रियं वा न सोधेज्जा, उवयोगस्स ण ठाएज्जा, एवमादी दोसा भवन्ति, तम्हा असंभंतेण पडिलेहणं काऊण उवयोगस्स ठायित्ता अतुरिए भिक्खाए गंतव्वं।
(ग) हा० टी० प० १६३ : 'असंभ्रान्तः' अनाकुलो यथावदुपयोगादि कृत्वा, नान्यथेत्यर्थः।

२—(क) अ० चू० पृ० ९९ : अमुच्छितो अमूढो भत्तगेहीए सद्दातिसु य।
(ख) जि० चू० पृ० १६६ : 'मूर्च्छा मोहसमुच्छ्राययोः'····न मूर्च्छितः अमूर्च्छितः, अमूर्च्छितो नाम समुयाणे मुच्छं अकुव्वमाणो सेसेसु य सद्दाइविसएसु।
(ग) हा० टी० प० १६३ : 'अमूर्च्छितः' पिण्डे शब्दादिषु वा अगृद्धो, विहितानुष्ठानमितिकृत्वा, न तु पिण्डादावेवासक्त इति।

३—(क) जि० चू० पृ० १६७-६८ : दिट्ठंतो वच्छओ वाणिगिणीए अलंकियविभूसियाए चारुवेसाए वि गोभत्तादी आहारं दलयंती तमि गोभत्तादिम्मि उवउत्तो ण ताए इत्थियाए रूवेण वा तेसु वा आभरणसद्देसु ण वा गंधफासेसु मुच्छिओ, एवं साहुणावि विसएसु असज्जमाणेण ······भिक्खाहिंडियव्वत्ति।

४—अ० चू० पृ० ९९ : भत्त-पाणं भज्जति खुहिया तमिति भत्तं, पीयत इति पाणं, भत्तपाणमिति समासो।

५—दसवे० ६.२२ : [illegible] य भोयणं।

६—हा० टी० प० १६३ : 'भक्तपानं' यतियोग्यमोदनारनालादि।

आदि जनपदों में चावल का भोजन प्रधान रहा है। इसलिए 'भक्त' शब्द का प्रधान अर्थ चावल आदि खाद्य बन गया। कौटिल्य अर्थशास्त्र की व्याख्या में 'भक्त' का अर्थ तण्डुल आदि किया है[1]।

श्लोक २ :

६. श्लोक २ :

आहार की गवेषणा के लिए जो पहली क्रिया करनी होती है वह है चलना। गवेषणा के लिए स्थान से बाहर निकल कर साधु किस प्रकार गमन करे और कैसे स्थानों का वर्जन करता हुआ चले, उसका वर्णन इस श्लोक से १५ वें श्लोक तक में आया है।

७ गोचराग्र के लिए निकला हुआ (गोयरग्गगओ [ख]) :

भिक्षा-चर्या बारह प्रकार के तपों में से तीसरा तप है[2]। 'गोचराग्र' उसका एक प्रकार है[3]। उसके अनेक भेद होते हैं[4]। 'गोचर' शब्द का अर्थ है गाय की तरह चरना—भिक्षाटन करना। गाय अच्छी-बुरी घास का भेद किए बिना एक ओर से दूसरी ओर चरती चली जाती है। वैसे ही उत्तम, मध्यम और अधम कुल का भेद न करते हुए तथा प्रिय-अप्रिय आहार में राग द्वेष न करते हुए जो सामुदानिक भिक्षाटन किया जाता है वह गोचर कहलाता है[5]।

चूर्णिकारद्वय लिखते हैं : गोचर का अर्थ है भ्रमण। जिस प्रकार गाय शब्दादि विषयों में गृद्ध नहीं होती हुई आहार ग्रहण करती है उसी प्रकार साधु भी विषयों में आसक्त न होते हुए सामुदानिक रूप से उद्गम, उत्पाद और एषणा के दोषों से रहित भिक्षा के लिए भ्रमण करते हैं। यही साधु का गोचराग्र है[6]।

गाय के चरने में शुद्धाशुद्ध का विवेक नहीं होता। मुनि सदोष आहार को वर्ज निर्दोष आहार लेते हैं, इसलिए उनकी भिक्षा-चर्या साधारण गोचर्या से आगे बढ़ी हुई—विशेषता वाली होती है। इस विशेषता की ओर संकेत करने के लिए ही गोचर के बाद 'अग्र' शब्द का प्रयोग किया गया है। अथवा गोचर तो चरकादि अन्य परिव्राजक भी करते हैं किन्तु आधाकर्मादि आहार ग्रहण न करने से ही उसमें विशेषता आती है। श्रमण निर्ग्रन्थ की चर्या ऐसी होती है अतः यहाँ अग्र—प्रधान शब्द का प्रयोग है[7]।

१—कौटि० अर्थ० अ० १० प्रक० १४८-१४९ : भक्तोपकरणं—(व्याख्या) भक्त तण्डुलादि उपकरणं वस्त्रादि च।

२—उत्त० ३०.८ : अणसणमूणोयरिया भिक्खायरिया य रसपरिच्चाओ।
कायकिलेसो संलीणया य बज्झो तवो होइ॥

३—उत्त० ३०.२५ : अट्ठविहगोयरग्गं तु तहा सत्तेव एसणा।
अभिग्गहा य जे अन्ने भिक्खायरियमाहिया॥

४—उत्त० ३०.१९ पेडा य अद्धपेडा गोमुत्तिपयंगवीहिया चेव।
सम्बुक्कावट्टायगन्तुंपच्चागया छट्ठा॥

५—हा० टी० प० १९ : गोचर. सामयिकत्वाद् गोरिव चरणं गोचरोऽन्यथा गोचारः गोश्चरत्येवमविशेषेण साधुनाऽप्यटितव्यं, न विभवमङ्गीकृत्योत्तमाधममध्यमेषु कुलेष्विति, वणिग्वत्सकदृष्टान्तेन चेति।

६—(क) अ० चू० पृ० ९९ : गोरिव चरणं गोचरो, तहा सद्दादिसु अमुच्छितो जहा सो वच्छगो।

(ख) जि० चू० पृ० १६७-६८ : गोयरो नाम भ्रमणं जहा गावीओ सद्दादिसु विसएसु असज्जमाणीओ आहारमाहारेंति, दिट्ठंतो वच्छओ एवं साधुणावि विसएसु असज्जमाणेण समुदाणे उग्गमउप्पायणासुद्धे निवेसियबुद्धिणा अरत्तदुट्ठेण भिक्खा हिंडियव्वत्ति।

(ग) हा० टी० प० १६३ : गोरिव चरणं गोचर:—उत्तमाधममध्यमकुलेष्वरक्तद्विष्टस्य भिक्षाटनम्।

७—(क) अ० चू० पृ० ९९ : गोयर अग्गं गोतरस्स वा अग्गं गतो, अग्ग पहाणं। कहं पहाणं ? एसणादिगुणजुत्तं, ण उ चरगादीण अपरिक्खिते सणाए।

(ख) जि० चू० पृ० १६८ : गोयरो चेव अग्गं अग्गं तमि गओ गोयरग्गगओ, अग्ग नाम पहाणं भण्णइ, सो य गोयरो साहूणमेव पहाणो भवति, न उ चरगाईणं आहाकम्मुद्देसियाइभुंजमाणत्ति।

(ग) हा० टी० प० १६३ : अग्र:—प्रधानोऽभ्याहृताधाकर्मादिपरित्यागेन।

८. वह (से [क]) :

हरिभद्र कहते हैं 'से' अर्थात् जो असंभ्रांत और अमूर्छित है वह मुनि[1]। जिनदास लिखते हैं 'से' शब्द संयत-विरत-प्रतिहत प्रत्याख्यात-पापकर्मा भिक्षु का संकेतक है[2]। यह अर्थ अधिक संगत है क्योंकि ऐसे मुनि की भिक्षा-चर्या की विधि का ही इस अध्ययन में वर्णन है। अगस्त्यसिंह के अनुसार 'से' शब्द वचनोपन्यास है[3]।

९. मुनि (मुणी [ख]) :

मुनि और ज्ञानी एकार्थक शब्द है। जिनदास के अनुसार मुनि चार प्रकार के होते हैं—नाम-मुनि, स्थापना-मुनि, द्रव्य-मुनि और भाव-मुनि। उदाहरण के लिए जो रत्न आदि की परीक्षा कर सकता है वह द्रव्य-मुनि है। भाव-मुनि वह है जो संसार के स्वभाव या असली स्वरूप को जानता हो। इस दृष्टि से सम्यग्दृष्टि साधु और श्रावक दोनों भाव-मुनि होते हैं। इस प्रकरण में भाव-साधु का ही ग्रहण करना चाहिए; क्योंकि उसी की गोचर्या का यहाँ वर्णन है[4]।

१०. धीमे-धीमे (मंदं [ग]) :

असंभ्रांत शब्द मानसिक अवस्था का द्योतक है और 'मन्द' शब्द चलने की क्रिया (चरे) का विशेषण। साधु जैसे चित्त से असंभ्रांत हो - क्रिया करने में त्वरा न करे वैसे ही गति में मन्द हो धीमे-धीमे चले[5]। जिनदास लिखते हैं—मन्द चार तरह के होते हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव-मन्द। इनमें द्रव्य-मन्द उसे कहते है जो शरीर से प्रतनु होता हैं। भाव-मन्द उसे कहते हैं जो अल्पबुद्धि हो। यहाँ तो गति-मन्द का अधिकार है[6]।

११. अनुद्विग्न (अणुव्विग्गो [घ]) :

अनुद्विग्न का अर्थ है--परीषह से न डरने वाला, प्रशान्त। तात्पर्य यह है—भिक्षा न मिलने या मनोनुकूल भिक्षा न मिलने के विचार से व्याकुल न होता हुआ तथा तिरस्कार आदि परीषहों की आशंका से क्षुब्ध न होता हुआ गमन करे[7]।

१२. अव्याक्षिप्त चित्त से (अव्वक्खित्तेण चेयसा [घ]) :

जिनदास के अनुसार इसका अर्थ है—आर्तध्यान से रहित अंत:करण से, पैर उठाने में उपयोग युक्त होकर[8]। हरिभद्र के अनुसार अव्याक्षिप्त चित्त का अर्थ है - वत्स और वणिक् पत्नी के दृष्टान्त के न्याय से शब्दादि में अंत:करण को नियोजित न करते हुए, एषणा समिति से युक्त होकर[9]।

१—हा० टी० प० १६३ : 'से' इत्यसंभ्रांतोऽमूर्च्छितः।

२—जि० चू० पृ० १६७ : 'से' त्ति निद्देसे, किं निद्दिसति ?, जो सो संजयविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्मो भिक्खू तस्स निद्देसोत्ति।

३—अ० चू० पृ० ९९ : से इति वयणोवण्णासे।

४ (क) अ० चू० पृ० ९९ : मुणी विण्णाणसंपण्णो, दव्वे हिरण्णादिमुणतो, भावमुणी विदितसंसारसब्भावो साधू।

(ख) जि० चू० पृ० १६८ : मुणीणाम णाणित्ति वा मुणित्ति वा एगट्ठा, सो य मुणी चउव्विहो भणिओ,.... दव्वमुणी जहा रयणपरिक्खगा एवमादि, भावमुणी जहा संसारसहावजाणगा साहुणो सावगा वा, एत्य साहूहिं अधिगारो।

(ग) हा० टी० प० १६३ : मुनिः भावसाधुः।

५ (क) अ० चू० पृ० ९९ : मंदं अतिग्घं। असंभंत-मंदविसेसो—असंभंतो चेयसा, मंदो क्रियया।

(ख) हा० टी० प० १६३ : 'मंदं' शनैः शनैर्न द्रुतमित्यर्थः।

६ जि० चू० पृ० १६८ : मंदो चउव्विहो .... दव्वमंदो जो तणुयसरीरो एवमाइ. भावमंदो जस्स बुद्धी अप्पा एवमादी .... इह पुण गतिमंदेण अहिगारो।

७ (क) अ० चू० पृ० ९९ : अणुव्विग्गो अभीतो गोयरगताण परीसहोवसग्गाण।

(ख) जि० चू० पृ० १६८ : उव्विग्गो नाम भीतो, न उव्विग्गो अणुव्विग्गो, परीसहाणं अभीउत्ति वुत्तं भवति।

(ग) हा० टी० प० १६३ : 'अनुद्विग्नः' प्रशान्तः परीषहादिभ्योऽविभ्यत्।

८ जि० चू० पृ० १६८ : अव्वक्खित्तेण चेयसा नाम जो अट्टज्झाणोवगओ उक्खेवादिगुवउत्तो।

९ हा० टी० प० १६३ : 'अव्याक्षिप्तेन चेतसा' वत्सवणिग्जायादृष्टान्तात् शब्दादिष्वगतेन 'चेतसा' अन्तःकरणेन एषणोपयुक्तः।

भावार्थ यह है कि चलते समय मुनि चित्त में आर्त्तध्यान न रखे। उसकी चित्तवृत्ति शब्दादि विषयों में आसक्त न हो तथा पैर आदि उठाते समय वह पूरा उपयोग रखता हुआ चले।

गृहस्थों के यहाँ साधु को प्रिय शब्द, रूप, रस और गन्ध का संयोग मिलता है। ऐसे संयोग की कामना अथवा आसक्ति से साधु गमन न करे। वह केवल आहार गवेषणा की भावना से गमन करे।

इस सम्बन्ध में टीकाकार ने वत्स और वणिक् वधू के दृष्टान्त की ओर संकेत किया है। जिनदास ने गोचराग्र शब्द की व्याख्या में इस दृष्टान्त का उपयोग किया है। हमने इसका उपयोग प्रथम श्लोक में आये हुए 'असंभंतो' शब्द की व्याख्या में किया है। पूरा दृष्टान्त इस प्रकार मिलता है :

"एक वणिक् के घर एक छोटा बछड़ा था। वह सब को बहुत प्रिय था। घर के सारे लोग उसकी बहुत सार-सम्हाल करते थे। एक दिन वणिक् के घर जीमनवार हुआ। सारे लोग उसमें लग गये। बछड़े को न घास डाली गई और न पानी पिलाया गया। दुपहरी हो गई। वह भूख और प्यास के मारे रंभाने लगा। कुल-वधू ने उसको सुना। वह घास और पानी लेकर गई। घास और पानी को देख बछड़े की दृष्टि उन पर टिक गई। उसने कुल-वधू के बनाव और शृङ्गार की ओर ताका तक नहीं। उसके मन में विचार तक नहीं आया कि वह उसके रूप-रंग और शृङ्गार को देखे।"

दृष्टान्त का सार यह है कि बछड़े की तरह मुनि भिक्षाटन की भावना से अटन करे। रूप आदि को देखने की भावना से चंचल-चित्त हो गमन न करे।

श्लोक ३ :

१३. श्लोक ३ :

द्वितीय श्लोक में भिक्षा के लिए जाते समय अव्याक्षिप्त चित्त से और मंद गति से चलने की विधि कही है। इस श्लोक में भिक्षु किस प्रकार और कहाँ दृष्टि रख कर चले इसका विधान है।

१४ आगे (पुरओ[क]) :

पुरतः—अग्रतः—आगे के मार्ग को। चौथे चरण में 'य'—'च' शब्द आया है। जिनदास का कहना है कि 'च' का अर्थ है – कुत्ते आदि से रक्षा की दृष्टि से दोनों पार्श्व और पीछे भी उपयोग रखना चाहिए[1]।

१५. युग-प्रमाण भूमि को (जुगमायाए[क] महिं[ख]) :

ईर्या-समिति की यतना के चार प्रकार हैं[2]। यहाँ द्रव्य और क्षेत्र की यतना का उल्लेख किया गया है। जीव-जन्तुओं को देखकर चलना यह द्रव्य-यतना है। युग-मात्र भूमि को देखकर चलना यह क्षेत्र-यतना है[3]।

जिनदास महत्तर ने युग का अर्थ 'शरीर' किया है[4]। शान्त्याचार्य ने युग-मात्र का अर्थ चार हाथ प्रमाण किया है[5]। युग शब्द का लौकिक अर्थ है—गाड़ी का जुआ। वह लगभग साढ़े तीन हाथ का होता है। मनुष्य का शरीर भी अपने हाथ से इसी प्रमाण का होता है, इसलिए 'युग' का सामयिक अर्थ शरीर किया है।

यहाँ युग शब्द का प्रयोग दो अर्थों की अभिव्यक्ति के लिए है। सूत्रकार इसके द्वारा ईर्या-समिति के क्षेत्र-मान और उसके संस्थान इन दोनों की जानकारी देना चाहते हैं।

युग शब्द गाड़ी से सम्बन्धित है। गाड़ी का आगे का भाग सकड़ा और पीछे का भाग चौड़ा होता है। ईर्या-समिति से चलने वाले मुनि की दृष्टि का संस्थान भी यही बनता है[6]।

१—जि० चू० पृ० १६८ : पुरओ नाम अग्गओ ······ चकारेण य सुणमादीण रक्खणट्ठा पासओवि पिट्ठओवि उवओगो कायव्वो

२—उत्त० २४.६ : दव्वओ खेत्तओ चेव, कालओ भावओ तहा।
　　　जयणा चउव्विहा वुत्ता, तं मे कित्तयओ सुण॥

३—उत्त० २४.७ : दव्वओ चक्खुसा पेहे, जुगमित्तं च खेत्तओ।

४—जि० चू० पृ० १६८ : जुगं सरीरं भण्णइ।

५—उत्त० २४.७ बृ० वृ० : युगमात्रं च चतुर्हस्तप्रमाणं प्रस्तावात् क्षेत्रं।

६—(क) अ० चू० पृ० ६६ : जुगमिति बलिवद्दसढाणणं सरीरं वा तावम्मत्तं पुरतो, अंतो संकुयाए बाहिं वित्थडाए दिट्ठीए,
　(ख) जि० चू० पृ० १६८ : तावमेत्तं पुरओ अंतो संकुडाए बाहिं वित्थडाए सगडुद्धिसंठियाए दिट्ठीए।

यदि चलते समय दृष्टि को बहुत दूर डाला जाए तो सूक्ष्म शरीर वाले जीव देखे नहीं जा सकते और उसे अत्यन्त निकट रखा जाए तो सहसा पैर के नीचे आने वाले जीवों को टाला नहीं जा सकता, इसलिए शरीर-प्रमाण क्षेत्र देखकर चलने की व्यवस्था की गई है[1]।

अगस्त्यसिंह स्थविर ने 'जुगमादाय' ऐसा पाठ-भेद माना है। उसका अर्थ है—युग को ग्रहण कर अर्थात् युग जितने क्षेत्र को लक्षित कर—भूमि को देखता हुआ चले[2]।

'सव्वतो जुगमादाय' इस पाठ-भेद का निर्देश भी दोनों चूर्णिकार करते हैं। इसका अर्थ है थोड़ी दूर चलकर दोनों पार्श्वों में और पीछे अर्थात् चारों ओर युग-मात्र भूमि को देखना चाहिए[3]।

१६. बीज, हरियाली (वीयहरियाइं [ख]) :

अगस्त्यसिंह स्थविर की चूर्णि के अनुसार बीज शब्द से वनस्पति के दश प्रकारों का ग्रहण होता है[4]। वे ये हैं—मूल, कंद, स्कंध, त्वचा, शाखा, प्रवाल, पत्र, पुष्प, फल और बीज। 'हरित' शब्द के द्वारा बीजरुह वनस्पति का निर्देश किया है[5]। जिनदास महत्तर की चूर्णि के अनुसार 'हरित' शब्द वनस्पति का सूचक है[6]।

१७. प्राणी (पाणे [ग]) :

प्राण शब्द द्वीन्द्रिय आदि त्रस जीवों का संग्राहक है[7]।

१८. जल तथा सजीव-मिट्टी (दगमट्टियं [घ]) :

'दगमट्टियं' शब्द आगमों में अनेक जगह प्रयुक्त है। अखण्ड-रूप में यह भीगी हुई सजीव मिट्टी के अर्थ में प्रयुक्त किया जाता आयारचूला (१।२,४२) में यह शब्द आया है। वृत्तिकार शीलाङ्काचार्य ने यहां इसका अर्थ उदक-प्रधान मिट्टी किया है[8]।

चूर्णिकार और टीकाकार इस श्लोक तथा इसी अध्ययन के पहले उद्देशक के २६ वें श्लोक में आए हुए 'दग' और 'मट्टिया' दोनों शब्दों को अलग-अलग ग्रहण कर व्याख्या करते हैं[9]। टीकाकार हरिभद्र ने अपनी आवश्यक वृत्ति में इनकी व्याख्या अखंड

१—(क) अ० चू० पृ० ६६ : 'सुहुमसरीरे दूरतो ण पेच्छति' त्ति न परतो, 'आसण्णो न तरति सहसा वट्टावेतुं' ति ण आरतो।
(ख) जि० चू० पृ० १६८ : दूरनिपायदिट्ठी पुण विप्पगिट्टं सुहुमसरीरं वा सत्तं न पासइ, अतिसन्निविट्ठदिट्ठिवि सहसा द[illegible] ण सक्केइ पादं पडिसाहरिउं।

२—अ० चू० पृ० ६६ : अहवा "पुरतो जुगमादाय" इति चक्खुसा तावतियं परिगिज्झ पेहमाण इति।

३—(क) अ० चू० पृ० ६६ : पाढंतरं वा "सव्वतो जुगमादाय।"
(ख) जि० चू० पृ० १६८ : अन्ने पढंति—'सव्वत्तो जुगमायाए' नातिदूरं गंतूणं पासओ पिट्ठओ य निरिक्खियव्वं।

४—(क) अ० चू० पृ० ६६ : बीयवयणेण वा दस भेदा भणिता।
(ख) जि० चू० पृ० १६८ : बीयगहणेण बीयपज्जवसाणस्स दसभेदभिण्णस्स वणप्फइकायस्स गहणं कयं।

५—अ० चू० पृ० ६६ : हरितग्गहणेण जे बीयरुहा ते भणिता।

६—जि० चू० पृ० १६८ : हरियगहणेण सव्ववणप्फई गहिया।

७—(क) अ० चू० पृ० ६६ : 'पाणा' बेइंदियादितसा।
(ख) जि० चू० पृ० १६८ : पाणग्गहणेणं बेइंदियाईणं तसाणं गहणं।
(ग) हा० टी० प० १६४ : 'प्राणिनो' द्वीन्द्रियादीन्।

८—आ० चू० १।२।४२ वृ० : उदकप्रधाना मृत्तिका उदकमृत्तिकेति।

९—(क) अ० चू० पृ० ६६ : ओसादि भेदं पानिनं दगं, मट्टिया-णयणणिवेसातिपुढविक्कातो।
(ख) जि० चू० पृ० १६६ : दगग्गहणेण आउक्काओ सभेदो गहिओ, मट्टियागहणेणं जो पुढविक्काओ अडवीओ [illegible] [illegible] वा गामे वा तस्स गहणं।
(ग) हा० टी० प० १६४ : 'उदकम्' अप्कायं 'मृत्तिकां च' पृथिवीकायं।

सकद—दोनों प्रकार से की है[1]। निशीथ चूर्णिकार ने भी इसके दो विकल्प किये हैं[2]।

हरिभद्र कहते हैं कि 'च' शब्द से तेजस्काय और वायुकाय का भी ग्रहण करना चाहिए[3]। जिनदास के अनुसार दगमट्टिका के ग्रहण से अग्नि और वायु का ग्रहण स्वयं हो जाता है[4]। अगस्त्यसिंह का अभिमत है कि गमन में अग्नि की सम्भावना कम है और दाह के भय से उसका वर्जन हर कोई करता ही है। वायु आकाशव्यापी है, अतः उसका सर्वथा परिहार नहीं हो सकता। प्रकारान्तर से सर्वजीवों का वर्जन करना चाहिए—यह स्वतः प्राप्त है[5]।

१९. श्लोक ४-६ :

चौथे श्लोक में किस मार्ग से साधु न जाये, इसका उल्लेख है। वर्जित-मार्ग से जाने पर जो हानि होती है, उसका वर्णन पाँचवें श्लोक में है। छट्ठे श्लोक में पाँचवें श्लोक में बताये हुए दोषों को देखकर विषम-मार्ग से जाने का पुन निषेध किया है। यह औत्सर्गिक-मार्ग है। कभी चलना पड़े तो सावधानी के साथ चलना चाहिए—यह आपवादिक-मार्ग छट्ठे श्लोक के द्वितीय चरण में दिया हुआ है।

श्लोक ४ :

२०. गड्ढे (ओवायं [क]) :

जिनदास और हरिभद्र ने 'अवपात' का अर्थ 'गड्ढा' या 'गड्ढा' किया है[6]। अगस्त्यसिंह ने नीचे गिरने को 'अवपात' कहा है[7]।

२१. ऊबड़-खाबड़ भू-भाग (विसमं [क]) :

अगस्त्यसिंह ने खड्डा, कूप, भिरिड(जीर्ण कूप) आदि ऊँचे-नीचे स्थान को 'विषम' कहा है[8]। जिनदास और हरिभद्र ने निम्नोन्नत स्थान को 'विषम' कहा है[9]।

२२. कटे हुए सूखे पेड़ या अनाज के डंठल (खाणुं [क]) :

ऊपर उठे हुए काष्ठ विशेष को स्थाणु कहते हैं[10]।

२३. पंकिल मार्ग को (विज्जलं [ख]) :

पानी सूख जाने पर जो कर्दम रहता है उसे 'विजल' कहते हैं। कर्दमयुक्त मार्ग को 'विजल' कहा जाता है[11]।

१—आ० हा० वृ० पृ० ५७३ : दगमृत्तिका चिक्खलम् अथवा दकग्रहणादप्कायः मृत्तिका ग्रहणात् पृथ्वीकाय।

२—नि० चू० (७.७४) दगं पाणीयं, कोमारा-मट्टिया, अथवा उल्लिया मट्टिया।

३—हा० टी० प० १६४ : च शब्दात्तेजोवायुपरिग्रहः।

४—जि० चू० पृ० १६६ : एगग्गहणे गहणं तज्जाईयाणमितिकाउं अगणिवाउणोवि गहिया।

५—अ० चू० पृ० १०० : गमणे अगणिस्स मंदो संभवो, डाहभएण य परिहरिज्जति, वायुराकाशव्यापीति ण सव्वहा परिहरणमिति न साक्षादभिधानमिति। प्रकारवयणेण वा सव्वजीवणिकायाभिहाणं, तावमपि वज्जितो।

६—(क) जि० चू० पृ० १६६ : ओवाय नाम खड्डा, जत्थ हेट्ठाभिमुहेहिं अवयरिज्जइ।

(ख) हा० टी० प० १६४ : 'अवपातं' गर्तादिरूपम्।

७—अ० चू० पृ० १०० : अहोपतणमोवातो।

८—अ० चू० पृ० १०० : खड्डा-कूव-भिरिडाती णिण्णुण्णयं विसमं।

९—(क) जि० चू० पृ० १६६ : विसमं नाम निण्णुण्णय।

(ख) हा० टी० प० १६४ : 'विषमं' निम्नोन्नतम्।

१०—(क) अ० चू० पृ० १०० : जातिउच्चो उद्धट्ठियदारुविसेसो खाणू।

(ख) जि० चू० पृ० १६६ : खाणू नाम कट्ठं उद्धाहुत्तं।

(ग) हा० टी० प० १६४ : 'स्थाणुम्' ऊर्ध्वकाष्ठम्।

११—(क) अ० चू० पृ० १०० : विगयमात्र जतो जलं त विज्जल (चिक्खलो)।

(ख) जि० चू० पृ० १६६ : विगयं जलं जत्थ तं विज्जल।

(ग) हा० टी० प० १६४ : विगतजलं कर्दमम्।

३२. कोयले (इंगालं···रासि क) :

अङ्गार-राशि—अङ्गार के ढेर। अङ्गार—पूरी तरह न जली हुई लकड़ी का बुझा हुआ अवशेष[1]। इसका अर्थ दहकता हुआ कोयला भी होता है।

३३. ढेर के (रासि ख) :

मूल में 'राशि' शब्द 'छारिय', 'तुस'—इन के साथ ही है, पर उसे 'इंगालं' और 'गोमयं' के साथ भी जोड़ लेना चाहिए[2]।

श्लोक ८ :

३४. श्लोक ८ :

इस श्लोक में जल, वायु और तिर्यग् जीवों की विराधना से बचने की दृष्टि से चलने की विधि बतलाई है।

३५. वर्षा बरस रही हो (वासे वासंते क) :

भिक्षा का काल होने पर यदि वर्षा हो रही हो तो भिक्षु बाहर न निकले। भिक्षा के लिए निकलने के बाद यदि वर्षा होने लगे तो वह ढँके स्थान में खड़ा हो जाये, आगे न जाये[3]।

३६. कुहरा गिर रहा हो (महियाए पडंतिए ख) :

कुहरा प्राय: शिशिर ऋतु में—गर्भ-मास में पड़ा करता है। ऐसे समय में भिक्षु भिक्षा-चर्या के लिए गमन न करे[4]।

३७. महावात चल रहा हो (महावाये व वायंते ग) :

महावात से रजें उड़ती हैं। शरीर के साथ उनका आघात होता है, इससे सचित्त रजों की विराधना होती है। अचित्त रजें आँखों में गिरती हैं। इन दोषों को देख भिक्षु ऐसे समय में गमन न करे[5]।

३८. मार्ग में तिर्यक् संपातिम जीव छा रहे हों (तिरिच्छसंपाइमेसु वा घ) :

जो जीव तिरछे उड़ते हैं उन्हें तिर्यक् सम्पातिम जीव कहते हैं। वे भ्रमर, कीट, पतंग आदि जन्तु हैं[6]।

१—(क) अ० चू० पृ० १०१ : 'इंगालो' खदिराईण दड्ढणेव्वाणं तं इंगालं।
(ख) हा० टी० प० १६४ : आङ्गारमिति – अङ्गाराणामयमाङ्गारस्तमाङ्गारं राशिम्।

२—(क) अ० चू० पृ० १०१ रासि सद्दो पुण इंगालछारियाए वट्टति। 'तुसरासिं' च 'गोमयं'····· एत्थवि रासि त्ति उभये वत्तंते।
(ख) हा० टी० प० १६४ : राशिशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते।

३—(क) अ० चू० पृ० १०१ : ण इति पडिसेहसद्दो, चरणं गोचरस्स तं पडिसेहेति, 'वासं' मेघो, तम्मि पाणियं मुयन्ते।
(ख) जि० चू० पृ० १७० : नकारो पडिसेहे वट्टइ, चरेज्ज नाम भिक्खस्स अट्ठा गच्छेज्जत्ति, वासं पसिद्धमेव, तंमि वासे वरिसमाणेण उ चरियव्वं, उत्तिण्णेण य पवुट्ठे अहाछन्नाणि सगडगिहाईणि पविसित्ता ताव अच्छइ जावट्ठिओ ताहे हिंडइ।
(ग) हा० टी० प० १६४ : न चरेद्वर्षे वर्षति, भिक्षार्थं प्रविष्टो वर्षणे तु प्रच्छन्ने तिष्ठेत्।

४—(क) जि० चू० पृ० १७० : महिया पायसो सिसिरे गब्भमासे भवइ, ताएवि पडन्तीए नो चरेज्जा।
(ख) हा० टी० प० १६४ : महिकायां वा पतन्त्यां, सा च प्रायो गर्भमासेषु पतति।

५—(क) अ० चू० पृ० १०१ : वाउक्काय जयणा पुण 'महावाते' अतिसमुद्धुतो मारुतो महावातो, तेण समुद्धुतो रतो वाउक्काओ य विराहिज्जति।
(ख) जि० चू० पृ० १७० : महावातो रयं समुद्धुणइ, तत्थ सच्चित्तरयस्स विराहणा, अचित्तोवि अच्छीणि भरेज्जा एवमाई दोसा परिहरंतेण ण चरेज्जा।
(ग) हा० टी० प० १६४ : महावाते वा वाति सति, तदुत्खातरजोविराधनादोषात्।

६—(क) अ० चू० पृ० १०१ : तिरिच्छसंपातिमा पतंगादयो तसा, तेसु पभूतेसु संपयंतेसु ण चरेज्जा इति वट्टति।
(ख) जि० चू० पृ० १७० : तिरिच्छं संपयंतीति तिरिच्छसंपाइमा, ते य पयंगादी।
(ग) हा० टी० प० १६४ : तिर्यक्संपतन्तीति तिर्यक्सम्पाताः – पतङ्गादयः।

श्लोक ९ :

३६. श्लोक ९-११ :

भिक्षा के लिए निकले हुए साधु को कैसे मुहल्ले से नहीं जाना चाहिए इसका वर्णन ९ वें श्लोक के प्रथम दो चरण में हुआ है। यहाँ वेश्या-गृह के समीप जाने का निषेध है। इस श्लोक के अन्तिम दो चरणों तथा १० वें श्लोक में वेश्या-गृह के समीप जाने से जो हानि होती है, उसका उल्लेख है। ११ वें श्लोक में दोष-दर्शन के बाद पुनः निषेध किया गया है।

४०. ब्रह्मचर्य का वशवर्ती मुनि (बंभचेरवसाणुए [ख]) :

अगस्त्यसिंह स्थविर के अनुसार इसका अर्थ—'ब्रह्मचर्य का वशवर्ती' होता है और यह मुनि का विशेषण है[1]। जिनदास महत्तर ने 'बंभचेरवसाणुए' ऐसा पाठ मानते हुए भी तथा टीकाकार ने 'बंभचेरवसाणए' पाठ स्वीकृत कर उसे 'वेससामंते' का विशेषण माना है और इसका अर्थ ब्रह्मचर्य को वश में लाने (उसे अधीन करने) वाला किया है[2]। किन्तु इसे 'वेससामंते' का विशेषण मानने से 'चरेज्ज' क्रिया का कोई कर्ता शेष नहीं रहता, इसलिए तथा अर्थ-संगति की दृष्टि से यह साधु का ही विशेषण होना चाहिए। अगस्त्य-चूर्णि में 'बंभचारि-वसाणुए' ऐसा पाठान्तर है। इसका अर्थ है—ब्रह्मचारी—आचार्य के अधीन रहने वाला मुनि[3]।

४१. वेश्या बाड़े के समीप (वेससामंते [क]) :

जहाँ विषयार्थी लोग प्रविष्ट होते हैं अथवा जो जन-मन में प्रविष्ट होता है वह 'वेश' कहलाता है[4]। इस 'वेश' शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—नीच स्त्रियों का समवाय[5]। अमरकीर्ति ने 'वेश' का अर्थ वेश्या का बाड़ा किया है[6]।

अभिधान चिन्तामणि में इसके तीन पर्यायवाची नाम हैं—वेश्याश्रय, पुरं, वेश।[7]

जिनदास महत्तर ने 'वेस' का अर्थ वेश्या किया है[8]। टीकाकार भी इसी का अनुसरण करते हैं[9] किन्तु शाब्दिक दृष्टि से पहला अर्थ ही संगत है। 'सामन्त' का अर्थ समीप है[10]। समीप के अर्थ में 'सामन्त' शब्द का प्रयोग आगमों में बहुत स्थलों में हुआ है[11]। जिनदास कहते हैं—साधु के लिये वेश्या-गृह के समीप जाना भी निषिद्ध है। वह उसके घर में तो जा ही कैसे सकता है[12]।

४२. विस्रोतसिका (विसोत्तिया [क]) :

विस्रोतसिका का अर्थ है—सारणिनिरोध, जलागम के मार्ग का निरोध या किसी वस्तु के आने का स्रोत रुकने पर उसका दूसरी ओर मुड़ जाना[13]। चूर्णिकार विस्रोतसिका की व्याख्या करते हुए कहते हैं : जैसे—कूड़े-करकट के द्वारा जल आने का मार्ग रुक

१—अ० चू० पृ० १०१ : 'बंभचेरवसाणुए' बंभचेरं मेहुणवज्जणव्रतं तस्स वसमणुगच्छति त्ति बंभचेरवसाणगो साधू।

२—(क) जि० चू० पृ० १७० : जम्हा तंमि वेससामन्ते हिंडमाणस्स बंभचेरव्वयं वसमाणिज्जतित्ति तम्हा तं वेससामंतं बंभचेर-वसाणुग भण्णइ, तमि बंभचेरवसाणुए।

(ख) हा० टी० प० १६५ : ब्रह्मचर्यवशानयने (नये) ब्रह्मचर्य—मैथुनविरतिरूपं वशमानयति आत्मायत्तं करोति दर्शनाक्षेपा-दिनेति ब्रह्मचर्यवशानयनं तस्मिन्।

३—अ० चू० पृ० १०१ : बंभचारिणो गुरुणो तेसिं वसमणुगच्छतीति बंभचेर (?चारि) वसाणुए।

४—अ० चू० पृ० १०१ : 'वेससामन्ते' पविसंति तं विसयत्थिणो त्ति वेसा, पविसति वा जणमणेसु वेसो।

५—अ० चू० पृ० १०१ : स पुण णीयइत्थिसमवाओ।

६—ध० मा० श्लो० ३६ का भाष्य पृ० १७ : वेशो वेश्यावाटे भवा वेश्या।

७ अ० चि० ४.६६ : वेश्याऽऽश्रयः पुरं वेशः।

८—जि० चू० पृ० १७० : वेसाओ दुव्वसरियाओ, अण्णाओवि जाओ दुव्वसरियाकम्मेसु वट्टंति ताओवि वेसाओ चेव।

९—हा० टी० प० १६५ : 'न चरेद्वेश्यासामन्ते' न गच्छेद् गणिकागृहसमीपे।

१०—अ० चू० पृ० १०१ : सामते समीवे वि, किमुत तम्मि चेव।

११—भग० १.१ पृ० ३३ : अदूरसामन्ते।

१२—जि० चू० पृ० १७० : सामत नाम तासिं गिहसमीवं, तमवि वज्जणीयं, किमंग पुण तासिं गिहाणि ?

१३—अ० चू० पृ० १०१ : विस्रोतसा प्रवृत्तिः—विस्रोतसिका विसोत्तिका। सा चउव्विहा—णामट्ठवणाओ गताओ। दव्वविसोत्तिया कट्ठकलिंचेहिं सारणिणिरोहो अण्णतोगमणमुदगस्स। भावविसोत्तिता वेसित्थियसविलासवियेक्खित-हसित-विब्भमेहिं रागा-वरुद्धमणोसमाहिसारणोकस्स णाण-दसण-चरित्तसस्सविणासो भवति।

जाने पर इसका वहाव दूसरी ओर हो जाता है, खेती सूख जाती है, वैसे ही वेश्याओं के हाव-भाव देखनेवालों के ज्ञान, दर्शन और चारित्र का स्रोत रुक जाता है और संयम की खेती सूख जाती है[1]।

श्लोक १० :

४३. अस्थान में (अणायणे [क]) :

सावद्य, अशोधि-स्थान और कुशील-संसर्ग—ये अनायतन के पर्यायवाची नाम हैं[2]। इसका प्राकृत रूप दो प्रकार से प्रयुक्त होता है—अणाययण और अणायण । अणाययण के यकार का लोप और अकार की संधि करने से अणायण बनता है।

४४. बार-बार जाने वाले के ... संसर्ग होने के कारण (संसग्गीए अभिक्खणं [ख]) :

इसका सम्बन्ध 'चरंतस्स' से है। 'अभीक्ष्ण' का अर्थ है बार-बार । अस्थान में बार-बार जाने से संसर्ग (सम्बन्ध) हो जाता है। संसर्ग का प्रारम्भ दर्शन से और उसकी परिसमाप्ति प्रणय में होती है। पूरा क्रम यह है—दर्शन से प्रीति, प्रीति से रति, फिर विश्वास और प्रणय[3]।

४५. व्रतों की पीड़ा (विनाश) (वयाणं पीला [ग]) :

'पीड़ा' का अर्थ विनाश अथवा विराधना होता है[4]। वेश्या-संसर्ग से ब्रह्मचर्य-व्रत का विनाश हो सकता है किन्तु सभी व्रतों का नाश कैसे संभव है ? इस प्रश्न का समाधान करते हुए चूर्णिकार कहते हैं—ब्रह्मचर्य से विचलित होने वाला श्रामण्य को त्याग देता है, इसलिए उसके सारे व्रत टूट जाते हैं। कोई श्रमण श्रामण्य को न भी त्यागे, किन्तु मन भोग में लगे रहने के कारण उसका ब्रह्मचर्य-व्रत पीड़ित होता है। वह चित्त की चंचलता के कारण एषणा या ईर्या की शुद्धि नहीं कर पाता, उससे अहिंसा-व्रत की पीड़ा होती है। वह इधर-उधर रमणियों की तरफ देखता है, दूसरे पूछते हैं तब झूठ बोलकर दृष्टि-दोष को छिपाना चाहता है, इस प्रकार सत्य-व्रत की पीड़ा होती है। तीर्थङ्करों ने श्रमण के लिए स्त्री-संग का निषेध किया है। स्त्री-संग करने वाला उनकी आज्ञा का भंग करता है, इस प्रकार अचौर्य-व्रत की पीड़ा होती है। स्त्रियों में ममत्व करने के कारण उसके अपरिग्रह-व्रत की पीड़ा होती है। इस प्रकार एक ब्रह्मचर्य-व्रत पीड़ित होने से सब व्रत पीड़ित हो जाते हैं[5]।

१—(क) जि० चू० पृ० १७१ : दव्वविसोत्तिया जहा सारणिपाणियं कयवराइणा आगमसोते निरुद्धे अण्णतो गच्छइ, तओ तं सस्सं सुक्खइ, सा दव्वविसोत्तिया, तासिं वेसाणं भावविप्पेक्खियं णट्टहसियादी पासंतस्स णाणदंसणचरित्ताणं आगमो निरुंभति, तओ संजमसस्सं सुक्खइ, एसा भावविसोत्तिया ।

(ख) हा० टी० प० १६५ : विस्रोतसिका' तद्रूपसंदर्शनस्मरणापध्यानकचवरनिरोधतः ज्ञानश्रद्धाजलोज्झनेन संयमसस्यशोषफला चित्तविक्रिया ।

२—ओ० नि० ७६४ :

सावज्जमणायतणं असोहिठाणं कुसीलसंसग्गी ।
एगट्ठा होंति पदा एते विवरीय आययणा ॥

३—(क) अ० चू० पृ० १०१ : तम्मि 'चरन्तस्स' गच्छन्तस्स 'संसग्गी' संपक्को "संसग्गीए अभिक्खणं" पुणो पुणो । किंच

संदंसणेण पिती पीतीओ रती रतीतो वीसंभो ।
वीसंभातो पणतो पंचविहं वड्ढई पेम्मं ॥

(ख) जि० चू० पृ० १७१ : वेससामंतं अभिक्खणं अभिक्खणं एंतजंतस्स ताहिं समं संसग्गी जायति, भणियं च—

संदंसणाओ पीई पीतीओ रती रती य वीसंभो ।
वीसंभाओ पणओ पंचविहं वड्ढई पेम्मं ॥

४—(क) अ० चू० पृ० १०२ : वताणं बंभव्वतपहाणाण पीला किंचिदेव विराहणमुच्छेदो वा ।

(ख) जि० चू० पृ० १७१ : पीडानाम विणासो ।

(ग) हा० टी० प० १६५ : 'व्रतानां' प्राणातिपातविरत्यादीनां पीडा तदाक्षिप्तचेतसो भावविराधना ।

५—(क) अ० चू० पृ० १०२ : वताण बंभव्वतपहाणाण पीला किंचिदेव विराहणमुच्छेदो वा समणभावे वा संदेहो अप्पणो परस्स वा । अप्पणो 'विसयविचालितचित्तो समणभावं छड्डेमि मा वा ?' इति संदेहो, परस्स 'एवं विहत्थाणविचारी किं पव्वतितो किंवो वेसकारणो ?' त्ति समयो । सति संदेहे चागविचित्तीकतस्स सव्वमहव्वतपीला, अहउप्पव्वतति ततो वयविमुत्तो, अणुप्पव्वयंतस्स पीडा वताण, तासु गयचित्तो रियं ण सोहेति त्ति पाणातिपातो । पुच्छितो 'किं जोएसि ?' त्ति अवलवति मुसावातो अदत्तादाणमणणुण्णातो तित्थकरेहिं, मेहुणे विगयभावो, मुच्छाए परिग्गहो वि ।

(ख) जि० चू० पृ० १७१ : जइ उण्णिक्खमइ तो सव्ववया पीडिया भवंति, अहवि ण उण्णिक्खमइ तोवि तग्गयमाणसस्स भावाओ मेहुणं पीडियं भवइ, तग्गयमाणसो य एसणं न रक्खइ, तत्थ पाणाइवायपीडा भवति, जोयमाणो पुच्छिज्जइ—किं जोएसि ? ताहे अवलवइ, ताहे मुसावायपीडा भवति, ताओ य तित्थगरेहिं णाणुण्णायाउत्ति काउं अदिण्णादाणपीडा भवइ, तासु य ममत्तं करेंतस्स परिग्गहपीडा भवति ।

यहाँ हरिभद्र सूरि 'तथा च वृद्ध व्याख्या' कहकर इसी आशय को स्पष्ट करने वाली कुछ पंक्तियाँ उद्धृत करते हैं[1]। वे चूर्णिकारों की पंक्तियों से भिन्न हैं। इससे अनुमान किया जा सकता है कि उनके सामने चूर्णियों के अतिरिक्त कोई दूसरी भी वृद्ध-व्याख्या रही है।

४६. श्रामण्य में सन्देह हो सकता है (सामण्णम्मि य संसओ [घ]) :

इस प्रसङ्ग में श्रामण्य का मुख्यार्थ ब्रह्मचर्य है। इन्द्रिय-विषयों को उत्तेजित करने वाले साधन श्रमण को उसकी साधना में संदिग्ध बना देते हैं[2]। विषय में आसक्त बना हुआ श्रमण ब्रह्मचर्य के फल में सन्देह करने लग जाता है। इसका पूर्ण रूप उत्तराध्ययन में बताया गया है। ब्रह्मचर्य की गुप्तियों का पालन न करने वाले ब्रह्मचारी के शंका, कांक्षा और विचिकित्सा उत्पन्न होती है। चारित्र का नाश होता है, उन्माद बढ़ता है, दीर्घकालिक रोग एवं आतंक उत्पन्न होते हैं और वह केवली-प्रज्ञप्त-धर्म से भ्रष्ट हो जाता है[3]।

श्लोक ११ :

४७ एकान्त (मोक्ष-मार्ग) का (एगंतं [घ]) :

सभी व्याख्याकारों ने 'एकान्त' का अर्थ मोक्ष-मार्ग किया है[4]। ब्रह्मचारी को विविक्त-शय्यासेवी होना चाहिए, इस दृष्टि से 'एकान्त' का अर्थ विविक्त-चर्या भी हो सकता है।

श्लोक १२ :

४८. श्लोक १२ :

इस श्लोक में भिक्षा-चर्या के लिये जाता हुआ मुनि रास्ते में किस प्रकार के समागमों का या प्रसंगों का परिहार करता हुआ चले, यह बताया गया है। वह कुत्ते, नई ब्याई हुई गाय, उन्मत्त बैल, अश्व, हाथी तथा क्रीड़ाशील बालकों आदि के समागम से दूर रहे। यह उपदेश आत्म-विराधना और संयम-विराधना दोनों की दृष्टि से है।

४९. ब्याई हुई गाय (सूइयं गाविं [क]) :

प्रायः करके देखा गया है कि नव प्रसूता गाय आहननशील—मारनेवाली होती है[5]।

५०. बच्चों के क्रीड़ा-स्थल (संडिब्भं [ग]) :

जहाँ बालक विविध क्रीड़ाओं में रत हों (जैसे—धनुष् आदि से खेल रहे हों), उस स्थान को 'संडिब्भ' कहा जाता है[6]।

१—हा० टी० प० १६५ : तथा च वृद्धव्याख्या—वेसादिगयभावस्स मेहुणं पीडिज्जइ, अणुवओगेण एसणाकरणे हिंसा, पाडुप्पेक्खणअवलवणाऽसच्चवयण, अणणुण्णायवेसाइदंसणे अदत्तादाणं, ममत्तकरणे परिग्गहो, एवं सव्ववयपीडा, दव्वसामण्णे पुण संसयो उण्णिक्खमणेण त्ति।

२—(क) अ० चू० पृ० १०२ : समणभावे वा संदेहो अप्पणो परस्स वा। अप्पणो 'विसयविघातितचित्तो समणभावं छड्डेमि वा ?' इति संदेहो, परस्स एवंविहट्ठाणविचारी किं पव्वतितो विट्ठो वेसच्छण्णो ? त्ति संसयो।

(ख) जि० चू० पृ० १७१ : सामण्णं नाम समणभावो, तंमि समणभावे संसयो भवइ, किं ताव सामण्णं धरेमि ? उदाहु उप्पव्वयामि ? एवं संसयो भवइ।

(ग) हा० टी० प० १६५ : 'श्रामण्ये च' श्रमणभावे च द्रव्यतो रजोहरणादिधारणरूपे भूयो भावव्रतप्रधानहेतौ संशयः।

३—उत्त० १६.१ : बम्भचेरे संका वा कंखा वा वितिगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा भेदं वा लभेज्जा उम्मायं वा पाउणिज्जा दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा केवलिपन्नत्ताओ धम्माओ भंसेज्जा।

४—(क) अ० चू० पृ० १०२ : एगतो णिरपवातो मोक्खगामी मग्गो णाणादि।

(ख) हा० टी० प० १६५ : 'एकान्तं' मोक्षम्।

५—(क) जि० चू० पृ० १७१ : सूतिया गावी पायसो आहणणसीला भवइ।

(ख) हा० टी० प० १६६ : 'सूतां गाम्' अभिनवप्रसूतामित्यर्थः।

६—(क) अ० चू० पृ० १०२ : डिम्भाणि चेडरूवाणि णाणाविहेहिं खेलणएहिं खेलंताणं तेसिं समागमो संडिब्भं।

(ख) जि० चू० पृ० १७१-७२ : संडिब्भं नाम बालरूवाणि रमंति धणुहिं।

(ग) हा० टी० प० १६६ : 'संडिब्भं' बालक्रीडास्थानम्।

५१. कलह (कलहं ग) :

इसका अर्थ है —वाचिक झगड़ा[1]।

५२. युद्ध (के स्थान) को (जुद्धं ग) :

युद्ध—आयुध आदि से होने वाली हनाहनी—मार-पीट[2]। कलह और युद्ध में यह अन्तर है कि वचन की लड़ाई को कलह और शस्त्रों की लड़ाई को युद्ध कहा जाता है।

५३. दूर से टाल कर जाये (दूरओ परिवज्जए घ) :

मुनि ऊपर बताए गए प्रसङ्ग या स्थान का दूर से परित्याग करे, क्योंकि उपर्युक्त स्थानों पर जाने से आत्म-विराधना और संयम-विराधना होती है[3]। समीप जाने पर कुत्ते के काट खाने की, गाय, बैल, घोड़े एवं हाथी के सींग, पैर आदि से चोट लग जाने की संभावना रहती है। यह आत्म-विराधना है।

क्रीड़ा करते हुए बच्चे धनुष् से बाण चलाकर मुनि को आहत कर सकते हैं। वंदन आदि के समय पात्रों को पैरों से फोड़ सकते है; उन्हें छीन सकते हैं। हरिभद्र सूरि के अनुसार यह संयम-विराधना है।

मुनि कलह आदि को सहन न कर सकने से बीच में बोल सकता है। इस प्रकार अनेक दोष उत्पन्न हो सकते हैं[4]।

श्लोक १३ :

५४. श्लोक १३ :

इस श्लोक में भिक्षा-चर्या के समय मुनि की मुद्रा कैसी रहे यह बताया गया है[5]।

५५. न ऊंचा मुंह कर (अणुन्नए क) :

उन्नत दो प्रकार के होते हैं—द्रव्य-उन्नत और भाव-उन्नत। जो मुंह ऊँचा कर चलता है—आकाशदर्शी होता है उसे 'द्रव्य-उन्नत' कहते हैं। जो दूसरों की हंसी करता हुआ चलता है, जाति आदि आठ मदों से मत्त (अभिमानी) होता है वह 'भाव-उन्नत' कहलाता है[6]। मुनि को भिक्षाचर्या के समय द्रव्य और भाव—दोनों दृष्टियों से अनुन्नत होना चाहिए।

१—(क) अ० चू० पृ० १०२ : कलहो वाया-समधिक्खेवादि।
 (ख) जि० चू० पृ० १७२ : कलहो नाम वाइओ।
 (ग) हा० टी० प० १६६ : 'कलहं' वाक्प्रतिबद्धम्।

२—(क) अ० चू० पृ० १०२ : जुद्धं आयुहादीहि हणाहणी।
 (ख) जि० चू० पृ० १७२ : जुद्धं नाम जं आउहकट्ठादीहिं।
 (ग) हा० टी० प० १६६ : 'युद्ध' खड्गादिभिः।

३—हा० टी० प० १६६ : 'दूरतो' दूरेण परिवर्जयेत्, आत्मसंयमविराधनासम्भवात्।

४—(क) अ० चू० पृ० १०२ : अपरिवज्जणे दोसो—साणो खाएज्जा, गावी मारेज्जा, गोण हत-गता वि, चेडरूवाणि परिवारे वंदताणि भाणं विराहेज्जा आहणेज्ज वा इट्टालादिणा, कलहे अणहियासो किंचि हणेज्ज भणेज्ज वा अजुत्तं, जुद्धे उम्मत्त कंडादिणा हम्मेज्ज।
 (ख) जि० चू० पृ० १७२ : सुणओ धाएज्जा, गावी मारिज्जा, गोणो मारेज्जा, एवं हय-गयाणवि-मारणादिदोसा भवंति, बालरूवाणि पुण पाएसु पडियाणि भाणं भिंदिज्जा, कड्ढाकड्ढिंवि करेज्जा, धणुविप्पमुक्केण वा कंडेण आहणेज्जा ...तारि असहियासंतो भणिज्जा, एवमादि दोसा।
 (ग) हा० टी० प० १६६ : श्वप्रसूतगोप्रभृतिभ्य आत्मविराधना, डिम्भस्थाने वन्दनाद्यागमनपतनभण्डनप्रलुठनादिना संयम विराधना, सर्वत्र आत्मपात्रभेदादिनोभयविराधनेति।

५—अ० चू० पृ० १०२ : इदं तु सरीर-विलग्गदोसपरिहरणत्थमुपदिस्सति।

६—जि० चू० पृ० १७२ : ·········दव्वुण्णओ भावुण्णओ······दव्वुण्णओ जो उण्णतेण मुहेण गच्छइ, भावुण्णओ हिंडतो विहसंतो गच्छइ, जातिमाइएहिं वा अट्ठहिं मदेहिं मत्तो।

जो आकाशदर्शी होकर चलता है—ऊँचा मुँहकर चलता है वह ईर्या समिति का पालन नहीं कर सकता। लोग भी कहने लग जाते हैं—"देखो ! यह श्रमण उन्मत्त की भाँति चल रहा है, अवश्य ही यह विकार से भरा हुआ है।" जो भावना से उन्नत होता है वह दूसरों को तुच्छ मानता है। दूसरों को तुच्छ मानने वाला लोक-मान्य नहीं होता[1]।

५६. न झुककर (नावणए [क]) :

अवनत के भी दो भेद होते हैं : द्रव्य-अवनत और भाव-अवनत। द्रव्य-अवनत उसे कहते हैं जो झुककर चलता है। भाव-अवनत उसे कहते हैं जो दीन व दुर्मना होता है और ऐसा सोचता है—"लोग असंयतियों की ही पूजा करते हैं। हमें कौन देगा ? या हमें अच्छा नहीं देगा आदि।" जो द्रव्य से अवनत होता है वह मखौल का विषय बनता है। लोग उसे बगुलाभगत कहने लग जाते हैं। जैसे—बड़ा उपयोग-युक्त है कि इस तरह नीचे झुक कर चलता है। भाव से अवनत वह होता है जो क्षुद्र भावना से भरा होता है[2]। श्रमणों को दोनों प्रकार से अवनत नहीं होना चाहिए।

५७. न हृष्ट होकर (अप्पहिट्ठे [ख]) :

जिनदास महत्तर के अनुसार इसका संस्कृत रूप 'अल्प-हृष्ट' या 'अहृष्ट' बनता है। अल्प शब्द का प्रयोग अल्प और अभाव—इन दो अर्थों में होता है। यहाँ यह अभाव के रूप में प्रयुक्त हुआ है[3]।

अगस्त्य चूर्णि और टीका के अनुसार इसका संस्कृत रूप 'अप्रहृष्ट' होता है[4]। 'प्रहर्ष' विकार का सूचक है इसलिए इसका निषेध है।

५८. न आकुल होकर (अणाउले [ग]) :

चलते समय मन नाना प्रकार के सकल्पों से भरा हो या श्रुत—सूत्र और अर्थ का चिन्तन चलता हो, वह मन की आकुलता है। विषय-भोग सम्बन्धी बातें करना, पूछना या पढ़े हुए ज्ञान की स्मृति करना वाणी की आकुलता है। अंगों की चपलता शरीर की आकुलता है। मुनि इन सारी आकुलताओं को वर्जकर चले[5]। टीकाकार ने अनाकुल का अर्थ क्रोधादि रहित किया है[6]।

१—जि० चू० पृ० १७२ : दव्वुन्नतो इरियं न सोहेइ, लोगोवि भण्णइ—उम्मत्तओविव समणओ वच्चइ सविगारोत्ति, भावेवि अत्थि से माणो, दुट्ठत्तेण अत्थि, सम्बन्धो भवतित्ति, अहवा मदावलित्तो ण सम्मं लोगं पासति, सो एवं अणुवसतत्तणेण न लोग-सम्मतो भवति।

२—(क) अ० चू० पृ० १०२, १०३ : अवणतो चतुव्विहो—दव्वोणतो जो अवणयसरीरो गच्छति। भावोणतो 'कीस ण लभामि? किंचव वा लभामि ? असंजता पूतिज्जंति' इति दीणदुम्मणो। ·· ··दव्वावणतो 'अहो ! जीवरक्खणुज्जुत्तो, सव्वपासंडाण वा णीयमप्पाणं जाणति' त्ति जणो वएज्जा।

(ख) जि० चू० पृ० १७२ : ......दव्वोणओ जो ओणयसरीरो खुज्जो वा, भावोणयो जो दीणदुम्मणो, कीन गिहत्था भिक्खं न देंति ?, कथा सुन्दरं देंति ? असंजते वा पूयंति,·· दव्वोणतेणवि उड्डुवति जहा अहो जीवरक्खणुवउत्तो सुव्वत्तं एसं (तेण) गो, अहवा सव्वपासंडाणं नीययरं अप्पाणं जाणमाणो ववकमति एवमादि, एवं करेज्जा, भावोणते एव चेवेति, जहा किमेतस्स पव्वइतेण ? कोहोऽणेण न निज्जिओत्ति एवमादी।

(ग) हा० टी० प० १६६ : 'नावनतो' द्रव्यभावाभ्यामेव, द्रव्यावनतोऽनीचकाय: भावावनत अलब्ध्यादिनाऽदीन:......द्रव्यावनत: बक इति संभाव्यते भावावनत. क्षुद्रसत्व इति।

३—जि० चू० पृ० १७२,७३ : अप्पसद्दो अभावे वट्टइ, थोवे य, इह पुण अप्पसद्दो अभावे दट्ठव्वो।

४—(क) अ० चू० पृ० १०३ : ण पहिट्ठो अपहिट्ठो।

(ख) हा० टी० प० १६६ : 'अप्रहृष्ट:' अहसन्।

५—जि० चू० पृ० १७३ : अणाउलो नाम मणवयणकायजोगेहिं अणाउलो। माणसे अट्टदुहट्टाणि सुत्तत्थतदुभयाणि वा अचिंतन्तो एसणे उवउत्तो गच्छेज्जा, वायाए वा जाणिवि ताणि अट्टमट्टाणि ताणि अभासमाणेण पुच्छणपरियट्टणादीणि य अकुव्वमाणेण हिंडियव्वं, कायेणावि हत्थणट्टादीणि अकुव्वमाणो संकुचियहत्थपाओ हिंडेज्जा।

६—हा० टी० प० १६६ : 'अनाकुल.' क्रोधादिरहित.।

५९. इन्द्रियों को अपने-अपने विषय के अनुसार (इंदियाणि जहाभागं ग) :

जिनदास चूर्णि में 'जहाभागं' के स्थान पर 'जहाभावं' ऐसा पाठ है। पाठ-भेद होते हुए भी अर्थ में कोई भेद नहीं है। 'यथाभाग' का अर्थ है—इन्द्रिय का अपना-अपना विषय। सुनना कान का विषय है, देखना चक्षु का विषय है, गन्ध लेना घ्राण का विषय है, स्वाद जिह्वा का विषय है, स्पर्श स्पर्शन का विषय है[1]।

६०. दान्त कर (दमइत्ता घ) :

कानों में पड़ा हुआ शब्द, आंखों के सामने आया हुआ रूप तथा इसी प्रकार दूसरी इन्द्रियों के विषय का ग्रहण रोका जा सके सम्भव नहीं किन्तु उनके प्रति राग-द्वेष न किया जाय यह शक्य है। इसी को इंद्रिय-दमन कहा जाता है[2]।

श्लोक १४ :

६१. श्लोक १४ :

इस श्लोक में मुनि आहार की गवेषणा के समय मार्ग में किस प्रकार चले जिससे लोकदृष्टि में बुरा न लगे और प्रवचन की लघुता न हो उसकी विधि बताई गई है।

६२. उच्च-नीच कुल में (कुलं उच्चावयं घ) :

कुल का अर्थ सम्बन्धियों का समवाय या घर है[3]। प्रासाद, हवेली आदि विशाल भवन द्रव्य से उच्च-कुल कहलाते हैं। जाति, धन, विद्या आदि से समृद्ध व्यक्तियों के भवन भाव से उच्च-कुल कहलाते हैं। तृणकुटी, झोंपड़ी आदि द्रव्य से अवच-कुल कहलाते हैं। जाति, धन, विद्या आदि से हीन व्यक्तियों के घर भाव से अवच-कुल कहलाते हैं[4]।

६३. दौड़ता हुआ न चले (दवदवस्स न गच्छेज्जा क) :

'दवदव' का अर्थ है दौड़ता हुआ। इस पद में द्वितीया के स्थान में षष्ठी है[5]। सम्भ्रान्त-गति का निषेध संयम-विराधना की दृष्टि से किया गया है और दौड़ते हुए चलने का निषेध प्रवचन-लाघव और संयम-विराधना दोनों दृष्टियों से किया गया है। संभ्रम (५.१ ...) चित्त-चेष्टा है और द्रव-द्रव कायिक चेष्टा। इसलिए द्रुतगति का निषेध सम्भ्रान्त-गति का पुनरुक्त नहीं है[6]।

१—(क) जि० चू० पृ० १७३ : जहाभावो नाम तेसिंदियाणं पत्तेयं जो जस्स विसयो सो जहभावो भण्णइ, जहा सोयस्स सो... चक्खुस्स दट्ठव्वं घाणस्स अग्घातियव्वं जिब्भाए सादेयव्वं फरिसस्स फरिसणं।

(ख) हा० टी० प० १६६ : 'यथाभागं' यथाविषयम्।

(ग) अ० चू० पृ० १०३ : इंदियाणि सोतादीणि ताणि जहाभागं जहाविसतं, सोतस्स भागी सोतव्वं।

२—जि० चू० पृ० १७३ : ण य सक्का सद्दं असुणितेहिं हिंडिउं, किंतु जे तत्थ रागदोसा ते वज्जेयव्वा, भणियं च —"न स... सद्दमस्सोउं, सोतगोयरमागयं। रागद्दोसा उ जे तत्थ, ते बुहो परिवज्जए ॥१॥" एवं जाव फासोत्ति।

३— अ० चू० पृ० १०३ : कुलं संबंधिसमवातो, तदालयो वा।

४—हा० टी० प० १६६ : उच्चं —द्रव्यभावभेदाद्द्विधा—द्रव्योच्चं धवलगृहवासि भावोच्चं जात्यादियुक्तम्, एवमवचमपि द्र... कुटीरवास्यपि भावतो जात्यादिहीनमिति।

५—(क) जि० चू० पृ० १७३ : दवदवस्स नाम दुयं दुयं।

(ख) हा० टी० प० १६६ : 'द्रुतं-द्रुतं' त्वरितमित्यर्थः।

(ग) हैम० ८.३.१३४ : क्वचिद् द्वितीयादेः—इति सूत्रेण द्वितीया स्थाने षष्ठी।

६—(क) जि० चू० पृ० १७३ : सीसो आह—ननु असंभंतो अमुच्छिओ एतेण एसो अत्थो गओ, किमत्थं पुणो गहणं ?, आयरिओ भणइ—पुव्वभणियं, जं भण्णति तत्थ कारणं अत्थि, जं तं हेट्ठा भणियं तं अविसेसियं पंथे वा गिहंतरे वा, तत्थ सव्व विराहणा य दप्पेण भणिया, इह पुण गिहाओ गिहंतरं गच्छमाणस्स भण्णइ, तत्थ पायसो संजमविराहणा भणिया, पुण पवयणलाघव मरणाइदोसा भवंतित्ति ण पुणरुत्तं।

(ख) हा० टी० प० १६६ : दोषा उभयविराधनालोकोपघातादय इति।

श्लोक १५ :

६४. श्लोक १५ :

मुनि चलते-चलते उच्चावच कुलों की बस्ती में आ पहुँचता है। वहाँ पहुँचने के बाद वह अपने प्रति किसी प्रकार की शंका को उत्पन्न न होने दे, इस दृष्टि से इस श्लोक में यह उपदेश है कि वह झरोखे आदि को ताकता हुआ न चले।

६५. आलोक (आलोयं [क]) :

घर के उस स्थान को आलोक कहा जाता है जहाँ से बाहरी प्रदेश को देखा जा सके। गवाक्ष, झरोखा, खिड़की आदि आलोक कहलाते हैं[1]।

६६. थिग्गल (थिग्गलं [क]) :

घर का वह द्वार जो किसी कारणवश फिर से चिना हुआ हो[2]।

६७. संधि (संधिं [ख]) :

अगस्त्यसिंह स्थविर के अनुसार दो घरों के अंतर (बीच की गली) को संधि कहा जाता है[3]। जिनदास चूर्णि और टीकाकार ने इसका अर्थ सेंध किया है। सेंध अर्थात् दीवार की ढकी हुई सुराख[4]।

६८. पानी-घर को (दगभवणाणि [ख]) :

अगस्त्यसिंह स्थविर ने इसका अर्थ जल-मंचिका, पानीय कर्मान्त (कारखाना) अथवा स्नान-मण्डप आदि किया है।

जिनदास ने इसका अर्थ जल-घर अथवा स्नान-घर किया है।

हरिभद्र ने इसका अर्थ केवल जल-गृह किया है[5]।

ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय पथ के आस-पास सर्व साधारण की सुविधा के लिए राजकीय जल-मंचिका, स्नान-मण्डप आदि रहते थे। जल-मंचिकाओं से औरतें जल भर कर ले जाया करती थीं और स्नान-मण्डपों में साधारण स्त्री-पुरुष स्नान किया करते थे। साधु को ऐसे स्थानों को ध्यानपूर्वक देखने का निषेध किया गया है।

गृहस्थों के घरों के अन्दर रहे हुए परेण्डा, जल-गृह अथवा स्नान-घर से यहाँ अभिप्राय नहीं है क्योंकि मार्ग में चलता हुआ साधु क्या नहीं देखे इसी का वर्णन है।

६९. शंका उत्पन्न करने वाले स्थानों से (संकट्ठाणं [घ]) :

टीकाकार ने शंका-स्थान को आलोकादि का द्योतक माना है[6]। शंका-स्थान अर्थात् उक्त आलोक, थिग्गल—द्वार, सन्धि, उदक-भवन। इस शब्द में ऐसे अन्य स्थानों का भी समावेश समझना चाहिए।

१—(क) अ० चू० पृ० १०३ : आलोगो—गवक्खगो।
 (ख) जि० चू० पृ० १७४ : आलोगं नाम चोपलपादी।
 (ग) हा० टी० प० १६६ : 'अवलोक' निर्यूहकादिरूपम्।

२—(क) जि० चू० पृ० १७४ : थिग्गल नाम जं घरस्स दारं पुव्वमासी तं पडिपूरियं।
 (ख) हा० टी० प० १६६ : 'थिग्गलं' चितं द्वारादि।

३—अ० चू० पृ० १०३ : संधी जमलघराणं अंतरं।

४—(क) जि० चू० पृ० १७४ : संधी खत्तं पडिढक्कियं।
 (ख) हा० टी० प० १६६ : संधिः—चित क्षेत्रम्।

५—(क) अ० चू० पृ० १०३ : पाणिय-कम्मंतं, पाणिय-मंचिका, ण्हाण मण्डपादि दगभवणानि।
 (ख) जि० चू० पृ० १७४ : दगभवणाणि—पाणियघराणि ण्हाणगिहाणि वा।
 (ग) हा० टी० प० १६६ : 'उदकभवनानि' पानीयगृहाणि।

६—हा० टी० प० १६६ : शङ्कास्थानमेतदवलोकादि।

प्रश्न हो सकता है—इन स्थानों को देखने का वर्जन क्यों किया गया है ? इसका उत्तर यह है कि आलोकादि को देखने वाले पर लोगों को चोर और पारदारिक होने का सन्देह हो सकता है[1]। आलोकादि का देखना साधु के प्रति शंका या सन्देह उत्पन्न कर सकता है अतः वे शंका-स्थान हैं।

इनके अतिरिक्त स्त्री-जनाकीर्ण स्थान, स्त्री-कथा आदि विषय, जो उत्तराध्ययन में बतलाए गए हैं[2], वे भी सब शंका-स्थान हैं। स्त्री-सम्पर्क आदि से ब्रह्मचर्य में शंका पैदा हो सकती है। वह ऐसा सोच सकता है कि अब्रह्मचर्य में जो दोष बतलाए गए हैं वे सच हैं या नहीं ? कहीं मैं ठगा तो नहीं जा रहा हूं ? आदि-आदि। अथवा स्त्री-सम्पर्क में रहते हुए ब्रह्मचारी को देख दूसरों को उसके ब्रह्मचर्य के बारे में संदेह हो सकता है। इसलिए इन्हें शंका का स्थान (कारण) कहा गया है। उत्तराध्ययन के अनुसार शंका-स्थान का संबंध ब्रह्मचारी की स्त्री-संपर्क आदि नौ गुप्तियों से है[3] और हरिभद्र के अनुसार शंका-स्थान का संबंध आलोक आदि से है[4]।

श्लोक १६ :

७०. श्लोक १६ :

श्लोक १५ में शंका-स्थानों के वर्जन का उपदेश है। प्रस्तुत श्लोक में संक्लेशकारी स्थानों के समीप जाने का निषेध है।

७१. गृहपति (गिहवईणं [क]) :

गृहपति—इभ्य, श्रेष्ठी आदि[5]। प्राचीनकाल में गृहपति का प्रयोग उस व्यक्ति के लिए होता था जो गृह का सर्वाधिकार-सम्पन्न स्वामी होता[6]। उस युग में समाज की सबसे महत्वपूर्ण इकाई गृह थी। साधारणतया गृहपति पिता होता था। वह विरक्त होकर कार्य से मुक्त होना चाहता अथवा मर जाता, तब उसका उत्तराधिकार ज्येष्ठ पुत्र को मिलता। उसका अभिषेक-कार्य समारोह के साथ सम्पन्न होता। मौर्य-शुंग काल में 'गृहपति' शब्द का प्रयोग समृद्ध वैश्यों के लिए होने लगा था।

७२. अन्तःपुर और आरक्षिकों के (रहस्सारक्खियाण [ख]) :

अगस्त्यसिंह स्थविर ने 'रहस्स-आरक्खियाण' को एक शब्द माना है और इसका अर्थ राजा के अन्तःपुर के अमात्य आदि किया है[7]। जिनदास और हरिभद्र ने इन दोनों को पृथक् मानकर अर्थ किया है। उन्होंने 'रहस्स' का अर्थ राजा, गृहपति और आरक्षिकों का मंत्रणा-गृह तथा 'आरक्खियं' का अर्थ दण्डनायक किया है[8]।

१—अ० चू० पृ० १०३ : संकट्ठाणं विवज्जए, ताणि निज्झायमाणो 'किण्णु चोरो ? पारदारितो ?' त्ति संकेज्जेज्जा, एवं तमेवंविहं संकापदं।

२—उत्त० १६.११-१४।

३—वही १६.१४ : संकाट्ठाणाणि सव्वाणि, वज्जेज्जा पणिहाणवं।

४—हा० टी० प० १६६।

५—(क) अ० चू० पृ० १०४ : गिहवइणो इब्भादतो।

(ख) हा० टी० प० १६६ : 'गृहपतीनां' श्रेष्ठिप्रभृतीनाम्।

६—उवा १.१३ : से णं आणंदे गाहावई बहूणं राईसर-तलवर-माडंबिय-कोडुंबिय-इब्भ-सेट्ठि-सेणावई सत्थवाहाणं बहुसु कज्जेसु य कारणेसु य कुडुंबेसु य मंतेसु य गुज्झेसु य रहस्सेसु य निच्छएसु य ववहारेसु य आपुच्छणिज्जे, पडिपुच्छणिज्जे, सयस्स वि य णं कुडुंबस्स मेढी पमाणं आहारे आलंवणं चक्खू, मेढीभूए पमाणभूए आहारभूए आलंवणभूए चक्खुभूए सव्वकज्जवड्ढावए यावि होत्था।

७—अ० चू० पृ० १०४ : रहस्सारक्खिता—रायंतेपुरवरा अमात्यादयो।

८—(क) जि० चू० पृ० १७४ : रण्णो रहस्सट्ठाणाणि गिहवईणं रहस्सट्ठाणाणि आरक्खियाणं रहस्सट्ठाणाणि, संकणादोसा भवंति, घरसद्देण अभेदि पुरोहियादि गहिया, रहस्सट्ठाणाणि नाम गुज्झोवरगा, जत्थ वा राहस्सियं मंतेंति।

(ख) हा० टी० प० १६६ : राज्ञः—चक्रवर्त्यादेः 'गृहपतीनां' श्रेष्ठिप्रभृतीनां रहसाठाणमिति योगः, 'आरक्षकाणां' दण्डनायकादीनां 'रहःस्थानं' गुह्यापवरकमन्त्रगृहादि।

प्राचीन काल में प्रतिकुष्ट कुलों की पहचान इन बातों से होती थी—जिनका घर टूटी-फूटी बस्ती में होता, नगर के द्वार के पास (या भीतर) होता और जिनके घर में कई विशेष प्रकार के वृक्ष होते वे कुल प्रतिकुष्ट समझे जाते थे।[1]

मक (गृह-स्वामी द्वारा प्रवेश निषिद्ध हो उस) का (मामगं) :

गृहपति कहे—'मेरे यहाँ कोई न आवे', उसके घर का। 'भिक्षु बुद्धि द्वारा मेरे घर के रहस्य को जान जायगा' आदि भावना से साधु अमुक धर्म का है ऐसे द्वेष या ईर्ष्या-भाव से ऐसा निषेध सम्भव है।

यह घर में जाने से भण्डनादि के प्रसङ्ग उपस्थित होते हैं अतः वहाँ जाने का निषेध है[1]।

कर कुल में (अचियत्तकुलं) :

कारणवश गृहपति साधु को आने का निषेध न कर सके, किन्तु उसके जाने से गृहपति को अप्रेम उत्पन्न हो और उसके इंगित आकार से यह बात जान ली जाए तो वहाँ साधु न जाए। इसका दूसरा अर्थ यह भी है—जिस घर में भिक्षा न ने-जाने का परिश्रम हो, वहाँ न जाए। यह निषेध, मुनि द्वारा किसी को सक्लेश उत्पन्न न हो इस दृष्टि से है[3]।

(चियत्तं) :

में भिक्षा के लिए साधु का आना-जाना प्रिय हो अथवा जो घर त्याग-शील (दान-शील) हो उसे प्रीतिकर कहा

श्लोक १८ :

यह बताया गया है कि गोचरी के लिये निकला हुआ मुनि जब गृहस्थ के घर में प्रवेश करने को उन्मुख हो तब वह

४३६

...डकुलाण पुण पचविहा भूमिआ अभिन्नाणं।
गोपुराई रुक्खा णाणाविहा चेव॥

...४ 'मामक परिवज्जए' 'मा मम घरं पविसन्तु' त्ति मामक सो पुणपंतयाए इस्सालुयत्ताए वा।

मामग नाम जत्थ गिहपती भणति—मा मम कोई घरमयिउ, पन्नत्तणेण मा कोई मम छिड्ड ...ण वा।

...मक' यत्राऽऽह गृहपतिः—मा मम कश्चित् गृहमागच्छेत, एतद् वर्जयेत् भण्डनादिप्रसङ्गात्।

...नं अप्पिन, अणिट्ठो पवेसो जस्स सो अचियत्तो, तस्स जं कुलं तं न पविसे, अहवा ण चागो ...र परिस्समकारी तं ण पविसे।

...नाम न सक्केति वारेउं, अचियत्ता पुण पविसता, तं च इंगिएण णज्जति, अहा ...हुवा अचियत्तकुलं जत्थ बहुणावि कालेण भिक्खा न लब्भइ, एतारिसेसु कुलेसु ...त भवति।

...ञ्चत्तं ...ट्ठि साधुभिरप्रीतिरुत्पद्यते, न च निवारयन्ति, कुतश्चिन्नि-

८०. गृहपति की आज्ञा लिए बिना (ओग्गहं से अजाइया[घ]) :

यह पाठ दो स्थानों पर—यहां और ६.१३ में है। पहले पाठ की टीका 'अवग्रहमयाचित्वा'[1] और दूसरे पाठ की टीका 'अवग्रहे यस्य तत्तमयाचित्वा'[2] है। 'ओग्गहंसि' को सप्तमी का एकवचन माना जाए तो इसका संस्कृत-रूप 'अवग्रहे' बनेगा और 'ओग्गहंसि' ऐसा मानकर 'ओग्गहं' को द्वितीया का एकवचन तथा 'से' को षष्ठी का एकवचन माना जाए तो इसका संस्कृत-रूप 'अव तस्य' होगा।

८१. सन (साणी[क]) :

'शाणी' का अर्थ है—सन की छाल या अलसी का बना वस्त्र[3]।

८२. मृग-रोम के बने वस्त्र से (पावार[क]) :

कौटिल्य ने मृग के रोएँ से बनने वाले वस्त्र को प्रावरक कहा है[4]। अगस्त्यचूर्णि में इसे सरोम वस्त्र माना है[5]। चरक में स्वेदन प्रकरण में प्रावार का उल्लेख हुआ है[6]। स्वेदन के लिए रोगी को चादर, कृष्ण मृग का चर्म, रेशमी चादर अथवा कम्बल आदि ओढ़ की विधि है। हरिभद्र ने इसे कम्बल का सूचक माना है[7]।

८३. स्वयं न खोले (अप्पणा नावपंगुरे[ख]) :

शाणी और प्रावार से आच्छादित द्वार को अपने हाथों से उद्घाटित न करे, न खोले।

चूर्णिकार कहते हैं—"गृहस्थ शाणी, प्रावार आदि से द्वार को ढांक विश्वस्त होकर घर में बैठते, खाते, पीते और आराम करते हैं उनकी अनुमति लिए बिना प्रावरण को हटा कोई अन्दर जाता है वह उन्हें अप्रिय लगता है और अविश्वास का कारण बनता है। वे सोच लगते हैं—यह बेचारा कितना दयनीय और लोक-व्यवहार से अपरिचित है जो सामान्य उपचार को नहीं जानता। यों ही अनुमति लि बिना प्रावरण को हटा अन्दर चला आता है[8]।"

ऐसे दोषों को ध्यान में रखते हुए मुनि चिक आदि को हटा अन्दर न जाए[9]।

१—हा० टी० प० : १६७।

२—हा० टी० प० : १९७।

३—(क) अ० चू० पृ० १०४ : सणो वक्कं, पडो साणी।

(ख) जि० चू० पृ० १७५ : साणी नाम सणवक्केहिं विज्जइ अलसिमयी वा।

(ग) हा० टी० प० १६६-६७ : शाणी—अतसीवल्कजा पटी।

४—कौटि० अर्थ० : २.११.२६।

५—अ० चू० पृ० १०४ : कप्पासितो पडो सरोमो पावारतो।

६—चरक० (सूत्र स्था०) १४.४६ : कौरवाजिनकौशेयप्रावाराद्यैः सुसंवृतः।

७—हा० टी० प० १६७ : प्रावारः—प्रतीतः कम्बल्याद्युपलक्षणमेतत्।

८—(क) अ० चू० पृ० १०४ : तं सतं ण अवंगुरेज्ज। किं कारणं? तत्थ खाण-पाण-सइरालाव-मोहणारम्भेहिं अच्छंताणं अचियत्तं भवति, तत एव मामकं लोगोवयारविरहितमिति पडिकुट्ठमवि। जत्थ जणा भणंति—एते बइल्ला इव अणाभोगिं [illegible]।

(ख) जि० चू० पृ० १७५ : जे कोई ताणि गिहत्थाणि वीसत्थाणि अच्छंति, खायंति पियंति वा मोहंति वा, तं णो अवंगुरेज्ज, किं कारणं?, तेसिं अप्पत्तियं भवइ, जहा एते एत्तिल्लयंपि उवयारं न याणंति जहा णायगुणियव्वं, लोगसंववहारबाहिरा वराया, एवमादि दोसा भवंति।

९—हा० टी० प० १६७ : अलौकिकत्वेन तदन्यगमनानुज्ञिक्रियादिकारिणां प्रद्वेषप्रसंगात्।

पिंडेसणा (पिण्डैषणा)

८४. किवाड़ न खोले (कवाडं नो पणोल्लेज्जा[ग]) :

आचाराङ्ग में बताया है—घर का द्वार यदि कंटिदार शाखा की डाल से ढका हुआ हो तो गृह-स्वामी की अनुमति लिए बिना, प्रतिलेखन किए बिना, जीव-जन्तु देखे बिना, प्रमार्जन किए बिना, उसे खोलकर भीतर न जाए। भीतर से बाहर न आए। पहले गृहपति की आज्ञा लेकर, काँटे की डाल को देखकर (साफ कर) खोले, फिर भीतर जाए-आए[1]। इसमें किवाड़ का उल्लेख नहीं है।

शाणी, प्रावार और कंटक-बोंदिका (काँटों की डाली) से ढके द्वार को आज्ञा लेकर खोलने के बारे में कोई मतभेद नहीं जान पड़ता। किवाड़ के बारे में दो परम्पराएँ हैं—एक के अनुसार गृहपति की अनुमति लेकर किवाड़ खोले जा सकते हैं। दूसरी के अनुसार गृहपति की अनुमति लेकर प्रावरण आदि हटाए जा सकते हैं, किन्तु किवाड़ नहीं खोले जा सकते। पहली परम्परा के अनुसार 'ओग्गहंसि अजाइया' यह शाणी, प्रावार और किवाड़—इन तीनों से सम्बन्ध रखता है। दूसरी परम्परा के अनुसार उसका सम्बन्ध केवल 'शाणी' और 'प्रावार' से है, 'किवाड़' से नहीं।

अगस्त्यसिंह स्थविर ने प्रावरण को हटाने में केवल व्यावहारिक असभ्यता का दोष माना है और किवाड़ खोलने में व्यावहारिक असभ्यता और जीव-वध—ये दोनों दोष माने हैं[2]।

हरिभद्र ने इसमें पूर्वोक्त दोष बतलाए हैं[3] तथा जिनदास ने वे ही दोष विशेष रूप से बतलाए हैं जो बिना आज्ञा शाणी और प्रावार के हटाने से होते हैं[4]।

श्लोक १९ :

८५. श्लोक १९ :

गोचरी के लिए जाने पर अगर मार्ग में मल-मूत्र की बाधा हो जाय तो मुनि क्या करे, इसकी विधि इस श्लोक में बताई गई है।

८६. मल-मूत्र की बाधा को न रखे (वच्चमुत्तं न धारए[ग]) :

साधारण नियम यह है कि गोचरी जाते समय मुनि मल-मूत्र की बाधा से निवृत्त होकर जाए। प्रमादवश ऐसा न करने के कारण अथवा अकस्मात् पुनः बाधा हो जाए तो मुनि उस बाधा को न रोके।

मूत्र के निरोध से चक्षु में रोग उत्पन्न हो जाता है—नेत्र-शक्ति क्षीण हो जाती है। मल की बाधा रोकने से तेज का नाश होता है, कभी-कभी जीवन खतरे में पड़ जाता है। वस्त्र आदि के बिगड़ जाने से अशोभनीय बात घटित हो जाती है।

मल-मूत्र की बाधा उपस्थित होने पर साधु अपने पात्रादि दूसरे श्रमणों को देकर प्रासुक-स्थान की खोज करे और वहाँ मल-मूत्र की बाधा से निवृत्त हो जाए।

जिनदास और वृद्ध-सम्प्रदाय की व्याख्या में विसर्जन की विस्तृत विधि को ओघनिर्युक्ति में जान लेने का निर्देश किया गया है[5]। वहाँ इसका वर्णन ६२१-२२-२३-२४—इन चार श्लोकों में हुआ है।

१—आ० चू० १।५४ : से भिक्खू वा भिक्खुणि वा गाहावइकुलस्स दुवारबाहं कंटकबोंदियाए पडिपिहियं पेहाए, तेसिं पुव्वामेव उग्गहं अणणुन्नविय अपडिलेहिय अपमज्जिय नो अवंगुणिज्ज वा, पविसेज्ज वा णिक्खमेज्ज वा। तेसिं पुव्वामेव उग्गहं अणुन्नविय पडिलेहिय-पडिलेहिय पमज्जिय-पमज्जिय तओ संजयामेव अवंगुणिज्ज वा, पविसेज्ज वा, णिक्खमेज्ज वा।

२—अ० चू० पृ० १०४ : तहा कवाडं णो पणोलेज्जा, कवाडं वारप्पिहाणं तं ण पणोलेज्जा तत्थ त एव दोसा पत्ते य सत्तवहो।

३—हा० टी० प० १६७ : 'कपाट' द्वारस्थगन 'न प्रेरयेत्' नोद्घाटयेत्, पूर्वोक्तदोषप्रसङ्गात्।

४—जि० चू० पृ० १७५ : कवाडं साहुणा णो पणोल्लेयव्वं, तत्थ पुव्वभणिया दोसा सविसेसयरा भवंति, एवं उग्गहं अजाइया पविसंतस्स एते दोसा भवंति।

५—(क) जि० चू० पृ० १७५ : पुव्विं चेव साहुणा उवओगो कायव्वो, सण्णा वा काइया वा होज्जा णवत्ति वियाणिऊण पविसियव्वं, जइ वावडयाए उवओगो न कओ कएवि वा ओतिण्णस्स जाया होज्जा ताहे भिक्खायरियाए पविट्ठेण वच्चमुत्तं न धारेयव्वं, किं कारणं? मुत्तनिरोधे चक्खुवाघाओ भवति, वच्चनिरोहे य तेयं जीवियमवि रुंधेज्जा, तम्हा वच्चमुत्तनिरोधो न कायव्वोत्ति, ताहे संघाडयस्स भायणाणि (दाऊण) पडिस्सयं आगच्छित्ता पाणयं गहाय सण्णाभूमिं गंतूण फासुयमवगासे उग्गहमणुण्णावेऊण वोसिरियव्वंति। वित्थारो जहा ओहनिज्जुत्तीए।

अगस्त्यसिंह स्थविर ने इस श्लोक की व्याख्या में एक बहुत ही उपयोगी गाथा उद्धृत की है—"मूत्र का वेग रोकने से चक्षु ज्योति का नाश होता है। मल का वेग रोकने से जीवनी-शक्ति का नाश होता है। ऊर्ध्व-वायु रोकने से कुष्ठ रोग उत्पन्न होता वीर्य का वेग रोकने से पुरुषत्व की हानि होती है[1]।

८७. प्रासुक-स्थान (फासुयं ग) :

इसका प्रयोग ५.१.१९,८२ और ९९ में भी हुआ है। प्रस्तुत श्लोक में टीकाकार ने इसकी व्याख्या नहीं की है, किन्तु ८२ में प्रयुक्त 'फासुय' का अर्थ बीज आदि रहित[2] और ९९वें श्लोक की व्याख्या में इसका अर्थ निर्जीव किया है[3]। बौद्ध साहित्य में इसी अर्थ में प्रयोग हुआ है[4]। जैन-साहित्य में प्रासुक स्थान, पान-भोजन आदि-आदि प्रयोग प्रचुर मात्रा में मिलते हैं।

'निर्जीव'—यह प्रासुक का व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ है। इसका प्रवृत्ति-लभ्य अर्थ निर्दोष या विशुद्ध होता है।

श्लोक २० :

८८. श्लोक २० :

साधु कैसे घर में गोचरी के लिए जाये इसका वर्णन इस श्लोक में है।

८९. निम्न-द्वार वाले (नीयदुवारं क) :

जिसका निर्गम—प्रवेश-मार्ग नीच—निम्न हो। वह घर या कोठा कुछ भी हो सकता है[5]।

निम्न द्वार वाले तथा अन्धकारपूर्ण कोठे का परिवर्जन क्यों किया जाए ? इसका आगम-गत कारण अहिंसा की दृष्टि है। पाने से प्राणियों की हिंसा संभव है। वहाँ ईर्या-समिति की शुद्धि नहीं रह पाती। दायकदोष होता है[6]।

श्लोक २१ :

९०. श्लोक २१ :

मुनि कैसे घर में प्रवेश न करे इसका वर्णन इस श्लोक में है।

(ग) हा० टी० प० १६७ : अस्य विषयो वृद्धसंप्रदायादवसेयः, स चायम्—पुव्वमेव साहुणा सन्नाकाइओवयोगं काऊ पविसिअव्वं, कहिंवि ण कओ काए वा पुणो होज्जा ताहे वच्चमुत्तं ण धारेअव्वं, जओ मुत्तनिरोहे चक्खुवाघाओ वच्चनिरोहे जीविओवघाओ, असोहणा अ आयविराहणा, जओ भणिअं—'सव्वत्थ संजम'मित्यादि, अओ संघ सयभावणाणि समप्पिअ पडिस्सए पाणयं गहाय सन्नाभूमीए विहिणा वोसिरिज्जा। वित्थरओ जहा ओहणिज्जुत्ती

1—अ० चू० पृ० १०५ : मुत्तनिरोहे चक्खुं वच्चनिरोहे य जीवियं चयति। उड्ढनिरोहे कोढं सुक्कनिरोहे भवे अपुमं ॥ [ओ.नि

2—हा० टी० पृ० १७८ : 'प्रासुकं' बीजादिरहितम्।

3—हा० टी० प० १८१ : 'प्रासुकं' प्रगतासु निर्जीवमित्यर्थः।

4—(क) महावग्गो ६.१.१ पृ० ३२८ : भिक्खू फासु विहरेय्युं।

(ख) महावग्गो : फासुकं वस्सं वसेयाम।

5—(क) अ० चू० पृ० १०५ : णीयं दुवारं जस्स सो णीयदुवारो, तं पुण फलिहयं वा कोट्ठतो वा जओ भिक्खा नीणि णितम्मदुवारे ओणतस्स पडिमाए हिंडमाणस्स सद्धेवेउव्वियाति उड्डाहो।

(ख) जि० चू० पृ० १७५ : णीयदुवारं दुविहं—पाउडियाए पिहियस्स वा।

(ग) हा० टी० प० १६७ : 'नीचद्वारं'—नीचनिर्गमप्रवेशम्।

6—(क) अ० चू० पृ० १०५ : दायगस्स उक्खेवगमणाती ण सुज्झति।

(ख) जि० चू० पृ० १७५ : जओ भिक्खा निक्कालिज्जइ तं तमसं, तत्थ अचक्खुविसए पाणा दुक्खं पच्चुवेक्खिज्जंति ... णीयदुवारं तमसं कोट्ठओ वज्जेयव्वो।

(ग) हा० टी० प० १६७ : ईर्याशुद्धिर्न भवतीत्यर्थः।

६१. तत्काल का लीपा और गीला (अहुणोवलित्तं उल्लं [ग]) :

तत्काल के लीपे और गीले आँगन में जाने से सम्पातिम सत्त्वों की विराधना होती है। जलकाय के जीवों का परिताप होता है। इसलिए उसका निषेध किया गया है। तुरन्त के लीपे और गीले कोष्ठक में प्रवेश करने से आत्म-विराधना और संयम-विराधना — ये दोनों होती हैं[1]।

श्लोक २२ :

६२. श्लोक २२ :

पूर्व की गाथा में आहार के लिए गये मुनि के लिए सूक्ष्म जीवों की हिंसा से बचने का विधान है। इस गाथा में बादरकाय के जीवों की हिंसा से बचने का उपदेश है[2]।

६३. भेड़ (एलगं [क]) :

चूर्णिकार 'एलग' का अर्थ 'बकरा' करते हैं[3]। टीकाकार[4], दीपिकाकार और अवचूरीकार इसका अर्थ 'मेष' करते हैं। हो सकता है—एलग का सामयिक (आगमिक) अर्थ बकरा रहा हो अथवा संभव है चूर्णिकारों के सामने 'छेलओ' पाठ रहा हो। 'छेलअ' का अर्थ छाग है[5]।

६४. प्रवेश न करे (न पविसे [ग]) :

भेड़ आदि को हटाकर कोष्ठक में प्रवेश करने से आत्मा और संयम दोनों की विराधना तथा प्रवचन की लघुता होती है[6]।

मेष आदि को हटाने पर वह सींग से मुनि को मार सकता है। कुत्ता काट सकता है। पाड़ा मार सकता है। बछड़ा भयभीत होकर बन्धन को तोड़ सकता है और बर्तन आदि फोड़ सकता है। बालक को हटाने से उसे पीड़ा उत्पन्न हो सकती है। उसके परिवार वालों में उस साधु के प्रति अप्रीति होने की संभावना रहती है। बालक को स्नान करा, कौतुक (मंगलकारी चिन्ह) आदि से युक्त किया गया हो उस स्थिति में बालक को हटाने से उस बालक के प्रदोष—अमङ्गल होने का लांछन लगाया जा सकता है। इस प्रकार एलक आदि को लांघने या हटाने से शरीर और संयम दोनों की विराधना होने की संभावना रहती है[7]।

१—(क) अ० चू० पृ० १०५ : उवलित्तमेत्ते आउक्कातो अपरिणतो निस्सरण वा दायगस्स होज्जा अतो त (परि) वज्जए।

(ख) जि० चू० पृ० १७६ : सपातिमसत्तविराहणत्थं परितावियाओ वा आउक्काओत्तिकाउं वज्जेज्जा।

(ग) हा० टी० प० १६७ : संयमात्मविराधनापत्तेरिति।

२—अ० चू० पृ० १०४ : सुहुमकायजयणाणंतरं बादरकायजयणोवदेस इति फुडमभिधीयते।

३- (क) अ० चू० पृ० १०५ : एलओ बक्करओ।

(ख) जि० चू० पृ० १७६ : एलओ छागो।

४—हा० टी० प० १६७ : 'एडकं' मेषम्।

५—दे० ना० ३.३२ : छागम्मि छेलओ।

६—हा० टी० प० १६७ : आत्मसंयमविराधनादोषाल्लाघवाच्चेति सूत्रार्थः।

७—(क) अ० चू० पृ० १०५ : एत्थ पच्चवाता—एलतो सिंगेण फेट्टाए वा आहणेज्जा। दारतो ललिएण दुक्खवेज्जा, सयणो वा से अपत्तिय-उप्फोसण-कोउयादीणि पडिलग्गे वा गेण्हणातिपसंग करेज्जा। सुणतो खाएज्जा। वच्छतो वितत्थो बंधच्छेद-भायणातिभेदं करेज्जा। वियूहणे वि एते चेव सविसेसा।

(ख) जि० चू० पृ० १७६ : पेल्लिओ सिंगेहि आहणेज्जा, पडुं वा बहेज्जा, दारए अप्पत्तियं सयणो करेज्जा, उप्फासण्हाणको-उगाणि वा, पदोसेण वा पताविज्जा, पडिभग्गो वा होज्जा ताहे भणेज्जा—समणएण ओलडिओ एवमादी दोसा, सुणए खाएज्जा, वच्छओ आहणेज्जा वित्तसेज्ज वा, वितत्थो आयसंजमविराहणं करेज्जा, विऊहणे ते चेव दोसा, अण्णे य संघट्टणाइ, वेहव्वस्स हत्थादी दुक्खावेज्जा एवमाइ दोसा भवंति।

श्लोक २३ :

६५. श्लोक २३ :

इस श्लोक में बताया गया है कि जब मुनि आहार के लिए घर में प्रवेश करे तो वहाँ पर उसे किस प्रकार दृष्टि-संयम रखना चाहिए।

६६. अनासक्त दृष्टि से देखे (असंसत्तं पलोएज्जा [क]) :

स्त्री की दृष्टि में दृष्टि गड़ाकर न देखे अथवा स्त्री के अंग-प्रत्यंगों को निर्निमेष दृष्टि से न देखे[१]।

आसक्त दृष्टि से देखने से ब्रह्मचर्य-व्रत पीड़ित होता है—क्षतिग्रस्त होता है। लोक आक्षेप करते हैं—'यह श्रमण विकार-ग्रस्त है।' रोगोत्पत्ति और लोकोपघात—इन दोनों दोषों को देख मुनि आसक्त दृष्टि से न देखे[२]।

मुनि जहाँ खड़ा रहकर भिक्षा ले और दाता जहाँ से आकर भिक्षा दे—वे दोनों स्थान असंसक्त होने चाहिए—त्रस आदि जीवों से समुपचित नहीं होने चाहिए। इस भावना को इन शब्दों में प्रस्तुत किया गया है कि मुनि असंसक्त स्थान का अवलोकन करे। यह अगस्त्य चूर्णि की व्याख्या है। 'अनासक्त दृष्टि से देखे' यह उसका वैकल्पिक अर्थ है[३]।

६७. अति दूर न देखे (नाइदूरावलोयए [ख]) :

मुनि वहीं तक दृष्टि डाले जहाँ भिक्षा देने के लिए वस्तुएँ उठाई-रखी जाएँ[४]। वह उससे आगे दृष्टि न डाले। कोणादि पर दृष्टि डालने से मुनि के सम्बन्ध में चोर, पारदारिक आदि होने की आशंका हो सकती है[५]। इसलिए अति दूर निषेध किया गया है।

अगस्त्य-चूर्णि के अनुसार अति दूरस्थित साधु चींटी आदि जन्तुओं को देख नहीं सकता। अधिक दूर से दिया आहार अभिहृत हो जाता है, इसलिए मुनि को भिक्षा देने के स्थान से अति दूर स्थान का अवलोकन नहीं करना चाहिए—रहना चाहिए। अति दूर न देखे—यह उसका वैकल्पिक रूप है[६]।

१—(क) जि० चू० पृ० १७६ : असंसत्तं पलोएज्जा नाम इत्थियाए दिट्ठि न बंधेज्जा, अहवा अंगपच्चंगाणि अणिमिसाए न जोएज्जा।

(ख) हा० टी० प० १६८ : 'असंसक्तं प्रलोकयेत्' न योषिद् दृष्टेर्दृष्टिं मेलयेदित्यर्थः।

२—(क) जि०चू०पृ० १७६ : किं कारणं ?, जेण तत्थ बंभव्वयपीला भवइ, जोएंतं वा दट्ठूण अविरयगा उड्डाहं करेज्जा समणय सवियारं।

(ख) हा० टी० प० १६८ : रागोत्पत्तिलोकोपघातदोषप्रसङ्गात्।

३—अ० चू० पृ० १०६ : संसत्तं तसपाणातीहि समुपचित्तं न संसत्तं असंसत्तं, तं पलोएज्ज, जत्थ ठितो भिक्खं गेण्हति दायगस्स आगमणातिसु......................अहवा असंसत्तं पलोएज्जा बंभव्वयरक्खणत्थं इत्थीए दिट्ठीए दिट्ठि अंगं वा ण संसत्त अणुबंधेज्जा, ईसादोसपसंगा एवं संभवंति।

४—(क) जि० चू० पृ० १८६ : तावमेव पलोएइ जाव उक्खेवनिक्खेवं पासई।

(ख) हा० टी० प० १६८ : 'नातिदूरं प्रलोकयेत्'—दायकस्यागमनमात्रदेशं प्रलोकयेत्।

५—(क) जि० चू० पृ० १७६ : तओ परं घरकोणादी पलोयंतं दट्ठूण संका भवति, किमेस चोरो पारदारिओ वा होज्जा ? मादि दोसा भवंति।

(ख) हा० टी० प० १६८ : परतश्चौरादिशङ्कादोषः।

६—अ० चू० पृ० १०६ : नं च णातिदूरावलोयए अति दूरत्थो पिपीलिकादीणि ण पेक्खति, अतो तिघरंतरा परेण [illegible] [illegible] ण तीरति त्ति ....(अहवा) णातिदूरगताए वत्तासणिद्धादीहिं [illegible] दिट्ठीए करणीए।

९८. उत्फुल्ल दृष्टि से न देखे (उप्फुल्लं न विणिज्झाए [ग]) :

विकसित नेत्रों से न देखे —औत्सुक्यपूर्ण नेत्रों से न देखे।

स्त्री, रत्न, घर के सामान आदि को इस प्रकार उत्सुकतापूर्वक देखने से गृहस्थ के मन में मुनि के प्रति लघुता का भाव उत्पन्न हो सकता है। वे यह सोच सकते हैं कि मुनि वासना में फँसा हुआ है। लाघव दोष को दूर करने के लिए यह निषेध है[1]।

९९. बिना कुछ कहे वापस चला जाये (नियट्टेज्ज अयंपिरो [घ]) :

घर में प्रवेश करने पर यदि गृहस्थ प्रतिषेध करे तो मुनि घर से बाहर चला आये। इस प्रकार भिक्षा न मिलने पर वह बिना कुछ कहे—निंदात्मक दीन वचन अथवा कठोर वचन का प्रयोग न करते हुए—मौन भाव से वहाँ से चला आये—यह जिनदास और हरिभद्र सूरि का अर्थ है। अगस्त्यसिंह स्थविर ने—भिक्षा मिलने पर या न मिलने पर—इतना विशेष अर्थ किया है[2]।

"शीलाद्यर्थस्येर:"[3]—इस सूत्र से 'इर' प्रत्यय हुआ है। संस्कृत में इसके स्थान पर 'शीलाद्यर्थे तृन्' होता है। हरिभद्र सूरि ने इसका संस्कृत रूप 'अजल्पन्' किया है।

श्लोक २४ :

१००. श्लोक २४ :

आहार के लिए गृह में प्रवेश करने के बाद साधु कहाँ तक जाये इसका नियम इस श्लोक में है।

१०१ अतिभूमि (अननुज्ञात) में न जाये (अइभूमिं न गच्छेज्जा [क]) :

गृहपति के द्वारा अननुज्ञात या वर्जित भूमि को 'अतिभूमि' कहते हैं। जहाँ तक दूसरे भिक्षाचर जाते हैं वहाँ तक की भूमि अतिभूमि नहीं होती। मुनि इस सीमा का अतिक्रमण कर आगे न जाये[4]।

१०२. कुल-भूमि (कुल-मर्यादा) को जानकर (कुलस्स भूमिं जाणित्ता [ग]) :

जहाँ तक जाने से गृहस्थ को अप्रीति न हो, जहाँ तक अन्य भिक्षाचर जाते हों उस भूमि को कुल-भूमि कहते हैं[5]। इसका निर्णय ऐश्वर्य, देशाचार, भद्रक-प्रान्तक आदि गृहस्थों की अपेक्षा से करना चाहिए।

१—(क) अ० चू० पृ० १०६ : उप्फुल्लं ण विणिज्झाए, उप्फुल्ल उव्वुराए दिट्ठीए, 'फुल्ल विकसणे' इति हासविगसततारिगं ण विणिज्झाए ण विविधं पेक्खेज्जा, दिट्ठीए विनियट्टणमिदं।

(ख) जि० चू० पृ० १७६ : उप्फुल्लं नाम विगसिएहिं णयणेहिं इत्थीसरीरं रयणादी वा ण निज्झाइयव्वं।

(ग) हा० टी० प० १६८ : 'उत्फुल्ल' विकसितलोचनं 'न विणिज्झाए' त्ति न निरीक्षेत गृहपरिच्छदमपि, अदृष्टकल्याण इति लाघवोत्पत्तेः।

२—(क) अ० चू० पृ० १०६ : वाताए वि 'णियट्टेज्ज अयंपुरो' दिण्णे परियंदणेण अदिण्णे रोसवयणेहिं · एवमादीहिं अजंपणसीलो 'अयंपुरो' एवंविधो णियट्टेज्जा।

(ख) जि० चू० पृ० १७६ : जदा य पडिसेहिओ भवति तदा अयंपिरेण णियत्तियव्वं, अजंपमाणेणत्ति वुत्तं भवति।

(ग) हा० टी० प० १६८ : तथा निवर्तेत गृहादलब्धेऽपि सति अजल्पन् —दीनवचनमनुच्चारयन्निति।

३—हैम० ८.२.१४५।

४—(क) अ० चू० पृ० १०६ : भिक्खयरभूमिअतिक्कमणमतिभूमी तं ण गच्छेज्जा।

(ख) जि० चू० पृ० १७६ : अणणुण्णाता भूमी ·· ·· ·· साहू न पविसेज्जा।

(ग) हा० टी० प० १६८ :अतिभूमिं न गच्छेद्—अननुज्ञातां गृहस्थैः, यत्रान्ये भिक्षाचरा न यान्तीत्यर्थः।

५—(क) अ० चू० पृ० १०६ : किं पुण भूमिपरिमाणं ? इति भण्णति तं विभव-देसा-आयार-भद्दग-पन्तगादीहिं 'कुलस्स भूमिं णाऊण' पुव्वपरिक्कमणेणं अण्णे वा भिक्खयरा जावतियं भूमिमुपसरति एवं विण्णात।

(ख) जि० चू० पृ० १७६ : केवइयाए पुण पविसियव्वं ?,···········जत्थ तेसिं गिहत्थाण अप्पत्तियं न भवइ, जत्थ अण्णेवि भिक्खायरा ठायति।

लाख का गोला अग्नि पर चढ़ाने से पिघल जाता है और उससे अति दूर रहने पर वह रूप नहीं पा सकता। इसी प्रकार गृहस्थ के घर से दूर रहने पर मुनि को भिक्षा प्राप्त नहीं हो सकती, एषणा की भी शुद्धि नहीं हो पाती और अत्यन्त निकट चले जाने पर अप्रीति या सन्देह उत्पन्न हो सकता है। अतः वह कुल की भूमि (भिक्षा लेने की भूमि) को पहले जान ले[1]।

१०३. मित-भूमि (अनुज्ञात) में प्रवेश करे (मियं भूमिं परक्कमे [घ]) :

गृहस्थ के द्वारा अनुज्ञात—अवर्जित भूमि को मित-भूमि कहते हैं[2]।

यह नियम अप्रीति और अविश्वास उत्पन्न न हो इस दृष्टि से है[3]।

श्लोक २५ :

१०४. श्लोक २५ :

मित-भूमि में जाकर साधु कहाँ और कैसे खड़ा रहे इसकी विधि प्रस्तुत श्लोक में है।

१०५. विचक्षण मुनि (वियक्खणो [ख]) :

विचक्षण का अर्थ—गीतार्थ या शास्त्र-विधि का जानकार है। अगीतार्थ के लिए भिक्षाटन का निषेध है। भिक्षा उसे लानी जो शास्त्रीय विधि-निषेधों और लोक-व्यवहारों को जाने, संयम में दोष न आने दे और शासन का लाघव न होने दे[4]।

१०६. मित-भूमि में ही (तत्थेव [क]) :

मित-भूमि में भी साधु जहाँ-तहाँ खड़ा न होकर इस बात का उपयोग लगाये कि वहाँ कहाँ खड़ा हो और कहाँ न खड़ा हो उचित स्थान को देखे[5]। साधु मित-भूमि में कहाँ खड़ा न हो इसका स्पष्टीकरण इस श्लोक के उत्तरार्द्ध में आया है।

१०७. शौच का स्थान (वच्चस्स [ग]) :

जहाँ मल और मूत्र का उत्सर्ग किया जाए वे दोनों स्थान 'वर्चस्' कहलाते हैं[6]।

१—(क) अ० चू० पृ० ८ : गोले त्ति गहणेसणाए अतिभूमीगमणणिरोहत्थं भण्णति—जतुगोलमणया कातव्वा, जतुगोलतो अग्गिं मारोवितो विधिरति, दूरत्थो असंतत्तो रूवं ण निव्वत्तेति, साहू वि दूरत्थो अदीसमाणो भिक्खं न लभति एसणं सोहेति, आसण्णे अप्पत्तियं भवति तेणातिसंका वा, तम्हा कुलस्स भूमिं जाणेज्जा।

(ख) हा० टी० प० १६ :

जह जउगोलो अगणिस्स, णाइदूरे ण आवि आसन्ने।
सक्कइ काऊण तहा, संजमगोलो गिहत्थाणं॥
दूरे अणेसणाऽदंसणाइ, इयरंमि तेणसंकाइ।
तम्हा मियभूमीए, चिट्ठिज्जा गोयरग्गओ॥

२—(क) अ० चू० पृ० १०६ : 'मितं भूमिं परक्कमे' बुद्धीए संपेहितं सव्वदोससुद्धं तावतियं पविसेज्जा।

(ख) हा० टी० प० १६८ : 'मितां भूमिं' तैरनुज्ञातां पराक्रमेत्।

(ग) जि० चू० पृ० १७७ : मियं नाम अणुन्नायं, परक्कमे नाम पविसेज्जा।

३—हा० टी० प० १६८ : यत्रैषामप्रीतिर्नोपजायत इति सूत्रार्थः।

४—(क) अ० चू० पृ० १०६ : 'वियक्खणो' पराभिप्पायजाणतो, कहिं चियत्तं ण वा ? विसेसेण पवयणोवघातरक्खणत्थं।

(ख) हा० टी० प० १६८ : 'विचक्षणो' विद्वान्, अनेन केवलागीतार्थस्य भिक्षाटनप्रतिषेधमाह।

५—(क) अ० चू० पृ० १०६ : तत्थेति ताए मिताए भूमीए एवसद्दो अवधारणे। किमवधारयति ? पुव्वुद्दिट्ठं कुलाणुरूवं।

(ख) जि० चू० पृ० १७७ : तत्तियाए मियाए भूमीए उवयोगो कायव्वो पंडिएण, कत्थ ठातियव्वं कत्थ न वत्ति, तत्थ ठायंतस्स दुमाइ न होमंति।

(ग) हा० टी० प० १६८ : 'तत्रैव' तस्यामेव मितायां भूमौ।

६—(क) अ० चू० पृ० १०६ : 'वच्चं' अमेज्झं तं जत्थ। पंचप (?पमु-पं) टगादिसमीवयाणादिसु त एव दोसा इति।

(ख) जि० चू० पृ० १७७ : वच्चं नाम जत्थ वोसिरति कातिकाइसन्नाओ।

(ग) हा० टी० प० १६८ : 'वर्चसो' विष्ठायाः।

१०८. दिखाई पड़े उस भूमि-भाग का (संलोगं [घ]) :

'सलोक' शब्द का सम्बन्ध स्नान और वर्चस् दोनों से है। 'सलोक'—सदर्शन अर्थात् जहाँ खड़ा होने से मुनि को स्नान करती हुई या मल-विसर्जन करती हुई स्त्री दिखाई दे अथवा वही साधु को देख सके[1]।

स्नान-गृह और शौच गृह की ओर दृष्टि डालने से शासन की लघुता होती है अविश्वास होता है और नग्न शरीर के अवलोकन से काम-वासना उभरती है[2]। यहाँ आत्म-दोष और पर-दोष—ये दो प्रकार के दोष उत्पन्न होते हैं। स्त्रियाँ सोचती हैं हम मातृवर्ग जहाँ स्नान करती हैं उस ओर यह काम-विह्वल होकर ही देख रहा है। यह पर-सम्बन्धी दोष है। अनावृत स्त्रियों को देखकर मुनि के चरित्र का भग होता है। यह आत्म-सम्बन्धी दोष है। ये ही दोष वर्चस्-दर्शन के हैं[3]। मुनि इन दोषों को ध्यान में रख इस नियम का पालन करे।

श्लोक २६ :

१०९. श्लोक २६ :

भिक्षा के लिए मित-भूमि में प्रविष्ट साधु वहाँ खड़ा न हो, इसका कुछ और उल्लेख इस श्लोक में है।

११०. सर्वेन्द्रिय-समाहित मुनि (सव्विंदियसमाहिए [घ]) :

जो पाँचों इन्द्रियों के विषयों से आक्षिप्त—आकृष्ट न हो, उसे सर्वेन्द्रिय-समाहित कहा जाता है[4] अथवा जिसकी सब इन्द्रियाँ समाहित हों—अन्तर्मुखी हों, बाह्य विषयों से विरत होकर आत्मलीन बन गई हों, उसे समाहित-सर्वेन्द्रिय कहा जाता है। जो मुनि सर्वेन्द्रिय-समाधि से सम्पन्न होता है, वही अहिंसा का सूक्ष्म विवेक कर सकता है।

१११. मिट्टी (मट्टियं [क]) :

अटवी से लाई गई सचित्त—सजीव मिट्टी[5]।

११२. लाने के मार्ग (आयाणं [क]) :

जिस मार्ग से उदक, मिट्टी आदि ग्रहण की जाती—लाई जाती हो वह मार्ग[6]। आदान अर्थात् ग्रहण। हरिभद्र ने 'आदान' को उदक और मिट्टी के साथ ही सम्बन्धित रखा है जबकि जिनदास ने हरियाली आदि के साथ भी उसका सम्बन्ध जोड़ा है[7]।

१—(क) अ० चू० पृ० १०६ : 'सलोगो' जत्थ एताणि आलोइज्जंति तं परिवज्जए। ······सलोगं जत्थ ठिएण हि दीसंति, ते वा तं पासंति।

(ख) जि० चू० पृ० १७७ : आसिणाणस्ससलोयं परिवज्जए, सिणाणसंलोग वच्चसलोग य

(ग) हा० टी० प० १६८ : स्नानभूमिकायिकादिभूमिसदर्शनम्।

२—हा० टी० प० १६८ : प्रवचनलाघवप्रसङ्गात्, अप्रावृतस्त्रीदर्शनाच्च रागादिभावात्।

३—जि० चू० पृ० १७७ : तत्थ आयपरसमुत्था दोसा भवंति, जहा जत्थ अम्हे ण्हाओ अत्थ य मातिवग्गो अम्हं ण्हायइ तमेसो परिभवमाणो कामेमाणो वा एत्थ ठाइ, एवमाइ परसमुत्था दोसा भवंति, आयसमुत्था तस्सेव ण्हायंतिओ अवाउडियाओ अविरतियाओ दट्ठूण चरित्तभेदादी दोसा भवति, वच्चं नाम जत्थ वोसिरंति कातिकाइसन्नाओ, तस्सवि ससोगं वज्जेयव्वो, आयपरसमुत्था दोसा पवयणविराहणा य भवति।

४—(क) अ० चू० पृ० १०७ : सव्विंदियसमाहितो सव्वेहिं इंदिएहिं एएसिं परिहरणे सम्म आहितो समाहितो।

(ख) जि० चू० पृ० १७७ : सव्विंदियसमाहितो नाम नो सद्दरूवाईहिं अक्खित्तो।

(ग) हा० टी० प० १६८ : 'सर्वेन्द्रियसमाहितः' शब्दादिभिरनाक्षिप्तचित्त इति।

५—(क) अ० चू० पृ० १०७ : 'मट्टिया' सचित्त पुढविक्कायो सो अत्थ अधुणा आणीयो।

(ख) जि० चू० पृ० १७७ : मट्टिया अडवीओ सचित्ता आणीया।

६—अ० चू० पृ० १०७ : जत्थ जेण वा मग्गेण उदगमट्टियाओ गेण्हंति तं दगमट्टियाणं।

७—(क) जि० चू० पृ० १७७ : आदाणं नाम गहणं, जेण मग्गेण गंतूण दगमट्टियहरियादीणि घेप्पंति तं दगमट्टियआयाणं भण्णइ।

(ख) हा० टी० प० १६८ : आदीयतेऽनेनेत्यादानो—मार्गः, उदकमृत्तिकानयनमार्गमित्यर्थः।

११३. हरियाली (हरियाणि [ख]) :

यहाँ हरित शब्द से समस्त प्रकार के वृक्ष, गुच्छादि, घासादि वनस्पति-विशेष का ग्रहण समझना चाहिए[1]।

श्लोक २७ :

११४. श्लोक २७ :

अब तक के श्लोकों में आहारार्थी मुनि स्व-स्थान से निकलकर गृहस्थ के घर में प्रवेश करे, वहाँ कैसे स्थित हो, इस विधि का उल्लेख है। अब वह क्या ग्रहण करे और क्या ग्रहण नहीं करे, इसका विवेचन आता है।

जो कालादि गुणों से शुद्ध है, जो अनिष्ट कुलों का वर्जन करता है, जो प्रीतिकारी कुलों में प्रवेश करता है, जो उपदिष्ट स्थानों में स्थित होता है और जो आत्मदोषों का वर्जन करता है उस मुनि को अब दायक-शुद्धि की बात बताई जा रही है[2]।

११५. (अकप्पियं [ग]...कप्पियं [घ]) :

शास्त्र-विहित, अनुमत या अनिषिद्ध को 'कल्पिक' या 'कल्प्य'[3] और शास्त्र-निषिद्ध को 'अकल्पिक' या 'अकल्प्य'[4] कहा जाता है।

'कल्प' का अर्थ है—नीति, आचार, मर्यादा, विधि या सामाचारी और 'कल्प्य' का अर्थ है—नीति आदि से युक्त ग्राह्य, करणीय और योग्य। इस अर्थ में 'कल्पिक' शब्द का भी प्रयोग होता है। उमास्वाति के शब्दों में जो कार्य ज्ञान, शील और तप का उपग्रह और दोषों का निग्रह करता है वही निश्चय-दृष्टि से 'कल्प्य' है और शेष 'अकल्प्य'[5]। उनके अनुसार कोई भी कार्य एकान्ततः 'कल्प्य' और 'अकल्प्य' नहीं होता। जिस 'कल्प्य' कार्य से सम्यक्त्व, ज्ञान आदि का नाश और प्रवचन की निंदा होती हो तो वह 'अकल्प्य' भी 'कल्प्य' बन जाता है। निष्कर्ष की भाषा में देश, काल, पुरुष, अवस्था, उपयोग और परिणाम-विशुद्धि की समीक्षा करके ही 'कल्प्य' और 'अकल्प्य' का निर्णय किया जा सकता है, इन्हें छोड़कर नहीं[6]।

आगम-साहित्य में जो उत्सर्ग और अपवाद हैं वे लगभग इसी आशय के द्योतक हैं। फिर भी 'कल्प्य' और 'अकल्प्य' की निश्चित रेखाएँ खिंची हुई हैं। उनके लिए अपनी-अपनी इच्छा के अनुकूल 'कल्प्य' और 'अकल्प्य' की व्यवस्था देना उचित नहीं होता। बहुश्रुत आगम-धर के अभाव में आगमोक्त विधि-निषेधों का यथावत् अनुसरण ही ऋजु मार्ग है। मुनि को कल्पिक, एषणीय या भिक्षा-सम्बन्धी बयालीस दोष-वर्जित भिक्षा लेनी चाहिए। यह ग्रहणैषणा (भक्त-पान लेने की विधि) है।

१—जि० चू० पृ० १७७ : हरियग्गहणेणं सव्वे रुक्खगुच्छाइणो वणप्फइविसेसा गहिया।

२ (क) अ० चू० पृ० १०७ : एवं काले अपडिसिद्धकुलमियभूमिपदेसावत्थितस्स गवेषणाजुत्तस्स गहणेसणाणियमणत्थमुपदिस्सति।

(ख) जि० चू० पृ० १७७ : एवं तस्स कालाइगुणसुद्धस्स अणिट्ठकुलाणि वज्जेंतस्स चियत्तकुले पविसंतस्स जहोवदिट्ठे आयसमुत्था दोसा वज्जेंतस्स दायगसुद्धी भण्णइ।

३—(क) अ० चू० पृ० १०७ : कप्पितं सेसेसणा दोसपरिसुद्धम्।

(ख) हा० टी० प० १६८ । 'कल्पिकम्' एषणीयम्।

४—(क) अ० चू० पृ० १०७ : बायालीसाए अण्णतरेण एसणादोसेण दुट्ठं।

(ख) हा० टी० प० १६८ : 'अकल्पिकम्' अनेषणीयम्।

५—प्र० प्र० १४३ :

यज्ज्ञानशीलतपसामुपग्रहं निग्रहं च दोषाणाम्।
कल्पयति निश्चये यत्तत्कल्प्यमकल्प्यमवशेषम्॥

६—वही १४४-४६ :

यत्पुनरुपघातकरं सम्यक्त्वज्ञानशीलयोगानाम्।
तत्कल्प्यमप्यकल्प्यं प्रवचनकुत्साकरं यच्च॥
किञ्चिच्छुद्धं कल्प्यमकल्प्यं स्यादकल्प्यमपि कल्प्यम्।
पिण्डः शय्या वस्त्रं पात्रं वा भेषजाद्यं वा॥
देशं कालं क्षेत्रं पुरुषमवस्थामुपयोगशुद्धपरिणामान्।
प्रसमीक्ष्य भवति कल्प्यं नैकान्तात्कल्प्यते कल्प्यम्॥

श्लोक २८ :

११६. श्लोक २८ :

इस श्लोक में 'छर्दित' नामक एषणा के दसवें दोषयुक्त भिक्षा का निषेध है[1]। तुलना के लिए देखिए—आवश्यक सूत्र ४८।

११७ देती हुई (देंतिय[क]) :

प्रायः स्त्रियाँ ही भिक्षा दिया करती हैं, इसलिए यहाँ दाता के रूप में स्त्री का निर्देश किया है[2]।

श्लोक २९ :

११८ और (य[ख]) :

अगस्त्य चूर्णि में 'य' के स्थान पर 'वा' है। उन्होंने 'वा' से सब वनस्पति का ग्रहण माना है[3]।

११९. असंयमकरी होती है—यह जान (असंजमकरिं नच्चा[ग]) :

मुनि की भिक्षाचर्या में अहिंसा का बड़ा सूक्ष्म विवेक रखा गया है। भिक्षा देते समय दाता आरम्भ-रत नहीं होना चाहिए।

असंयम का अर्थ संयममात्र का अभाव होता है, किन्तु प्रकरण-संगति से यहाँ उसका अर्थ जीव-वध ही संगत लगता है। भिक्षा देने के निमित्त आता हुआ दाता यदि हिंसा करता हुआ आए अथवा भिक्षा देने के लिए वह पहले से ही वनस्पति आदि के आरम्भ में लगा हुआ हो तो उसके हाथ से भिक्षा लेने का निषेध है।

१२० भक्त-पान (तारिसं[घ]) :

दोनों चूर्णिकार 'तारिसं'—ऐसा पाठ मानते हैं। उनके अनुसार यह शब्द भक्त-पान के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है[4]। टीकाकार तथा उनके उत्तरवर्ती व्याख्याकार 'तारिसिं'—ऐसा पाठ मान उसे देने वाली स्त्री के साथ जोड़ते हैं[5]। इसका अनुवाद होगा—उसे वर्जे—उसके हाथ से भिक्षा न ले।

श्लोक ३० :

१२१ एक बर्तन में से दूसरे बर्तन में निकाल कर (साहट्टु[क]) :

भोजन को एक बर्तन से निकाल कर दूसरे बर्तन में डालकर दे तो चाहे वह प्रासुक ही क्यों न हो मुनि उसका परिवर्जन करे।

१—पि० नि० ६२७-२८ :

सच्चित्ते अच्चित्ते मीसग तह छड्डणे य चउभंगो।
चउभंगे पडिसेहो गहणे आणाइणो दोसा।
उसिणस्स छड्डणे देंतओ व डज्झेज्ज कायदाहो वा।
सीयपडणम्मि काया पडिए महुबिंदुआहरणं॥

२—(क) अ० चू० पृ० १०७ : 'पाएण इत्थीहिं भिक्खादाणं' ति इत्थीनिद्देसो।
(ख) जि० चू० पृ० १७८ : पायसो इत्थियाओ भिक्खं दलयंति तेण इत्थियाए निद्देसो कओ।
(ग) हा० टी० प० १६६ : 'ददतीम्'···स्त्र्येव प्रायो भिक्षां ददातीति स्त्रीग्रहणम्।

३—अ० चू० पृ० १०७ : वा सद्देण सव्ववणस्सतिकाय।

४—(क) अ० चू० पृ० १०७ : तारिसं पुव्वभणितं पाणभोयण परिवज्जए।
(ख) जि० चू० पृ० १७८ : तारिसं भत्तपाणं तु परिवज्जए।

५—हा० टी० प० १६६ : तादृशीं परिवर्जयेत्।

इस प्रकार के आहार की चौभङ्गी इस तरह है[1] :—

(१) प्रासुक वर्तन से आहार को प्रासुक वर्तन में निकाले ।
(२) प्रासुक वर्तन से आहार को अप्रासुक वर्तन में निकाले ।
(३) अप्रासुक वर्तन से आहार को प्रासुक वर्तन में निकाले ।
(४) अप्रासुक वर्तन से आहार को अप्रासुक वर्तन में निकाले ।

प्रासुक में से प्रासुक निकाले उसके भङ्ग इस प्रकार है :—

(१) अल्प को अल्प में से निकाले ।
(२) वहुत को अल्प में से निकाले ।
(३) अल्प को वहुत में से निकाले ।
(४) वहुत को वहुत में से निकाले ।

विशेप जानकारी के लिए देखिए—पिण्डनिर्युक्ति गा० ५६३-६८ ।

१२२. श्लोक ३०-३१ :

आहार को पाक-पात्र से दूसरे पात्र में निकालना और उसमें जो अनुपयोगी अंश हो उसे वाहर फेंकना संहरण कह संहरण-पूर्वक जो भिक्षा दी जाए उसे 'संहृत' नाम का दोप माना गया है । सचित्त-वस्तु पर रखे हुए पात्र में भिक्षा निका छोटे पात्र में न समाए उतना निकाल कर देना, वड़े पात्र में जो वड़े कष्ट से उठाया जा सके उतना निकाल कर देना, 'संहृत' जो देय-भाग हो, उसे सचित्त-वस्तु पर रख कर देना 'निक्षिप्त' दोप है[3] । उदक का प्रेरण, अवगाहन और चालन सचित्त-स्पर्श समाए हुए हैं । फिर भी इनका विशेप प्रसंग होने के कारण विशेप उल्लेख किया गया है । सचित्त वस्तु का अवगाहन कर या उ भिक्षा दी जाए, यह एपणा का 'दायक' नामक छट्ठा दोप है ।

१—(क) अ० चू० पृ० १०७ : साहट्टु अण्णम्मि भायणे छोढूणं । एत्थ य फासुयं अफासुए साहरति चउभंगो । तत्थ फासुए साहरति तं सुक्खं सुक्खे साहरति एत्य वि चउभंगो । भंगाण पिंडनिज्जुत्तीए विसेसत्थो ।

(ख) जि० चू० पृ० १७८ : साहट्टु नाम अन्नंमि भायणे साहरिउं देंति तं फासुगंपि विवज्जए, तत्थ फासुए फासुयं फासुए अफासुयं साहरइ २ अफासुए फासुयं साहरइ ३ अफासुए अफासुयं साहरति ४, तत्थ जं फासुयं फासुए तं थेवं थेवे साहरति वहुए थेवं साहरइ थेवे वहुयं साहरइ वहुए वहुयं साहरइ, एतेसिं भंगाणं जहा पिंडनिज्

२—पि० नि० ५६५-७१ :

मत्तेण जेण दाहिइ तत्थ अदिज्जं तु होज्ज असणाई ।
छोडुं तयन्नहिं तेणं देई अह होइ साहरणं ॥
भूमाइएसु तं पुण साहरणं होइ छसुवि काएसु ।
जं तं दुहा अचित्तं साहरणं तत्थ चउभंगो ।[1]
सुक्के सुक्कं पढमो सुक्के उल्लं तु विइयओ भंगो ।
उल्ले सुक्कं तइओ उल्ले उल्लं चउत्थो उ ॥
एक्केक्के चउभंगो सुक्काईएसु चउसु भंगेसु ।
थोवे थोव थोवे वहुं च विवरीय दो अन्ने ॥
जत्थ उ थोवे थोवं सुक्के उल्लं च छुहइ तं भव्वं(गेज्झं) ।
जइ तं तु समुक्खेउं थोवाधारं दलइ अन्नं ॥
उक्खेवे निक्खिवे महल्लभाणंमि लुद्ध वह डाहो ।
अचियत्तं वोच्छेओ छक्कायवहो य गुरुमत्ते ॥
थोवे थोवं छूढं सुक्के उल्लं तु तं तु आइन्नं ।
बहुयं तु अणाइन्नं कडदोसो सोत्ति काऊणं ॥

३ देखिए '[illegible]' का टिप्पण (५. १. ६१) संख्या १६३

श्लोक ३२ :

१२३. पुराकर्म-कृत (पुरेकम्मेण[क]) :

साधु को भिक्षा देने के निमित्त पहले सजीव जल से हाथ, कड़छी आदि धोना अथवा अन्य किसी प्रकार का आरम्भ—हिंसा करना पूर्व-कर्म दोष है[1]।

१२४. बर्तन से (भायणेण[ख]) :

कांसे आदि के बर्तन को 'भाजन' कहा जाता है[2]। निशीथ चूर्णि के अनुसार मिट्टी का बर्तन 'अमत्रक' या 'मात्रक' और कांस्य का पात्र 'भाजन' कहलाता है[3]।

१२५. श्लोक ३३-३४ : पाठान्तर का टिप्पण :

एवं उदओल्ले ससिणिद्धे.... ॥३३॥
गेरुय वण्णिय... ....॥३४॥

टीकाकार के अनुसार ये दो गाथाएँ हैं। चूर्णि मे इनके स्थान पर सत्रह श्लोक हैं। टीकाभिमत गाथाओं में 'एवं' और 'बोधव्व' ये दो शब्द जो हैं वे इस बात के सूचक हैं कि ये संग्रह-गाथाएँ हैं। जान पड़ता है कि पहले ये श्लोक भिन्न-भिन्न थे फिर बाद में संक्षेपीकरण की दृष्टि से उनका थोड़े में संग्रह किया गया। यह कब और किसने किया इसकी निश्चित जानकारी हमें नहीं है। इसके बारे में इतना ही अनुमान किया जा सकता है कि यह परिवर्तन चूर्णि और टीका के निर्माण का मध्यवर्ती है।

अगस्त्य चूर्णि की गाथाएं इस प्रकार हैं :

१. उदओल्लेण हत्थेण दव्वीए भायणेण वा।
　देंतियं पडियाइक्खे न मे कप्पति तारिसं॥
२. ससिणिद्धेण हत्थेण ... .
३. ससरक्खेण हत्थेण.... ....
४. मट्टियागतेण हत्थेण .. ..
५. ऊसगतेण हत्थेण ....
६. हरितालगतेण हत्थेण...... . ...
७. हिंगुलुयगतेण हत्थेण . ...
८. मणोसिलागतेण हत्थेण...............
९. अंजणगतेण हत्थेण. . ...
१०. लोणगतेण हत्थेण........... . .....
११. गेरुयगतेण हत्थेण .. ..
१२. वण्णियगतेण हत्थेण .. . ..
१३. सेडियगतेण हत्थेण . ...
१४. सोरट्ठियगतेण हत्थेण ... .
१५. पिट्ठगतेण हत्थेण . . ..

१—(क) अ० चू० पृ० १०८ : पुरेकम्म जं साधुनिमित्तं धोवणं हत्थादीणं।
　(ख) जि० चू० पृ० १७८ : पुरेकम्मं नाम जं साधूणं दट्ठूण हत्थं भायणं धोवइ तं पुरेकम्मं भण्णइ।
　(ग) हा० टी० प० १७० : पुरःकर्मणा हस्तेन—साधुनिमित्तं प्राक्कृतजलोज्झनव्यापारेण।
२—(क) जि० चू० पृ० १७९ : भायणं कंसभायणादि।
　(ख) हा० टी० प० १७० : 'भाजनेन वा' कांस्यभाजनादिना।
३—(क) नि० ४.३९ चू० : पुढविमओ मत्तओ। कंसमयं भायणं।

श्लोक ३७ :

१४०. श्लोक ३७ :

इस श्लोक में 'अनिसृष्ट' नामक उद्गम के पंद्रहवें दोष-युक्त भिक्षा का निषेध किया गया है। अनिसृष्ट का अर्थ है—अननुज्ञात। वस्तु के स्वामी की अनुज्ञा—अनुमति के बिना उसे लेने पर 'उड्डाह' अपवाद होता है, चोरी का दोष लगता है, निग्रह किया जा सकता है। इसलिए मुनि को वस्तु के नायक की अनुमति के बिना उसे नहीं लेना चाहिए।

१४१. स्वामी या भोक्ता हों (भुंजमाणाणं[क]) :

'भुञ्ज्' धातु के दो अर्थ हैं—पालना और खाना। प्राकृत में धातुओं के 'परस्मै' और 'आत्मने' पद की व्यवस्था नहीं है, इसलि संस्कृत में 'भुंजमाणाणं' शब्द के संस्कृत रूपान्तर दो बनते हैं—(१) भुञ्जतोः और (२) भुञ्जानयोः।

'दोण्ह तु भुंजमाणाण' का अर्थ होता है- एक ही वस्तु के दो स्वामी हों अथवा एक ही भोजन को दो व्यक्ति खाने वाले हों।[1]

१४२. देखे (पडिलेहए[घ]) :

उसके चेहरे के हाव-भाव आदि से उसके मन के अभिप्राय को जाने।

मुनि को वस्तु के दूसरे स्वामी का, जो मौन बैठा रहे, अभिप्राय नेत्र और मुँह की चेष्टाओं से जानने का प्रयत्न कर चाहिए। यदि उसे कोई आपत्ति न हो, अपना आहार देना इष्ट हो तो मुनि उसकी स्पष्ट अनुमति के बिना भी एक अधिकारी द्वारा द आहार ले सकता है और यदि अपना आहार देना उसे इष्ट न हो तो मुनि एक अधिकारी द्वारा दत्त आहार भी नहीं ले सकता[2]।

श्लोक ३८ :

१४३. श्लोक ३८

इस श्लोक में 'निसृष्ट' (अधिकारी के द्वारा अनुमत) भक्त-पान लेने का विधान है।

श्लोक ३९ :

१४४. वह खा रही हो तो मुनि उसका विवर्जन करे (भुज्जमाणं विवज्जेज्जा[ख]) :

दोहद-पूर्ति हुए बिना गर्भ का पात या मरण हो सकता है इसलिए गर्भवती स्त्री की दोहद-पूर्ति (इच्छा-पूर्ति) के लिए जो आहार बने वह परिमित हो तो उसकी दोहद-पूर्ति के पहले मुनि को नहीं लेना चाहिए[3]।

१—(क) अ० चू० पृ० ११० : "भुज पालनऽभ्यवहरणयोः" इति एवं विसेसेति—अब्भवहरमाणाण रक्खंताण वा [illegible] अभोयणमवि लिया।

(ख) जि० चू० पृ० १७९ : भुंजसद्दो पालणे अब्भवहारे च ···· तत्थ पालने ताव एगस्स साहुपायोग्गस्स दोन्नी सामिया अब्भवहारे दो जधा एक्कंमि वट्टियाए वे जणा भोत्तुकामा।

(ग) हा० टी० प० १७१ : द्वयोर्भुञ्जतोः' पालनां कुर्वतोः एकस्य वस्तुनः स्वामिनोरित्यर्थः ··· एवं भुञ्जानयोः अभ्यवहारायोद्यतयोरपि योजनीय, यतो भुजि पालनेऽभ्यवहारे च वर्तत इति।

२—(क) अ० चू० पृ० ११० :

> आगारिंगित-चेट्ठागुणेहिं, भासाविसेस-करणेहिं।
> मुह-णयणविकारेहि य, घेप्पति अंतग्गतो भावो॥

अब्भवहरणीय न दोण्हं उवणीय ण ताव भुंजिउमारभंति, तं पि 'वर्तमानसामीप्ये०' [पाणि०३.३.१३१] इति वर्तमानमेव। [illegible] जदि इट्ठं तो घेप्पति, ण अण्णहा।

(ख) जि० चू० पृ० १७९ : नेत्तादीहिं विगारेहिं अभणंतस्सवि नज्जइ जहा एयस्स दिज्जमाणं चियत्तं न वा इति [illegible] [illegible]।

(ग) हा० टी० प० १७१ : [illegible] नेत्रवक्त्रविकारैः, अपितु ···· अभिप्रायं ··· ···तस्य द्वितीयस्य प्रभुत्वेन नेत्रवक्त्रविकारैः, [illegible] दीयमानं नेच्छति, इष्टं चेद् गृह्णीयान्न चेन्नेति।

३—(क) अ० चू० पृ० १११ : इमे दोसाः [illegible] तं [illegible] ति दोहलस्स अविगमे मरणं गब्भपतनं वा [illegible] [illegible]।

(ख) जि० चू० पृ० १८० : [illegible] भुंजइ कोइ तनो देइ तं ण गेण्हियव्वं, को दोसो ?, कदाइ तं परिमियं [illegible] [illegible] अविणीदे य दोहले गब्भपडणं मरणं वा होज्जा।

(ग) हा० टी० प० १७१ : [illegible] भुज्यमानं तया विवर्जयेत् मा भूत्तस्या अल्पत्वेनाभिलाषानिवृत्त्या गर्भपतनादिदोष इति।

श्लोक ४० :

१४५. काल-मासवती (कालमासिणी [ख]) :

जिसके गर्भ का प्रसूतिमास या नवाँ मास चल रहा हो उसे काल-मासवती (काल-प्राप्त गर्भवती) कहा जाता है[1]।

जिनदास चूर्णि और टीका के अनुसार जिन-कल्पिक मुनि गर्भवती स्त्री के हाथ से भिक्षा नहीं लेते, फिर चाहे वह गर्भ थोड़े दिनों का ही क्यों न हो[2]।

काल-मासवती के हाथ से भिक्षा लेना 'दायक' (एषणा का छठा) दोष है।

श्लोक ४१ :

१४६. श्लोक ४१ :

अगस्त्य चूर्णि में (अगस्त्य चूर्णिगत क्रमांक के अनुसार ५६ वें और ५७ वें तथा टीका के अनुसार ४० वें और ४२ वें श्लोक के पश्चात्) "तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पियं"—ये दो चरण नहीं दिये हैं और 'दॆंतियं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं'—इन दो चरणों के आशय को अधिकार-क्रम से स्वतः प्राप्त माना है। वैकल्पिक रूप में इन दोनों श्लोकों को द्व्यर्ध (छह चरणों का श्लोक) भी कहा है[3]।

श्लोक ४२ :

१४७. रोते हुए छोड़ (निक्खिवित्तु रोयंतं [ग]) :

जिनदास चूर्णि के अनुसार गच्छवासी स्थविर मुनि और गच्छ-निर्गत जिनकल्पिक-मुनि के आचार में कुछ अन्तर है। स्तनजीवी बालक को स्तन-पान छुड़ा स्त्री भिक्षा दे तो, बालक रोए या न रोए, गच्छवासी मुनि उसके हाथ से भिक्षा नहीं लेते। यदि वह बालक कोरा स्तनजीवी न हो, दूसरा आहार भी करने लगा हो और यदि वह छोड़ने पर न रोए तो गच्छवासी मुनि उसकी माता के हाथ से भिक्षा ले सकते हैं। स्तनजीवी बालक चाहे स्तन-पान न कर रहा हो फिर भी उसे अलग करने पर रोने लगे उस स्थिति में गच्छवासी मुनि भिक्षा नहीं लेते।

गच्छ-निर्गत मुनि स्तनजीवी बालक को अलग करने पर, चाहे वह रोए या न रोए, स्तन-पान कर रहा हो या न कर रहा हो, उसकी माता के हाथ से भिक्षा नहीं लेते। यदि वह बालक दूसरा आहार करने लगा हो उस स्थिति में उसे स्तन-पान करते हुए को छोड़कर, फिर चाहे वह रोए या न रोए, भिक्षा दे तो नहीं लेते और यदि वह स्तन-पान न कर रहा हो फिर भी अलग करने पर रोए तो भी भिक्षा नहीं लेते। यदि न रोए तो वे भिक्षा ले सकते हैं[4]।

१—(क) अ० चू० पृ० १११ : प्रसूतिकालमासे 'कालमासिणी'।
(ख) जि० चू० पृ० १८० : कालमासिणी नाम नवमे मासे गब्भस्स वट्टमाणस्स।
(ग) हा० टी० प० १७१ : 'कालमासवती' गर्भाधानान्नवममासवती।

२—(क) जि० चू० पृ० १८० : जा पुण कालमासिणी पुव्वुट्ठिया परिवेसेंती य थेरकप्पिया गेण्हंति,, जिणकप्पिया पुण जद्दिवसमेव आवन्नसत्ता भवति तओ दिवसाओ आरद्धं परिहरंति।
(ख) हा० टी० प० १७१ : इह च स्थविरकल्पिकानामनिषीदनोत्थानाभ्यां यथावस्थितया दीयमानं कल्पिकं, जिनकल्पिकानां त्वापन्नसत्त्वया प्रथमदिवसादारभ्य सर्वथा दीयमानमकल्पिकमेवेति सम्प्रदायः।

३—अ० चू० पृ० ११२ : पुव्वभणित सुत्त सिलोगद्धं वित्तीए अणुसरिज्जति—देंतियं पडियाइक्खे, न मे कप्पति तारिसं। अहवा दिवड्ढसिलोगो अत्थनिगमणवसेणं।

४—(क) अ० चू० पृ० ११२ : गच्छवासीण थणजीवी थणं पियंतो निक्खित्तो रोवतु वा मा वा अग्गहणं, अह अपिबंतो णिक्खित्तो रोवंते (अग्गहणं अरोवते) गहणं, अह भत्तं पि आहारेति तं पिबंते निक्खित्ते रोवते अग्गहणं, अरोवते गहणं। गच्छ-निग्गताण थणजीविम्मि णिक्खित्ते पिबते (अपिबते) वा रोयते (अरोयते) वा अग्गहणं, भत्ताहारे पिबते निक्खित्ते रोयमाणे अरोयमाणे वा अग्गहणं, अपिबते रोयमाणे अग्गहणं, अरोयमाणे गहणं।
(ख) जि० चू० पृ० १८० : तत्थ गच्छवासी जति थणजीवी णिक्खित्तो तो ण गेण्हंति रोवतु वा मा वा, अह अन्नं पि आहारेति तो जति न रोवइ तो गेण्हंति, अह अपियंतओ णिक्खित्तो थणजीवी रोवइ तो ण गेण्हंति, गच्छनिग्गया पुण जाव थण-जीवी ताव रोवउ वा मा वा अपियंतओ पियंतओ वा न गेण्हंति, जाहे अन्नं पि आहारेउ पयत्तो भवति ताहे जइ पियं-तओ तो रोवइ मा वा ण गेण्हंति, अपियन्तओ जदि रोवइ परिहरंति अरोवंते गेण्हंति।
(ग) हा० टी० प० १७२ : चूर्णि का ही पाठ यहाँ सामान्य परिवर्तन के साथ 'अत्रायं वृद्धसम्प्रदायः' कहकर उद्धृत किया है।

यह स्थूल-दर्शन से बहुत साधारण सी बात लगती है, किन्तु सूक्ष्म-दृष्टि से देखा जाये तो इसमें अहिंसा का पूर्ण दर्शन होता है। दूसरे को थोड़ा भी कष्ट देकर अपना पोषण करना हिंसा है। अहिंसक ऐसा नहीं करता इसलिए वह जीवन-निर्वाह के क्षेत्र में भी बहुत सतर्क रहता है। उक्त प्रकरण उस सतर्कता का एक उत्तम निदर्शन है।

शिष्य पूछता है—बालक को रोते छोड़कर भिक्षा देने वाली गृहिणी से लेने में क्या दोष है ? आचार्य कहते हैं—बालक को नीचे कठोर भूमि पर रखने से एवं कठोर हाथों से उठाने से बालक में अस्थिरता आती है। इससे परिताप दोष होता है। बिल्ली आदि उसे उठा ले जा सकती है[1]।

श्लोक ४४ :

१४८. शंका-युक्त हो (संकियं ख) :

इस श्लोक में 'शंकित' (एषणा के पहले) दोष-युक्त भिक्षा का निषेध किया गया है। आहार शुद्ध होने पर भी कल्पनीय और अकल्पनीय—उद्गम, उत्पादन और एषणा से शुद्ध अथवा अशुद्ध का निर्णय किए बिना लिया जाए वह 'शंकित' दोष है। शंका सहित लिया हुआ आहार शुद्ध होने पर भी कर्म-बन्ध का हेतु होने के कारण अशुद्ध हो जाता है। अपनी ओर से पूरी जाँच करने के बाद लिया हुआ आहार यदि अशुद्ध हो तो भी कर्म-बन्ध का हेतु नहीं बनता[2]।

श्लोक ४५-४६ :

१४९. श्लोक ४५-४६ :

इन दोनों श्लोकों में 'उद्भिन्न' नामक (उद्गम के बारहवें) दोष-युक्त भिक्षा का निषेध है। उद्भिन्न दो प्रकार का होता है—'पिहित-उद्भिन्न' और 'कपाट-उद्भिन्न'। चपड़ी आदि से बंद पात्र का मुंह खोलना 'पिहित-उद्भिन्न' कहलाता है। बन्द किवाड़ को खोलना 'कपाट-उद्भिन्न' कहलाता है। पिधान सचित्त और अचित्त दोनों प्रकार का हो सकता है। उसे साधु के लिए खोला जाए और फिर बंद किया जाए वहाँ हिंसा की सम्भावना है। इसलिए 'पिहित-उद्भिन्न' भिक्षा निषिद्ध है। किवाड़ खोलने में अनेक जीवों के वध की सम्भावना रहती है इसलिए 'कपाट-उद्भिन्न' भिक्षा का निषेध है। इन श्लोकों में 'कपाट-उद्भिन्न' भिक्षा का उल्लेख नहीं है। इन भेदों का आधार पिण्डनिर्युक्ति (गाथा ३४७) है।

तुलना के लिए देखिए—आयार चूला १।६०,६१।

श्लोक ४७ :

१५०. पानक (पाणगं क) :

हरिभद्र ने 'पानक' का अर्थ आरनाल (कांजी) किया है[3]। आगम-रचनाकाल में साधुओं को प्रायः गर्म जल या पानक (तुषोदक, यवोदक, सौवीर आदि) ही प्राप्त होता था। आयार चूला १।१०१ में अनेक प्रकार के पानकों का उल्लेख है। प्रवचन सारोद्धार के अनुसार 'सुरा' आदि को 'पान', साधारण जल को 'पानीय' और द्राक्षा, खर्जूर आदि से निष्पन्न जल को 'पानक' कहा जाता है[4]।

१—(क) अ० चू० पृ० ११२ : एत्य दोसा—सुकुमालसरीरस्स खरेहिं हत्थेहिं सयणीए वा पीडा, मज्जारादी वा तावाणं करेज्जा।

(ख) जि० चू० पृ० १८० : सीसो आह—को तत्य दोसोत्ति ?, आयरिओ आह—तस्स निक्खिप्पमाणस्स खरेहिं हत्थेहिं घेप्पमाणस्स य अपरिणतत्तणेण परितावणादोसो मज्जाराइ व अवयरेज्जा।

(ग) हा० टी० प० १७२।

२—पि० नि० गा० ५२९-५३०।

३—हा० टी० प० १७३ : 'पानकं' च आरनालादि।

४—प्रव० सारो० गा० १४१५ : पानं सुराइयं पाणियं जलं पाणगं पुणो एत्य। दक्खावाणियपमुहं'''।

पानक गृहस्थों के घरों मे मिलते थे। इन्हे विधिवत् निष्पन्न किया जाता था। भावप्रकाश आदि आयुर्वेद ग्रन्थों में इनके निष्पन्न करने की विधि निर्दिष्ट है। अस्वस्थ और स्वस्थ दोनों प्रकार के व्यक्ति परिमित मात्रा मे इन्हे पीते थे।

सुश्रुत के अनुसार गुड़ से बना खट्टा या बिना अम्ल का पानक गुरु और मूत्रल है[1]।

मृद्वीका (किसमिस) से बना पानक श्रम, मूर्च्छा, दाह और तृषानाशक है। फालसे से और बेरों का बना पानक हृदय को प्रिय तथा विष्टम्भि होता है[2]।

साधारण जल दान आदि के लिए निष्पन्न नहीं किया जाता। दानार्थ-प्रकृत से यह स्पष्ट है कि यहाँ 'पानक' का अर्थ द्राक्षा, खजूर आदि से निष्पन्न जल है।

१५१. दानार्थ तैयार किया हुआ (दाणट्ठा पगडं ^घ^) :

विदेश-यात्रा से लौटकर या वैसे ही किसी के आगमन के अवसर पर प्रसाद-भाव से जो दिया जाए वह दानार्थ कहलाता है।

प्रवास करके कोई सेठ चिरकाल के बाद अपने घर आये और साधुवाद पाने के लिए सर्व पाखण्डियों को दान देने के निमित्त भोजन बनाए वह दानार्थ-प्रकृत कहलाता है। महाराष्ट्र के राजा दान-काल मे समान रूप से दान देते हैं। उनके लिए बनाया गया भोजन आदि भी 'दानार्थ-प्रकृत' कहलाता है[3]।

श्लोक ४९ :

१५२. पुण्यार्थ तैयार किया हुआ (पुण्णट्ठा पगडं ^घ^) :

जो पर्व-तिथि के दिन साधुवाद या श्लाघा की भावना रखे बिना केवल 'पुण्य होगा' इस धारणा से अशन, पानक आदि निष्पन्न किया जाता है—उसे 'पुण्यार्थ-प्रकृत' कहा जाता है[4]। वैदिक परम्परा मे 'पुण्यार्थ-प्रकृत' दान का बहुत प्रचलन रहा है।

प्रश्न हुआ कि शिष्ट कुलों मे भोजन पुण्यार्थ ही बनता है। वे क्षुद्र कुलों की भांति केवल अपने लिए भोजन नहीं बनाते, किन्तु पितरों को बलि देकर स्वयं शेष भाग खाते हैं। अतः 'पुण्यार्थ-प्रकृत' भोजन के निषेध का अर्थ शिष्ट-कुलों से भिक्षा लेने का निषेध होगा? आचार्य ने उत्तर में कहा—नहीं, आगमकार का 'पुण्यार्थ-प्रकृत' के निषेध का अभिप्राय वह नहीं है जो प्रश्न की भाषा में रखा गया है। उनका अभिप्राय यह है कि गृहस्थ जो अशन, पानक पुण्यार्थ बनाए वह मुनि न ले[5]।

१—सु० सू० ४६.४३० :

गौडमम्लमनम्लं वा पानकं गुरु मूत्रलम्।

२—सु० सू० ४६.४३२-३३ :

मार्द्वीकं तु श्रमहरं, मूर्च्छादाहतृषापहम्।
परूषकाणां कोलानां, हृद्यं विष्टम्भि पानकम्॥

३—(क) अ० चू० पृ० ११३ : 'दाणट्ठप्पगडं' कोति ईसरो पवासागतो साधुसद्देण सव्वस्स आगतस्स सक्कारणनिमित्तं दाणं देति, रायाणो वा मरहट्ठगा दाणकाले अविसेसेण देंति।

(ख) जि० चू० पृ० १८१ : दाणट्ठापगडं नाम कोति वाणियगमादी दिसासु चिरेण आगम्म घरे दाणं देतित्ति सव्वपासंडाणं तं दाणट्ठ पगडं भण्णइ।

(ग) हा० टी० प० १७३ : दानार्थं प्रकृतं नाम—साधुवादनिमित्तं यो ददात्यव्यापारपाखण्डिभ्यो देशान्तरादेरागतो वणिक्-प्रभृतिरिति।

४—(क) अ० चू० पृ० ११३ : जं तिहि-पव्वणीसु पुण्णमुद्दिस्स कीरति तं पुण्णट्ठप्पगडं।

(ख) जि० चू० पृ० १८१ : पुन्नट्ठापगडं नाम जं पुण्णनिमित्तं कीरइ तं पुण्णट्ठ पगडं भण्णइ।

५—हा० टी० प० १७३ : पुण्यार्थं प्रकृतं नाम—साधुवादानङ्गीकरणेन यत्पुण्यार्थं कृतमिति। अत्राह—पुण्यार्थप्रकृतपरित्यागे [illegible]

[illegible]

यदृच्छादानानुपपत्तेः, कदाचिदपि वा दाने यदृच्छादानोपपत्तेः, तथा व्यवहारदर्शनात्, अनीदृशस्यैव प्रतिषेधात् तदारम्भदोषेण योगात्, यदृच्छादाने तु तदभावेऽप्यारम्भप्रवृत्तेः नासौ तदर्थं इत्यारम्भदोषायोगात्, दृश्यते च कदाचित् सूनकादाविव सर्वेभ्य एव प्रदानविकला शिष्टाभिमतानामपि पाकप्रवृत्तिरिति, विहितानुष्ठानत्वाच्च तथाविधग्रहणान्न दोष इति।

श्लोक ५१ :

१५३. वनीपकों—भिखारियों के निमित्त तैयार किया हुआ (वणिमट्ठा पगडं घ) :

दूसरों को अपनी दरिद्रता दिखाने से या उनके अनुकूल बोलने से जो द्रव्य मिलता है उसे 'वनी' कहते हैं और जो उसे पीए—उसका आस्वादन करे अथवा उसकी रक्षा करे वह 'वनीपक' कहलाता है[1]। अगस्त्यसिंह स्थविर ने श्रमण आदि को 'वनीपक' माना है[2], वह स्थानाङ्गोक्त वनीपकों की ओर संकेत करता है। वहाँ पाँच प्रकार के 'वनीपक' बतलाए हैं—अतिथि-वनीपक, कृपण-वनीपक, ब्राह्मण-वनीपक, श्व-वनीपक और श्रमण-वनीपक[3]। वृत्तिकार के अनुसार अतिथि-भक्त के सम्मुख अतिथि-दान की प्रशंसा कर उससे दान चाहनेवाला अतिथि-वनीपक कहलाता है। इसी प्रकार कृपण(रंक आदि दरिद्र) भक्त के सम्मुख कृपण-दान की प्रशंसा कर और ब्राह्मण-भक्त के सम्मुख ब्राह्मण-दान की प्रशंसा कर उससे दान चाहने वाला क्रमशः कृपण-वनीपक और ब्राह्मण-वनीपक कहलाता है। श्व (कुत्ता) भक्त के सम्मुख श्व-दान की प्रशंसा कर उससे दान चाहने वाला श्व-वनीपक कहलाता है। वह कहता है—'गाय आदि पशुओं को घास मिलना सुलभ है किन्तु छिः छिः कर दुत्कारे जाने वाले कुत्तों को भोजन मिलना सुलभ नहीं। ये कैलास पर्वत पर रहने वाले यक्ष हैं। भूमि पर यक्ष के रूप में विचरण करते हैं[4]।" श्रमण-भक्त के सम्मुख दान की प्रशंसा कर उससे दान चाहने वाला श्रमण-वनीपक कहलाता है।

हरिभद्र सूरि ने 'वनीपक' का अर्थ 'कृपण' किया है[5]। किन्तु 'कृपण' 'वनीपक का एक प्रकार है इसलिए पूर्ण अर्थ नहीं हो सकता। इस शब्द में सब तरह के भिखारी आते हैं।

श्लोक ५५ :

१५४. पूतिकर्म (पूईकम्मं ख) :

यह उद्गम का तीसरा दोष है। जो आहार आदि श्रमण के लिए बनाया जाए वह 'आधाकर्म' कहलाता है। उससे मिश्र जो आहार आदि होते हैं, वे पूतिकर्मयुक्त कहलाते हैं[6]। जैसे—अशुचि-गंध के परमाणु वातावरण को विषाक्त बना देते हैं, वैसे ही आधाकर्म-आहार का थोड़ा अंश भी शुद्ध आहार में मिलकर उसे सदोष बना देता है। जिस घर में आधाकर्म आहार बने वह तीन दिन तक पूतिदोष-युक्त होता है इसलिए चार दिन तक (आधाकर्म-आहार बने उस दिन और उसके पश्चात् तीन दिन तक) मुनि उस घर से भिक्षा नहीं ले सकता[7]।

१—ठा० ५।२०० वृ० : परेषामात्मदुःस्थत्वदर्शनेनानुकूलभाषणतो यल्लभ्यते द्रव्यं सा वनी प्रतीता, तां पिबति-पातीति वेति वनीपः स एव वनीपको—याचकः।

२—अ० चू० पृ० ११३ : समणाति वणीमगा।

३—ठा० ५।२०० : पंच वणीमगा पण्णत्ता तंजहा—अतिहिवणीमगे, किवणवणीमगे, माहणवणीमगे, साणवणीमगे, स

४—ठा० ५।२०० वृ० :

अवि नाम होज्ज सुलभो, गोणाईणं तणाइ आहारो।
छिच्छिक्कारहयाणं न हु सुलभो होज्ज सुणताणं॥
केलासभवणा एए, गुज्झगा आगया महिं।
चरंति जक्खरूवेणं, पूयाऽपूया हिताऽहिता॥

५—हा० टी० प० १७३: वनीपकाः—कृपणाः।

६—(क) पि० नि० गा० २६९ :

समणकडाहाकम्मं समणाणं जं कडेण मीसं तु।
आहार उवहि-वसही सव्वं तं पूइयं होइ॥

(ख) हा० टी० प० १७४ : पूतिकर्म—संभाव्यमानाधाकर्मावयवसंमिश्रलक्षणम्।

७—पि० नि० गा० २९८ :

पढमदिवसम्मि कम्मं तिन्नि उ दिवसाणि पूइयं होइ।
पूईसु तिसु न कप्पइ कप्पइ तइओ जया कप्पो॥

पिंडेसणा (पिण्डैषणा)

१५५. अध्यवतर (अज्झोयर ग)

'अध्यवतर' उद्गम का सोलहवाँ दोष है। अपने के लिए आहार बनाते समय साधु की याद आने पर और अधिक पकाए उसे 'अध्यवतर' कहा जाता है[1]। 'मिश्र-जात' में प्रारम्भ से ही अपने और साधुओं के लिए सम्मिलित रूप से भोजन पकाया जाता है[2] और इसमें भोजन का प्रारम्भ अपने लिए होता है तथा बाद में साधु के लिए अधिक बनाया जाता है। 'मिश्र-जात' में चावल, जल, फल [और] साग आदि का परिमाण प्रारम्भ में अधिक होता है और इसमें उनका परिमाण मध्य में बढ़ता है। यही दोनों में अन्तर है[3]।

टीकाकार 'अज्झोयर' का संस्कृत रूप अध्यवपूरक करते हैं। यह अर्थ की दृष्टि से सही है पर छाया की दृष्टि से नहीं, इसलिए हमने इसका संस्कृत रूप 'अध्यवतर' दिया है।

१५६. प्रामित्य (पामिच्चं ग)

'प्रामित्य' उद्गम का नवाँ दोष है। इसका अर्थ है—साधु को देने के लिए कोई वस्तु दूसरों से उधार लेना[4]। पिण्ड-निर्युक्ति (३१६-३२१) की वृत्ति से पता चलता है कि आचार्य मलयगिरि ने 'प्रामित्य' और 'अपमित्य' को एकार्थक माना है। ९२ वीं गाथा की वृत्ति में उन्होंने लिखा है कि वापस देने की शर्त के साथ साधु के निमित्त जो वस्तु उधार ली जाती है वह 'अपमित्य' है[5]। इसका अगला दोष 'परिवर्तित' है[6]। चाणक्य ने 'परिवर्तक', 'प्रामित्यक' और 'आपमित्यक' के अर्थ भिन्न-भिन्न किए हैं। उसके अनुसार एक धान्य से आवश्यक दूसरे धान्य का बदलना 'परिवर्तक' कहलाता है। दूसरे से धान्य आदि आवश्यक वस्तु को मागकर लाना 'प्रामित्यक' कहलाता है। जो धान्य आदि पदार्थ लौटाने की प्रतिज्ञा पर ग्रहण किये जाते हैं, वे 'आपमित्यक' कहलाते हैं[7]।

भिक्षा के प्रकरण में 'आपमित्यक' नाम का कोई दोष नहीं है। साधु को देने के लिए दूसरों से माग कर लेना और लौटाने की शर्त से लेना—ये दोनों अनुचित हैं। सम्भव है वृत्तिकार को 'प्रामित्य' के द्वारा इन दोनों अर्थों का ग्रहण करना अभिप्रेत हो, किन्तु शाब्दिक-दृष्टि से 'प्रामित्य' और 'अपमित्य' का अर्थ एक नहीं है। 'प्रामित्य' में लौटाने की शर्त नहीं होती। 'दूसरे से माग कर लेना'—'प्रामित्य' का अर्थ इतना ही है।

१५७. मिश्रजात (मीसजायं घ) :

'मिश्र-जात' उद्गम का चौथा दोष है। गृहस्थ अपने लिए भोजन पकाए उसके साथ-साथ साधु के लिए भी पका ले, वह 'मिश्र-जात' दोष है[8]। उसके तीन प्रकार हैं—यावदर्थिक-मिश्र, पाखण्डि मिश्र और साधु-मिश्र। भिक्षाचर (गृहस्थ या अगृहस्थ) और कुटुम्ब

१—हा० टी० प० १७४ : अध्यवपूरक—स्वार्थमूलाद्ग्रहणप्रक्षेपरूपम्।

२—हा० टी० प० १७४ : मिश्रजात च—आदित एव गृहिसंयतमिश्रोपस्कृतरूपम्॥

३—पि० नि० गा० ३८८-८९ :

अज्झोयरओ तिविहो जावंतिय सघरमीसपासंडे।
मूलम्मि य पुव्वकये ओयरई तिण्ह अट्ठाए॥
तंदुलजलआयाणे पुप्फफले सागवेसणे लोणे।
परिमाणे णाणत्तं अज्झोयरमीसजाए य॥

४—हा० टी० प० १७४ : प्रामित्य—साध्वर्थमुच्छिद्य दानलक्षणम्।

५—पि० नि० गा० ९२ वृत्ति : 'पामिच्चे' इति अपमित्य—भूयोऽपि तव दास्यामीत्येवमभिधाय यत् साधुनिमित्तमुच्छिन्नं गृह्यते तदपमित्यम्।

६—पि० नि० गा० ९३ : परियट्टिए।

७—कौटि० अर्थ० २.१५. ३३ : सस्यवर्णानामर्घान्तरेण विनिमयः परिवर्तकः।
सस्ययाचनमन्यतः प्रामित्यकम्।
तदेव प्रतिदानार्थमापमित्यकम्।

८—(क) पि० नि० गा० २७३ : निग्गंथट्ठा तइओ अत्तट्ठाएऽवि रंधने। वृत्ति—आत्मार्थमेव राध्यमाने तृतीयो गृहनायको ब्रूते
यथा—निर्ग्रन्थानामर्थायाधिकं प्रक्षिपेति।

(ख) हा० टी० प० १७४ : मिश्रजातं च—आदित एव गृहिसंयतमिश्रोपस्कृतरूपम्।

के लिए एक साथ पकाया जाने वाला भोजन 'यावदर्थिक' कहलाता है। पाखण्डी और अपने लिए एक साथ पकाया जाने वाला भोजन 'पाखण्डि-मिश्र' एवं जो भोजन केवल साधु और अपने लिए एक साथ पकाया जाए वह 'साधु-मिश्र' कहलाता है[1]।

श्लोक ५७ :

१५८. पुष्प, बीज और हरियाली से (पुप्फेसु [ग] · बीएसु हरिएसु वा [घ]) :

यहां पुष्प, बीज और हरित शब्द की सप्तमी विभक्ति तृतीया के अर्थ में है।

१५९. उन्मिश्र हों (उम्मीसं [ग]) :

'उन्मिश्र' एषणा का सातवां दोष है। साधु को देने योग्य आहार हो, उसे न देने योग्य आहार (सचित्त या मिश्र) से मिला कर दिया जाए अथवा जो अचित्त आहार सचित्त या मिश्र वस्तु से सहज ही मिला हुआ हो वह 'उन्मिश्र' कहलाता है[2]।

बलि का भोजन कणवीर आदि के फूलों से मिश्रित हो सकता है। पानक 'जाति' और 'पाटला' आदि के फूलों से मिश्रित हो सकता है। धानी अक्षत-बीजों से मिश्रित हो सकती है। पानक 'दाड़िम' आदि के बीजों से मिश्रित हो सकता है। भोजन अदरक, मूला आदि हरित से मिश्रित हो सकता है। इस प्रकार खाद्य और स्वाद्य भी पुष्प आदि से मिश्रित हो सकते हैं[3]।

'संहृत' में अदेय-वस्तु को सचित्त से लगे हुए पात्र में या सचित्त पर रखा जाता है और इसमें सचित्त और अचित्त का मिश्रण किया जाता है, इन दोनों में यही अन्तर है[4]।

श्लोक ५९ :

१६०. उत्तिंग (उत्तिंग [घ]) :

इसका अर्थ है—कीटिका-नगर[5]।

विशेष जानकारी के लिए देखिए ८.१५. का इसी शब्द का टिप्पण।

१६१. पनक (पणगेसु [घ]) :

'पनक' का अर्थ नीली या फफूंदी होता है[6]।

१—पि० नि० गा० २७१ : मीसज्जायं जावंतियं च पासंडिसाहुमीसं च।

२—पि० नि० गा० ६०७ :

दायव्वमदायव्वं च दोऽवि दव्वाइं देइ मीसेउं।
ओयणकुसुणाईणं साहरण तयन्नहिं छोढुं॥

३—(क) अ० चू० पृ० ११४ : तेसिं किंचि 'पुप्फेहिं' बलिकूरादि असणं उम्मिस्सं भवति, 'पाणं' पाडलादीहिं कप्पितसीतं वा किंचि वासितं, 'खादिमं' मोदगादी, 'सादिमं' वडिकादि। 'बीएहिं' अक्खतादीहिं, 'हरिएहिं' भूतणातीहिं जहासंभवं।

(ख) जि० चू० पृ० १८२ : पुप्फेहिं उम्मिस्सं नाम पुप्फाणि कणवीरमंदरादीणि तेहिं बलिमादि असणं उम्मिस्सं होज्जा, पाणं कणवीरपाडलादीणि पुप्फाणि परिकप्पंति, अहवा बीयाणि जहिं छाए पडियाणि होज्जा, अक्खयमीसा वा धाणी होज्जा पाणिए दालिमपाणगाइसु बीयाणि होज्जा, हरिताणि चिरयसयाणेसु अल्लगमूलगादीणि पक्खित्ताणि होज्जा, एवं असणपाणाणि उम्मिस्सगाणि पुप्फादीहिं भवंति एवं खाइमसाइमाणिवि भाणियव्वाणि।

(ग) हा० टी० प० १७४ : 'पुष्पैः' जातिपाटलादिभिः भवेदुन्मिश्रं बीजैर्हरितैर्वेति।

४—पि० नि० गा० ६०७।

५—(क) अ० चू० पृ० ११४ : उत्तिंगो कीडियाणगरं।

(ख) जि० चू० पृ० १८२ : उत्तिंगो नाम कीडियानगरयं।

(ग) हा० टी० प० १७५ : कीटिकानगरं।

६—(क) अ० चू० पृ० ११४ : पणओ उल्ली, ओल्लियाए कहिंचि अणंतरादिट्ठियत्तं।

(ख) जि० चू० पृ० १८२ : पणओ उल्ली भण्णइ।

(ग) हा० टी० प० १७५ : पनकेषु······उल्लीषु।

१६२. निक्षिप्त (रखा हुआ) हो (निक्खित्तं ग) :

निक्षिप्त दो तरह का होता है—अनन्तर निक्षिप्त और परम्पर निक्षिप्त। नवनीत जल के अन्दर रखा जाता है—यह अनन्तर निक्षिप्त का उदाहरण है। सचित्त जीवों के भय से दधि आदि का बर्तन जलकुण्ड में रखा जाता है—यह परम्पर निक्षिप्त का उदाहरण है[1]। जहाँ जल, उत्तिंग, पनक का अशन आदि के साथ सीधा सम्बन्ध हो जाता है वहाँ अशन आदि अनन्तर निक्षिप्त कहलाते हैं। जहाँ जल, उत्तिंग, पनक आदि का सम्बन्ध अशन आदि के साथ सीधा नहीं होता केवल भोजन के साथ होता है वहाँ अशनादि परम्पर निक्षिप्त कहलाते हैं। दोनों प्रकार के निक्षिप्त अशनादि साधु के लिए वर्जित हैं। यह ग्रहैषणा-दोष है[2]।

श्लोक ६१ :

१६३. उसका (अग्नि का) स्पर्श कर (संघट्टिया घ) :

साधु को भिक्षा दूँ उतने समय में रोटी आदि जल न जाये, दूध आदि उफन न जाये ऐसा सोचकर रोटी या पूआ आदि को उलट कर, दूध आदि को निकाल कर अथवा जल का छींटा देकर अथवा जलते ईंधन को हाथ, पैर आदि से छू कर देना—यह संघट्टन-दोष है[3]।

श्लोक ६३ :

१६४. श्लोक ६३ :

अगस्त्य चूर्णि और जिनदास चूर्णि के अनुसार यह श्लोक संग्रह-गाथा है। इस संग्रह-गाथा में अगस्त्य चूर्णि के अनुसार निम्न नौ गाथाएँ समाविष्ट हैं :

१. असणं पाणगं वावि खाइमं साइमं तहा ॥
अगणिम्मि होज्ज निक्खित्तं तं च उस्सिक्किया दए ॥
२. .... तं च ओसक्किया दए ॥
३. .... तं च उज्जालिया दए ॥
४. .... तं च विज्झाविया दए ॥
५. .... तं च उस्सिंचिया दए ॥
६. .... तं च उक्कड्ढिया दए ॥
७. .... तं च निस्सिंचिया दए ॥
८. .... तं च ओवत्तिया दए ॥
९. .... तं च ओतारिता दए ॥

जिनदास चूर्णि के अनुसार सात श्लोकों का विषय संगृहीत है[4]।

१—(क) अ० चू० पृ० ११४ : निक्खित्तमणंतर परंपर च। अणंतर णवणीय-पोयलियाति, परंपरनिक्खित्तमसणाति भायणत्थमुवरि जलकुंडस्स विण्णत्थं।

(ख) जि० चू० पृ० १८२ : उदगंमि निक्खित्तं दुविहं, तं०—अणंतरणिक्खित्तं जधा नवनीतपोग्गलियमादि, परंपरनिक्खित्तं दहिपिढरो संपातिमादिभयेण धोतूण जलकुंडस्स उवरि ठवितं।

(ग) हा० टी० प० १७५ : उदयनिक्खित्तं दुविहं - अणंतरं परंपरं च, अणंतरं णवणीतपोग्गलियमादि, परोप्पर जलघडोवरि-भायणत्थं दधिमादि।

२—अ० चू० पृ० ११४ : एत्थ निक्खित्तमिति गहणेसणा दोसा भणिता।

३—(क) अ० चू० पृ० ११५ : 'जाव साधूणं भिक्खं देमि ताव मा डज्झिहिती उब्भुत्तिहिति वा' आहट्टेऊण देति, पूवलियं वा उत्थल्लेऊण, उम्मुयाणि वा हत्थपादेहिं संघट्टेता।

(ख) जि० चू० पृ० १८२ : संघट्टिया नाम जाव अहं साहूण भिक्खं देमि ताव मा उब्भराइऊण छड्डिज्जिहिति तेण आवट्टेऊण देइ।

(ग) हा० टी० प० १७५ : संघट्य संघट्ट्य, यावद्भिक्षां ददामि तावत्सापातिशयिष्यत मा भूदुद्वर्तिष्यत इत्यासंघट्ट्य ददातीति।

४—जिनदास चूर्णि में श्लोक-संख्या २ और ५ नहीं हैं।

श्लोक ६९ :

१७७. मालापहृत (मालोहडं ग) :

मालापहृत उद्गम का तेरहवां दोष है। इसके तीन प्रकार हैं—

(१) ऊर्ध्व-मालापहृत—ऊपर से उतारा हुआ।

(२) अधो-मालापहृत—भूमि-गृह (तल-घर या तहखाना) से लाया हुआ।

(३) तिर्यग्-मालापहृत—ऊँडे वर्तन या कोठे आदि में से झुककर निकाला हुआ[1]।

यहाँ सिर्फ ऊर्ध्व-मालापहृत का निषेध किया गया है[2]। अगस्त्य चूर्णि का मत इससे भिन्न है—देखिए ६६ वें श्लो... टिप्पण।

६७ वें श्लोक में निश्रेणि, फलक, पीठ मंच, कील और प्रासाद—इन छः शब्दों के अन्वय में चूर्णिकार और टीकाकार एकमत ... हैं। चूर्णिकार निश्रेणि, फलक और पीठ को आरोहण के साधन तथा मंच, कील और प्रासाद को आरोह्य-स्थान मानते हैं[3]।

आयार चूला के अनुसार चूर्णिकार का मत ठीक जान पड़ता है। वहाँ १।८७ वें सूत्र में अन्तरिक्ष स्थान पर रखा हुआ आहार ... जाए उसे मालापहृत कहा गया है और अन्तरिक्ष-स्थानों के जो नाम गिनाए हैं उनमें 'थंभंसिवा', मंचंसिवा, पासायंसि वा'—ये ... यहाँ उल्लेखनीय हैं। इन्हें आरोह्य-स्थान माना गया है। १।८७ वें सूत्र में आरोहण के साधन वतलाए हैं उनमें 'पीढं वा, फलगं ... निस्सेणिं वा'—इनका उल्लेख किया है। इन दोनों सूत्रों के आधार पर कहा जा सकता है कि इन छहों शब्दों में पहले तीन शब्द जि... चढ़ा जाए उनका निर्देश करते हैं और अगले तीन शब्द चढ़ने के साधनों को वताते हैं।

टीकाकार ने 'मंच' और 'कील' को पहले तीन शब्दों के साथ जोड़ा उसका कारण इनके आगे का 'च' शब्द जान पड़ता है। ... उन्होंने 'च' के पूर्ववर्ती पांचों को प्रासाद से भिन्न मान लिया[4]।

श्लोक ७० :

१७८. पत्ती का शाक (सन्निरं घ) :

अगस्त्यसिंह स्थविर ने इसका अर्थ केवल 'शाक' किया है[5]।

जिनदास और हरिभद्र इसका अर्थ 'पत्र-शाक' करते हैं[6]।

१७९. घीया (तुंबागं ग) :

जिसकी त्वचा म्लान हो गई हो और अन्तर्-भाग अम्लान हो, वह 'तुंबाग' कहलाता है[7]। हरिभद्र सूरि ने तुम्वाक का अर्थ ...

१—पि० नि० गा० ३६३।

२—तुलना के लिए देखिए आयारचूला १।८७-८९।
अधो मालापहृत के लिए देखिए आयारचूला १।८७-८९।

३—(क) अ० चू० पृ० ११७ : निस्सेणी मालादीण आरोहण-कट्ठं संघातिमं फलगं, पहुलं कट्ठमेव ण्हणाति उपयोज्जं पीढं।... उस्सवेत्ताण उद्धं ठवेऊण आरूहे चडेज्ज।........मंचो सयणीयं चडणमंचिगा वा। खीलो भूमिसमाकोट्टितं कट्ठं।... समालको घरविसेसो। एताणि समणट्ठाए दाया चडेज्जा....

(ख) जि० चू० पृ० १८३ : णिस्सेणी लोगपसिद्धा फलगं-महल्लं सुवण्णयं भवइ, पीढयं ण्हाणपीढाइ, उस्सवित्ता नाम ... उद्धहुत्ताणि काऊण तिरिच्छाणि वा आरुहेज्जा, मंचो लोगपसिद्धो, कीलो उड्डं व खाणुं, पासाओ पसिद्धो, ... संजतट्ठाए आरुहेत्ता भत्तपाणं आणेज्जा।

४—हा० टी० प० १७६ : निश्रेणिं फलकं पीठम् 'उस्सवित्ता' उत्सृत्य ऊर्द्धं कृत्वा इत्यर्थः, आरोहेन्मञ्चं, कीलकं च ... समारोहेदित्याह—प्रासादम्।

५—अ० चू० पृ० ११७ : 'सन्निरं' सागं।

६—(क) जि० चू० पृ० १८४ : सन्निरं पत्तसागं।
(ख) हा० टी० प० १७६ : सन्निरमिति पत्रशाकम्।

७—(क) अ० चू० पृ० ११७ : तुम्बागं जं तयाए मिलाणमभिलाणं अंतो त्वम्लानम्।
(ख) जि० चू० पृ० १८४ : तुम्बागं नाम जं तयामिलाणं अब्भंतरओ अद्दयं।

१८४. रज से (रएण [ख]) :

रज का अर्थ है—हवा से उड़कर आई हुई अरण्य की सूक्ष्म सचित्त (सजीव) मिट्टी[1]।

श्लोक ७३ :

१८५. पुद्गल,…अनिमिष (पुग्गलं [क]… अणिमिसं [ख]) :

पुद्गल शब्द जैन-साहित्य का प्रमुख शब्द है। इसका जैनेतर साहित्य में क्वचित् प्रयोग हुआ है। बौद्ध-साहित्य में पुद्गल के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। कौटिलीय अर्थशास्त्र में इसका प्रयोग आभरण के अर्थ में हुआ है[2]। जैन-साहित्य में पुद्गल एक द्रव्य परमाणु और परमाणु-स्कन्ध—इन दोनों की संज्ञा 'पुद्गल' है। कहीं-कहीं आत्मा के अर्थ में भी इसका प्रयोग मिलता है[3]।

प्रस्तुत श्लोक में जो 'पुद्गल' शब्द है उसके संस्कृत रूप 'पुद्गल' और 'पौद्गल' दोनों हो सकते हैं। चूर्णि और टीका-साहि पुद्गल का अर्थ मांस भी मिलता है[4]। यह इसके अर्थ का विस्तार है। पौद्गल का अर्थ पुद्गल-समूह होता है। किसी भी वस्तु के कं संस्थान या बाह्य रूप को पौद्गल कहा जा सकता है। स्थानांग में मेघ के लिए 'उदगपोग्गलं' (सं० उदकपौद्गलम्') शब्द प्रयुक्त हुआ पौद्गल का अर्थ मांस, फल या उसका गूदा—इनमें से कोई भी हो सकता है। इसलिए यहाँ कुछ व्याख्याकारों ने इसका मांस और कइयों ने वनस्पति—फल का अन्तर्भाग किया है।

इस प्रकार अनिमिष शब्द भी मत्स्य तथा वनस्पति दोनों का वाचक है। चूर्णिकार पुद्गल और अनिमिष का अर्थ मांस-म परक करते हैं[6]। वे कहते हैं—साधु को मांस खाना नहीं कल्पता, फिर भी किसी देश, काल की अपेक्षा से इस अपवाद सूत्र की रचना है[7]। टीकाकार मांस-परक अर्थ के सिवाय मतान्तर के द्वारा इनका वनस्पति-परक अर्थ भी करते हैं[8]।

आयारचूला १।१३३-१३४ वें सूत्र से इन दो श्लोकों की तुलना होती है। १३३ वें सूत्र में इक्षु, शाल्मली इन दो वनस्पतिव शब्दों का उल्लेख है और १३४ वें सूत्र में मांस और मत्स्य शब्द का उल्लेख है। वृत्तिकार शीलाङ्क सूरि मांस और मत्स्य का लोक-प्र अर्थ करते हैं, किन्तु वे मुनि के लिए इन्हें अभक्ष्य बतलाते हैं। उनके अनुसार बाह्योपचार के लिए इनका ग्रहण किया जा सकता किन्तु खाने के लिए नहीं[9]।

अगस्त्यसिंह स्थविर, जिनदास महत्तर और हरिभद्र सूरि के तथा शीलाङ्कसूरि के दृष्टिकोण में अन्तर केवल आशय के अस्पष्टी और स्पष्टीकरण का है, ऐसा सम्भव है। वे अपवाद रूप में मांस और मत्स्य के लेने की बात कहकर रुक जाते हैं, किन्तु उनके उ की चर्चा नहीं करते। शीलाङ्कसूरि उनके उपयोग की बात बता सूत्र के आशय को पूर्णतया स्पष्ट कर देते हैं।

१—(क) अ० चू० पृ० ११८ : रयेण अरण्णातो वायुसमुद्धतेण समंततो घत्यं।
(ख) जि० चू० पृ० १८४ : तत्य वायुणा उद्धुएण आरण्णेण सच्चित्तेण रएण।
(ग) हा० टी० प० १७६ : 'रजसा' पार्थिवेन।

२—कौटि० अर्थ० २.१४ प्र० ३२ : तस्माद् वज्रमणिमुक्ताप्रवालरूपाणां जातिरूपवर्णप्रमाणपुद्गललक्षणान्युपलभेत।
व्याख्या:—उच्चावचहरणोपायसम्भवात्, वज्रमणिमुक्ताप्रवालरूपाणां वज्रादिरूपाणां चतुर्णां, जातिरूपवर्णप्रमाणपु मणमादि, जाति—उत्पत्तिः, रूपम् —आकारः, वर्णः—रागः, प्रमाणं —मापकादिपरिमाणं, पुद्गलम् —आभरणं, लक्षणं—ल एतानि उपलभेत —विद्यात्।

३—सू० १.१३.१५ : उत्तमपोग्गले। वृत्ति —उत्तमः पुद्गल—आत्मा।

४—नि० भा० गा० १३५ चूर्णि : पोग्गल मोयगदंते……पोग्गलं—मंसं।

५—ठा० ३.३५६ वृ० : उदकप्रधानं पौद्गलम्—पुद्गलसमूहो मेघः इत्यर्थः, उदकपौद्गलम्।

६—(क) अ० चू० पृ० ११८ : पोग्गलं प्राणिविकारो। ..अणिमिसो वा कंटकायितो।
(ख) जि० चू० पृ० १८४ : बहुअट्ठियं व मंसं मच्छं वा बहुकंटयं।

७—(क) अ० चू० पृ० ११८ : मसादीण अग्गहणे गति देस-काल गिलाणावेक्खमिदमववातसुत्तं।
(ख) जि० चू० पृ० १८४ : मंस वा णेव कप्पति साहूणं कंचि कालं देसं पडुच्च इमं सुत्तमागतं।

८—हा० टी० प० १७६ : बह्वस्थि 'पुद्गलं' मांसम् 'अनिमिषं वा' मत्स्यं वा बहुकण्टकम्, अयं किल कालाद्यपेक्षया ग्रहणे प्रतिषेध, अन्ये त्वभिदधति —वनस्पत्यधिकारात्तथाविधफलाभिधाने एते इति।

९—आ० चू० १।१३४ वृ० : एवं मांससूत्रमपि नेयम्, अस्य चोपादानं क्वचिल्लूताद्युपशमनार्थं सद्वैद्योपदेशतो बाह्यपरिभोगेन स्वेदादिना ज्ञानाद्युपकारकत्वात्, फलवद् दृष्टं, भुजिश्चात्र बहिःपरिभोगार्थे, नाभ्यवहारार्थे, पदातिभोगवदिति।

१९०. उच्चावच पानी (उच्चावयं पाणं [क])

उच्च और अवच शब्द का अर्थ है ऊँच और नीच। जल के प्रसङ्ग में इनका अर्थ होगा—श्रेष्ठ और अश्रेष्ठ। जिसके वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श श्रेष्ठ हों वह 'उच्च' और जिसके वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श श्रेष्ठ न हों वह 'अवच' कहलाता है।

जो वर्ण में सुन्दर, गंध से अपूति—दुर्गन्ध रहित, रस से परिपक्व और स्पर्श से स्निग्धता रहित हो वह उच्च जल है और इतर को कल्पता है। जो ऐसे वर्ण आदि से रहित है वह अवच और अग्राह्य है।

द्राक्षा-जल 'उच्च जल' है और आरनाल का पूति—दुर्गन्धयुक्त जल 'अवच जल' है[1] :

'उच्चावच' का अर्थ नाना प्रकार भी होता है[2]।

१९१. गुड़ के घड़े का धोवन (वारधोयणं [ख]) :

चूर्णि-द्वय में 'वालधोवणं' पाठ है। चूर्णिकार ने यहाँ रकार और लकार का एकत्व माना है[3]। 'वार' घड़े को कहते हैं। फाणित—गुड़ आदि से लिप्त घड़े का धोवन 'वार-धोवन' कहलाता है[4]।

१९२. आटे का धोवन (संसेइमं [ग])

'संसेइम का' अर्थ आटे का धोवन होता है[5]। शीलाङ्काचार्य इसका अर्थ तिल का धोवन और उबाली हुई भाजी जिसे ठंडे जल से सींचा जाए, वह जल, करते हैं[6]। अगस्त्यसिंह स्थविर और अभयदेव सूरि शीलाङ्काचार्य के दूसरे अर्थ को स्वीकृत करते हैं[7]। निशीथ चूर्णि में भी 'संसेइमं' का यह दूसरा अर्थ मिलता है[8]।

१९३. जो अधुना-धौत (तत्काल का धोवन) हो (अहुणाधोयं [घ]) :

यह एषणा के आठवें दोष 'अपरिणत' का वर्जन है। आयार चूला के अनुसार अनाम्ल—जिसका स्वाद न बदला हो, अव्युत्क्रान्त—

१—(क) अ० चू० पृ० ११८ : 'उच्चावयं' अणेगविधं वण्ण-गंध-रस-फासेहिं हीण-मज्झिमुत्तमं।

(ख) जि० चू० पृ० १८५ : उच्चं च अवचं च उच्चावचं, उच्चं नाम जं वण्णगंधरसफासेहिं उववेयं, तं च मुद्दियापाणगादी चउत्थरसियं वावि जं वण्णओ सोभणं गंधओ अपूयं रसओ परिकप्परसं फासओ अपिच्छिलं तं उच्चं भण्णइ, तं च्चा अवयं णाम जमेतेहिं वण्णगंधरसफासेहिं बिहीणं, तं अवयं भन्नति, एवं ता वसतीए घेप्पति।

(ग) हा० टी० प० १७७ : 'उच्च' वर्णाद्युपेतं द्राक्षापानादि 'अवचं' वर्णादिहीनं पूत्यारनालादि।

२—जि० चू० पृ० १८५ : अहवा उच्चावयं णाम णाणापगारं भन्नइ।

३—(क) अ० चू० पृ० ११८, ११९ : अदुवा वालधोवणं, 'वालो' वारगो र-लयोरेकत्वमिति कृत्वा लकारो भवति यथा, ते वार एव वाल.।

(ख) जि० चू० पृ० १८५ : रकारलकाराणमेगत्तमितिकाउं वारओ वालओ भन्नइ।

४—(क) अ० चू० पृ० ११९ : तस्य धोवणं फाणितातीहिं लित्तस्स वालादिस्स।

(ख) जि० चू० पृ० १८५ : सो य गुलफाणियादिभायणं तस्स धोवणंवारधोवणं।

(ग) हा० टी० प० १७७ : 'वारकधावनं' गुडघटधावनमित्यर्थः।

५—(क) जि० चू० पृ० १८५ : संसेइमं नाम पाणियं अद्दहेऊण तस्सोवरि पिट्ठे संतेइज्जंति, एवमादि तं संसेदिमं भन्नति।

(ख) हा० टी० प० १७७ : 'संस्वेदजं' पिष्टोदकादि।

६—आ० चू० १।९९ वृ० : तिलधावनोदकम्, यदिवाऽरणिकादिसंस्विन्नधावनोदकं।

७—(क) अ० चू० पृ० ११९ : जम्मि किंचि सागादी संसेदेत्ता सित्तोसित्तादि कीरति तं संसेइमं।

(ख) ठा० ३.३७६ वृ० : संसेकेन निर्वृत्तमिति संसेकिमम्—अरणिकादिपत्रशाकमुत्काल्य येन शीतलजलेन संसिच्यते।

८—(क) नि० १५ गा० ४७०९ चू० : संसेतिमं णाम पिट्ठरे पाणियं तावेत्ता पिण्डियट्ठिया तिला तेन ओलहिज्जंति, इत्यादि आमा तिला ते संसेतिमासं भन्नति। आदिग्गहणेणं जं वि अण्णं किंच एतेणं कमेण संसिज्जति तं पि संसेतिमं भण्णति।

(ख) नि० १७.१३२ गा० ५९९९ चू० : संसेतिमं, तिला उण्हपाणिएण सिण्णा जति, सीतोदगा धोयंति तो संसेतिमं भण्णति।

नकी गन्ध न बदली हो, अपरिणत—जिसका रंग न बदला हो, अविध्वस्त—विरोधी शस्त्र के द्वारा जिसके जीव च्यवन न हुए हों, वह धुनाधौत जल अप्रासुक (सजीव) होने के कारण मुनि के लिए अनेषणीय (अग्राह्य) होता है[१]। जो इसके विपरीत आम्ल, व्युत्क्रान्त, रिणत, विध्वस्त होने के कारण प्रासुक (अजीव) हो वह चिरधौत जल मुनि के लिए एषणीय (ग्राह्य) होता है। यहाँ केवल अधुनाधौत जल का निषेध और चिरधौत होने के कारण जो अजीव और परिणत (परिणामान्तर प्राप्त) हो गया हो उसे लेने का विधान किया गया है[२]।

जिनदास चूर्णि और टीका में 'संसेइम' जल लेने का उत्सर्ग-विधि से निषेध और आपवादिक विधि से विधान किया है[३]। परम्परा के अनुसार जिस धोवन को अन्तर्मुहूर्त काल न हुआ हो वह अधुनाधौत और इसके बाद का चिरधौत कहलाता है। इसकी शास्त्रीय परिभाषा यह है—जिसका स्वाद, गंध, रस और स्पर्श न बदला हो वह अधुनाधौत और जिसके ये बदल गए हों वह चिरधौत है[४]। इसका आधार अधुनाधौत और अप्रासुक के मध्यवर्ती उक्त चार विशेषण हैं।

श्लोक ७६ :

१९४. मति (मईए [ख]) :

यहाँ मति शब्द कारण से उत्पन्न होने वाले ज्ञान के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। वर्ण आदि के परिवर्तन और अपरिवर्तन जल के अजीव और सजीव होने का निर्णय करने में कारण बनते हैं[५]।

मति द्वारा चिरधौत को जानने के लिए तीन उपाय बताए जाते हैं—

१—पुष्पोदक का विगलित होना।

२—बिन्दुओं का सूखना।

३—चावलों का सीझना।

चूर्णिकार के अनुसार ये तीनों अनादेश (असम्यग् विधान) हैं, क्योंकि पुष्पोदक कभी-कभी चिरकाल तक टिक सकता है। जल की ई भी सर्दी में चिरकाल से सूखती है और गर्मी में शीघ्र सूख जाती है। कलम, शालि आदि चावल जल्दी सीझ जाते हैं। घटिया चावल री से सीझते हैं। पुष्पोदक के विगलित होने में, बिन्दुओं के सूखने में और चावलों के सीझने में समय की निश्चितता नहीं है, इसलिए इनका कालमान जल के सचित्त से अचित्त होने में निर्णायक नहीं बनता[६]।

श्लोक ७८ :

१९५ बहुत खट्टा (अच्चंबिलं [ग]) :

आगम-रचना-काल में साधुओं को यवोदक, तुषोदक, सौवीर, आरनाल आदि अम्ल जल ही अधिक मात्रा में प्राप्त होते थे। उनमें

१—आ० चू० १।९९ : से भिक्खू वा भिक्खुणी वा · से जं पुण पाणगजायं जाणिज्जा, तंजहा—उस्सेइमं वा, संसेइमं वा, चाउलोदगं वा, अन्नयरं वा तहप्पगारं पाणगजायं अहुणाधोयं अणंबिलं अव्वोक्कतं अपरिणयं अविद्धत्थं अफासुयं अणेस- णिज्जं ति मन्नमाणे लाभे सते नो पडिगाहिज्जा।

२—अ० चू० पृ० ११६ : 'आउक्कायस्स चिरेण परिणामो' ति सुदियापाणग पविस्सतमेत्तं, चालते वा धोयमेत्ते, साते वा परिससमेत्ते, अभिणव-धोतेसु चाउलेसु।

३—(क) जि० चू० पृ० १८५ : तमवि अन्नंमि लब्भमाणे ण पडिगाहेज्जा।

(ख) हा० टी० प० १७७ : एतदसनवदुत्सर्गापवादाभ्यां गृह्णीयादिति।

४—जि० चू० पृ० १८५-८६ : अपुच्छिए वण्णगंधरसफासेहिं णज्जति, जया य पाणस्स य कुक्कुमावया हेट्ठोभूया सुदट्ठु य पसण्ण भवंति, फासुय भवति, उसिणोदगमवि जवा तिन्नि वारे उव्वत्तं ताहे कप्पइ।

५—(क) अ० चू० पृ० ११६ : मतीए कारणेहिं।

(ख) हा० टी० प० १७७ : मत्या दर्शनेन वा, 'मत्या' तद्ग्रहणादिरूपया।

६—जि० चू० पृ० १८५ : मतीए नाम जं कारणेहिं जाणइ, तत्थ केई इमाणि तिण्णि कारणाणि भणंति, जहा जाव पुप्फोदया विरा- मंति ताव मिस्सं, अण्णे पुण भणंति—जाव फुसियाणि सुक्कंति, अण्णे भणंति—जाव तंदुला सिज्झंति, एवमादि कालेण अविसं भवइ, तिण्णि वि एते अणाएसा, कहं ?, पुप्फोदया कयावि चिरमच्छेज्जा, फुसियाणि वरिसारत्ते चिरेण सुक्कंति, उण्हकाले लहुं, कलमसालि-तंदुलावि लहुं सिज्झंति, एतेण कारणेण।

कांजी की भांति अम्लता होती थी । अधिक समय होने पर वे जल अधिक अम्ल हो जाते थे । उनमें दुर्गन्ध भी पैदा हो जाती थी। वैसे जलों से प्यास भी नहीं बुझती थी । इसलिए उन्हें चखकर लेने का विधान किया गया है ।

श्लोक ८१ :

१९६. अचित्तं भूमि को (अचित्तं ख) :

दग्धस्थान आदि शस्त्रोपहत भूमि तथा जिस भूमि पर लोगों का आवागमन होता रहता है वह भूमि अचित्त होती है[1]।

१९७. यतना-पूर्वक (जयं ग) :

यहां 'यत' शब्द का अर्थ अत्वरित किया है[2] ।

१९८. परिस्थापित करे (परिट्ठवेज्जा ग) :

परिस्थापन (परित्याग) दश प्रायश्चित्तों में चौथा प्रायश्चित्त है[3] । अयोग्य या सदोष आहार आदि वस्तु आ जाए तो उसका परित्याग करना एक प्रायश्चित्त है, इसे 'विवेक' कहा जाता है । इस श्लोक में परित्याग कहां और कैसे करना चाहिए, परित्याग के बाद क्या करना चाहिए—इन तीन बातों का संकेत मिलता है । परित्याग करने की भूमि एकान्त और अचित्त होनी चाहिए[4] । उस भूमि का प्रतिलेखन और प्रमार्जन कर (उसे देख रजोहरण से साफ कर) परित्याग करना चाहिए[5] ।

परित्याग करते समय 'वोसिरामि'—छोड़ता हूँ, परित्याग करता हूं—यों तीन बार बोलना चाहिए[6] । परित्याग करने के बाद उपाश्रय में आकर प्रतिक्रमण करना चाहिए ।

१९९. प्रतिक्रमण करे (पडिक्कमे घ) :

प्रतिक्रमण का अर्थ है लौटना—वापस आना । प्रयोजन के बिना मुनि को कहीं जाना नहीं चाहिए । प्रयोजनवश जाए तो वापस आने पर आने-जाने में जान-अनजान में हुई भूलों की विशुद्धि के लिए ईर्यापथिकी का (देखिए आवश्यक चूर्णि ४.६) ध्यान करना चाहिए। यहाँ इसी को प्रतिक्रमण कहा गया है[7] ।

श्लोक ८२ :

२००. श्लोक ८२ :

इस श्लोक से भोजन-विधि का प्रारम्भ होता है । सामान्य विधि के अनुसार मुनि को गोचराग्र से वापस आ उपाश्रय में भोजन करना चाहिए, किन्तु जो मुनि दूसरे गांव में भिक्षा लाने जाए और वह बालक, बूढ़ा, बुभुक्षित या, तपस्वी हो या प्यास से पीड़ित हो तो

१—(क) अ० चू० पृ० १२० : अच्चित्तं झामथंडिल्लाति ।
(ख) जि० चू० पृ० १८६ : अचित्तं नाम जं सत्थोवहयं अचित्तं, तं च आगमणथंडिलादी ।
(ग) हा० टी० प० १७८ : 'अचित्तं' दग्धदेशादि ।

२—(क) जि० चू० पृ० १८६ : जयं नाम अतुरियं ।
(ख) हा० टी० प० १७८ : 'यतम्' अत्वरितम् ।

३—ठा० १०।७३ ।

४—विशेष स्पष्टता के लिए देखिए आयार चूला १।२,३ ।

५—जि० चू० पृ० १८६ : पडिलेहणागहणेण पमज्जणावि गहिया, चक्खुणा पडिलेहणा, रयहरणादिणा पमज्जणा ।

६—हा० टी० प० १७८ : प्रतिष्ठापयेद्विधिना त्रिर्वाक्यपूर्वं व्युत्सृजेत् ।

७—(क) अ० चू० पृ० १२० : पच्चागतो इरियावहियाए पडिक्कमे ।
(ख) जि० चू० पृ० १८६-८७ : परिट्ठवेऊण उवस्सयमागंतूण इरियावहियाए पडिक्कमेज्जा ।
(ग) हा० टी० प० १७८ : प्रतिष्ठाप्य वसतिमागतः प्रतिक्रामेदीर्यापथिकाम् । एतच्च बहिरागतनियमकरणमिदं प्रतिक्रमण बहिरपि प्रतिष्ठाप्य प्रतिक्रमणनियमज्ञापनार्थमिति ।

पिंडेसणा (पिण्डैषणा)

उपाश्रय मे जाने के पहले ही भोजन (कलेवा) कर सकता है। श्लोक ८२ से ८६ तक इसी आपवादिक विधि का वर्णन है। जिस गांव में वह भिक्षा के लिए जाए वहाँ साधु ठहरे हुए हों तो उनके पास जाकर आहार करना चाहिए। यदि साधु न हों तो कोष्ठक अथवा भित्ति-मूल आदि में वहाँ जाना चाहिए[1]। यदि उनका अधिकारी हो तो वहाँ ठहरने के लिए उसकी अनुमति लेनी चाहिए। आहार के लिए उपयुक्त स्थान वह होता है, जो ऊपर से छाया हुआ और चारों ओर से संवृत हो। वैसे स्थान में ऊपर से उड़ने हुए सूक्ष्म जीवों के गिरने की संभावना नहीं रहती। आहार करने से पहले 'हस्तक'[2] से समूचे शरीर का प्रमार्जन करना चाहिए[2]।

२०१. भित्तिमूल (भित्तिमूल[ग]) :

व्याख्याकारों ने इसका अर्थ दो घरों का मध्यवर्ती भाग[3], भित्ति का एक देश अथवा भित्ति का पार्श्ववर्ती भाग[4] और कुटीर या भीत किया है[5]।

श्लोक ८३ :

२०२. अनुज्ञा लेकर (अणुन्नवेत्तु[क]) :

स्वामी से अनुज्ञा प्राप्त करने की विधि इस प्रकार है—"हे श्रावक ! तुम्हें धर्म-लाभ है। मैं मुहूर्त भर यहाँ विश्राम करना चाहता हूँ" मुनि यह कहे, 'किन्तु यहाँ खाना-पीना चाहता हूँ' यह न कहे, क्योंकि ऐसा कहने पर गृहस्थ कुतूहलवश वहाँ आने का प्रयत्न कर सकता है।[6] अनुज्ञा देने की विधि इस प्रकार है—गृहस्थ नतमस्तक होकर कहता है—"आप चाहते हैं वैसे विश्राम की अनुज्ञा देता हूँ।"

२०३. छाए हुए एवं संवृत स्थल में (पडिच्छन्नम्मि संवुडे[ख]) :

जिनदास चूर्णि के अनुसार 'प्रतिच्छन्न' स्थान का और 'संवृत' मुनि का विशेषण है[8]। अगस्त्य चूर्णि और टीका के अनुसार 'प्रतिच्छन्न' और 'संवृत'—ये दोनों शब्द स्थान के विशेषण हैं[9]। उत्तराध्ययन (१.३५) में ये दोनों शब्द प्रयुक्त हुए हैं। शान्त्याचार्य ने इन दोनों को मुख्यार्थ में स्थान का विशेषण माना है[10]।

१—(क) अ० चू० पृ० १२० : गोतरग्गगतस्स भोसव्वसंभवो गामंतर भिक्खायरियाए गतस्स काल-क्खमण-पुरिसे आसज्ज पढमालियं।
(ख) जि० चू० पृ० १८७ : जो य सो गोयरग्गगओ भुंजइ सो अन्न गामं गओ बालो वुड्ढो छायालू खमओ वा, अहवा तिसिओ सो कोई विलंबणं काऊण पाणयं पिबेज्जा, एवमावि, पढमालियं काउं, तं पुण अण्णसाहुउवस्सगऽसतीए कुट्ठए भित्तिमूले वा समुद्दिसेज्जा।

२—देखिए टिप्पण संख्या २०४।

३—प्रश्न० (सं०) पृ० २०२ : सपमज्जिऊण ससीसं कायं।

४—अ० चू० पृ० १२० : दोण्हं घराण अंतर भित्तिमूलं।

५—हा० टी० प० १७८ : 'भित्तिमूलं वा' कुड्यैकदेशादि।

६—जि० चू० पृ० १८७ : भित्ती नाम कुड्डो कुड्डो।

७—(क) अ० चू० पृ० १२० : धम्मलाभपुव्वं तस्स ठाणस्स पभुमणुण्णवेति—जदि ण उवरोहो एत्थ मुहुत्तं वीससामि, ण भणति 'समुद्दिसामि' मा कोतुहल्लेण एहितो।
(ख) जि० चू० पृ० १८७ : तेण तत्थ ठायमाणेण तत्थ पहू अणुन्नवेयव्वो—धम्मलाभो ते सावगा ! एत्थ अहं मुहुत्तागमि विस्समामि, ण य भणति जहा समुद्दिस्सामि आययामि वा, कोउएण पलोएहिंति।
(ग) हा० टी० प० १७८ : 'अनुज्ञाप्य' सागारिकपरिहारतो विश्रमणव्याजेन तत्स्वामिनमवग्रहम्।

८—जि० चू० पृ० १८७ : पडिच्छण्णे संवुडे ठातियव्वं जहा सहसत्ति न दीसती, जहा य सागारियं दूरओ जं न पासति तहा ठातियव्वं।

९—(क) अ० चू० पृ० १२० : पडिच्छण्णे थाणे संवुडो सयं जधा सहसा ण दीसति सयमावयंतं पेच्छति।
(ख) हा० टी० प० १७८ : 'प्रतिच्छन्ने' उपरिप्रावरणान्विते, अन्यथा सम्पातिमसत्त्वसम्पातसम्भवात्, 'संवृते' पार्श्वतः कटकु-ड्यादिना सङ्कटद्वारे अटव्यां कुडङ्गादिषु वा।

१०—उत्त० बृ० पत्र ६०,६१ : 'प्रतिच्छन्ने' तत्र कोष्ठकादौ 'संवृत' उपयुक्तः सन् ·······संवृतो वा सकलाश्रवविरमणात्।

बृहत्कल्प के अनुसार मुनि का आहार-स्थल प्रतिच्छन्न—ऊपर से छाया हुआ और संवृत—पार्श्व-भाग से आवृत होना चाहिए। इस दृष्टि से 'प्रतिच्छन्न' और 'संवृत' दोनों स्थान के विशेषण होने चाहिए।

२०४. हस्तक से (हत्थगं [ग]) :

'हस्तक' का अर्थ—मुखपोतिका, मुख-वस्त्रिका होता है[1]। कुछ आधुनिक व्याख्याकार 'हस्तक' का अर्थ पूंजनी (प्रमार्जनी) करते हैं, किन्तु यह साधार नहीं लगता। ओघनिर्युक्ति आदि प्राचीन ग्रन्थों में मुख-वस्त्रिका का उपयोग प्रमार्जन बतलाया है[2]। पात्र-केसरिका का अर्थ होता है—पात्र-मुख-वस्त्रिका—पात्र-प्रमार्जन के काम आने वाला वस्त्र-खण्ड[3]। 'हस्तक', मुख-'वस्त्रिका' और 'मुखानन्तक'—ये तीनों पर्यायवाची शब्द हैं।

श्लोक ८४ :

२०५. गुठली, कांटा (अट्ठियं कंटओ [ख]) :

चूर्णिकार इनका अर्थ हड्डी और मछली का कांटा करते हैं और इनका सम्बन्ध देश-काल की अपेक्षा से ग्रहण किए हुए मांस आदि से जोड़ते हैं[4]।

अस्थिक और कंटक प्रमादवश गृहस्थ द्वारा मुनि को दिए हुए हो सकते हैं—ऐसा टीकाकार का अभिमत है। उन्होंने एक मतान्तर का भी उल्लेख किया है। उसके अनुसार अस्थिक और कंटक कारणवश गृहीत भी हो सकते हैं[5]। किन्तु यहां अस्थिक और कंटक का अर्थ हड्डी और मछली का कांटा करना प्रकरण-संगत नहीं है। गोचराग्र-काल में आहार करने के तीन कारण बतलाए हैं—असहिष्णुता, ग्रीष्मऋतु का समय और तपस्या का पारणा[6]। ओघनिर्युक्ति के भाष्यकार ने असहिष्णुता के दो कारण बतलाए हैं—भूख और प्यास[7]। क्लान्त होने पर मुनि भूख की शांति के लिए थोड़ा-सा खाता है और प्यास की शांति के लिए पानी पीता है। यहां 'भुंजमाण' शब्द का अर्थ परिभोग किया जा सकता है। उसमें खाना और पीना—ये दोनों समाते हैं।

गुठली और कांटे का प्रसंग भोजन की अपेक्षा पानी में अधिक है। आयारचूला[8] में कहा है कि आम्रातक, कपित्थ, बिजौरे, दाख, खजूर, नारियल, करीर (करील—एक प्रकार की कंटीली झाड़ी), बेर, आंवले या इमली का धोवन 'सअट्ठियं' (गुठली सहित), 'सकणुयं' (छिलके सहित) और 'सबीयगं' (बीज सहित) हो, उसे गृहस्थ वस्त्र आदि से छानकर दे तो मुनि न ले।

इस सूत्र के 'सअट्ठियं' शब्द की तुलना प्रस्तुत श्लोक के 'अट्ठियं' शब्द से होती है। शीलाङ्काचार्य ने 'सअट्ठियं' शब्द का अर्थ गुठली सहित किया है[9]।

१—(क) जि० चू० पृ० १८७ : हत्थगं मुहपोत्तिया भण्णइत्ति।

(ख) हा० टी० प० १७८ : 'हस्तकं' मुखवस्त्रिकारूपम्।

२—ओ० नि० ७१२ वृ० : संपातिमसत्त्वरक्षणार्थं जल्पद्भिर्मुखे दीयते, तथा रजः—सचित्तपृथिवीकायस्तत् प्रमार्जनार्थं मुखवस्त्रिका गृह्यते, तथा रेणुप्रमार्जनार्थं मुखवस्त्रिकाग्रहणं प्रतिपादयन्ति पूर्वर्षयः। तथा नासिकामुखं बध्नाति तया मुखवस्त्रिकया वसतिं प्रमार्जयन् येन न मुखादौ रजः प्रविशतीति।

३—ओ० नि० ६९८ वृ०।

४—(क) अ० चू० पृ० १२१ : अट्ठितं कारणगहितं अणाभोगेण वा, एवं अणिमिसं।

(ख) जि० चू० पृ० १८७ : जइ तस्स साहुणो तत्थ भुंजमाणस्स देसकालादीणि पडुच्च गहिए मंसादीए अन्नपाणे अट्ठी वा कंटओ वा हुज्जा।

५—हा० टी० प० १७८ : अस्थि कण्टको वा स्यात्, कथंचित् गृहिणां प्रमाददोषात्, कारणगृहीते पुद्गल एवेत्यन्ये।

६—ओ० नि० गा० २५०।

७—ओ० नि० भाष्य १४६।

८—आ० चू० १।११०४।

९—आ० चू० १।११०४ वृ० : 'सास्थिकं' सहास्थिना कुलेन वर्तते।

आयारचूला में जिन बारह प्रकार की वनस्पति के फलों के धोवन का उल्लेख किया गया है उनमें लगभग सभी फल गुठली या बीज वाले हैं और उनके कुछ पेड़ कटीले भी हैं। इसीलिए दाता के प्रमादवश किसी धोवन में गुठली और कांटे का रहना संभव भी है। हो सकता है वे भोजन में भी रह जाएं। किन्तु यहां ये दोनों शब्द हड्डी और मत्स्य-कंटक के अर्थ में प्रयुक्त प्रतीत नहीं होते।

श्लोक ८७ :

२०६. श्लोक ८७ :

पिछले पांच श्लोकों (८२-८६) में गोचराग्र-गत मुनि के भोजन की विधि का वर्णन है। आगे के दस श्लोकों (८७-९६) में भिक्षा लेकर उपाश्रय में आहार करने की और उसकी अन्तराल-विधि का वर्णन है। इसमें सबसे पहले स्थान-प्रतिलेखना की बात आती है।

गृहस्थ के पास से भिक्षा लेने के बाद मुनि को उसका विशोधन करना चाहिए। उसमें जीव-जन्तु या कंटक आदि हों तो उन्हें निकाल कर अलग रख देना चाहिए।

ओघनिर्युक्तिकार ने भिक्षा-विशुद्धि के तीन स्थान बतलाए हैं —शून्य-गृह, वह न हो तो देव-कुल और वह न मिले तो उपाश्रय का द्वार[1]। इसलिए आश्रय में प्रविष्ट होने से पहले स्थान-प्रतिलेखना करनी चाहिए और प्रतिलेखित स्थान में आहार की विशुद्धि कर फिर उपाश्रय में प्रवेश करना चाहिए। प्रवेश-विधि इस प्रकार है—पहले रजोहरण से पादप्रमार्जन करे, उसके बाद तीन बार 'निसीहिया' (आवश्यक कार्य से निवृत्त होता हूं) बोले और गुरु के सामने आते ही हाथ जोड़ 'णमो खमासमणाणं' बोले। इस सारी विधि को विनय कहा गया है[2]।

उपाश्रय में प्रविष्ट होकर स्थान-प्रतिलेखन कर भिक्षा की झोली को रख दे, फिर गुरु के समीप आ 'ईर्यापथिकी' सूत्र पढ़े, फिर कायोत्सर्ग (शरीर को निश्चल बना भुजाओं को प्रलंबितकर खड़ा रहने की मुद्रा) करने के लिए 'तस्सोत्तरी करणेणं'[3] सूत्र पढ़े, फिर कायोत्सर्ग करे। उसमें अतिचारों की क्रमिक स्मृति करे, फिर 'लोगस्स उज्जोयगरे'[4] सूत्र का चिन्तन करे[5]।

ओघनिर्युक्तिकार कायोत्सर्ग में केवल अतिचार-चिन्तन की विधि बतलाते हैं[6]। जिनदास महत्तर अतिचार-चिन्तन के बाद 'लोगस्स' सूत्र के चिन्तन का निर्देश देते हैं[7]। नमस्कार-मंत्र के द्वारा कायोत्सर्ग को पूरा कर गुरु के पास आलोचना करे। चूर्णिकार और टीकाकार के अनुसार आलोचना करने वाला अव्याक्षिप्त-चित्त होकर (दूसरों से वार्तालाप न करता हुआ) आलोचना करे[8]। ओघनिर्युक्ति के अनुसार आचार्य व्याक्षिप्त न हों, धर्म-कथा, आहार-नीहार, दूसरे से बातचीत करने और विकथा में लगे हुए न हों तब उनके पास आलोचना करनी चाहिए[9]।

आलोचना करने से पहले वह आचार्य की अनुज्ञा ले और आचार्य अनुज्ञा दे तब आलोचना करे[10]। जिस क्रम से भिक्षा ली हो उसी क्रम से पहली भिक्षा से प्रारम्भ कर अन्तिम भिक्षा तक जो कुछ बीता हो वह सब आचार्य को कहे। समय कम हो तो आलोचना (निवेदन)

१—ओ० नि० गा० ५०३।

२—ओ० नि० गा० ५०९।

३—आव० ५.३।

४—आव० २।

५—जि० चू० पृ० १८८।

६—ओ० नि० गा० ५१२।

७—जि० चू० पृ० १८८ : ताहे 'लोगस्सुज्जोयगर' कड्ढिऊण समतियारं आलोएइ।

८—(क) जि० चू० पृ० १८८ : अव्वक्खित्तेण चेतसा नाम समालोयंतो अण्णेण केणइ समं न उल्लावइ, अवि पयत्तं वा अन्नस्स न देई।

(ख) हा० टी० प० १७६ : अव्याक्षिप्तेन चेतसा, अन्यत्रोपयोगमगच्छतेत्यर्थः।

९—ओ० नि० गा० ५१४।

१०—ओ० नि० गा० ५१५।

का संक्षेप भी किया जा सकता है[1]। आलोचना आचार्य के पास की जानी चाहिए अथवा आचार्य-सम्मत किसी दूसरे मुनि के पास भी वह की जा सकती है[2]। आलोचना सरल और अनुद्विग्न भाव से करनी चाहिए। स्मृतिगत अतिचारों की आलोचना करने के बाद भी अज्ञात या विस्मृत पुरःकर्म, पश्चात् कर्म आदि अतिचारों की विशुद्धि के लिए फिर प्रतिक्रमण करे—'पडिक्कमामि गोयरचरियाए'[3] इत्यादि पढ़े। फिर व्युत्सृष्ट-देह[4] (प्रलम्बित बाहु और स्थिर देह खड़ा) होकर निरवद्यवृत्ति और शरीर धारण के प्रयोजन का चिंतन करे[5]। नमस्कार मंत्र पढ़कर, कायोत्सर्ग को पूरा करे और जिन-संस्तव—'लोगस्स' सूत्र पढ़े। उसके बाद स्वाध्याय करे—एक मण्डली में भोजन करने वाले सभी मुनि एकत्रित न हो जाएँ तब तक स्वाध्याय करे। ओघनिर्युक्ति के अनुसार आठ उच्छ्वास तक नमस्कार-मंत्र का ध्यान करे या 'जइ मे अणुग्गहं कुज्जा' इत्यादि दो श्लोकों का ध्यान करे[6]। फिर मुहूर्त्त तक स्वाध्याय करे (कम से कम तीन गाथा पढे) जिससे परिश्रम के बाद तत्काल आहार करने से होने वाले धातु-क्षोभ, मरण आदि दोष टल जाएँ[7]।

मुनि दो प्रकार के होते हैं—

१. मण्डल्युपजीवी—मण्डली के साथ भोजन करने वाले।

२. अमण्डल्युपजीवी—अकेले भोजन करने वाले।

मण्डल्युपजीवी मुनि मण्डली के सब साधु एकत्रित न हो जाएँ तब तक आहार नहीं करता। उनकी प्रतीक्षा करता रहता है। अमण्डल्युपजीवी मुनि भिक्षा लाकर कुछ क्षण विश्राम करता है[8]। विश्राम के क्षणों में वह अपनी भिक्षा के अर्पण का चिन्तन करता है। उसके बाद आचार्य से प्रार्थना करता है—"भंते ! यह मेरा आहार आप लें।" आचार्य यदि न लें तो वह फिर प्रार्थना करता है—"भंते आप पाहुने, तपस्वी, रुग्ण, बाल, वृद्ध या शिक्षक—इनमें से जिस किसी मुनि को देना चाहें उन्हें दें।" यों प्रार्थना करने पर आचार्य पाहुने आदि में से किसी मुनि को कुछ दें तो शेष रहा हुआ आचार्य की अनुमति से स्वयं खा ले और यदि आचार्य कहें कि साधुओं को तुम निमन्त्रण दो तो वह स्वयं साधुओं को निमंत्रित करे। दूसरे साधु निमन्त्रण स्वीकार करें तो उनके साथ खा ले और यदि कोई निमंत्रण स्वीकार न करे तो अकेला खा ले[9]।

निमंत्रण क्यों देना चाहिए—इसके समाधान में ओघनिर्युक्तिकार कहते हैं—जो भिक्षु अपनी लाई हुई भिक्षा के लिए साधर्मिक साधुओं को निमंत्रण देता है उससे उसकी चित्त-शुद्धि होती है। चित्त-शुद्धि से कर्म का विलय होता है, आत्मा उज्ज्वल होती है[10]। निमंत्रण आदरपूर्वक देना चाहिए। जो अवज्ञा से निमन्त्रण देता है, वह साधु-संघ का अपमान करता है। जो एक साधु

१—ओ० नि० गा० ५१८, ५१९।

२—ओ० नि० गा० ५१७।

३—आव० ४.८।

४—ओ० नि० गा० ५१० वृ० : व्युत्सृष्टदेहः—प्रलम्बितबाहुस्त्यक्तदेहः सर्पाद्युपद्रवेऽपि नोत्सारयति कायोत्सर्गम्, अथवा व्युत्सृष्टो दिव्योपसर्गेष्वपि न कायोत्सर्गभङ्गं करोति, त्यक्तदेहोऽक्षिमलदूषिकामपि नापनयति, स एवंविधः कायोत्सर्गं कुर्यात्।
विशेष जानकारी के लिए देखिए १०.१३ के 'वोसट्ठ-चत्त-देहे' की टिप्पणी।

५—अ० चू० पृ० १२२ : वोसट्ठो इमं चिंतए जं अंतरं भणीहामि।

६—ओ० नि० भाष्य २७४।

७—ओ० नि० गा० ५२१ :

> विणएण पट्ठवित्ता सज्झायं कुणइ तो मुहुत्तागं।
> पुव्वभणिया य दोसा, परिस्समाई जढा एवं ॥

८—(क) जि० चू० पृ० १८६ : जइ पुव्वं ण पट्ठवियं ताहे पट्ठविऊण सज्झायं करेइ, जाव साधुणो अन्ने आगच्छंति, जो पुण खमगो अमण्डलिओ वा सो मुहुत्तमेत्तं व सज्झो (वीसत्थो) इमं चिंतेज्जा।
(ख) हा० टी० प० १८० : स्वाध्यायं प्रस्थाप्य मण्डल्युपजीवकस्तमेव कुर्यात् यावदन्य आगच्छन्ति, यः पुनरन्यस्तः क्षपकः सोऽपि प्रस्थाप्य विश्राम्येत् 'क्षणं' स्तोककालं मुनिः।

९—ओ० नि० गा० : ५२२-२४।

१०—ओ० नि० गा० ५२६।

पडेसणा (पिण्डैषणा)

अनादर करता है, वह सब साधुओं का अनादर करता है¹। जो एक साधु का आदर करता है, वह सब साधुओं का आदर करता है²।

कारण स्पष्ट है—जिसमें साधुता, ज्ञान, दर्शन, तप और संयम है वह साधु है। साधुता जैसे एक में है वैसे सब में है। एक साधु का अपमान साधुता का अपमान है और साधुता का अपमान सब साधुओं का अपमान है। इसी प्रकार एक साधु का सम्मान साधुता का सम्मान है और साधुता का सम्मान सब साधुओं का सम्मान है³। इसीलिए कहा है कि संयम-प्रधान साधुओं का वैयावृत्य करो—भक्त-पान का लाभ करो। और सब प्रतिपाती हैं, वैयावृत्य अप्रतिपाती है⁴।

इन दस श्लोकों में से पहले श्लोक का प्रतिपाद्य है—भिक्षा-विशुद्धि के लिए स्थान का प्रतिलेखन। दूसरे का प्रतिपाद्य है—उपाश्रय में प्रवेश की विधि, ईर्यापथिकी का पाठ और कायोत्सर्ग। भूलों की विस्मृति—यह तीसरे का विषय है। चौथे का विषय है—उनकी आलोचना। छोटी या विस्मृत भूलों की विशुद्धि के लिए पुन प्रतिक्रमण, चिन्तन और चिन्तनीय विषय ये पाँचवें और छट्ठे में हैं। कायोत्सर्ग पूरा करने की विधि और इसके बाद किए जाने वाले जिन-संस्तव और स्वाध्याय का उल्लेख—ये सातवें श्लोक के तीन चरणों में हैं और स्वाध्याय के बाद भोजन करना यह वहाँ स्वयंगम्य है। चौथे चरण में एकाकी भोजन करने वाले मुनि के लिए विश्राम का निर्देश दिया गया है। शेष तीन श्लोकों में एकाकी भोजन करने वाले मुनि के विश्रामकालीन चिन्तन, निमंत्रण और आहार करने के वस्तु-विषय का प्रतिपादन हुआ है।

तुलना के लिए देखिए—प्रश्न व्याकरण (संवरद्वार-१ : चौथी भावना)।

२०७ कदाचित् (सिया [क]) :

यहाँ 'स्यात्' का प्रयोग 'यदि' के अर्थ में हुआ है⁵। आवश्यकतावश साधु उपाश्रय में न आकर बाहर ही आहार कर सकता है। साधारण विधि यह है कि जहाँ साधु ठहरा हो वहीं आकर भोजन करे। विशेष कारण के अभाव में साधारण विधि का उल्लेख श्लोक ८२ और ८३ में है। उसका विवेचन आगे किया जा रहा है।

श्लोक ८८ :

२०८. विनयपूर्वक (विणएण [क]) :

उपाश्रय में प्रवेश करते समय नैषेधिकी का उच्चारण करते हुए अञ्जलिपूर्वक 'नमस्कार हो क्षमाश्रमण को'—ऐसा कहना विनय की पद्धति है। एक हाथ में झोली होती है इसलिए दाएं हाथ की अंगुलियों को मुकुलित कर, उसे ललाट पर रख 'नमो खमासमणाणं' का उच्चारण करे⁶। तुलना—णिक्खमणपवेसणासु विणओ पउंजियव्वो—प्रश्न व्याकरण (संवरद्वार-३ पाँचवीं भावना)।

१—ओ० नि० गा० ५२६ : एक्कम्मि हीलियम्मी, सव्वे ते हीलिया हुंति।

२—ओ० नि० गा० ५२७ : एक्कम्मि पूइयम्मी, सव्वे ते पूइया हुंति।

३—ओ० नि० गा० ५२९-५३१।

४—ओ० नि० गा० ५३२।

५—अ० चू० पृ० १२१ : सिया य इति क्याचि करसति एव विता होज्जा—'किं मे सागारियातिसकडे बाहिं समुद्दिट्ठेण ?' उव-स्सए चेव अविस्सति' एव इच्छेज्जा, एस नियतो विधिरिति एव सियासद्दो।

६—(क) अ० चू० पृ० १२२ : निसीहिया, "णमो खमासमणाणं" अति ण ओलम्बगवावडो तो दाहिणहत्थमाकुंचियगुंलि णिडाले काऊण एतेन विणएण।

(ख) जि० चू० पृ० १८८ : विणओ नाम पविसतो णिसीहियं काऊण 'नमो खमासमणाणं' ति भणंतो अति से अंजिओ हत्थो, एसो विणओ भण्णइ।

(ग) हा० टी० प० १७९ : 'विनयेन' नैषेधिकी नमः क्षमाश्रमणेभ्योऽञ्जलिकरणलक्षणेन।

श्लोक ९२ :

२०९. (अहो [क]) :

व्याख्याकारों ने इसे विस्मय के अर्थ में प्रयुक्त माना है[1]। इसे सम्बोधन के लिए भी प्रयुक्त माना जा सकता है।

श्लोक ९३ :

२१०. क्षण भर विश्राम करे (वीसमेज्ज खणं मुणी [घ]) :

मण्डली-भोजी मुनि मण्डली के अन्य साधु न आ जाएँ तब तक और एकाकी भोजन करने वाला मुनि थोड़े समय के लिए विश्राम करे[2]।

श्लोक ९४ :

२११. (लाभमट्ठिओ [ख]) :

यहां मकार अलाक्षणिक है।

श्लोक ९६ :

२१२. खुले पात्र में (आलोए भायणे [ग]) :

जिस पात्र का मुंह खुला हो या चौड़ा हो उसे आलोक-भाजन कहा जाता है। आहार करते समय जीव-जन्तु भलीभांति देखे जा सकें इस दृष्टि से मुनि को प्रकाशमय पात्र में आहार करना चाहिए[3]।

२१३. (अपरिसाडयं [घ]) :

इसका पाठान्तर 'अपरिसाडियं' है। भगवती[4] और प्रश्न व्याकरण[5] में इस प्रसंग में 'अपरिसाडि' पाठ मिलता है। वहाँ अर्थ होगा, जैसे न गिरे वैसे।

श्लोक ९७ :

२१४. गृहस्थ के लिए बना हुआ (अन्नट्ठ पउत्तं [ग]) :

अगस्त्य-चूर्णि में इसके दो अर्थ किए हैं—परकृत और अन्नार्थ—भोजनार्थ प्रयुक्त[6]। जिनदास चूर्णि और वृत्ति में इसका

१—(क) अ० चू० पृ० १२२ : अहोसद्दो विम्हए। को विम्हओ ? सत्तसमाकुले वि लोए अपीडाए जीवाण सरीरधारणं।
(ग) हा० टी० प० १७६ : 'अहो' विस्मये।

२—(क) जि० चू० पृ० १८६ : जाव साधुणो अन्ने आगच्छंति, जो पुण खमणो अत्तलाभिओ वा सो मुहुत्तमेत्तं वा (वीसत्थो)।
(ग) हा० टी० प० १८० : मण्डल्युपजीवकस्तमेव कुर्यात् यावदन्य आगच्छन्ति, यः पुनस्तदन्यः क्षपकादिः सोऽपि प्र[illegible] विश्राम्येत् 'क्षण' स्तोककालं मुनिरिति।

३—(क) अ० चू० पृ० १२३ : तं पुण कंटगट्ठि-मक्खिता परिहरणत्थं, 'आलोगभायणे' पगास-विउलमुहे वक्खिाइए।
(ख) जि० चू० पृ० १८६ : तेण साहुणा आलोयभायणे समुद्दिसियव्वं।
(ग) हा० टी० प० १८० : 'आलोके भाजने' मक्षिकाद्यपोहाय प्रकाशप्रधाने भाजन इत्यर्थः।

४—भग० ७.१.२२ : अपरिसाडि।

५—प्रश्न० संवर द्वार १ : (चौथी भावना)।

६—अ० चू० पृ० १२४ : अण्णट्ठापउत्तं—परकडं, अहवा भोयणत्थे पयोए एतं सद्दं अनोतं।

मोक्षार्थ-प्रयुक्त किया है। उनके अनुसार मोक्ष की साधना शरीर से होती है और शरीर का निर्वाह आहार से होता है। मोक्ष-साधना के लिए शरीर का निर्वाह होता रहे इस दृष्टि से मुनि को आहार करना चाहिए, सौन्दर्य और बल बढ़ाने के लिए नहीं[1]।

२१५ तीता (तिक्त) (तित्तगं [क]) :

तिक्त के उदाहरण—करेला[2], खीरा, ककड़ी आदि हैं[3]।

२१६. कडुवा (कडुयं [क]) :

कटुक के उदाहरण—त्रिकटु[4] (सोंठ, पीपल और कालीमिर्च) अदरक[5] और अदरक[6] आदि हैं।

२१७. कसैला (कसायं [क]) :

कषाय के उदाहरण—आंवले[7], निष्पाव[8] (बल्लधान्य) आदि हैं।

२१८. खट्टा (अंबिलं [ख]) :

खट्टे के उदाहरण तक्र, कांजी आदि हैं[9]।

२१९. मीठा (महुरं [ख]) :

मधुर के उदाहरण—क्षीर[10], जल[11], मधु[12] आदि।

२२०. नमकीन (लवणं [ग]) :

नमकीन के उदाहरण—नमक आदि[13]।

१—(क) जि० चू० पृ० १९० : 'एयलद्धमन्नत्थपउत्त' मिति अण्णो—मोक्खो तण्णिमित्तं आहारेयव्वंति, तम्हा साहुणा सब्भावाणुकूलेसु साधुत्ति (म) जिंभिविय उवालभइ, जहा अमेतं मया लद्धं एत सरीरसगडस्स अक्खोवगसरिसतिकाऊण पउत्तं न वण्णरूवबलाइनिमित्तति।

(ख) हा० टी० प० १८० : 'अन्यार्थम्' अक्षोपाङ्गन्यायेन परमार्थतो मोक्षार्थं प्रयुक्तं तत्साधकम्।

२—अ० चू० पृ० १२४ : 'तित्तगं' कारवेल्लाति।

३—(क) जि० चू० पृ० १८६ : तत्थ तित्तयं एलगवालुगाइ।

(ख) हा० टी० प० १८० : तिक्तकं वा एलुकवालुङ्कादि।

४—अ० चू० पृ० १२४ : 'कडुयं' त्रिकडुकाति।

५—जि० चू० पृ० १८६ : कडुमल्लगादि, जहा पभूएण अल्लगेण संजुत्तं डोढग।

६—हा० टी० प० १८० : कटुकं वा आर्द्रकतीमनादि।

७—अ० चू० पृ० १२४ : 'कसाय' आमलकसारियाति।

८—(क) जि० चू० पृ० १८६ : कसायं निप्फावादी।

(ख) हा० टी० प० १८० : कषायं वल्लादि।

९—(क) अ० चू० पृ० १२४ : अबिलं तक्क-कंजियादि।

(ख) जि० चू० पृ० १८६ : अंबिलं तक्कबिलादि।

(ग) हा० टी० प० १८० : अम्लं तक्रारनालादि।

१०—अ० चू० पृ० १२४ : मधुर खीराति।

११—जि० चू० पृ० १८६ : मधुरं जलखीरादि।

१२—हा० टी० प० १८० : मधुर क्षीरमध्वादि।

१३—(क) अ० चू० पृ० १२४ : लवण सामुद्दलवणातिणा सुपरिमुरामण्णं।

(ख) जि० चू० पृ० १८६ : लवणं पसिद्ध चेव।

(ग) हा० टी० प० १८० : लवणं वा प्रकृतिक्षारं तथाविधं शाकादिलवणोत्कट वाऽन्यत्र।

२२१. मधुघृत (महु-घयं [घ]) :

जैसे मधु और घी सरस मानकर खाए जाते हैं वैसे ही अस्वाद-वृत्ति वाला मुनि नीरस भोजन को भी सरस की भांति खाए। इस उपमा का दूसरा आशय यह भी हो सकता है कि जैसे मधु और घी को एक जबड़े से दूसरे जबड़े की ओर ले जाने की आवश्यकता नहीं होती किन्तु वे सीधे ही निगल लिए जाते हैं, उसी प्रकार स्वाद-विजेता मुनि सरस भोजन को स्वाद के लिए मुंह में इधर-उधर घुमाता न रहे, किन्तु उसे शहद और घी की भाँति निगल जाए[1]।

श्लोक ६८ :

२२२. मुधाजीवी (मुहाजीवी [ग]) :

जो जाति, कुल आदि के सहारे नहीं जीता उसे मुधाजीवी कहा जाता है[2]।

टीकाकार मुधाजीवी का अर्थ अनिदान-जीवी करते हैं और मतान्तर का भी उल्लेख करते हैं[3]।

मुधाजीवी या अनिदान-जीवी का अर्थ अनासक्त भाव से जीने वाला, भोग का संकल्प किये बिना जीने वाला हो सकता है। इस प्रसङ्ग में इसका अर्थ—प्रतिफल देने की भावना रखे बिना जो आहार मिले उससे जीवन चलाने वाला—संगत लगता है।

एक राजा था। एक दिन उसके मन में विचार आया कि सभी लोग अपने-अपने धर्म की प्रशंसा करते हैं और उसको मोक्ष का साधन बताते हैं अतः कौन-सा धर्म अच्छा है उसकी परीक्षा करनी चाहिए। धर्म की पहचान उनके गुरु से ही होगी। वही सच्चा गुरु है जो अनिविष्ट भोजी है। उसी का धर्म सर्व श्रेष्ठ होगा। ऐसा सोच उसने अपने नौकरों से घोषणा कराई कि राजा मोदकों का दान देना चाहता है। राजा की मोदक-दान की बात सुन अनेक कार्पटिक आदि वहाँ दान लेने आये। राजा ने दान के इच्छुक उन कार्पटिक आदि से पूछा—"आप लोग अपना जीवन-निर्वाह किस तरह करते हैं ?" उपस्थित भिक्षुओं में से एक ने कहा—"मैं मुंह से निर्वाह करता हूँ।" दूसरे ने कहा—"मैं पैरों से निर्वाह करता हूँ।" तीसरे ने कहा—"मैं हाथों से निर्वाह करता हूँ।" चौथे ने कहा—"मैं लोकानुग्रह से निर्वाह करता हूँ।" पांचवें ने कहा—"मेरा क्या निर्वाह ? मैं मुधाजीवी हूँ।" राजा ने कहा—"आप लोगों के उत्तर को मैं अच्छी तरह नहीं समझ सका अतः इसका स्पष्टीकरण करें।" तब पहले भिक्षु ने कहा—"मैं कथक हूँ, कथा कह कर अपना निर्वाह करता हूँ, अतः मैं मुख से निर्वाह करता हूं।" दूसरे ने कहा—"मैं सन्देश पहुंचाता हूं, लेखवाहक हूं अतः पैरों से निर्वाह करता हूँ।" तीसरे ने कहा—"मैं लेखक हूँ, अतः हाथ से निर्वाह करता हूँ।" चौथे ने कहा—"मैं लोगों का अनुग्रह प्राप्त कर निर्वाह करता हूँ।" पांचवें ने कहा—"मैं संसार से विरक्त निर्ग्रन्थ हूँ। संयम-निर्वाह के हेतु निःस्वार्थ बुद्धि से लेता हूँ। मैं आहार आदि के लिए किसी की अधीनता स्वीकार नहीं करता, अतः मैं मुधाजीवी हूँ।" इस पर राजा ने कहा—"वास्तव में आप ही सच्चे साधु हैं।" राजा उनसे प्रतिबोध पाकर प्रव्रजित हुआ।

२२३. अरस (अरसं [क]) :

गुड़, दाड़िम आदि रहित, संस्कार रहित या बघार रहित भोज्य-वस्तु को 'अरस' कहा जाता है[4]।

१—(क) अ० चू० पृ० १२४ : महुघतं व भुंजेज्ज-जहा मधुघतं कोति सुरसमिति सुमुहो भुंजति तहा तं सुमुहेण भुंजितव्वं, अहवा महु-घतमिव हणुयातो हणुयं असंचारंतेण।

(ख) जि० चू० पृ० १६० : तं मधुघयमिव भुंजियव्वं साहुणा, जहा महुघयाणि भुंजंति तहा तं असोहणमवि भुंजियव्वं, अहवा जहा महुघयं हणुगाओ हणुगं असंचारेहिं भुंजितव्वं।

(ग) हा० टी० प० १८० : मधुघृतमिव च भुञ्जीत संयतः, न वर्णाद्यर्थम्, अथवा मधुघृतमिव 'णो वामाओ हणुयाओ दाहिणं हणुयं संचारेज्जा'।

२—जि० चू० पृ० १६० : मुहाजीवि नाम जं जातिकुलादीहिं आजीवणविसेसेहिं परं न जीवति।

३—हा० टी० प० १८१ : 'मुधाजीवी' सर्वथा अनिदानजीवी, जात्याद्यनाजीवक इत्यन्ये।

४—(क) अ० चू० पृ० १२४ : अरसं गुडदाडिमादिविरहितं।

(ख) जि० चू० पृ० १६० : हिंगुलवणादिहिं संभारेहिं रहियं।

(ग) हा० टी० प० १८१ : अरसम् - असंप्राप्तरसं हिङ्ग्वादिभिरसंस्कृतमित्यर्थः।

२२४. विरस (विरसं [क]) :

जिसका रस बिगड़ गया हो, स्वाद नष्ट हो गया हो उसे 'विरस' कहा जाता है, जैसे बहुत पुराने, काले और ठण्डे चावल 'विरस' होते हैं[1]।

२२५. व्यञ्जन सहित या व्यञ्जन रहित (सूइयं वा असूइयं [ख]) :

सूप आदि व्यञ्जनयुक्त भोज्य-पदार्थ 'सूचित' या 'सूप्य' कहलाते हैं। व्यञ्जन रहित पदार्थ 'असूचित' या 'असूप्य' कहलाते हैं[2]।

टीकाकार ने इनके संस्कृत रूप 'सूचित' और 'असूचित' दिए हैं और चूर्णिकार द्वारा मान्य अर्थ स्वीकार किया है। उन्होंने मतान्तर का उल्लेख करते हुए इनका अर्थ—'कहकर दिया हुआ' और 'बिना कहकर दिया हुआ' किया है[3]। चरक के अनुसार 'सूप्य' शीघ्र पचने वाला माना गया है[4]।

तुलना—अवि सूइयं वा सुक्कं—'सूइय' ति दध्यादिना भक्तमार्द्रीकृतमपि तथाभूत शुष्कं वा बल्लचनकादि—

आयारो—९।४।१३, वृ० पत्र २८६।

२२६. आर्द्र (उल्लं [ग]) :

जिस भोजन में छौंका हुआ शाक या सूप यथेष्ठ मात्रा में हो उसे 'आर्द्र' कहा गया है[5]।

२२७. शुष्क (सुक्कं [ग]) :

जिस भोजन में बघार रहित शाक हो उसे 'शुष्क' कहा गया है[6]।

२२८. मन्थु (मन्थु [घ]) :

अगस्त्य चूर्णि और टीका में 'मन्थु' का अर्थ बेर का चूर्ण किया है[7]। जिनदास महत्तर ने बेर, जौ आदि के चूर्ण को 'मन्थु' माना है[8]। सुश्रुत में 'मन्थ' शब्द का प्रयोग मिलता है। वह सम्भवतः 'मन्थु' का ही समानार्थक शब्द होना चाहिए। उसका लक्षण इस प्रकार बताया गया है—जौ के सत्तू घी में भूनकर शीतल जल में न बहुत पतले, न बहुत सान्द्र घोलने से 'मन्थ' बनता है[9]। 'मन्थु' खाद्य द्रव्य भी रहा है और सुश्रुत के अनुसार विविध द्रव्यों के साथ विविध रोगों के प्रतिकार के लिए उसका उपयोग किया जाता था[10]।

१—(क) अ० चू० पृ० १२४ : विरस कालतरेण सभावविच्चुतं उस्सिण्णोयणाति।

(ख) जि० चू० पृ० १९० : विरस नाम सभावओ विगतरसं विरसं भण्णइ, तं च पुराणकण्हवण्णियसीओदणादि।

(ग) हा० टी० प० १८१ : 'विरसं वापि' विगतरसमतिपुराणौदनादि।

२—अ० चू० पृ० १२४ : सूवितं सव्वंजणं असूवितं णिव्वंजणं।

३—हा० टी० प० १८१ : 'सूचितं' व्यञ्जनादियुक्तम् 'असूचितं वा' तद्रहितं वा, कथयित्वा अकथयित्वा वा दत्तमित्यन्ये।

४—च० सू० अ० २७.३०५।

५—(क) अ० चू० पृ० १२४ : सुसूविय 'ओल्ल'।

(ख) हा० टी० प० १८१ : 'आर्द्र' प्रचुरव्यञ्जनम्।

६—(क) अ० चू० पृ० १२४ : मदसूविय 'सुक्क'।

(ख) हा० टी० प० १८१ : शुष्कं स्तोकव्यञ्जनम्।

७—(क) अ० चू० पृ० १२४ : बदरामहितचुण्ण मन्थु।

(ख) हा० टी० प० १८१ : मन्थु—बदरचूर्णादि।

८—जि० चू० पृ० १९० : मन्थू नाम बोरचुण्णं सत्तुण्णादि।

९—सु० सू० अ० ४६.४२५ :

सक्तवः सर्पिषाऽभ्यक्ताः, शीतवारिपरिप्लुताः।
नातिद्रवा नातिसान्द्रा, मन्थ इत्युपदिश्यते॥

१०—सु० सू० अ० ४६.४२६-४२८।

यवचूर्ण (सत्तू) खाया भी जाता था और पिया भी जाता था। द्रव-मन्थु के लिए 'उदमन्थ' शब्द का प्रयोग मिलता है। वर्षा-ऋतु में 'उदमन्थ' (जलयुक्त सत्तू), दिन में सोना, अवश्याय (ओस अर्थात् रात्रि में बाहर सोना), नदी का पानी, व्यायाम, आतप (धूप)-सेवन तथा मैथुन छोड़ दे[1]।

'मन्थु' के विविध प्रकारों के लिए देखिए ५.२.२४ 'फलमंथूणि' की टिप्पण।

२२९. कुल्माष (कुम्मास [घ]) :

जिनदास महत्तर के अनुसार 'कुल्माष' जौ के बनते हैं और वे 'गोल्ल' देश में किए जाते हैं[2]। टीकाकार ने पके हुए उड़द को 'कुल्माष' माना है और यवमाष को 'कुल्माष' मानने वालों के मत का भी उल्लेख किया है[3]। भगवती में भी 'कुम्मासपिंडिया' शब्द प्रयुक्त हुआ है[4]। वहाँ वृत्तिकार ने 'कुल्माष' का अर्थ अधपके मूंग आदि किया है और केवल अधपके उड़द को 'कुल्माष' मानने वालों के मत का भी उल्लेख किया है[5]। वाचस्पति कोश में अधपके गेहूँ को 'कुल्माष' माना है और चने को 'कुल्माष' मानने वालों के मत का भी उल्लेख किया है[6]।

अभिधान चिन्तामणि की रत्नप्रभा व्याख्या में अधपके उड़द आदि को 'कुल्माष' माना है[7]। चरक की व्याख्या के अनुसार जौ के आटे को गूंधकर उबलते पानी में थोड़ी देर स्विन्न होने के बाद निकालकर पुनः जल से मर्दन करके रोटी या पूड़े की तरह पकाए हुए भोज्य को अथवा अर्ध स्विन्न चने या जौ को 'कुल्माष' कहा जाता है और वे भारी, रूखे, वायुवर्धक और मल को लाने वाले होते हैं[8]।

श्लोक ९९ :

२३०. अल्प या अरस होते हुए भी बहुत या सरस होता है (अप्पं पि बहु फासुयं [ख]) :

अल्प और बहु की व्याख्या में चूर्णि और टीका में थोड़ा अन्तर है। चूर्णि के अनुसार इसका अर्थ—अल्प भी बहुत है[9]—होता है और टीका के अनुसार इसका अर्थ अल्प या बहुत, जो असार है—होता है[10]।

२३१. मुधालब्ध (मुहालद्धं [ग]) :

उपकार, मंत्र, तंत्र और औषधि आदि के द्वारा हित-सम्पादन किए बिना जो मिले उसे 'मुधालब्ध' कहा जाता है[11]।

१—च० सू० अ० ६.३४-३५ :

"उदमन्थं दिवास्वप्नमवश्याय नदीजलम्।
व्यायाममातपं चैव व्यवायं चात्र वर्जयेत्।"

२—जि० चू० पृ० १९० : कुम्मासा जहा गोल्लविसए जवमया करेंति।

३—हा० टी० प० १८१ : कुल्माषाः—सिद्धमाषाः, यवमाषा इत्यन्ये।

४—भग० १५.८ : एगाए सणहाए कुम्मासपिंडियाए।

५—भग० १५.१ वृ० : कुल्माषा अर्द्धस्विन्ना मुद्गादयः, माषा इत्यन्ये।

६—अर्द्धस्विन्नाश्च गोधूमा, अन्ये च चणकादयः। कुल्माषा इति कथ्यन्ते।

७—अ० चि० काण्ड ४.२४१ : कुल्माष, यावकः द्वे अर्धपक्वमाषादेः।

८—च० सू० अ० २७.२६२ : कुल्माषा गुरवो रूक्षा वातला भिन्नवर्चसः।

९—(क) अ० चू० पृ० १२४ : 'अप्पं पि बहु फासुयं' 'फासुएसणिज्जं दुल्लभं' ति अप्पमवि तं पभूतं। तमेव रसादिपरिहीणमवि [illegible]

(ख) जि० चू० पृ० १९० : तत्थ साहुणा इमं आलंबणं कायव्वं, जहा मम संयवपरिधारिणो अणुवकारियस्स [illegible] देति त बहु मन्नियव्वं, जं विरसमवि मम लोगो अणुवकारिस्स देति तं बहु मन्नियव्वं।

१०—हा० टी० प० १८१ : अल्पमेतन्न देहपूरकमिति किमनेन ? बहु वा असारप्रायमिति, वा शब्दस्य [illegible] [illegible] विशिष्टं [illegible]—'प्रासुकं' प्रगतासु निर्जीवमित्यर्थः, अन्ये तु व्याचक्षते—अल्पं वा, वा शब्दाद्विरसादि वा, बहुप्रासुकं—[illegible] [illegible]।

११—(क) अ० चू० पृ० १२४ : मुधालद्धं—वेंटलादिउवगारवज्जितेन मुहालद्धं।

(ख) जि० चू० पृ० १९० : मुहालद्धं नाम जं कोंटलवेंटलादीणि मोत्तूण मितरहा लद्धं तं मुहालद्धं।

(ग) हा० टी० प० १८१ : 'मुधालब्धं' कोण्टलादिव्यतिरेकेण प्राप्तम्।

२३२. दोष-वर्जित आहार को समभाव से खा ले (भुंजेज्जा दोसवज्जियं च) :

जिनदास महत्तर इसका अर्थ—आधाकर्म आदि दोष-रहित[1] और टीकाकार संयोजना आदि दोष-रहित करते हैं[2]। आधाकर्म आदि गवेषणा के दोष हैं और संयोजना आदि भोगैषणा के। यहाँ भोगैषणा का प्रसङ्ग है इसलिए टीकाकार का मत अधिक संगत लगता है और यह मुनि के आहार का एक सामान्य विशेषण है, इसलिए चूर्णिकार का मत भी असंगत नहीं है।

परिभोगैषणा के पाँच दोष हैं :—(१) अंगार, (२) धूम, (३) संयोजना, (४) प्रमाणातिक्रान्त और (५) कारणातिक्रान्त।

गौतम ने पूछा—"भगवन् ! अंगार, धूम और संयोजना से दोषयुक्त आहार व पान का क्या अर्थ है ?"

भगवान् ने कहा —"गौतम ! जो साधु अथवा साध्वी प्रासुक, एषणीय, अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य ग्रहण कर उसमें मूर्च्छित, गृद्ध, स्नेहाबद्ध और एकाग्र होकर आहार करे— वह अंगार दोषयुक्त पान-भोजन है।

"जो साधु अथवा साध्वी प्रासुक, एषणीय, अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य ग्रहण कर उसमें बहुत द्वेष और क्रोध करता हुआ आहार करे—वह धूम दोषयुक्त पान-भोजन है।

"जो साधु अथवा साध्वी प्रासुक, एषणीय, अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य ग्रहण कर स्वाद बढ़ाने के लिए उसे दूसरे द्रव्य के साथ मिलाकर आहार करे—वह संयोजना दोषयुक्त पान-भोजन है[3]।"

प्रमाणातिक्रान्त का अर्थ है—मात्रा से अधिक खाना। उसकी व्याख्या इस प्रकार है —जो साधु अथवा साध्वी प्रासुक, एषणीय, अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य ग्रहण कर कुक्कुटी के अण्डे जितने प्रमाण वाले (वृत्तिकार के अनुसार मुर्गी के अण्डे का दूसरा अर्थ है—जिस पुरुष का जितना भोजन हो उस पुरुष की अपेक्षा से उसका बत्तीसवाँ भाग) ३२ कौर (ग्रास) से अधिक आहार करे—वह प्रमाणातिक्रान्त पान-भोजन है। जो मुर्गी के अण्डे जितने प्रमाण वाले आठ कौर आहार करे—वह अल्पाहार है। जो मुर्गी के अण्डे जितने प्रमाण वाले बारह कौर आहार करे—वह अपार्ध—अवमोदरिका (भूख के अनुसार आधे से भी अधिक कम खाना) है। जो मुर्गी के अण्डे जितने प्रमाण वाले सोलह कौर आहार करे—वह अर्ध-अवमोदरिका है। जो मुर्गी के अण्डे जितने प्रमाणवाले चौबीस कौर आहार करे—वह अवमोदरिका है। जो मुर्गी के अण्डे जितने प्रमाण वाले ३२ कौर आहार करे —वह प्रमाणप्राप्त है। जो इससे एक कौर भी कम आहार करे—वह श्रमण निर्ग्रन्थ प्रकाम-रसभोजी नहीं कहा जाता[4]।

साधु के लिए छह कारणों से भोजन करना विहित है। उसके बिना भोजन करना कारणातिक्रान्त-दोष कहलाता है। वे छह कारण ये हैं[5]—(१) क्षुधा-निवृत्ति, (२) वैयावृत्य—आचार्य आदि की वैयावृत्य करने के लिए, (३) ईर्यार्थ—मार्ग को देख-देखकर

१—जि० चू० पृ० १६० : आहाकम्माईहिं दोसेहिं वज्जियं।

२—हा० टी० प० १८१ : 'दोषवर्जितं' संयोजनादिरहितमिति।

३—भग० ७.१.२१ : अह भंते ! सइंगालस्स, सधूमस्स, संजोयणादोसदुट्ठस्स पाणभोयणस्स के अट्ठे पन्नत्ते ?, गोयमा ! जे णं निग्गंथे वा निग्गंथी वा फासुएसणिज्जं असण-पाण-खाइम-साइमं पडिग्गाहेत्ता मुच्छिए गिद्धे गढिए अज्झोववन्ने आहारं आहारेइ, एस णं गोयमा ! सइंगाले पाण-भोयणे।

जे णं निग्गंथे वा निग्गंथी वा फासुएसणिज्जं असण-पाण-खाइम-साइमं पडिग्गाहेत्ता महयाअप्पत्तियं कोहकिलामं करेमाणे आहारमाहारेइ, एस णं गोयमा ! सधूमे पाण-भोयणे।

जे णं निग्गंथे वा निग्गंथी वा जाव पडिग्गाहेत्ता गुणुप्पायणहेउं अन्नदव्वेणं सद्धिं संजोएत्ता आहारमाहारेइ, एस णं गोयमा ! संजोयणादोसदुट्ठे पाण-भोयणे।

४—भग० ७.१.२४ : जे णं निग्गंथे वा, निग्गंथी वा फासु-एसणिज्जं जाव साइमं पडिग्गाहेत्ता परं बत्तीसाए कुक्कुडिअंडगपमाण-मेत्ताणं कवलाणं आहारमाहारेइ, एस णं गोयमा ! पमाणातिक्कंते पाण-भोयणे। अट्ठ कुक्कुडिअंडगपमाणमेत्ते कवले आहार-माहारेमाणे अप्पाहारे, दुवालस कुक्कुडिअंडगपमाणमेत्ते कवले आहारमाहारेमाणे अवड्ढोमोयरिया, सोलस कुक्कुडिअंडगपमाणमेत्ते कवले आहारमाहारेमाणे दुभागप्पत्ते, चउव्वीसं कुक्कुडिअंडगपमाण मेत्ते कवले आहारमाहारेमाणे ओमोदरिए, बत्तीसं कुक्कुडिअंडगपमाणमेत्ते कवले आहारमाहारेमाणे पमाणपत्ते, एत्तो एक्केण वि घासेणं ऊणगं आहारमाहारेमाणे समणे निग्गंथे नो पकामरसभोई त्ति वत्तव्वं सिया।

५—उत्त० २६.३ :

वेयणवेयावच्चे, इरियट्ठाए य संजमाए।
तह पाणवत्तियाए छट्ठं पुण धम्मचिंताए॥

चलने के लिए, (४) संयमार्थ—संयम पालने के लिए, (५) प्राण-धारणार्थ—संयम-जीवन की रक्षा के लिए और (६) धर्म-चिन्तनार्थ—शुभ ध्यान करने के लिए।

गौतम ने एक दूसरे प्रश्न में पूछा—"भगवन् ! शस्त्रातीत, शस्त्रपरिणत, एषणा-युक्त, विशेष एषणा-युक्त और सामुदानिक पान-भोजन का क्या अर्थ है ?"

भगवान् ने कहा—"गौतम ! शस्त्र और शरीर परिकर्म-रहित निर्ग्रन्थ प्रासुक, अपने लिए अकृत, अकारित और असंकल्पित, अनाहूत, अक्रीतकृत, अनुद्दिष्ट, नवकोटि परिशुद्ध, दश दोष-रहित, विप्रयुक्त, उद्गम और उत्पादन की एषणायुक्त अंगार, धूम और संयोजना दोष-रहित तथा सुर-सुर और चव-चव (यह भोजन के समय होने वाले शब्द का अनुकरण है) शब्द-रहित, न अति शीघ्र न अत्यन्त धीमे, नीचे न डालता हुआ, गाड़ी की धुरी में अंजन लगाने और व्रण पर लेप करने के तुल्य केवल संयम-यात्रा के निर्वाह हेतु, संयम-भार का वहन करने के लिए, अस्वाद वृत्तिपूर्वक, जैसे बिल में सांप पैठता है वैसे ही स्वाद के निमित्त ग्रास को इधर-उधर ले जाए बिना आहार करता है—यह शस्त्रातीत, शस्त्रपरिणत, एषणा-युक्त, विशेष एषणा-युक्त और सामुदानिक पान-भोजन का अर्थ है[1]।

श्लोक १०० :

२३३. मुधादायी (मुहादाई^क) :

प्रतिफल की कामना किए बिना निःस्वार्थ भाव से देने वाले को 'मुधादायी' कहा है।

इन चार श्लोकों (९७-१००) में अस्वादवृत्ति और निष्कामवृत्ति का बहुत ही मार्मिक प्रतिपादन किया गया है। जब तक देहासक्ति या देह-लक्षी भाव प्रबल होता है, तब तक स्वाद जीता नहीं जा सकता। नीरस भोजन मधु और घी की भाँति खाया नहीं जा सकता। जिसका लक्ष्य बदल जाता है, देह का रस चला जाता है, मोक्ष-लक्षी भाव का उदय हो जाता है, वही व्यक्ति स्वाद पर विजय पा सकता है, सरस और नीरस को किसी भेदभाव के बिना खा सकता है।

दो रस एक साथ नहीं टिक सकते, या तो देह का रस टिकेगा या मोक्ष का। भोजन में सरस और नीरस का भेद उसे सताता है जिसके देह में रस है। जिसे मोक्ष में रस मिल गया उसे भोजन में रस जैसा कुछ लगता ही नहीं, इसलिए वह भोजन को भी मोक्ष-प्रयुक्त (मोक्ष के हेतु-भूत शरीर का साधन) मानकर खाता है। इस वृत्ति से खाने वाला न किसी भोजन को अच्छा बताता है और न किसी को बुरा।

मुधादायी, मुधालब्ध और मुधाजीवी—ये तीन शब्द निष्कामवृत्ति के प्रतीक हैं। निष्कामवृत्ति के द्वारा ही राग-द्वेष पर विजय पाई जा सकती है। कहीं से विरस आहार मिले तो मुनि इस भावना का आलम्बन ले कि 'मैंने इसका कोई उपकार नहीं किया, फिर भी इसने मुझे कुछ दिया है। क्या यह कम बात है ?' यों चिन्तन करने वाला द्वेष से बच सकता है।

'मुझे मोक्ष की साधना के लिए जीना है और उसी के लिए खाना है'—यों चिन्तन करने वाला राग या आसक्ति से बच सकता है।

साधु हमारा भला नहीं करते, फिर हम उन्हें क्यों दें ? यह प्रतिफल का विचार है, फल के प्रति फल और उपकार के प्रति उपकार यह विनिमय है। उसका कोई स्वतंत्र परिणाम नहीं होता। इस भावना का प्रतिनिधित्व करने वाले लोग बहुधा कहा करते हैं—साधु समाज पर भार हैं क्योंकि वे समाज से बहुत लेते हैं, देते कुछ भी नहीं। यह सकाम मानस का चिन्तन है।

---

१ – भग० ७.१-२४ : अह भंते ! सत्थातीतस्स, सत्थपरिणामियस्स, एसियस्स, वेसियस्स, सामुदाणियस्स, पाणभोयणस्स के अट्ठे पन्नत्ते ? गोयमा ! जे णं निग्गंथे वा निग्गंथी वा निक्खित्त-सत्थ-मुसले ववगय-माला-वन्नगविलेवणे ववगयचुयचइयचत्तदेहं जीवविप्पजढं, अकयमकारियमसंकप्पियमणाहूयमकीयकड-मणुद्दिट्ठं, नवकोडीपरिसुद्धं, दस दोसविप्पमुक्कं, उग्गम-उप्पायणेसणासुपरिसुद्धं, वीतिंगालं, वीतधूमं, संजोयणादोसविप्पमुक्कं, असुरसुरं, अचवचवं, अदुयमविलंबियं अपरिसाडिं, अक्खोवंजण-वणाणुलेवणभूयं संजम-जाया-माया-वत्तियं, संजम-भार वहणट्ठयाए बिलमिव पन्नगभूएणं अप्पाणेणं आहारमाहारेति। एस णं गोयमा ! सत्थातीतस्स, सत्थपरिणामियस्स, एसियस्स वेसियस्स सामुदाणियस्स पाणभोयणस्स अयमट्ठे पन्नत्ते।

इसका अर्थ यह हुआ कि सकाम दृष्टि वाले लोग विनिमय में आगे कुछ देख नहीं पाते ; किन्तु जिन्हें निष्काम दृष्टि मिली है, वे लोग संयम का स्वतन्त्र मूल्य आंकते हैं और इसलिए वे प्रतिफल की कामना किए बिना संयम-साधना में सहयोगी बनते हैं।

एक सन्यासी था। वह एक भागवत के यहाँ आया और बोला—"मैं तुम्हारे यहाँ चातुर्मास-काल व्यतीत करना चाहता हूँ। मुझे विश्वास है कि तुम मेरे निर्वाह का भार वहन कर सकोगे।" भागवत ने कहा—"आप मेरे यहाँ वर्षाकाल व्यतीत कर सकते हैं किन्तु इसके लिए आपको मेरी एक शर्त स्वीकार करनी होगी। वह यह है कि आप मेरे घर का कोई भी काम न करेंगे।" परिव्राजक ने भागवत की शर्त मान ली। सन्यासी ठहर गया। भागवत भी सन्यासी की असन-वसन आदि से खूब सेवा करने लगा।

एक दिन रात्रि के समय आकर चोरों ने भागवत का घोड़ा चुरा लिया और प्रभात होता जानकर उसे नदी के तट पर के वृक्ष से बांध दिया। सन्यासी प्रात नित्य नियमानुसार स्नान करने नदी पर गया। वहाँ उसने घोड़े को वृक्ष से बंधा देखा। सन्यासी से रहा नहीं गया और वह झट से भागवत के घर आया। अपनी प्रतिज्ञा को बचाते हुए भागवत से बोला—"मैं नदी पर अपना वस्त्र भूल आया हूँ।" भागवत ने नौकर को वस्त्र लाने नदी पर भेजा। नौकर ने घोड़े को नदी के तट पर वृक्ष से बंधा देखा और अपने स्वामी से सब बात कही। भागवत संन्यासी के भाव को ताड़ गया और संन्यासी से बोला—"आप अपनी प्रतिज्ञा को भूल गये। अब मैं आपकी सेवा नहीं कर सकता, क्योंकि निर्विष्ट—किसी से सेवा की अपेक्षा रख कर उसकी सेवा करने—का फल अल्प होता है।"

पंचमं अज्झयणं

पिंडेसणा

(बीओ उद्देसो)

पंचम अध्ययन

पिण्डैषणा

(द्वितीय उद्देशक)

पिंडेसणा (बीओ उद्देसो) : पिण्डैषणा (द्वितीय उद्देशक)

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१—पडिग्गहं संलिहित्ताणं लेव-मायाए संजए । दुगंधं वा सुगंधं वा सव्वं भुंजे न छड्डए ॥	प्रतिग्रहं संलिह्य, लेपमात्रया संयतः । दुर्गन्धं वा सुगन्धं वा, सर्वं भुञ्जीत न छर्दयेत् ॥१॥	१—संयमी मुनि लेप लगा रहे तब तक पात्र को पोंछ कर सब खा ले, शेष न छोड़े, भले फिर वह दुर्गन्धयुक्त हो या सुगन्धयुक्त[1]।
२—सेज्जा निसीहियाए समावन्नो व गोयरे । अयावयट्ठा भोच्चा णं जइ तेणं न संथरे ॥	शय्यायां नैषेधिक्यां, समापन्नो वा गोचरे । अयावदर्थं भुक्त्वा 'णं', यदि तेन न संस्तरेत् ॥२॥	२-३—उपाश्रय[2] या स्वाध्याय भूमि में[3] अथवा गोचर (भिक्षा) के लिए गया हुआ मुनि मठ आदि में[4] अपर्याप्त[5] खाकर यदि न रह सके तो[6] कारण उत्पन्न होने पर[7] पूर्वोक्त विधि से और इस उत्तर (वक्ष्यमाण) विधि से भक्त-पान की गवेषणा करे।
३—तओ कारणमुप्पन्ने भत्तपाणं गवेसए । विहिणा पुव्व-उत्तेण इमेणं उत्तरेण य ॥	ततः कारणे उत्पन्ने, भक्त-पानं गवेषयेत् । विधिना पूर्वोक्तेन, अनेन उत्तरेण च ॥३॥	
४—कालेण निक्खमे भिक्खू कालेण य पडिक्कमे । अकालं च विवज्जेत्ता काले कालं समायरे ॥	कालेन निष्क्रामेद् भिक्षुः, कालेन च प्रतिक्रामेत् । अकालं च विवर्ज्य, काले कालं समाचरेत् ॥४॥	४—भिक्षु समय पर भिक्षा के लिए निकले और समय पर लौट आए। अकाल को वर्जकर[8] जो कार्य जिस समय का हो, उसे उसी समय करे[9]।
५—"अकाले चरसि भिक्खू कालं न पडिलेहसि । अप्पाणं च किलामेसि सन्निवेसं च गरिहसि ॥	अकाले चरसि भिक्षो ! कालं न प्रतिलिखसि । आत्मानं च क्लामयसि, सन्निवेशं च गर्हसे ॥५॥	५—भिक्षो ! तुम अकाल में जाते हो, काल की प्रतिलेखना नहीं करते, इसीलिए तुम अपने-आप को क्लान्त (खिन्न) करते हो और सन्निवेश (ग्राम) की निन्दा करते हो।
६—सइ काले चरे भिक्खू कुज्जा पुरिसकारियं । अलाभो त्ति न सोएज्जा तवो त्ति अहियासए ॥	सति काले चरेद् भिक्षुः, कुर्यात् पुरुषकारकम् । 'अलाभ' इति न शोचेत्, तप इति अधिसहेत ॥६॥	६—भिक्षु समय होने पर[10] भिक्षा के लिए जाए; पुरुषकार (श्रम) करे; भिक्षा न मिलने पर शोक न करे; 'सहज तप ही सही'—यों मान भूख को सहन करे।

७—[12]तहेवुच्चावया पाणा
भत्तट्ठाए समागया ।
त-उज्जुयं न गच्छेज्जा
जयमेव परक्कमे ॥

तथैवोच्चावचाः प्राणाः,
भक्तार्थं समागताः ।
तदृजुकं न गच्छेत्,
यतमेव पराक्रामेत् ॥७॥

७—इसी प्रकार नाना प्रकार के प्राणी भोजन के निमित्त एकत्रित हों, उनके सम्मुख न जाए । उन्हें त्रास न देता हुआ यतनापूर्वक जाए ।

८—गोयरग्ग-पविट्ठो उ
न निसीएज्ज कत्थई ।
कहं च न पबंधेज्जा
चिट्ठित्ताण व संजए ॥

गोचराग्र-प्रविष्टस्तु,
न निषीदेत् कुत्रचित् ।
कथां च न प्रबध्नीयात्,
स्थित्वा वा संयतः ॥८॥

८—गोचराग्र के लिए गया हुआ मुनि कहीं न बैठे[13] और खड़ा रह कर भी कथा का प्रबन्ध न करे[14] ।

९—[15]अग्गलं फलिहं दारं
कवाडं वा वि संजए ।
अवलंबिया न चिट्ठेज्जा
गोयरग्गगओ मुणी ॥

अर्गलां परिघं द्वारं,
कपाटं वाऽपि संयतः ।
अवलम्ब्य न तिष्ठेत्,
गोचराग्रगतो मुनिः ॥९॥

९—गोचराग्र के लिए गया हुआ मुनि आगल, परिघ[16], द्वार या किवाड़ का सहारा लेकर खड़ा न रहे ।

१०—समणं माहणं वा वि
किविणं वा वणीमगं ।
उवसंकमंतं भत्तट्ठा
पाणट्ठाए व संजए ॥

श्रमणं ब्राह्मणं वाऽपि,
कृपणं वा वनीपकम् ।
उपसंक्रामन्तं भक्तार्थं,
पानार्थं वा संयतः ॥१०॥

११—तं अइक्कमित्तु न पविसे
न चिट्ठे चक्खु-गोयरे ।
एगंतमवक्कमित्ता
तत्थ चिट्ठेज्ज संजए ॥

तमतिक्रम्य न प्रविशेत्,
न तिष्ठेत् चक्षुर्गोचरे ।
एकान्तमवक्रम्य,
तत्र तिष्ठेत् संयतः ॥११॥

१०-११—भक्त या पान के लिए उपसंक्रमण करते हुए (घर में जाते हुए) श्रमण, ब्राह्मण, कृपण[17] या वनीपक को लांघ कर संयमी मुनि गृहस्थ के घर में प्रवेश न करे । गृहस्वामी और श्रमण आदि की आंखों के सामने खड़ा भी न रहे । किन्तु एकान्त में जाकर खड़ा हो जाए ।

१२—वणीमगस्स वा तस्स
दायगस्सुभयस्स वा ।
अप्पत्तियं सिया होज्जा
लहुत्तं पवयणस्स वा ॥

वनीपकस्य वा तस्य,
दायकस्योभयोर्वा ।
अप्रीतिकं स्याद् भवेत्,
लघुत्वं प्रवचनस्य वा ॥१२॥

१२—भिक्षाचरों को लांघकर [illegible] प्रवेश करने पर वनीपक या गृहस्वामी अथवा दोनों को अप्रेम हो सकता है [illegible] उससे प्रवचन की[18] लघुता होती है ।

१३—पडिसेहिए व दिन्ने वा
तओ तम्मि नियत्तिए ।
उवसंकमेज्ज भत्तट्ठा
पाणट्ठाए व संजए ॥

प्रतिषिद्धे वा दत्ते वा,
ततस्तस्मिन् निवृत्ते ।
उपसंक्रामेद् भक्तार्थं,
पानार्थं वा संयतः ॥१३॥

१३—गृहस्वामी द्वारा प्रतिषेध [illegible] या दान दे देने पर, वहाँ से उनके [illegible] चले जाने के पश्चात् संयमी मुनि [illegible] के लिए प्रवेश करे ।

१४—उप्पलं पउमं वा वि
कुमुयं वा मगदंतियं ।
अन्नं वा पुप्फ सच्चित्तं
तं च संलुंचिया दए ॥

उत्पलं पद्मं वाऽपि,
कुमुदं वा 'मगदन्तिकाम्' ।
अन्यद्वा पुष्पं सचित्तं,
तच्च संलुञ्च्य दद्यात् ॥१४॥

१५—[23]तं भवे भत्तपाणं तु
संजयाण अकप्पियं ।
देंतियं पडियाइक्खे
न मे कप्पइ तारिसं ॥

तद्भवेद् भक्त-पानं तु,
संयतानामकल्पिकम् ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत,
न मे कल्पते तादृशम् ॥१५॥

१४-१५—कोई उत्पल[19], पद्म[20] कुमुद[21], मालती[22] या अन्य किसी [illegible] पुष्प का छेदन कर भिक्षा दे वह [illegible] संयति के लिए अकल्पनीय होता है, इसलिए मुनि देती हुई स्त्री को प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता ।

१६—उप्पलं पउमं वा वि
कुमुयं वा मगदंतियं ।
अन्नं वा पुप्फ सच्चित्तं
तं च सम्मद्दिया दए ॥

उत्पलं पद्मं वाऽपि,
कुमुदं वा 'मगदन्तिकाम्' ।
अन्यद्वा पुष्पं सचित्तं,
तच्च सम्मृद्य दद्यात् ॥१६॥

१७—तं भवे भत्तपाणं तु
संजयाण अकप्पियं ।
देंतियं पडियाइक्खे
न मे कप्पइ तारिसं ॥

तद्भवेद् भक्त-पानं तु,
संयतानामकल्पिकम् ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत,
न मे कल्पते तादृशम् ॥१७॥

१६-१७—कोई उत्पल, पद्म, कुमुद, मालती या अन्य किसी सचित्त पुष्प को कुचल कर[24] भिक्षा दे, वह भक्त-पान संयति के लिए अकल्पनीय होता है, इसलिए मुनि देती हुई स्त्री को प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता ।

१८—सालुयं वा विरालियं
कुमुदुप्पलनालियं ।
मुणालियं सासवनालियं
उच्छुखंडं अनिव्वुडं ॥

शालूकं वा विरालिकां,
कुमुदोत्पलनालिकाम् ।
मृणालिकां सर्षपनालिकां,
इक्षु-खण्डमनिर्वृतम् ॥१८॥

१९—तरुणगं वा पवालं
रुक्खस्स तणगस्स वा ।
अन्नस्स वा वि हरियस्स
आमगं परिवज्जए ॥

तरुणकं वा प्रवालं,
वृक्षस्य तृणकस्य वा ।
अन्यस्य वाऽपि हरितस्य,
आमकं परिवर्जयेत् ॥१९॥

१८-१९—कमलकन्द[26], पलाशकन्द[27], कुमुद-नाल, उत्पल-नाल, पद्म-नाल[28], सरसों की नाल[29], अपक्व गंडेरी[30], वृक्ष, तृण[31] या दूसरी हरियाली की कच्ची नई कोंपल न ले ।

२०—तरुणियं व छिवाडिं
आमियं भज्जियं सइं ।
देंतियं पडियाइक्खे
न मे कप्पइ तारिसं ॥

तरुणीं वा 'छिवाडिं',
आमिकां भर्जितां सकृत् ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत,
न मे कल्पते तादृशम् ॥२०॥

२०—कच्ची[32] और एक बार भूनी हुई[33] फली[34] देती हुई स्त्री को मुनि प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता ।

२१—तहा कोलमणुस्सिन्नं
वेलुयं कासवनालियं ।
तिलपप्पडगं नीमं
आमगं परिवज्जए ॥

तथा कोलमनुत्स्विन्नं,
वेणुकं काश्यपनालिकाम् ।
तिलपर्पटकं नीपं,
आमकं परिवर्जयेत् ॥२१॥

२१—इसी प्रकार जो उबाला हुआ न हो वह वेर, वंश-करीर[३५], कासव-नालिका[३६] तथा अपक्व तिल-पपड़ी[३७] और कदम्ब-फल[३८] न ले ।

२२—तहेव चाउलं पिट्ठं
वियडं वा तत्तनिव्वुडं ।
तिलपिट्ठ पूइपिन्नागं
आमगं परिवज्जए ॥

तथैव 'चाउलं' पिष्टं,
विकटं वा तप्त-निर्वृतम् ।
तिलपिष्टं पूतिपिण्याकं,
आमकं परिवर्जयेत् ॥२२॥

२२—इसी प्रकार चावल का पिष्ट[३९], पूरा न उबला हुआ गर्म[४०] जल[४१], तिल का पिष्ट, पोई-साग और सरसों की खली[४२]—अपक्व न ले ।

२३—कविट्ठं माउलिंगं च
मूलगं मूलगत्तियं ।
आमं असत्थपरिणयं
मणसा वि न पत्थए ॥

कपित्थं मातुलिङ्गं च,
मूलकं मूलकर्तिकाम् ।
आमामशस्त्रपरिणतां,
मनसाऽपि न प्रार्थयेत् ॥२३॥

२३—अपक्व और शस्त्र से अपरिणत कैथ[४३], बिजौरा[४४], मूला और मूले के गोल टुकड़े[४५] को मन कर भी न चाहे ।

२४—तहेव फलमंथूणि
बीयमंथूणि जाणिया ।
बिहेलगं पियालं च
आमगं परिवज्जए ॥

तथैव फलमन्थून्,
बीजमन्थून् ज्ञात्वा ।
बिभीतकं प्रियालं च,
आमकं परिवर्जयेत् ॥२४॥

२४—इसी प्रकार अपक्व फल-चूर्ण, बीजचूर्ण[४६], बहेड़ा[४७] और प्रियाल-फल न ले ।

२५—समुयाणं चरे भिक्खू
कुलं उच्चावयं सया ।
नीयं कुलमइक्कम्म
ऊसढं नाभिधारए ॥

समुदानं चरेद् भिक्षुः,
कुलमुच्चावचं सदा ।
नीचं कुलमतिक्रम्य,
उच्छ्रृतं (उत्सृतं) नाभिधारयेत् ॥२५॥

२५—भिक्षु सदा समुदान[४९] करे, उच्च और नीच सभी कुलों में नीच कुल को छोड़कर उच्च कुल में न जाए ।

२६—अदीणो वित्तिमेसेज्जा
न विसीएज्ज पंडिए ।
अमुच्छिओ भोयणम्मि
मायन्ने एसणारए ॥

अदीनो वृत्तिमेषयेत्,
न विषीदेत पण्डितः ।
अमूच्छितो भोजने,
मात्राज्ञ एषणारतः ॥२६॥

२६—भोजन में अमूर्च्छित, मात्रा को जानने वाला, एषणारत, पण्डित अदीन भाव से वृत्ति (भिक्षा) की एषणा करे । (भिक्षा न मिलने पर) विषाद न करे ।

२७—बहुं परघरे अत्थि
विविहं खाइमसाइमं ।
न तत्थ पंडिओ कुप्पे
इच्छा देज्ज परो न वा ॥

बहु परगृहेऽस्ति,
विविधं खाद्यं स्वाद्यम् ।
न तत्र पण्डितः कुप्येत्,
इच्छया दद्यात् परो न वा ॥२७॥

२७—गृहस्थ के घर में नाना प्रकार का प्रचुर खाद्य-स्वाद्य होता है, (किन्तु न देने पर) पण्डित मुनि कोप न करे । (यों चिन्तन करे कि) इसकी अपनी इच्छा है, दे या न दे ।

२८—सयणासण वत्थं वा
भत्तपाणं व संजए।
अदेंतस्स न कुप्पेज्जा
पच्चक्खे वि य दीसओ ॥

शयनासनं वस्त्रं वा,
भक्त-पानं वा संयतः।
अददतो न कुप्येत्,
प्रत्यक्षेऽपि च दृश्यमाने ॥२८॥

२८—संयमी मुनि सामने दीख रहे शयन, आसन, वस्त्र, भक्त या पान न देने वाले पर भी कोप न करे।

२९—इत्थियं पुरिसं वा वि
डहरं वा महल्लगं।
वंदमाणो न जाएज्जा
नो य णं फरुसं वए ॥

स्त्रियं पुरुषं वाऽपि,
डहरं वा महान्तम्।
वन्दमानो न याचेत,
नो चैनं परुषं वदेत् ॥२९॥

२९—मुनि स्त्री या पुरुष, बाल या वृद्ध की वन्दना (स्तुति) करता हुआ याचना न करे[४०], (न देने पर) कठोर वचन न बोले।

३०—जे न वंदे न से कुप्पे
वंदिओ न समुक्कसे।
एवमन्नेसमाणस्स
सामण्णमणुचिट्ठई ॥

यो न वन्दते न तस्मै कुप्येत्,
वन्दितो न समुत्कर्षेत्।
एवमन्वेषमाणस्य,
श्रामण्यमनुतिष्ठति ॥३०॥

३०—जो वन्दना न करे उस पर कोप न करे, वन्दना करने पर उत्कर्ष न लाए—गर्व न करे। इस प्रकार (समुदानचर्या का) अन्वेषण करने वाले मुनि का श्रामण्य निर्बाध भाव से टिकता है।

३१—सिया एगइओ लद्धुं
लोभेण विणिगूहई।
मा मेयं दाइयं संतं
दट्ठूणं सयमायए ॥

स्यादेकको लब्ध्वा,
लोभेन विनिगूहते।
मा ममेदं दर्शितं सत्,
दृष्ट्वा स्वयमादद्यात् ॥३१॥

३२—अत्तट्ठगुरुओ लुद्धो
बहुं पावं पकुव्वई।
दुत्तोसओ य से होइ
निव्वाणं च न गच्छई ॥

आत्मार्थ-गुरुको लुब्धः,
बहु पापं प्रकरोति।
दुस्तोषकश्च स भवति,
निर्वाणं च न गच्छति ॥३२॥

३१-३२—कदाचित् कोई एक मुनि सरस आहार पाकर उसे, आचार्य आदि को दिखाने पर वह स्वयं से न ले,—इस लोभ से छिपा लेता है[४१], वह अपने स्वार्थ को प्रमुखता देने वाला और रस-लोलुप मुनि बहुत पाप करता है। वह जिस किसी वस्तु से सन्तुष्ट नहीं होता और निर्वाण को नहीं पाता।

३३—सिया एगइओ लद्धुं
विविहं पाणभोयणं।
भद्दगं भद्दगं भोच्चा
विवण्णं विरसमाहरे ॥

स्यादेकको लब्ध्वा,
विविधं पान-भोजनम्।
भद्रकं भद्रकं भुक्त्वा,
विवर्णं विरसमाहरेत् ॥३३॥

३३—कदाचित् कोई एक मुनि विविध प्रकार के पान और भोजन पाकर कहीं एकान्त में बैठ श्रेष्ठ-श्रेष्ठ खा लेता है, विवर्ण और विरस को स्थान पर लाता है।

३४—जाणंतु ता इमे समणा
आययट्ठी अयं मुणी।
संतुट्ठो सेवई पंतं
लूहवित्ती सुतोसओ ॥

जानन्तु तावदिमे श्रमणा,
आयतार्थी अयं मुनिः।
सन्तुष्टः सेवते प्रान्तं,
रूक्षवृत्तिः सुतोषकः ॥३४॥

३४—ये श्रमण मुझे यों जानें कि यह मुनि बड़ा मोक्षार्थी[४२] है, सन्तुष्ट है, प्रान्त (असार) आहार का सेवन करता है, रूक्षवृत्ति[४३] और जिस किसी भी वस्तु से सन्तुष्ट होने वाला है।

३५—पूयणट्ठी जसोकामी
माणसम्माणकामए ।
वहुं पसवई पावं
मायासल्लं च कुव्वई ॥

पूजनार्थी यशःकामी,
मान-सम्मान-कामकः ।
वहु प्रसूते पापं,
मायाशल्यञ्च करोति ॥३५॥

३५—वह पूजा का अर्थी, यश का का
और मान-सम्मान की कामना कर
मुनि बहुत पाप का अर्जन करता
माया-शल्य[४५] का आचरण करता है

३६—सुरं वा मेरगं वा वि
अन्नं वा मज्जगं रसं ।
ससक्खं न पिबे भिक्खू
जसं सारक्खमप्पणो ॥

सुरां वा मेरकं वाऽपि,
अन्यद्वा माद्यकं रसम् ।
स्व (स) साक्ष्यं न पिवेद्भिक्षुः,
यशः संरक्षन्नात्मनः ॥३६॥

३६—अपने संयम[४६] का संर
हुआ भिक्षु सुरा, मेरक[४७] या अ
प्रकार का मादक रस आत्म-साक्षी
पीए ।

३७—पिया एगइओ तेणो
न मे कोइ वियाणई ।
तस्स पस्सह दोसाइं
नियडिं च सुणेह मे ॥

पिवति एककः स्तेनः,
न मां कोऽपि विजानाति ।
तस्य पश्यत दोषान्,
निकृतिं च शृणुत मम ॥३७॥

३७—जो मुनि—मुझे कोई नहीं
(यों सोचता हुआ) एकान्त में स्तेन
मादक रस पीता है, उसके दोषों
और मायाचरण को मुझसे सुनो।

३८—वड्ढई सोंडिया तस्स
मायामोसं च भिक्खुणो ।
अयसो य अनिव्वाणं
सययं च असाहुया ॥

वर्धते शौण्डिता तस्य,
माया-मृषा च भिक्षोः ।
अयशश्चानिर्वाणं,
सततं च असाधुता ॥३८॥

३८—उस भिक्षु के उन्मत्तता[४८]
मृषा, अयश, अतृप्ति और सतत असा
ये दोष बढ़ते हैं ।

३९—निच्चुव्विग्गो जहा तेणो
अत्तकम्मेहिं दुम्मई ।
तारिसो मरणंते वि
नाराहेइ संवरं ॥

नित्योद्विग्नो यथा स्तेनः,
आत्मकर्मभिर्दुर्मतिः ।
तादृशो मरणान्तेऽपि,
नाराधयति संवरम् ॥३९॥

३९—वह दुर्मति अपने दुष्कर्मों
की भांति सदा उद्विग्न रहता है।
मुनि मरणान्त-काल में भी सं
आराधना नहीं कर पाता।

४०—आयरिए नाराहेइ
समणे यावि तारिसो ।
गिहत्था वि णं गरहंति
जेण जाणंति तारिसं ॥

आचार्यान्नाराधयति,
श्रमणांश्चापि तादृशः ।
गृहस्था अप्येनं गर्हन्ते,
येन जानन्ति तादृशम् ॥४०॥

४०—वह न तो आचार्य की आ
कर पाता है और न श्रमणों की भी।
भी उसे मद्यप मानते हैं, इसलिए उस
करते हैं ।

४१—एवं तु अगुणप्पेही
गुणाणं च विवज्जओ ।
तारिसो मरणंते वि
नाराहेइ संवरं ॥

एवन्तु अगुणप्रेक्षी,
गुणानां च विवर्जकः ।
तादृशो मरणान्तेऽपि,
नाराधयति संवरम् ॥४१॥

४१—इस प्रकार अगुणों की
(आसेवना) करने वाला और गुणों का
वाला मुनि मरणान्त-काल में भी सं
आराधना नहीं कर पाता ।

४२—तवं कुव्वइ मेहावी
पणीयं वज्जए रसं ।
मज्जप्पमायविरओ
तवस्सी अइउक्कसो ॥

तपः करोति मेधावी,
प्रणीतं वर्जयेद् रसम् ।
मद्यप्रमादविरतः,
तपस्वी अत्युत्कर्षः ॥४२॥

४३—तस्स पस्सह कल्लाणं
अणेगसाहुपूइयं ।
विउलं अत्थसंजुत्तं
कित्तइस्सं सुणेह मे ॥

तस्य पश्यत कल्याणं,
अनेक-साधु-पूजितम् ।
विपुलमर्थ-संयुक्तं,
कीर्तयिष्ये शृणुत मम ॥४३॥

४२-४३—जो मेधावी[११] तपस्वी तप करता है, प्रणीत[१२] रस को वर्जता है, मद्य-प्रमाद[१३] से विरत होता है, गर्व नहीं करता, उसके अनेक साधुओं द्वारा प्रशंसित[१४], विपुल और अर्थ-संयुक्त[१५] कल्याण को स्वयं देखो[१६] और मैं उसकी कीर्तना करूंगा *वह सुनो* ।

४४—एवं तु गुणप्पेही
अगुणाणं च विवज्जओ ।
तारिसो मरणंते वि
आराहेइ संवरं ॥

एवं तु गुण-प्रेक्षी,
अगुणानां च विवर्जकः ।
तादृशो मरणान्तेऽपि,
आराधयति संवरम् ॥४४॥

४४—इस प्रकार गुण की प्रेक्षा—(आसेवना) करने वाला और अगुणों को[१७] वर्जने वाला, शुद्ध-भोजी *मुनि* मरणान्तकाल में भी संवर की आराधना करता है ।

४५—आयरिए आराहेइ
समणे यावि तारिसो ।
गिहत्था वि णं पूयंति
जेण जाणंति तारिसं ॥

आचार्यानाराधयति,
श्रमणांश्चापि तादृशः ।
गृहस्था अप्येनं पूजयन्ति,
येन जानन्ति तादृशम् ॥४५॥

४५—वह आचार्य की आराधना करता है और श्रमणों की भी । गृहस्थ भी उसे शुद्ध-भोजी मानते हैं, इसलिए उसकी पूजा करते हैं ।

४६—तवतेणे वयतेणे
रूवतेणे य जे नरे ।
आयारभावतेणे य
कुव्वइ देवकिब्बिसं ॥

तपःस्तेनः वचःस्तेनः,
रूपस्तेनश्च यो नरः ।
आचार-भावस्तेनश्च,
करोति दैव-किल्बिषम् ॥४६॥

४६—जो मनुष्य तप का चोर, वाणी का चोर, रूप का चोर, आचार का चोर और भाव का चोर[१८] होता है, वह किल्विषिक देव-*योग्य-कर्म*[१९] करता है ।

४७—लद्धूण वि देवत्तं
उववन्नो देवकिब्बिसे ।
तत्था वि से न याणाइ
किं मे किच्चा इमं फलं ? ॥

लब्ध्वाऽपि देवत्वं,
उपपन्नो दैव-किल्बिषे ।
तत्राऽपि सः न जानाति,
किं मे कृत्वा इदं फलम् ॥४७॥

४७—किल्विषिक देव के रूप में उत्पन्न जीव देवत्व को पाकर भी *वहाँ वह* नहीं जानता कि 'यह मेरे किस कार्य का फल है ।'

४८—तत्तो वि से चइत्ताणं
लब्भिही एलमूययं ।
नरयं तिरिक्खजोणिं वा
बोही जत्थ सुदुल्लहा ॥

ततोऽपि सः च्युत्वा,
लप्स्यते एडमूकताम् ।
नरकं तिर्यग्योनिं वा,
बोधिर्यत्र सुदुर्लभा ॥४८॥

४८—वहाँ से च्युत होकर वह मनुष्य-गति में आ एडमूकता (गूंगापन)[२०] अथवा, नरक या तिर्यञ्चयोनि को *पाएगा*, *बोधि अत्यन्त दुर्लभ होती है* ।

४९—एयं च दोसं दट्ठूणं
नायपुत्तेण भासियं ।
अणुमायं पि मेहावी
मायामोसं विवज्जए ॥

एनं च दोषं दृष्ट्वा,
ज्ञातपुत्रेण भाषितम् ।
अणुमात्रमपि मेधावी,
माया-मृषा विवर्जयेत् ॥४९॥

४९—इस दोष को देखकर ज्ञातपुत्र ने कहा—मेधावी मुनि अणु-मात्र भी माया-मृषा न करे ।

५०—सिक्खिऊण भिक्खेसणसोहिं
संजयाण बुद्धाण सगासे ।
तत्थ भिक्खू सुप्पणिहिंदिए
तिव्वलज्ज गुणवं विहरेज्जासि ॥
॥ त्ति बेमि ॥

शिक्षित्वा भिक्षैषणाशुद्धिं,
संयतानां बुद्धानां सकाशे ।
तत्र भिक्षुः सुप्रणिहितेन्द्रियः,
तीव्रलज्जो गुणवान् विहरेत् ॥५०॥
इति ब्रवीमि ।

५०—संयत और बुद्ध श्रमणों के समीप भिक्षैषणा की विशुद्धि सीखकर उसमें सुप्रणिहित इन्द्रिय वाला भिक्षु उत्कृष्ट संयम[७२] और गुण से सम्पन्न होकर विचरे।

इस प्रकार मैं कहता हूँ।

पिण्डैषणायाः पञ्चमाध्ययने द्वितीय उद्देशकः समाप्तः ।

टिप्पण : अध्ययन ५ (द्वितीय उद्देशक)

श्लोक १ :

१. दुर्गन्धयुक्त हो या सुगन्धयुक्त (दुगंधं वा सुगंधं वा [ग]) :

दुर्गन्ध और सुगन्ध शब्द अमनोज्ञ और मनोज्ञ आहार के उपलक्षण हैं। इसलिए दुर्गन्ध के द्वारा अप्रशस्त और सुगन्ध के द्वारा प्रशस्त वर्ण, रस और स्पर्शयुक्त आहार समझ लेना चाहिए।

शिष्य ने पूछा —गुरुदेव ! यदि श्लोक का पश्चार्द्ध पहले हो और पूर्वार्द्ध बाद में हो, जैसे—'संयमी मुनि दुर्गन्ध या सुगन्धयुक्त सब आहार खा ले, शेष न छोड़े, पात्र को पोंछ कर लेप लगा रहे तब तक' तो इसका अर्थ सुख-ग्राह्य हो सकता है ?

आचार्य ने कहा —'प्रतिग्रह' शब्द मांगलिक है। इसलिए इसे आदि में रखा है और 'जूठन न छोड़े' इस पर अधिक बल देना है, इसलिए इसे बाद में रखा है। अतः यह उचित ही है[१]। इस श्लोक का आशय यह है कि मुनि सरस-सरस आहार खाए और नीरस आहार हो उसे जूठन के रूप में डाले—ऐसा न करे किन्तु सरस या नीरस जैसा भी आहार मिले उन सब को खा ले।

तुलना के लिए देखिए आयार चूला १।६।

श्लोक २ :

२. उपाश्रय (सेज्जा [क]) :

अगस्त्यसिंह ने इसका अर्थ 'उपाश्रय'[२], जिनदास महत्तर ने 'उपाश्रय' मठ, कोष्ठ[३] और हरिभद्र सूरि ने 'वसति' किया है[४]।

३. स्वाध्याय भूमि में (निसीहियाए [क]) :

स्वाध्याय भूमि प्रायः उपाश्रय से भिन्न होती थी। वृक्ष-मूल आदि एकान्त स्थान को स्वाध्याय के लिए चुना जाता था[५]। वहाँ जनता के आवागमन का सम्भवतः निषेध रहता था। 'नैषेधिकी' शब्द के मूल में यह निषेध ही रहा होगा। दिगम्बरों में प्रचलित 'नसिया' इसीका अपभ्रंश है।

१—(क) जि० चू० पृ० १९४ : सीसो आह—जइ एवं सिलोगपच्छद्धं पुव्विं पढिज्जइ पच्छा पडिग्गहं संलिहियाण, तो अत्थो सुहगेज्झयरो भवति, आयरिओ भणइ—सुहमुहोच्चारणत्थं, विचित्ता य सुत्तबंधा, पसत्थं च पडिग्गहग्गहणं उद्देसगस्स आदितो अप्पमाणं भवतित्ति अतो एवं सुत्तं एव पढिज्जति।

(ख) अ० चू० पृ० १२५ : सुत्तस्स सलेहणविहाणे भणितव्वे अणाणुपुव्वीकरणं कहिंचि आणुपुव्विनियमो कहिंचि पच्छिण्णकोपदेसो भवति त्ति एतस्स पदरिसणत्थं। एवं च घासेसणा विधाणे भणिते वि पुणो वि गोयरग्गपविट्ठस्स उपदेसो अविरुद्धो। णाणं-भुसितपयोग इया वा 'दुगंधं' पयोगो उद्देसगादौ अप्पसत्थो त्ति ॥

२—अ० चू० पृ० १२६ : 'सेज्जा' उवस्सओ।

३—जि० चू० पृ० १९४ : सेज्जा-उवस्सतादि मट्ठकोट्ठयादि।

४—हा० टी० प० १८२ : 'शय्यायां' वसतौ।

५—(क) अ० चू० पृ० १२६ : 'णिसीहिया' सज्झायथाणं, अम्मि वा रुक्खमूलादी संव निसीहिया।

(ख) जि० चू० पृ० १९४ : तहा निसीहिया जत्थ सज्झायं करेंति।

(ग) हा० टी० प० १८२ : 'नैषेधिक्यां' स्वाध्यायभूमौ।

४. गोचर (भिक्षा) के लिए गया हुआ मुनि मठ आदि में (समावन्नो व गोयरे [ख]) :

गोचर-काल में छात्रावास आदि एकान्त स्थान में आहार करने का विधान बाल, वृद्ध, तपस्वी या अत्यन्त क्षुधित और तृषित साधुओं के लिए है[1]। अगस्त्यसिंह ने इसका सम्बन्ध पूर्व व्याख्या (५.१.८२) से जोड़ा है[2]।

५. अपर्याप्त (अयावयट्ठा [ग]) :

इसका अर्थ है—जितना चाहे उतना नहीं अर्थात् पेट भर नहीं[3]।

तुलना के लिए देखिए बृहत्कल्प (५.४८)।

६. न रह सके तो (न संथरे [घ]) :

दूसरी बार भिक्षाचर्या करना विशेष विधि जैसा जान पड़ता है। टीकाकार तपस्वी आदि के लिए ही इसका विधान बतलाते हैं, प्रतिदिन भोजन करने वाले स्वस्थ मुनियों के लिए नहीं[4]। मूल सूत्र की ध्वनि भी लगभग ऐसी ही है।

श्लोक ३ :

७. कारण उत्पन्न होने पर (कारणमुप्पन्ने [क]) :

यहां 'कारण' शब्द में सप्तमी विभक्ति के स्थान में 'मकार' अलाक्षणिक है।

पुष्ट आलम्बन के बिना मुनि दूसरी बार गोचरी न जाए, किन्तु क्षुधा की वेदना, रोग आदि कारण हो तभी जाए। साधारणतः जो एक बार में मिले उसे खाकर अपना निर्वाह कर ले।

मुख्य कारण इस प्रकार हैं—(१) तपस्या, (२) अत्यन्त भूख-प्यास, (३) रुग्णावस्था और (४) प्राघूर्णक साधुओं का आगमन[5]।

श्लोक ४ :

८. अकाल को वर्जकर (अकालं च विवज्जेत्ता [ग]) :

प्रतिलेखन का काल स्वाध्याय के लिए अकाल है। स्वाध्याय का काल प्रतिलेखन के लिए अकाल है। काल-मर्यादा को जानने वाला भिक्षु अकाल-क्रिया न करे[6]।

---

१ (क) जि० चू० पृ० १९४ : गोयरग्गसमावण्णो बालवुड्ढखवगादि मट्ठकोट्ठगादिसु समुद्दिट्ठो होज्जा।
　(ख) हा० टी० प० १८२ : समापन्नो वा गोचरे, क्षपकादेः छन्नमठादौ।

२ अ० चू० पृ० १२६ : गोयरे वा जहा पढमं भणितं।

३ (क) अ० चू० पृ० १२६ : एतेसु 'अयावयट्ठं भोच्चा' णं जावदट्ठं यावदभिप्रायं तव्विवरीय 'मतावयट्ठं' भुंजित्ता।
　(ख) जि० चू० पृ० १९४ : अयावयट्ठं नाम ण यावयट्ठं, उट्ठं (ऊणं) ति वुत्तं भवति।
　(ग) हा० टी० प० १८२ : न यावदर्थम्—अपरिसमाप्तमिति।

४ हा० टी० प० १८२ : यदि तेन भुक्तेन 'न संस्तरेत्' न यापयितुं समर्थः, क्षपको विषमवेलापत्तनस्थो ग्लानो वेति।

५ (क) अ० चू० पृ० १२६ : सो पुण तवस्सी वा जधा "विगट्ठभत्तियस्स कप्पंति सव्वे गोयरकाला (दशा० श्रु० ८ सूत्र २४) [illegible] या रोगी [illegible] पाहुणएहिं वा उवउत्ते ततो एयमातिम्मि कारणे उप्पण्णे।
　(ख) हा० टी० प० १८२ : ततः 'कारणे' वेदनादावुत्पन्ने पुष्टालम्बनः सन् भक्त-पानं 'गवेषयेद्', अन्विष्येत् (गवेषयेत्) [illegible]

६ (क) अ० चू० पृ० १२६ : [illegible] 'अकालं च' [illegible] 'विवज्जेत्ता' [illegible]
　(ख) जि० चू० पृ० १९४ 'अकालं च विवज्जेत्ता' नाम जहा पडिलेहणवेलाए सज्झायस्स अकालो, [illegible] अकालं विवज्जित्ता।
　(ग) हा० टी० प० १८३ : 'अकालं च वर्जयित्वा' येन स्वाध्यायादि न संभाव्यते स [illegible]।

९. जो कार्य जिस समय का हो उसे उसी समय करे (काले कालं समायरे [घ]) :

इस श्लोक से छठे श्लोक तक समय का विवेक बतलाया गया है। मुनि को भिक्षा-काल में भिक्षा, स्वाध्याय-काल में स्वाध्याय

स काल में जो क्रिया करनी हो वह उसी काल में करनी चाहिए[१]। वस्त्र-काल में वस्त्र ग्रहण

सूत्रकृताङ्ग के अनुसार—भिक्षा के समय में भिक्षा करे, खाने के समय में खाए, पीने के समय में पिए, वस्त्र-काल में वस्त्र ग्रहण

उनका उपयोग करे, लयन-काल में (गुफा आदि में रहने के समय अर्थात् वर्षाकाल में) लयन में रहे और सोने के समय में

। काल का व्यतिक्रम मानसिक असन्तोष पैदा करता है। इसका उदाहरण अगले श्लोक में पढ़िए।

श्लोक ५ :

. श्लोक ५ :

एक मुनि अकालचारी था। वह भिक्षा-काल को लांघकर आहार लाने गया। बहुत घूमा, पर कुछ नहीं मिला। खाली झोली

वापस आ रहा था। कालचारी साधु ने पूछा—"क्यों, भिक्षा मिली ?" वह तुरन्त बोला—"इस गाँव में भिक्षा कहाँ है ? यह तो

भिखारियों का गाँव है।"

अकालचारी मुनि की इस आवेश-पूर्ण वाणी को सुन कालचारी मुनि ने जो शिक्षा-पद कहा वही इस श्लोक में सूत्रकार ने उद्धृत किया

है। घटनाक्रम ज्यों का त्यों रखते हुए सूत्रकार ने मध्यम पुरुष का प्रयोग किया है, जैसे—चरसि, पडिलेहसि, किलामेसि, गरिहसि।

श्लोक ६ :

११. समय होने पर (सइ-काले [क]) :

'सइकाले' का संस्कृत रूप 'स्मृतिकाले' भी हो सकता है। जिस समय भिक्षा देने के लिए भिक्षुओं को याद किया जाए उस

समय को स्मृति-काल कहा जाता है[४]।

श्लोक ७ :

१२ श्लोक ७-८ :

सातवें और आठवें श्लोक में क्षेत्र-विवेक का उपदेश दिया गया है[५]। मुनि को वैसे क्षेत्र में नहीं जाना चाहिए जहाँ जाने से दूसरे

जीव-जन्तु डर कर उड़ जाएँ, उनके खाने-पीने में विघ्न पड़े आदि-आदि[६]। इसी प्रकार भिक्षार्थ गए हुए मुनि को गृह आदि में नहीं

बैठना चाहिए।

१—जि० चू० पृ० १९४-५ : भिक्खावेलाए भिक्खं समायरे, पडिलेहणवेलाए पडिलेहणं समायरे, एवमादि, भणियं च—'जोगो जोगो जिणसासणंमि दुक्खक्खया पउञ्जंतो। अण्णोऽण्णमबाहंतो असवत्तो होइ कायव्वो।'

२ सू० २.१.१५ : अन्नं अन्नकाले, पाणं पाणकाले, वत्थं वत्थकाले, लेणं लेणकाले, सयणं सयणकाले।

३—(क) जि० चू० पृ० १९५ : तमकालचारिं आउरीभूतं दट्ठूण अण्णो साहू भणेज्जा—लद्धा ते एयंमि निवेसे भिक्खा ?, सो भणइ—कुओ एत्थ थंडिल्लगामे भिक्खा। तेण साहुणा भण्णइ—तुमं अप्पणो दोसे परस्स उवरिं निवाडेहि, तुमं पमाद-दोसेण सज्झायलोभेण वा कालं न पच्चुवेक्खसि, अप्पाणं अइहिंडीए ओमोदरियाए किलामेसि, इमं सन्निवेसं च गरि-हसि, जम्हा एते दोसा तम्हा।

(ख) हा० टी० प० १८३।

४—हा० टी० प० १८३ : 'सति' विद्यमाने 'काले' भिक्षासमये चरेद्भिक्षुः, अन्ये तु व्याचक्षते—स्मृतिकाल एव भिक्षाकालो-ऽभिधीयते, स्मर्यन्ते यत्र भिक्षाका स स्मृतिकालः।

५—हा० टी० प० १८४ : उक्ता कालयतना, अधुना क्षेत्रयतनामाह।

६—हा० टी० प० १८४ : तत्सत्रासनेनान्तरायाधिकरणादिदोषात्।

श्लोक ८ :

१३. न बैठे (न निसीएज्ज [ख]) :

यहाँ बैठने के बारे में सामान्य निषेध किया गया है[1]। इसके विशेष विवरण और अपवाद की जानकारी के लिए देखिए सूत्र (३.२१-२२)।

अनुसंधान के लिए देखिए अध्याय ६ श्लोक ५६-५९।

१४. कथा का प्रबन्ध न करे (कहं च न पबंधेज्जा [ग]) :

कथा के तीन प्रकार हैं—धर्म-कथा, वाद-कथा और विग्रह-कथा। इस त्रिविध-कथा का प्रबन्ध न करे। किसी के पूछने पर एक उदाहरण बता दे किन्तु चर्चाक्रम को लम्बा न करे[2]।

साधारणतया भिक्षु गृहस्थ के घर में जैसे बैठ नहीं सकता वैसे खड़ा-खड़ा भी धर्म-कथा नहीं कह सकता[3]।

तुलना के लिए देखिए बृहत्कल्प (३.२२-२४)।

श्लोक ९ :

१५. श्लोक ९ :

इस श्लोक में वस्तु-विवेक की शिक्षा दी गई है। मुनि को वस्तु का वैसा प्रयोग नहीं करना चाहिए जिससे लघुता या चोट लगने का भी प्रसंग आए[4]।

१६. परिघ (फलिहं [क]) :

नगर-द्वार के किवाड़ को बन्द करने के बाद उसके पीछे दिया जाने वाला फलक[5]।

श्लोक १० :

१७. कृपण (किविणं [ख]) :

इसका अर्थ 'पिण्डोलग' है[6]। उत्तराध्ययन (५.२२) में 'पिण्डोलग' का अर्थ—'पर-दत्त आहार से जीवन-निर्वाह करने वाला' किया है[7]।

१—(क) अ० चू० पृ० १२७ : 'ण णिसिएज्ज' णो पविसेज्ज 'कत्थति' त्ति गिह-देवकुलादौ।
(ख) जि० चू० पृ० १९५ : गोयरग्गगएण भिक्खुणा णो णिसियव्वं कत्थइ घरे वा देवकुले वा सभाए वा पवाए वा एव

२—जि० चू० पृ० १९६ : पण्हत्थ एगणाएण वा एगवागरणेण वा।

३—जि० चू० पृ० १९५-१९६ : जहा य न निसिएज्जा तहा ठिओऽवि धम्मकहावादकहा-विग्गहकहादि णो 'पबंधिज्ज' ण कहेज्जइ।
(ख) हा० टी० प० १८४ : 'कथां च' धर्मकथादिरूपां 'न प्रबध्नीयात्' प्रबन्धेन न कुर्यात्, अनेनैकव्याकरणैकज्ञातानुज्ञामाह -स्थित्या कालपरिग्रहेण संयत इति, अनेषणाद्वेषादिदोषप्रसंगादिति।

४—(क) जि० चू० पृ० १९६ : इमे दोसा—कयाति दुब्बद्धे पडेज्जा, पडंतस्स य संजमविराहणा आयविराहणा वा होज्ज

(ख) हा० टी० प० १८४ : लाघवविराधनादोषात्।

५—(क) अ० चू० पृ० १२७ : णगरद्दारकवाडोवत्थंभणं 'फलिहं'।
(ख) हा० टी० प० १८४ : 'परिघं' नगरद्वारादिसंबन्धिनम्।

६—(क) अ० चू० पृ० १२७ : किवणा पिंडोलगा।
(ख) जि० चू० पृ० १९६ : किविणा—पिण्डोलगा।
(ग) हा० टी० प० १८४ : 'कृपणं वा' पिण्डोलकम्।

७—उत्त० बृ० वृ० प० २५०।

श्लोक १२ :

१८. प्रवचन की (पवयणस्स [घ]) :

प्रवचन का अर्थ द्वादशाङ्गी है[१]। प्रवचन के आधारभूत जैन-शासन को भी प्रवचन कहा जाता है।

श्लोक १४ :

१९. उत्पल (उप्पलं [क]) :

नील-कमल[२]।

२०. पद्म (पउमं [क]) :

रक्त-कमल।

अगस्त्यसिंह ने पद्म का अर्थ 'नलिन'[३] और हरिभद्र ने 'अरविन्द' किया है[४]। 'अरविन्द' रक्तोत्पल का नाम है[५]।

२१. कुमुद (कुमुयं वा [ख]) :

श्वेत-कमल। इसका नाम गर्दभ है[६]।

२२. मालती (मगदंतियं [ख]) :

यह देशी शब्द है। इसका अर्थ मालती और मोगरा है। कुछ आचार्य इसका अर्थ 'मल्लिका' (बेला) करते हैं[७]।

श्लोक १५ :

२३. श्लोक १५ :

अगस्त्य चूर्णि के अनुसार १४ वें और १५ वें श्लोक को द्व्यर्ध श्लोक के रूप में पढ़ने की परम्परा रही है। चूर्णिकार ने इसके समर्थन में लौकिक श्लोक भी उद्धृत किया है[८]।

१—भग० २०.८.१४ : पवयणं पुण दुवालसंगे गणिपिडगे।

२—(क) अ० चू० पृ० १२८ : उप्पलं णील।

(ख) जि० चू० पृ० १९६ : उप्पल नीलोत्पलादि।

(ग) हा० टी० प० १८५ : 'उत्पलं' नीलोत्पलादि।

३—अ० चू० पृ० १२८ : पउम नलिणं।

४—हा० टी० प० १८५ : 'पद्मम्' अरविन्दं वापि।

५—शा० नि० भू० पृ० ५३९।

६—(क) जि० चू० पृ० १२८ : 'कुमुदं' गद्दभगं।

(ख) जि० चू० पृ० १९६ : कुमुद- गद्दभुप्पलं।

(ग) हा० टी० प० १८५ · 'कुमुदं वा' गर्दभकं वा।

७—(क) अ० चू० पृ० १२८ · 'मगदंतिया' मेतिया। मदगंतिआ—मेतिया, अण्णे भणंति-णियइल्लो मदगंतिया भण्णइ।

(ख) जि० चू० पृ० १९६ : मदगंतिआ—मेतिका, मल्लिकामित्यन्ये। पढंति—दंतिय पडियाइक्खे तं किं ? संजताणं अकप्पि

(ग) हा० टी० प० १८५ : 'मगदंतिका' मेलिका, एतस्स सिलोगस्स प्राणं प्रबद्ध समाणसंबंधमतीतणंतरसिलोगसंबंधं समाणेति,

८—अ० चू० पृ० १२९ : 'तं भवे भत्तपाणं' तप्परिहरणत्थं पडिकुमढेणेव विवड्ढसिलोइया प्रयोगा उवलब्भंति यथा —

पुणो ण मे कप्पति एरिसमिति पुनरुत्त, [illegible] समाणणेण

य विवड्ढसिलोगो भवति, लोगे य मुणाहियत्थसिलोगो भवति, निबोधनात्।

द्रग धर्म न जानति, धृतराष्ट्र ! निबोधनात्।

मत्तः प्रमत्त उन्मत्तो श्रान्तः क्रुद्ध पिपासितः ॥

त्वरमाणश्च भीरुश्च चोर कामी च ते दश: ।

श्लोक १६ :

२४. कुचल कर (सम्मद्दिया[1] घ) :

इसी ग्रन्थ (५.१.२६) में सम्मर्दन के प्रकरण में 'हरिय' शब्द के द्वारा समस्त वनस्पति का सामान्य ग्रहण किया है। यहां भेदपूर्वक उत्पल आदि का उल्लेख किया है इसलिए यह पुनरुक्त नहीं है[2]।

श्लोक १८ :

२५. श्लोक १८ :

शालूक आदि अपक्व रूप में खाए जाते हैं इसलिए उनका निषेध किया गया है[3]।

२६. कमलकन्द (सालुयं क) :

कमल की जड़[4]।

२७. पलाशकन्द (विरालियं क) :

विदारिका का अर्थ पलाशकन्द किया गया है। हरिभद्र सूरि ने यह सूचित किया है कि कुछ आचार्य इसका अर्थ पर्ववल्लि, प्रतिपर्ववल्लि, प्रतिपर्वकन्द करते हैं[5]। अगस्त्यसिंह ने वैकल्पिक रूप में इसका अर्थ 'क्षीर-विदारी, जीवन्ती और गोवल्ली' किया है[6]। जिनदास के अनुसार बीज से नाल, नाल से पत्ते और पत्ते से कन्द उत्पन्न होता है वह 'विदारिका' है[7]।

२८. पद्म-नाल (मुणालियं ग) :

पद्म-नाल पद्मिनी के कन्द से उत्पन्न होती है और उसका आकार हाथी दांत जैसा होता है[8]।

१—हा० टी० प० १८५ : संमृद्य दद्यात्, संमर्दनम् नाम पूर्वच्छिन्नानामेवापरिणतानां मर्दनम् ।

२—(क) अ० चू० पृ० १२८ : 'सम्मद्दमाणी पाणाणि बीयाणि हरियाणी य।' उप्पलादीण एत्थं हरियग्गहणेण गहणे वि र विसेसेण एतेसिं परिणामभेदा इति इह सभेदोपादाणं।

(ख) जि० चू० पृ० १९६-१९७ : सीसो आह—णणु एस अत्थो पुव्विं चेव भणिओ जहा 'सम्मद्दमाणी पाणाणि बीयाणि हरियाइं' ति हरियग्गहणेण वणप्फई गहिया, किमत्थं पुणो गहणं कयंति ?, आयरिओ भणइ—तत्थ अविसेसिय वणस्सइ गहणं कयं, इह पुण सभेदभिण्णं वणप्फइकायमुच्चारियं।

३—जि० चू० पृ० १९७ : एयाणि लोगो खायति अतो पडिसेहणनिमित्तं नालियागहणं कयंति······'सासवनालिअं' सिद्धत्थगणालं तमवि लोगो ऊणसंतिकाऊण आमगं चेव खायति।

४ (क) अ० चू० पृ० १२८ : 'सालुयं उप्पलकंदो।'

(ख) जि० चू० पृ० १९७ : 'सालुगं' नाम उप्पलकन्दो भण्णइ।

(ग) हा० टी० प० १८५ : 'शालूकं वा' उत्पलकन्दम्।

(घ) शा० नि० भू० पृ० ५३६ : पद्मादिकन्दः शालूकम्।

५ हा० टी० प० १८५ : 'विरालिकां' पलाशकन्दरूपां, पर्ववल्लिप्रतिपर्ववल्लिप्रतिपर्वकन्दमित्यन्ये।

६—अ० चू० पृ० १२८ : 'विरालियं' पलासकंदो अहवा 'छीरविराली' जीवन्ती गोवल्ली इति एसा।

७ जि० चू० पृ० १९७ : 'विरालियं' नाम पलासकंदो भण्णइ, जहा बीए वल्ली जायंति, तीसे पत्ते, पत्ते कंदा जायंति, सा विरालिया

८—(क) अ० चू० पृ० १२८ : पउमाणमूला 'मुणालिया'।

(ख) जि० चू० पृ० १९७ : मुणालिया गयदंतसन्निभा पउमिणिकंदाओ निग्गच्छति।

(ग) हा० टी० प० १८५ : 'मृणालिकां' पद्मिनीकन्दोत्थाम्।

(घ) शा० नि० भू० पृ० ५३८ : मृणालं पद्मनालं च।

३४. फली (छिवाडि[क]) :

अगस्त्य चूर्णि में 'छिवाड़ी' का अर्थ 'संवलिया' और जिनदास चूर्णि में 'सिंगा' तथा टीका में मूंग आदि की फली कि
'संवलिया' और 'सिंगा' दोनों फली के ही पर्यायवाची नाम हैं।

श्लोक २१ :

३५. वंश-करीर (वेलुयं[ख]) :

अगस्त्य चूर्णि में 'वेलुयं' का अर्थ 'विल्व' या 'वंशकरिल्ल' किया है[२]। जिनदास महत्तर और टीकाकार के अनुसार इस
'वंशकरिल्ल' है[३]। आचाराङ्ग वृत्तिकार ने इसका अर्थ 'विल्व' किया है।[४] यहाँ 'वेलूय' का अर्थ 'विल्व' संगत नहीं लगता,
दशवैकालिक में 'बिल्व' का उल्लेख पहले ही हो चुका है[५]। प्राकृत भाषा की दृष्टि से भी 'विल्व' का 'वेलुय' रूप नहीं बनता, किन्तु
का बनता है[६]। यहाँ 'वेलुय' का अर्थ वंश-करीर—वांस का अंकुर होना चाहिए। अभिधान चिन्तामणि में दस प्रकार के शाकों में
का भी उल्लेख है[७]।

अभिधान चिन्तामणि की स्वोपज्ञ टीका में 'करीर' का अर्थ वांस का अंकुर किया गया है[८]। सुश्रुत के अनुसार बांस के
कफकारक, मधुरविपाकी, विदाही, वायुकारक, कषाय एवं रूक्ष होते हैं[९]।

३६. काश्यपनालिका (कासवनालियं[ख]) :

व्याख्याकारों ने इसका अर्थ 'श्रीपर्णि फल' और 'कसारु' किया है[१०]। 'श्रीपर्णि' के दो अर्थ हैं[११]—(१) कुंभारी
(२) कायफल।

कुंभारी—यह वनस्पति भारतवर्ष, सिलोन और फिलीपाइन द्वीप-समूह में पैदा होती है। इसका वृक्ष ६० फुट तक ऊंचा
है। इसका पिंड सीधा रहता है और उसकी गोलाई ६ फुट तक रहती है। इसकी छाल सफेद और कुछ भूरे रंग की रहती है।
चैत्र तक इसके पत्ते गिर जाते हैं और चैत्र-वैशाख में नए पत्ते निकलते हैं। इसमें पीले रंग के फूल लगते हैं, जिन पर भूरे छींटे हो
इसका फल १ इंच लम्बा, मोटा और फिसलना होता है। यह पकने पर पीला हो जाता है[१२]।

१—(क) अ० चू० पृ० १३० : 'छिवाडिया' संविलिया।
(ख) जि० चू० पृ० १९७ : 'छिवाडी' नाम संगा।
(ग) हा० टी० प० १८५ : 'छिवाटि' मिति मुद्गादिफलिम्।
२—अ० चू० पृ० १३० : 'वेलुयं' बिल्लं वंसकरिल्लो वा।
३—(क) जि० चू० पृ० १९७ : वंसकिरिल्लो वेलुयं।
(ख) हा० टी० प० १८५ : 'वेणुकं' वंशकरिल्लम्।
४—आ० चू० १।११८ वृ० : 'वेलुयं' वेलुयंति विल्वम्।
५—दश० ५.१.७३ : अत्थियं तिंदुयं बिल्लं।
६—हैम० ८.१.२०३ : वेणौ णो वा।
७—४.२४९-५० : 'मूलपत्रकरीराग्रफलकाण्डाधिरूढकाः। त्वक् पुष्पं फलकं शाकं दशधा...।
८—वही पृ० ४७३ : 'करीरं' वंशादेः।
९—सु० (सू०) ४६.३१४ : 'वेणोः' करीराः कफला मधुरा रसपाकतः।
विदाहिनो वातकराः सकषाया विरूक्षणाः॥
१०—(क) अ० चू० पृ० १३० : 'कासवनालियं' श्रीपण्णी फलं कस्सारुकं।
(ख) जि० चू० पृ० १९७ : 'कासवनालियं' सीवण्णिफलं भण्णइ।
(ग) हा० टी० प० १८५ : 'काश्यपनालिकं' श्रीपर्णीफलम्।
११ व० ग० पृ० ३१५, ५२७।
१२ व० चं० पृ० ३१५।

कायफल—यह एक छोटे कद का हमेशा हरा रहने वाला वृक्ष है। इसका छिलका खुरदरा, बादामी और भूरे रंग का होता है। इसके पत्ते गुच्छों में लगते हैं। उनकी लम्बाई ७.५ से १२.५ सेन्टिमीटर और चौड़ाई २.५ से ५ सेन्टिमीटर तक होती है[1]।

कसारु—कसेरु नाम का जलीय कन्द है। यह एक किस्म की भारतीय घास का कंद है। इस घास से बोरे और चटाइयाँ बनती हैं। यह घास तालाबों और झीलों में जमती है। इस वृक्ष की जड़ों में कुछ गठानें रहती हैं जो तन्तुओं से ढँकी हुई रहती हैं। इसका फल गोल और पीले रंग का जायफल के बराबर होता है।

इसकी छोटे और बड़े के भेद से दो जातियाँ होती हैं। छोटा कसेरु हल्का और आकृति में मोथे की तरह होता है। इसको हिन्दी में चिचोड़ और लेटिन में केपेरिस एस्क्यूलेंटस कहते हैं। दूसरी बड़ी जाति को राज कसेरु कहते हैं। सर्दी के दिनों में कसेरु जमीन से निकाले जाते हैं और उनके ऊपर का छिलका हटाकर उनको कच्चे ही खाते हैं[2]।

३७. अपक्व-तिलपपड़ी (तिलपप्पडग [ग])

वह तिल-पपड़ी वर्जित है, जो कच्चे तिलों से बनी हो[3]।

३८. कदम्ब-फल (नीमं [ग]) :

हारिभद्रीय टीका में 'नीमं' नीमफलम्—ऐसा मुद्रित पाठ है[4]। किन्तु 'नीमं नीपफलम्'—ऐसा पाठ होना चाहिए। चूर्णियों में 'णीम' शब्द का प्रयोग उचित हो सकता है, किन्तु संस्कृत में नहीं[5]। संस्कृत में इसका रूप 'नीप' होगा। 'नीप' का अर्थ 'कदम्ब' है और उस का प्राकृत रूप 'णीम' होता है[6]।

कदम्ब एक प्रकार का मध्यम आकार का वृक्ष होता है जो भारतवर्ष के पहाड़ों में स्वाभाविक तौर से बहुत पैदा होता है। इसका फूल सफेद और कुछ पीले रंग का होता है। इसके फूल पर पंखुड़ियाँ नहीं होतीं, बल्कि सफेद-सफेद सुगन्धित तन्तु इसके चारों ओर उठे हुए रहते हैं। इसका फल गोल नींबू के समान होता है।

कदम्ब की कई तरह की जातियाँ होती हैं। इनमें राज कदम्ब, धारा कदम्ब, धूलि कदम्ब, भूमि कदम्ब इत्यादि जातियाँ उल्लेखनीय हैं[7]।

श्लोक २२ :

३९. चावल का पिष्ट (चाउलं पिट्ठं [क]) :

अगस्त्यसिंह ने अभिनव और अनिन्धन (बिना पकाए हुए) चावल के पिष्ट को सचित्त माना है[8]।

जिनदास ने 'चावल-पिट्ठ' का अर्थ भ्राष्ट्र (भूने हुए चावल) किया है। वह जब तक अपरिणत होता है तब तक सचित्त रहता है[9]।

१—व० चं० पृ० ५२७।

२—व० चं० पृ० ४७६।

३—(क) अ० चू० पृ० ११० : 'तिलपप्पडगो' आमतिलेहिं जो पप्पडो कतो।
(ख) जि० चू० पृ० १९८ : जो आमगेहिं तिलेहिं कीरइ, तमवि आमगं परिवज्जेज्जा।
(ग) हा० टी० प० १८५ : 'तिलपर्पटं' पिष्टतिलमयम्।

४—हा० टी० प० १८५ : 'नीमं' नीमफलम्।

५—(क) अ० चू० पृ० ११० : 'णीव' फलं।
(ख) जि० चू० पृ० १९८ : 'णीमं' णीमरुक्खस्स फलं।

६—हैम० ८.१.२३४ : नीपापीडे मो वा।

७—व० च० पृ० ३७५।

८—अ० चू० पृ० ११० : चाउलं पिट्ठं लोट्टो। तं अभिणवमणिंधणं सच्चित्तं भवति।

९—जि० चू० पृ० १९८ : चाउलं पिट्ठं भट्ठं भण्णइ, तमपरिणतधम्मं सचित्तं भवति।

४८. प्रियाल फल[1] (पियालं ग) :

प्रियाल को चिरौंजी कहते हैं।

'चिरौंजी' के वृक्ष प्रायः सारे भारतवर्ष में पाये जाते हैं। इसके पत्ते छोटे-छोटे, नोकदार और खुरदरे होते हैं। इसके फल करोंदे के समान नीले रंग के होते हैं। उनमें से जो मगज निकलती है उसे चिरौंजी कहते हैं।

श्लोक २५ :

४९. समुदान (समुयाणं क) :

मुनि के लिए समुदान भिक्षा करने का निर्देश किया गया है। एक या कुछ एक घरों में से भिक्षा ली जाय तो एषणा की शुद्धि रह नहीं सकती, इसलिए अनेक घरों से थोड़ा-थोड़ा लेना चाहिए, ऊँच और नीच सभी घरों में जाना चाहिए[2]।

जो घर जाति से नीच कहलाएँ, धन से समृद्ध न हों और जहाँ मनोज्ञ आहार न मिले उनको छोड़ जो जाति से उच्च कहलाएँ, धन से समृद्ध हों और जहाँ मनोज्ञ आहार मिले वहाँ न जाए। किन्तु भिक्षा के लिए निकलने पर जुगुप्सित कुलों को छोड़कर परिपाटी (क्रम) से आने वाले छोटे-बड़े सभी घरों में जाए। जो भिक्षु नीच कुलों को छोड़कर उच्च कुलों में जाता है वह जातिवाद को बढ़ावा देता है और लोग यह मानते हैं कि यह भिक्षु हमारा परिभव कर रहा है[3]।

बौद्ध-साहित्य में तेरह 'धुताङ्ग' बतलाए गए हैं। उनमें चौथा 'धुताङ्ग' 'सापदान-चारिकाङ्ग' है। गाँव में भिक्षाटन करते समय बिना अन्तर डाले प्रत्येक घर से भिक्षा ग्रहण करने को 'सापदान-चारिकाङ्ग' कहते हैं[4]।

श्लोक २६ :

५०. वन्दना (स्तुति) करता हुआ याचना न करे (वंदमाणो न जाएज्जा ग) :

यहाँ उत्पादन के ग्यारहवें दोष 'पूर्व-संस्तव' का निषेध है।

दोनों चूर्णिकारों और टीकाकार ने 'वंदमाणं न जाएज्जा' पाठ को मुख्य मानकर व्याख्या की है और 'वंदमाणो न जाएज्जा' को पाठान्तर माना है[5]। किन्तु मूल पाठ 'वंदमाणो न जाएज्जा' ही होना चाहिए। इस श्लोक में उत्पादन के ग्यारहवें दोष—पूर्वसंस्तव

१—(क) अ० चू० पृ० १३० : पियालं पियालरुक्खफलं वा।
(ख) जि० चू० पृ० १९८ : पियालो रुक्खो तस्स फलं पियालं।
(ग) हा० टी० प० १८६ : 'प्रियालं वा' प्रियालफलं च।

२—(क) अ० चू० पृ० १३१ : समुयाणीयंति—समाहरिज्जंति तदत्थं चाउलसाकतो रसादीणि तदुपसाधणाणीति [illegible] 'समुयाणं चरे' गच्छेदिति। अहवा पुव्वभणितमुग्गमुप्पायणेसणासुद्धमण्णं समुदाणीयं चरे।
(ख) जि० चू० पृ० १९८ : समुदाया भिज्जइत्ति, थोवं थोवं पडिवज्जइत्ति वुत्तं भवइ।
(ग) हा० टी० प० १८६ : समुदानं भावभैक्ष्यमाश्रित्य चरेद् भिक्षुः।

३—जि० चू० पृ० १९८-१९९ : 'उच्च' नाम जातिओ णो सारतो सारतो णो जातीतो, एगं सारतोऽवि जाइओऽवि, एगं णो जाइओ, अवयमवि जाइओ एगं अवयं णो सारओ, सारओ एगं अवयं णो जाइओ, एगं जाइओऽवि अवयं सारओ जाइओ अवयं णो सारओ, अहवा उच्चं जत्थ मणुन्नाणि लब्भंति, अवयं जत्थ न तारिसाणित्ति, तहप्पगारं कुलं उच्चं अवयं वा भवइ, तत्थ परिवाडीए समुदाणियव्वं, ण पुण नीयं कुलं अतिक्कमिऊण ऊसढं अभिसंधारिज्जा, 'नीयं' ति वा अवयंति वा एगट्ठा, दुगुंछियकुलाणि वज्जेऊण जं सेसं कुलं तमतिक्कमिऊणं नो ऊसढं गच्छेज्जा, ऊसढं नाम उच्चंति वा एगट्ठं, जति ऊसढे उच्चरोत्ति गमिस्सामि बहुं वा लभीहामित्तिकाऊण णो णिययाणि अतिक्कमेज्जा, किं कारणं? [illegible] भवंति, सुत्तत्थपलिमंथो य, जइ नीयाण य अग्गो न रोयंति, ते ते अतिक्कमिज्जंति ते अप्पत्तियं वा परिभवं एव मन्नेंति, [illegible] जातिवाओ य उववूहिओ भवति।

४—विसुद्धि मग्ग भूमिका पृ० २४। विशेष विवरण के लिए देखें पृ० ६३-६८।

५—(क) अ० चू० पृ० १३२ : पाठविसेसो वा—'वंदमाणो न जाएज्जा'।
(ख) जि० चू० पृ० १९९ : अथवा एस आलावओ एवं पढिज्जइ 'वंदमाणो न जाएज्जा' वंदमाणो नाम [illegible] [illegible], [illegible] जहा गामि [illegible]।

संथव' (पूर्वपश्चात् संस्तव) के एक भाग 'पूर्व-संस्तव' का निषेध है। इसका समर्थन आयार चूला के 'वंदिय वंदिय' शब्द से होता है। टीकाकार शीलाङ्कसूरि के अनुसार इसका अर्थ यह है कि मुनि गृहपति की स्तुति कर याचना न करे[2]।

आयार चूला के टिप्पणीगत दोनों वाक्य और प्रस्तुत श्लोक के उत्तरार्द्ध के दोनों चरण केवल अर्थ-दृष्टि से ही नहीं किन्तु शब्द-से भी प्रायः तुल्य हैं। आचाराङ्ग के 'वंदिय' का अर्थ यहाँ 'वंदमाणो' के द्वारा प्रतिपादित हुआ है। निशीथ में 'पूर्व-संस्तव' के प्रायश्चित्त का विधान किया गया है[3]। प्रश्न व्याकरण (संवरद्वार १) में 'ण वि वंदणाए' के द्वारा उक्त अर्थ का प्रतिपादन हुआ है। इसके आधार पर 'वंदमाणो' पाठ ही संगत है। वन्दमान—वन्दना करते हुए व्यक्ति से याचना नहीं करनी चाहिए—यह अर्थ और टीकाकार को अभिप्रेत है[4]। किन्तु यह व्याख्या विशेष अर्थवान् नहीं लगती और इसका कहीं आधार भी नहीं मिलता। न जाएज्जा' इसका विशेष अर्थ भी है, आगमों में आधार भी है, इसलिए अर्थ की दृष्टि से भी 'वंदमाणो' पाठ अधिक उपयुक्त है।

श्लोक ३१ :

५१. छिपा लेता है (विणिगूहई [स]) :

इसका अर्थ है—सरस आहार को नीरस आहार से ढाँक लेता है[5]।

श्लोक ३४ :

५२. मोक्षार्थी (आययट्ठी [स]) :

इस शब्द को अगस्त्यचूर्णि में 'आयति-अर्थी' तथा जिनदास चूर्णि और टीका में 'आयत-अर्थी' माना है[6]।

५३. रूक्षवृत्ति (लूहवित्ती [घ]) :

रूक्ष शब्द का अर्थ रूखा और संयम—दोनों होता है। जिनदास चूर्णि में रूक्षवृत्ति का अर्थ रूक्ष-भोजी और टीका में इसका संयम-वृत्ति किया है[7]।

१—आ० चू० १।६२ : 'नो गाहावई वंदिय-वंदिय जाएज्जा' नो वण फरुसं वएज्जा'।

२—आ० चू० १।६२ वृ० : गृहपतिं 'वन्दित्वा' वाग्भिः स्तुत्वा प्रशस्य नो याचेत।

३—नि० २.३८ : जे भिक्खू पुरे संथवं पच्छा संथवं वा करेइ करेंतं वा सातिज्जति। चू० : 'संथवो' थुती, अदत्ते दाणे पुव्वसंथवं दिण्णे पच्छासंथवो। जो तं करेति सातिज्जति वा तस्स मासलहुं।

४—(क) अ० चू० पृ० १३२ : 'वंदमाणं ण जाएज्जा' 'जहा अहं वंदितो एतेण, जायामि णं, महो अवस्स दाहिति। सो वंदि मेत्तेण जातिओ चिंतेज्ज भणेज्ज वा—चोरते वंदिहि त्ति, एतातियं एवमादि दोसा।

(ख) जि० चू० पृ० २०० : 'वंदमाणं न जाइज्जा' जहा अहमेतेण वंदिउसि अवस्समेसो दाहेति, तत्थ विपरिणामादिदो सभवति, पुरिसं पुण वदमाणं वंदमाणं अन्नं किंचि वत्तेवं काऊण अणतो वा मग्गिऊण पुणो तायेव गंतूण मग्गइ, ताहे पुणो वदति तो मग्गिओ अइ कदावि पडिसेहेज्ज। तत्थ मो अण्ण फरुसं वए, जहा होणं ते वंदितं, तुम अबुद्धो चे एवमादि।

(ग) हा० टी० प० १८६ : वन्दमानं सन्तं भद्रकोऽयमिति न याचेत, विपरिणामदोषात्, अन्नाद्यभावेन याचितादाने च परुषं न ब्रूयात्—वृथा ते वन्दनमित्यादि।

५—(क) जि० चू० पृ० २०१ : विविहेहिं पगारेहिं गूहति विणिगूहति, अप्पसारियं करेइ, अन्नेण अन्तपन्तेण ओहाडेति।

(ख) हा० टी० प० १८७ : 'विनिगूहते' अहमेव भोक्ष्य इत्यन्तप्रान्तादिनाऽऽच्छादयति।

६—(क) अ० चू० पृ० १३३ : [आयतट्ठी] आगामिणि काले हितमायतीहित, आततिहितेण अत्थी आयत्याभिलासी।

(ख) जि० चू० पृ० २०२ : आयतो—मोक्खो भण्णइ, तं आययं अत्थयतीति आययट्ठी।

(ग) हा० टी० प० १८७ : 'आयतार्थी' मोक्षार्थी।

७—(क) जि० चू० पृ० २०२ : लूहाइ से वित्ती, एतस्स य निहारे गिद्धी अत्थि।

(ख) हा० टी० प० १८७ : 'रूक्षवृत्ति.' संयमवृत्तिः।

श्लोक ३५ :

५४. मान-सम्मान की कामना करने वाला (माणसम्माणकामए [ख]) :

वंदना करना, आने पर खड़ा हो जाना मान कहलाता है और वस्त्र-पात्र आदि देना सम्मान है अथवा मान एकदेशीय अर्चना है और सम्मान व्यापक अर्चना[1]।

५५. माया-शल्य (मायासल्लं [घ]) :

यहाँ शल्य का अर्थ आयुध[2] (शरीर में घुसा हुआ कांटा) अथवा बाण की नोक है। जिस प्रकार शरीर में घुसी हुई अस्त्र की नोक व्यथा देती है उसी प्रकार जो पाप-कर्म मन को व्यथित करते रहते हैं उन्हें शल्य कहा जाता है।

माया, निदान और मिथ्यादर्शन—ये तीनों सतत चुभने वाले पाप-कर्म हैं, इसलिए इन्हें शल्य कहा जाता है[3]।

पूजार्थी-व्यक्ति बहुत पाप करता है और अपनी पूजा आदि को सुरक्षित रखने के लिए वह सम्यक् प्रकार से आलोचना नहीं करता किन्तु माया-शल्य करता है—अपने दोषों को छिपाने का प्रयत्न करता है[4]।

श्लोक ३६ :

५६. संयम (जसं [घ]) :

यहाँ यश शब्द का अर्थ संयम है[5]। संयम के अर्थ में इसका प्रयोग भगवती में भी मिलता है[6]।

५७. सुरा, मेरक (सुरं वा मेरगं वा [क]) :

सुरा और मेरक दोनों मदिरा के प्रकार हैं। टीकाकार पिष्ट आदि द्रव्य से तैयार की हुई मदिरा को सुरा और प्रसन्ना को मेरक मानते हैं[7]। चरक की व्याख्या में परिपक्व अन्न के सन्धान से तैयार की हुई मदिरा को सुरा माना है[8]। भावमिश्र के अनुसार उबाले हुए शालि, षष्टिक आदि चावलों को सन्धित करके तैयार की हुई मदिरा को सुरा कहा जाता है[9]। मैरेय तीक्ष्ण, मधुर तथा गुरु होती है[10]। सुरा को पुनः सन्धान करने से जो सुरा तैयार होती है, उसे मैरेय कहते हैं अथवा धाय के फूल, गुड़ तथा धान्याम्ल (कांजी) के सन्धान से मैरेय तैयार होता है[11]। चक्रपाणि के अनुसार आसव और सुरा को मिलाकर एक पात्र में सन्धान करने से प्रस्तुत मद्य को मैरेय कहा जाता है[12]। आयुर्वेद-विज्ञान के अनुसार कैथ की जड़, बेर तथा खांड—इनका एकत्र सन्धान करने से मैरेयी नाम की मदिरा तैयार होती है[13]।

५८. आत्म-साक्षी से (ससक्खं [ग]) :

इससे अगले श्लोक में छुप-छिपकर स्तेन-वृत्ति से मद्य पीने वाले का वर्णन किया है। प्रस्तुत श्लोक में आत्म-साक्षी से

१—(क) जि० चू० पृ० २०२ : माणो वंदणअब्भुट्ठाणपच्चयओ, सम्माणो तेहिं वंदणादीहिं वत्थपत्तादीहि य, अहवा [illegible] सम्माणो पुण [illegible] इति।
(ख) हा० टी० प० १८७ : तत्र वन्दनाभ्युत्थानलाभनिमित्तो मानः, वस्त्रपात्रादिलाभनिमित्तः सम्मानः।
२—अ० चू० पृ० १३४ : सल्लं आउधं देहलग्गं।
३—ठा० ३।३८५।
४—जि० चू० पृ० २०२ : [illegible] वा सो [illegible] वा अणालोएंतो मायासल्लमवि कुव्वति।
५—हा० टी० प० १८८ : यशः शब्देन संयमोऽभिधीयते।
६—भग० ४१।१।६ : से णं भंते ! जीवा किं आयजसेणं उववज्जंति ... आत्मनः संबन्धि यशो यशोहेतुत्वाद् यशः संयम [illegible]
७—हा० टी० प० १८८ : सुरां वा' पिष्टादिनिष्पन्नां, 'मेरकं वापि' प्रसन्नाख्याम्।
८—सू० (सूत्रस्थान) अ० २५, पृ० २०३ : 'परिपक्वान्नसन्धानसमुत्पन्नां सुरां जगुः'।
९—भा० पू० भा० (मद्यवर्ग) अ० २५, पृ० २०३ : 'शालिषष्टिकपिष्टादिकृतं मद्यं सुरा स्मृता'।
१०—चरक० [illegible] श्लोक १८४।
११—वही अ० २५ पृ० २०३ : [illegible]।
१२—वही अ० २५ पृ० २०३ : '[illegible], [illegible]। [illegible]'॥
१३—वही अ० २५, पृ० २०३ : '[illegible]। [illegible] मैरेयी मदिरा स्मृता॥'

यह बतलाया गया है। अगस्त्य चूर्णि में 'ससक्ख' का अर्थ स्वसाक्ष्य'[1] और वैकल्पिक रूप में 'ससाक्ष्य'[2]—गृहस्थों के सम्मुख कि
जिनदास चूर्णि में इसका अर्थ केवल 'ससाक्ष्य' किया है[3]। टीकाकार 'ससक्ख' का अर्थ—परित्याग में साक्षीभूत केवली के द्वारा प्र
करते हैं और मद्य-पान का आत्यन्तिक निषेध बतलाते हैं[4]। साथ ही साथ कुछ व्याख्याकार इस सूत्र को ग्लान विषयक अपवाद सूत्र
हैं—इस मतान्तर का उल्लेख भी मिलता है[5]।

श्लोक ३८ :

५९. उन्मत्तता (सोंडिया[क]) :

'सोंडिया' का अर्थ है—सुरापान की आसक्ति या गृद्धि से होने वाली उन्मत्तता[6]।

श्लोक ३९ :

६०. संवर (संवरं[घ]) :

अगस्त्यसिंह ने इसका अर्थ 'प्रत्याख्यान'[7], जिनदास महत्तर ने 'संयम'[8] तथा हरिभद्र सूरि ने 'चारित्र'[9] किया है।

श्लोक ४२ :

६१. जो मेधावी (मेहावी[क]) :

मेधावी दो प्रकार के होते हैं—ग्रन्थ-मेधावी और मर्यादा-मेधावी। जो बहुश्रुत होता है उसे ग्रन्थ-मेधावी कहा जाता है
मर्यादा के अनुसार चलने वाला मर्यादा-मेधावी कहलाता है[10]।

६२. प्रणीत (पणीयं[घ]) :

दूध, दही, घी आदि स्निग्ध पदार्थ या विकृति को प्रणीत-रस कहा जाता है[11]। विस्तृत जानकारी के लिए देखिए ८,
का टिप्पण।

६३. मद्य-प्रमाद (मज्जप्पमाय[ग]) :

यहाँ मद्य और प्रमाद भिन्नार्थक शब्द नहीं हैं, किन्तु 'मद्य' प्रमाद का कारण होता है इसलिए मद्य को ही प्रमाद कहा गया है[12]।

१—अ० चू० पृ० ११४ : ससक्खो भुतेण अप्पणा—सचेतणेण इति।

२—अ० चू० पृ० ११४ : अहवा जया गिलाणकज्जे ततो 'ससक्खो ण पिबे' जणसक्खिगमित्ययं.।

३—जि० चू० पृ० २०२ : जति नाम गिलाणनिमित्तं ताए कज्जं भविज्जा ताहे 'ससक्खं नो पिबेज्जा' ससक्खं नाम सागारिए पच्चुप्पाइयमाणं।

४—हा० टी० प० १८८ : 'ससाक्षिक' सदापरित्यागसाक्षिकेवलिप्रतिषिद्धं न पिबेद् भिक्षुः, अनेनात्यन्तिक एव तत्प्रतिषेध सदासाक्षिभावात्।

५—हा० टी० प० १८८ : अन्ये तु ग्लानापवादविषयमेतत्सूत्रमल्पसागारिके विधानेन व्याचक्षते।

६—(क) अ० चू० पृ० ११४ : सुरादिसु संगो 'सोंडिया'।

(ख) जि० चू० पृ० २०३ : सुंडिया नाम जा सुरातिसु गेही सा सुंडिआ भण्णति, ताणि सुरादीणि मोत्तूणं ण अन्नं रोयइ।

(ग) हा० टी० प० १८८ : 'शौण्डिका' तदत्यन्ताभिष्वङ्गरूपा।

७—अ० चू० पृ० ११४ 'संवरं' पच्चक्खाणं।

८—जि० चू० पृ० २०४ : संवरो णाम संजमो।

९—हा० टी० प० १८८ : 'संवर' चारित्रम्।

१०—जि० चू० पृ० २०४ : मेधावी दुविहो, तं०—गंथमेधावी मेरामेधावी य, तत्थ जो महंतं गंथं अहिज्जति सो गंथमेधावी, मेरामेधावीणाम मेरा मज्जाया भण्णति तीए मेराए धावतित्ति मेरामेधावी।

११—(क) अ० चू० पृ० ११५ : पणीए पधाणे विगतीमादीने।

(ख) जि० चू० पृ० २०३ : पणीतरस णाम नेहविगतीओ भण्णति :

(ग) हा० टी० प० १८९ : 'प्रणीत' स्निग्धम्।

१२—हा० ६।१४ चू० : 'इच्चिहे पमाए पन्नत्ते तं जहा—मज्जपमाए ... 'मद्य'—सुरादि तदेव प्रमादकारणत्वात् प्रमादो मद्यप्रमाद

श्लोक ४३ :

६४. अनेक साधुओं द्वारा प्रशंसित (अणेगसाहुपूइयं ख) :

अगस्त्य चूर्णि और टीका में 'अणेगसाहु' को समस्त-पद माना है[1] । जिनदास चूर्णि में 'अणेगं' को 'कल्लाणं' का विशेषण माना है[2] ।

६५. विपुल और अर्थ-संयुक्त (विउलं अत्थसंजुत्तं ग) :

अगस्त्य चूर्णि के अनुसार 'विउल' का मकार अलाक्षणिक है और विपुलार्थ-संयुक्त एक शब्द बन जाता है । विपुलार्थ-संयुक्त अर्थात् मोक्ष-पुरुषार्थ से युक्त[3] । जिनदास चूर्णि में भी ऐसा किया है, किन्तु 'अत्थसंजुत्तं' की स्वतंत्र व्याख्या भी की है[4] । टीका में 'विउलं' और 'अत्थसंजुत्तं' की पृथक् व्याख्या की है[5] ।

६६. स्वयं देखो (पस्सह घ) :

देखना चक्षु का व्यापार है । इसका प्रयोग पूर्ण अवधारण के लिए भी होता है, जैसे—मन से देख रहा है । यहाँ सर्वगत अवधारण के लिए 'पश्यत' का प्रयोग हुआ है—उस तपस्वी के कल्याण को देखो अर्थात् उसका निश्चित ज्ञान करो[6] ।

श्लोक ४४ :

६७. अगुणों को (अगुणाणं ख) :

जिनदास चूर्णि में जो नागार्जुनीय परम्परा के पाठ का उल्लेख है उसके अनुसार इसका अर्थ होता है—अगुण-रूपी ऋण न करने वाला[7] । अगस्त्यसिंह ने इस अर्थ को विकल्प में माना है[8] ।

श्लोक ४६ :

६८. तप का चोर ·····भाव का चोर (तवतेणे क ·········भावतेणे ग) :

तपस्वी जैसे पतले दुबले शरीरवाले को देख किसी ने पूछा—"वह तपस्वी तुम्हीं हो ?" पूजा-सत्कार के निमित्त "हाँ, मैं ही हूँ"—ऐसा कहना अथवा "साधु तपस्वी ही होते हैं", ऐसा कह उसके प्रश्न को घोटाले में डालने वाला तप का चोर कहलाता है । इसी प्रकार धर्मकथी, उच्चजातीय, विशिष्ट आचार-सम्पन्न न होते हुए भी मायाचार से अपने को वैसा बतलाने वाला क्रमशः वाणी का चोर, रूप का चोर और आचार का चोर होता है ।

---

१. (क) अ० चू० पृ० १३५ : अणेगेहिं 'साधूहिं पूतियं' पसंसियं इह-परलोगहितं ।
   (ख) हा० टी० प० १८६ : अनेकसाधुपूजितं, पूजितमिति—सेवितमाचरितम् ।

२. जि० चू० पृ० २०४ : अणेगं नाम इहलोइयपरलोइयं, जं च ।

३. अ० चू० पृ० १३५ : 'विउलअट्ठसंजुत्तं विउलेन' विस्तिण्णेण 'अत्थेण संजुत्तं' अलक्खणेण मोक्खाणत्थेण ।

४. जि० चू० पृ० २०४ : 'विउलं अत्थसंजुत्तं' नाम विउलं विसालं भण्णति, सो य मोक्खो, तेण विउलेण अत्थेण संजुत्तं [illegible] संजुत्तं, अत्थसंजुत्तं नाम सभावसंजुत्तं, न पुण निरत्थियंति ।

५. हा० टी० प० १८६ : 'विपुलं' विस्तीर्णं विपुलमोक्षावहत्वात् 'अर्थसंयुक्तं' तुच्छतादिपरिहारेण [illegible] ।

६. अ० चू० पृ० १३५ : [illegible] मणसा पस्सति । [illegible] ।

७. जि० चू० पृ० २०४ : नागज्जुणिया तु एवं पढंति—'एवं तु अगुणप्पेही अगुणाणं विवज्जए' अगुणा एव [illegible] ।

८. अ० चू० पृ० १३५ : अथवा अगुणा एवं रिणं तं विवज्जेति ।

जो किसी सूत्र और अर्थ को नहीं जानता तथा अभिमानवश किसी को पूछता भी नहीं, किन्तु व्याख्यान या वाचना देने स आचार्य तथा उपाध्याय से सुनकर ग्रहण करता है और 'यह तो मुझे ज्ञात ही था'—इस प्रकार का भाव दिखाता है वह भ चोर होता है[1]।

६६. किल्विषिक देव-योग्य-कर्म (देवकिव्विसं [घ]) :

देवों में जो किल्विष (अधम जाति का) होता है, उसे देवकिल्विष कहा जाता है। देवकिल्विष में उत्पन्न होने योग्य कर्म भाव देवकिल्विष कहलाता है।

"देवकिव्विस" का संस्कृत रूप देव-किल्विष हो सकता है जैसा कि दीपिकाकार ने किया है। किन्तु वह देव-जाति का वाचक है इसलिए "कुव्वइ" क्रिया के साथ उसका संबंध नहीं जुड़ता। इसलिए उसका संस्कृत रूप "दैव-किल्विष" होना चाहिए। वह कर्म भाव का वाचक है और उसके साथ क्रिया की संगति ठीक बैठती है। किल्विष देवताओं की जानकारी के लिए देखिए भगवती (६ ३ एवं स्थानाङ्ग (३.४६६)।

स्थानाङ्ग में चार प्रकार का अपध्वंस बतलाया है—असुर, अभियोग, सम्मोह और दैवकिल्विष[2]। वृत्तिकार ने अपध्वंस का चरित्र और उसके फल का विनाश किया है। वह आसुरी आदि भावनाओं से होता है[3]। उत्तराध्ययन में चार भावनाओं का उल्लेख है उनमें तीसरी भावना किल्विषिकी है। इस भावना के द्वारा जो चरित्र का विनाश होता है उसे दैवकिल्विष-अपध्वंस कहा जाता है स्थानाङ्ग (४.५७०) के अनुसार अरिहन्त-प्रज्ञप्त-धर्म, आचार्य-उपाध्याय और चार तीर्थ का अवर्ण बोलने वाला व्यक्ति देवकिल्विषिक कर्म का बंध करता है। उत्तराध्ययन के अनुसार ज्ञान, केवली, धर्माचार्य, संघ और साधुओं का अवर्ण बोलने वाला तथा माया करने किल्विषिकी भावना करता है[4]।

प्रस्तुत श्लोक में किल्विषिक-कर्म का हेतु माया है। देवों में किल्विष पाप या अधम होता है उसे देवकिल्विष कहा जाता है। मा करने वाला दैवकिल्विष करता है अर्थात्—देवकिल्विष में उत्पन्न होने योग्य कर्म करता है।

श्लोक ४७ :

७०. (किच्चा [घ]) :

'कृत्वा' और 'कृत्यात्' इन दोनों का प्राकृत रूप 'किच्चा' बनता है।

श्लोक ४८ :

७१. एडमूकता (गूंगापन) (एलमूययं [ख]) :

एडमूकता—मेमने की तरह मैं-मैं करनेवाला एडमूक कहलाता है[5]। एडमूक को प्रव्रज्या के अयोग्य बतलाया है[6]।

१—जि० चू० पृ० २०४ : तत्थ तवतेणो णाम जहा कोइ खमगसरिसो केणावि पुच्छिओ—तुमं सो खमओत्ति ?, ताहे सो पूयासक्कारनिमित्तं भणति ओमिति, अहवा भणइ—साहुणो चेव तवं करेंति, तुसिणीओ अच्छइ, एस तवतेणो, वयतेणो णाम जहा कोइ धम्मकहिसरिसो वाईसरिसो अण्णेण पुच्छिओ जहा तुमं सो धम्मकहि वाती वा ?, पूयासक्कारणिमित्तं भण्णइ—आम, तोण्हिक्को अच्छइ, अहवा भणइ—साधुणो चेव धम्मकहिणो वादिणो य भवंति, एस वयतेणे, रूवतेणे णाम रूवसमो कोइ रायपुत्तादी पव्वइओ, तस्स सरिसो केणइ पुच्छिओ, जहा तुमं सो अमुगोत्ति ? ताहे भण्णति—आमंति, तुसिणीओ वा अच्छइ, रायपुत्तादयो एरिसा वा एस रूवतेणे, आयारभावतेणे णाम जहा महुराए कोउहलत्ति जहा आवस्सयचुण्णीए स आयारतेणो, भावतेणो णाम जो अणभुगिचि सुत्तं अत्थं वा माणावलेवेण य पुच्छइ, वक्खाणतं वाएंतस्स वा सोऊण गेण्हइ।

२—ठा० ४।५६८ : चउविहे अवद्धंसे पन्नत्ते तंजहा—आसुरे आभिओगे संमोहे देवकिव्विसे।

३—ठा० ४।५६८ वृ० : अपध्वसनमपध्वंसः—चारित्रस्य तत् फलस्य वा असुरादिभावनाजनितो विनाशः।

४—उत्त० ३६-२६४ : णाणस्स केवलीणं धम्मायरियस्स संघसाहूणं।
माई अवण्णवाई किब्बिसियं भावणं कुणइ॥

५—हा० टी० प० १६० : 'एलमूकताम्' अजाभाषानुकारित्वं मानुषत्वे।

६—आव० हा० वृ० पृ० ६२८।

तुलना—अन्नयरेसु आसुरिएसु किब्बिसिएसु ठाणेसु उववत्तारो भवंति, ततो विप्पमुच्चमाणे भुज्जो भुज्जो एलमूयत्ताए, तावयत्ताए, जाइमूयत्ताए पच्चायंति—एलवन्मूका एलमूकास्तद् भावेनोत्पद्यन्ते ।...यथैलको मूकोऽव्यक्तवाक् भवति, एवमसावप्यव्यक्तवाक् समुत्पद्यत इति (सूत्र० २.२ वृत्ति)

श्लोक ५० :

७२. उत्कृष्ट संयम (तिव्वलज्ज [घ]) :

यहाँ लज्जा का अर्थ संयम है[1]।

१—(क) अ० चू० पृ० १३० : 'तिव्वलज्ज' तिव्वं अत्यर्थः लज्जा संजम एव जस्स स भवति तिव्वलज्जो ।

(ख) जि० चू० पृ० २०५ : लज्जा-संजमो—तिव्वसंजमो, तिव्वसद्दो पकरिसे वट्टइ, उक्किट्ठो संजमो जस्स सो तिव्वलज्जो भण्णइ ।

(ग) हा० टी० प० १८० : 'तीव्रलज्जः' उत्कृष्टसंयमः सन् ।

छट्ठं अज्झयणं

महायारकहा

षष्ठ अध्ययन

महाचार

आमुख

'क्षुल्लक-आचारकथा' (तीसरे अध्ययन) की अपेक्षा इस अध्ययन में आचारकथा का विस्तार से निरूपण हुआ है इसलिये इ
नाम 'महाचार-कथा' रखा गया है ।

"जो पुव्विं उद्दिट्ठो, आयारो सो अहीणमइरित्तो ।
सच्चेव य होई कहा, आयारकहाए महईए ॥" (नि० २४५)

तीसरे अध्ययन मे केवल अनाचार का नाम-निर्देश किया गया है और इस अध्ययन मे अनाचार के विविध पहलुओं को छुआ गया
औद्देशिक, क्रीतकृत, नित्याग्र, अभ्याहृत, रात्रि-भक्त और स्नान—ये अनाचार हैं (३.२)—यह 'क्षुल्लक-आचारकथा' की निरूपण-पद्धति
'जो निर्ग्रन्थ नित्याग्र, क्रीत, औद्देशिक और आहृत भोजन आदि का सेवन करते हैं वे जीव-वध का अनुमोदन करते हैं—यह महर्षि महावी
कहा है, इसलिए धर्मजीवी-निर्ग्रन्थ क्रीत, औद्देशिक और आहृत भोजन-पानी का वर्जन करते हैं (६.४८-४९)—यह 'महाचार-कथा'
निरूपण-पद्धति है । यह अन्तर हमे लगभग सर्वत्र मिलेगा और यह सकारण भी है । 'क्षुल्लक-आचारकथा' की रचना निर्ग्रन्थ के अना
का संकलन करने के लिये हुई है (३.१) और महाचार कथा की रचना जिज्ञासा का समाधान करने के लिए हुई है (६.१-४) ।

'क्षुल्लक-आचार-कथा' में अनाचारों का सामान्य निरूपण है । वहाँ उत्सर्ग और अपवाद की चर्चा नहीं है । 'महाचार-कथा' मे उ
और अपवाद की भी यत्र-तत्र चर्चा हुई है ।

एक ओर अठारह स्थान बाल, वृद्ध और रोगी सब प्रकार के मुनियों के लिये अनाचरणीय बतलाए हैं (६.६-७, नि० ६ २६७)
दूसरी ओर निषद्या (जो अठारह स्थानों मे सोलहवाँ स्थान है) के लिये अपवाद भी बतलाया गया है—जराग्रस्त, रोगी और तपस्वी नि
गृहस्थ के घर मे बैठ सकता है (६.५९) । रोगी निर्ग्रन्थ भी स्नान न करे (६.६०) । यहाँ छट्ठे श्लोक के निषेध को फिर दोहराया
इस प्रकार इस अध्ययन में उत्सर्ग और अपवाद के अनेक संकेत मिलते हैं ।

अठारह स्थान—

हिंसा, असत्य, अदत्तादान, अब्रह्मचर्य, परिग्रह और रात्रि-भोजन, पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय औ
त्रसकाय, अकल्प, गृहि-भाजन, पर्यंक, निषद्या, स्नान और शोभा-वर्जन—ये अठारह अनाचार स्थान हैं—

"वयछक्कं कायछक्कं, अकप्पो गिहिभायणं ।
पलियंकनिसेज्जा य, सिणाणं सोहवज्जणं ॥ (नि० २६८)

तुलना—

'क्षुल्लक-आचारकथा' में जो अनाचार बतलाए हैं उनकी 'महाचार-कथा' से तुलना यों हो सकती है—

अनाचार	वर्णित स्थल (अ० ३ का श्लोक)	तुलनीय स्थल (अ० ६ का श्लोक
औद्देशिक, क्रीतकृत, नित्याग्र और अभ्याहृत	२	४८-४९
रात्रि-भोजन	२	२२-२५
स्नान	२	६०-६१
सन्निधि	३	१७-१८
गृहिपात्र	३	५०-५२
अग्नि समारम्भ	४	३२-३५

अनाचार	वर्णित स्थल (अ० ३ का श्लोक)	तुलनीय स्थल (अ० ६ का श्लोक)
आसन्दी, पर्यङ्क	५	५३-५५
गृहान्तर निषद्या	५	५६-५९
गात्र उद्वर्तन	५	६३
तप्तानिर्वृत भोजित्व	६	२९-३१
मूल, शृङ्गवेर, इक्षु-खण्ड, कन्द, मूल, फल और बीज सौवर्चल, सैन्धव, रुमालवण; सामुद्र, पांशुक्षार और	७	४०-४२
काला-लवण	८	२६-२८
धूम-नेत्र या धूपन	९	३२-३५ या ६४-६६
वमन, वस्तीकर्म, विरेचन, अंजन, दतौन और गात्र-अभ्यङ्ग	९	३१
विभूषा	९	६४-६६

इस प्रकार तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर जान पड़ता है कि 'क्षुल्लक-आचार' का इस अध्ययन में सहेतुक निरूपण हुआ है।

इस अध्ययन का दूसरा नाम "धर्मार्थकाम" माना जाता रहा है। इसका कोई पुष्ट आधार नहीं मिलता किन्तु सम्भव है कि इसी अध्ययन के चतुर्थ श्लोक में प्रयुक्त—'धम्मत्थकाम' शब्द के आधार पर वह प्रयुक्त होने लगा हो। 'धर्मार्थकाम' निर्ग्रन्थ का विशेषण है। धर्म का अर्थ है मोक्ष। उसकी कामना करने वाला 'धर्मार्थकाम' होता है।

> "धम्मस्स फलं मोक्खो, सासयमउलं सिवं अणाबाहं।
> तमभिप्पेया साहू, तम्हा धम्मत्थकामत्ति ॥" (नि० २६५)

निर्ग्रन्थ धर्मार्थकाम होता है। इसीलिए उसका आचार-गोचर (क्रिया-कलाप) कठोर होता है। प्रस्तुत अध्ययन का प्रतिपाद्य यही है। इसलिए सम्भव है कि प्रस्तुत अध्ययन का नाम "धर्मार्थकाम" हुआ हो।

प्रस्तुत अध्ययन में अहिंसा, परिग्रह आदि की परिष्कृत परिभाषाएँ मिलती हैं—

(१) अहिंसा —'अहिंसा ... सव्वभूएसु संजमो' (६-८)।

(२) परिग्रह—'मुच्छा परिग्गहो वुत्तो' (६.२०)।

यह अध्ययन प्रत्याख्यान प्रवाद नामक नौवें पूर्व की तीसरी वस्तु से उद्धृत हुआ है (नि० १.१७)।

छट्ठं अज्झयणं : षष्ठ अध्ययन

महायारकहा : महाचारकथा

मूल | **संस्कृत छाया** | **हिन्दी अनुवाद**

१—नाणदंसणसंपन्नं
संजमे य तवे रयं ।
गणिमागमसंपन्नं
उज्जाणम्मि समोसढं ॥

ज्ञानदर्शनसंपन्नं,
संयमे च तपसि रतम् ।
गणिमागमसंपन्नम्,
उद्याने समवसृतम् ॥१॥

२—रायाणो रायमच्चा य
माहणा अदुव खत्तिया ।
पुच्छंति निहुअप्पाणो
कहं भे आयारगोयरो ? ॥

राजानो राजामात्याश्च,
ब्राह्मणा अथवा क्षत्रियाः ।
पृच्छन्ति निभृतात्मानः,
कथं भवतामाचारगोचरः? ॥२॥

१-२—ज्ञान[1]-दर्शन[2] से सम्पन्न, स
और तप में रत, आगम-सम्पदा[3] से
गणी को उद्यान में[4] समवसृत देख राजा
उनके अमात्य[5], ब्राह्मण और क्षत्रिय[6]
नम्रतापूर्वक पूछते हैं—आपके आचार
विषय[7] कैसा है ?

३—तेसिं सो निहुओ दंतो
सव्वभूयसुहावहो ।
सिक्खाए सुसमाउत्तो
आइक्खइ वियक्खणो ॥

तेभ्य स निभृतो दान्तः,
सर्वभूतसुखावहः ।
शिक्षया सुसमायुक्तः,
आख्याति विचक्षणः ॥३॥

३—ऐसा पूछे जाने पर वे स्थिता
दान्त, सब प्राणियों के लिए सुखावह, शि
में[8] समायुक्त और विचक्षण गणी
बताते हैं—

४—हंदि[9] धम्मत्थकामाणं
निग्गंथाणं सुणेह मे ।
आयारगोयरं भीमं
सयलं दुरहिट्ठियं ॥

हंदि धर्मार्थकामानां,
निर्ग्रन्थानां शृणुत मम ।
आचारगोचरं भीमं,
सकलं दुरधिष्ठितम् ॥४॥

४—मोक्ष चाहने वाले[10] निर्ग्रन्थो
भीम, दुर्धर और पूर्ण आचार का
मुझसे सुनो ।

५—नन्नत्थ एरिसं वुत्तं
जं लोए परमदुच्चरं ।
विउलट्ठाणभाइस्स
न भूयं न भविस्सई ॥

नान्यत्र ईदृशमुक्तं,
यल्लोके परम-दुश्चरम् ।
विपुलस्थानभागिनः,
न भूतं न भविष्यति ॥५॥

५—लोक में इस प्रकार का अत्य
दुष्कर आचार निर्ग्रन्थ-दर्शन के अतिरि
कहीं नहीं कहा गया है । मोक्ष-स्थान
आराधना करने वाले के लिए ऐसा आच
अतीत में न कहीं था और न कहीं भवि
में होगा ।

६—सखुड्डगवियत्ताणं
वाहियाणं च जे गुणा ।
अखंडफुडिया कायव्वा
तं सुणेह जहा तहा ॥

सक्षुल्लक-व्यक्तानां,
व्याधितानां च ये गुणाः ।
अखण्डास्फुटिताः कर्तव्याः,
तान् शृणुत यथा तथा ॥६॥

६—बाल, वृद्ध[11] अस्वस्थ या स्वस्थ
सभी मुमुक्षुओं को जिन गुणों की आराध
अखण्ड और अस्फुटित[12] रूप से कर
चाहिए, उन्हें यथार्थ रूप से सुनो ।

७—दस अट्ठ य ठाणाइं
जाइं बालोऽवरज्झई ।
तत्थ अन्नयरे ठाणे
निग्गंथत्ताओ भस्सई ॥

दशाष्टौ च स्थानानि,
यानि बालोऽपराध्यति ।
तत्रान्यतरस्मिन् स्थाने,
निर्ग्रन्थत्वाद् भ्रश्यति ॥७॥

७—आचार के अठारह स्थान हैं[13]। जो अज्ञ उनमें से किसी एक भी स्थान की विराधना करता है, वह निर्ग्रन्थता से भ्रष्ट होता है।

[वयछक्कं कायछक्कं
अकप्पो गिहिभायणं ।
पलियंक निसिज्जा य
सिणाणं सोहवज्जणं ॥]

[व्रतषट्कं कायषट्कं,
अकल्पो गृहि-भाजनम् ।
पर्यङ्को निषद्या च,
स्नानं शोभा-वर्जनम् ॥]

[अठारह स्थान हैं—छह व्रत और छह काय तथा अकल्प, गृहस्थ-पात्र, पर्यंक, निषद्या, स्नान और शोभा का वर्जन।]

८—तत्थिमं पढमं ठाणं
महावीरेण देसियं ।
अहिंसा निउणं दिट्ठा
सव्वभूएसु संजमो ॥

तत्रेदं प्रथमं स्थानं,
महावीरेण देशितम् ।
अहिंसा निपुणं दृष्टा,
सर्वभूतेषु संयमः ॥८॥

८—महावीर ने उन अठारह स्थानों में पहला स्थान अहिंसा का कहा है। इसे उन्होंने सूक्ष्मरूप से[14] देखा है। सब जीवों के प्रति संयम रखना अहिंसा है।

९—जावंति लोए पाणा
तसा अदुव थावरा ।
ते जाणमजाणं वा
न हणे णो वि घायए ॥

यावन्तो लोके प्राणाः,
त्रसाः अथवा स्थावराः ।
तान् जानन्नजानन् वा,
न हन्यात् नो अपि घातयेत् ॥९॥

९—लोक में जितने भी त्रस और स्थावर प्राणी हैं, निर्ग्रन्थ जान या अजान में[15] उनका हनन न करे और न कराए।

१०—सव्वे जीवा वि इच्छंति
जीविउं न मरिज्जिउं ।
तम्हा पाणवहं घोरं
निग्गंथा वज्जयंति णं ॥

सर्वे जीवा अपीच्छन्ति,
जीवितुं न मर्तुम् ।
तस्मात्प्राणवधं घोरं,
निर्ग्रन्था वर्जयन्ति तं ॥१०॥

१०—सभी जीव जीना चाहते हैं, मरना नहीं। इसलिए प्राण-वध को भयानक जान कर निर्ग्रन्थ उसका वर्जन करते हैं।

११—अप्पणट्ठा परट्ठा वा
कोहा वा जइ वा भया ।
हिंसगं न मुसं बूया
नो वि अन्नं वयावए ॥

आत्मार्थं परार्थं वा,
क्रोधाद्वा यदि वा भयात् ।
हिंसकं न मृषा ब्रूयात्,
नो अप्यन्यं वादयेत् ॥११॥

११—निर्ग्रन्थ अपने या दूसरों के लिए, क्रोध से[16] या भय से पीड़ाकारक सत्य और असत्य न बोले[17], न दूसरों से बुलवाए।

१२—मुसावाओ य लोगम्मि
सव्वसाहूहिं गरहिओ ।
अविस्सासो य भूयाणं
तम्हा मोसं विवज्जए ॥

मृषावादश्च लोके,
सर्वसाधुभिर्गर्हितः ।
अविश्वासश्च भूतानां,
तस्मान्मृषां विवर्जयेत् ॥१२॥

१२—इस लोक में मृषावाद [illegible]

१३—चित्तमंतमचित्तं वा
अप्पं वा जइ वा बहुं ।
दंतसोहणमेत्तं पि
ओग्गहंसि अजाइया ॥

चित्तवदचित्तं वा,
अल्पं वा यदि वा बहु ।
दन्तशोधनमात्रमपि,
अवग्रहे अयाचित्वा ॥१३॥

१४—तं अप्पणा न गेण्हंति
नो वि गेण्हावए परं ।
अन्नं वा गेण्हमाणं पि
नाणुजाणंति संजया ॥

तदात्मना न गृह्णन्ति,
नापि ग्राहयन्ति परम् ।
अन्यं वा गृह्णन्तमपि,
नानुजानन्ति संयताः ॥१४॥

१३-१४—संयमी मुनि सजीव या निर्जीव[19], अल्प या बहुत[20], दन्तशोधन[21] मात्र वस्तु का भी उसके अधिकारी की आज्ञा लिए बिना स्वयं ग्रहण नहीं करता, दूसरों से ग्रहण नहीं कराता और ग्रहण करने वाले का अनुमोदन भी नहीं करता ।

१५—अबंभचरियं घोरं
पमायं दुरहिट्ठियं ।
नायरंति मुणी लोए
भेयाययणवज्जिणो ॥

अब्रह्मचर्यं घोरं,
प्रमादं दुरधिष्ठितम् ।
नाचरन्ति मुनयो लोके,
भेदायतन-वर्जिनः ॥१५॥

१५—अब्रह्मचर्य लोक में घोर[23] प्रमाद-जनक[24] और दुर्बल व्यक्तियों द्वारा आसेवित है।[25] चरित्र-भंग के स्थान से बचने वाले[26] मुनि उसका आसेवन नहीं करते ।

१६—मूलमेयमहम्मस्स
महादोससमुस्सयं ।
तम्हा मेहुणसंसग्गिं
निग्गंथा वज्जयंति णं ॥

मूलमेतद् अधर्मस्य,
महादोषसमुच्छ्रयम् ।
तस्मान्मैथुनसंसर्गं,
निर्ग्रन्था वर्जयन्ति 'णं' ॥१६॥

१६—यह अब्रह्मचर्य अधर्म का मूल[27] और महान् दोषों की राशि है। इसलिए निर्ग्रन्थ मैथुन के संसर्ग का वर्जन करते हैं ।

१७—बिडमुब्भेइमं लोणं
तेल्लं सप्पिं च फाणियं ।
न ते सन्निहिमिच्छंति
नायपुत्तवओरया ॥

बिडमुद्भेद्यं लवणं,
तैलं सर्पिश्च फाणितम् ।
न ते सन्निधिमिच्छन्ति,
ज्ञातपुत्र-वचोरताः ॥१७॥

१७—जो महावीर के वचन में रत हैं, वे मुनि बिडलवण[28], सामुद्र-लवण[29], तैल, घी और द्रव-गुड[30] का संग्रह[31] करने की इच्छा नहीं करते ।

१८—[32]लोभस्सेसो अणुफासो
मन्ने अन्नयरामवि[34] ।
जे सिया[35] सन्निहीकामे[36]
गिही पव्वइए न से ॥

लोभस्यैषोऽनुस्पर्शः,
मन्येऽन्यतरदपि ।
यः स्यात्सन्निधि-कामः,
गृही प्रव्रजितो न सः ॥१८॥

१८—जो कुछ भी संग्रह किया जाता है वह लोभ का ही प्रभाव[33] है—ऐसा मैं मानता हूँ[34] । जो श्रमण सन्निधि का कामी है वह गृहस्थ है, प्रव्रजित नहीं है ।

१९—जं पि वत्थं व पायं वा
कंबलं पायपुंछणं ।
तं पि संजमलज्जट्ठा
धारंति परिहरंति य ॥

यदपि वस्त्रं वा पात्रं वा,
कम्बलं पादप्रोञ्छनम् ।
तदपि संयमलज्जार्थं,
धारयन्ति परिहरन्ति च ॥१९॥

१९—जो भी वस्त्र, पात्र, कम्बल और रजोहरण हैं, उन्हें मुनि संयम और लज्जा की रक्षा के लिए[37] ही रखते और उनका उपयोग करते हैं[38] ।

२७—पुढविकायं विहिंसंतो
हिंसई उ तयस्सिए ।
तसे य विविहे पाणे
चक्खुसे य अचक्खुसे ॥

पृथ्वीकायं विहिंसन्,
हिनस्ति तु तदाश्रितान् ।
त्रसांश्च विविधान् प्राणान्,
चाक्षुषांश्चाचाक्षुषान् ॥२७॥

२७—पृथ्वीकाय की हिंसा करता हुआ उसके आश्रित अनेक प्रकार के चाक्षुष (दृश्य), अचाक्षुष (अदृश्य) त्रस और स्थावर प्राणियों की हिंसा करता है ।

२८—तम्हा एयं[४०] वियाणित्ता
दोसं दुग्गइवड्ढणं ।
पुढविकायसमारंभं[४१]
जावज्जीवाए वज्जए ॥

तस्मादेतं विज्ञाय,
दोषं दुर्गति-वर्धनम् ।
पृथ्वीकाय-समारम्भं,
यावज्जीवं वर्जयेत् ॥२८॥

२८—इसलिए इसे दुर्गति-वर्धक दोष जानकर मुनि जीवन-पर्यन्त पृथ्वीकाय के समारम्भ का वर्जन करे ।

२९—आउकायं न हिंसंति
मणसा वयसा कायसा ।
तिविहेण करणजोएण
संजया सुसमाहिया ॥

अप्-कायं न हिंसन्ति,
मनसा वचसा कायेन ।
त्रिविधेन करणयोगेन,
संयताः सुसमाहिताः ॥२९॥

२९—सुसमाहित संयमी मन, वचन, काया—इस त्रिविध करण तथा कृत, कारित और अनुमति—इस त्रिविध योग से अप्काय की हिंसा नहीं करते ।

३०—आउकायं विहिंसंतो
हिंसई उ तयस्सिए ।
तसे य विविहे पाणे
चक्खुसे य अचक्खुसे ॥

अप्-काय विहिंसन्,
हिनस्ति तु तदाश्रितान् ।
त्रसांश्च विविधान् प्राणान्,
चाक्षुषांश्चाचाक्षुषान् ॥३०॥

३०—अप्काय की हिंसा करता हुआ उसके आश्रित अनेक प्रकार के चाक्षुष (दृश्य), अचाक्षुष (अदृश्य) त्रस और स्थावर प्राणियों की हिंसा करता है ।

३१ तम्हा एयं वियाणित्ता
दोसं दुग्गइवड्ढणं ।
आउकायसमारंभं
जावज्जीवाए वज्जए ॥

तस्मादेतं विज्ञाय,
दोषं दुर्गति-वर्द्धनम् ।
अप्-काय-समारम्भं,
यावज्जीवं वर्जयेत् ॥३१॥

३१—इसलिए इसे दुर्गति-वर्धक दोष जानकर मुनि जीवन-पर्यन्त अप्काय के समारम्भ का वर्जन करे ।

३२—जायतेयं न इच्छंति
पावगं जलइत्तए ।
तिक्खमन्नयरं सत्थं
सव्वओ वि दुरासयं ॥

जात-तेजसं नेच्छन्ति,
पावकं ज्वालयितुम् ।
तीक्ष्णमन्यतरच्छस्त्रं,
सर्वतोऽपि दुराश्रयम् ॥३२॥

३२—मुनि जाततेज[४२] अग्नि[४३] जलाने की इच्छा नहीं करते । क्योंकि वह दूसरे शस्त्रों से तीक्ष्ण शस्त्र[४४] और सब ओर से दुराश्रय है[४५] ।

३३—पाईणं पडिणं वा वि
उड्ढं अणुदिसामवि ।
अहे दाहिणओ वा वि
दहे उत्तरओ वि य ॥

प्राच्यां प्रतीच्यां वाऽपि,
ऊर्ध्वमनुदिक्ष्वपि ।
अधो दक्षिणतो वापि,
दहेदुत्तरतोऽपि च ॥३३॥

३३—वह पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर, ऊर्ध्व, अधः दिशा और विदिशाओं में[४६] दहन करती है ।

४१—वणस्सइं विहिंसंतो
हिंसई उ तयस्सिए ।
तसे य विविहे पाणे
चक्खुसे य अचक्खुसे ॥

वनस्पतिं विहिंसन्,
हिनस्ति तु तदाश्रितान् ।
त्रसांश्च विविधान् प्राणान्,
चाक्षुषांश्चाचाक्षुषान् ॥४१॥

४१—वनस्पति की हिंसा करता हुआ उसके आश्रित अनेक प्रकार के चाक्षुष (दृश्य), अचाक्षुष (अदृश्य) त्रस और स्थावर प्राणियों की हिंसा करता है ।

४२—तम्हा एयं वियाणित्ता
दोसं दुग्गइवड्ढणं ।
वणस्सइसमारंभं
जावज्जीवाए वज्जए ॥

तस्मादेतं विज्ञाय,
दोषं दुर्गति-वर्द्धनम् ।
वनस्पति-समारम्भं,
यावज्जीवं वर्जयेत् ॥४२॥

४२—इसलिए इसे दुर्गति-वर्धक दोष जानकर मुनि जीवन-पर्यन्त वनस्पति के समारम्भ का वर्जन करे ।

४३—तसकायं न हिंसंति
मणसा वयसा कायसा ।
तिविहेण करणजोएण
संजया सुसमाहिया ॥

त्रसकायं न हिंसन्ति,
मनसा वचसा कायेन ।
त्रिविधेन करण-योगेन,
संयता सुसमाहिताः ॥४३॥

४३—सुसमाहित संयमी मन, वचन, काया—इस त्रिविध करण तथा कृत, कारित और अनुमति इस त्रिविध योग से त्रसकाय की हिंसा नहीं करते ।

४४—तसकायं विहिंसंतो
हिंसई उ तयस्सिए ।
तसे य विविहे पाणे
चक्खुसे य अचक्खुसे ॥

त्रसकायं विहिंसन्,
हिनस्ति तु तदाश्रितान् ।
त्रसांश्च विविधान् प्राणान्,
चाक्षुषांश्चाचाक्षुषान् ॥४४॥

४४—त्रसकाय की हिंसा करता हुआ उसके आश्रित अनेक प्रकार के चाक्षुष (दृश्य), अचाक्षुष (अदृश्य) त्रस और स्थावर प्राणियों की हिंसा करता है ।

४५—तम्हा एयं वियाणित्ता
दोसं दुग्गइवड्ढणं ।
तसकायसमारंभं
जावज्जीवाए वज्जए ॥

तस्मादेतं विज्ञाय,
दोषं दुर्गति-वर्द्धनम् ।
त्रसकाय-समारम्भं,
यावज्जीवं वर्जयेत् ॥४५॥

४५—इसलिए इसे दुर्गति-वर्धक दोष जानकर मुनि जीवन-पर्यन्त त्रसकाय के समारम्भ का वर्जन करे ।

४६—"जाइं चत्तारिऽभोज्जाइं
इसिणा"-हारमाईणि" ।
ताइं तु विवज्जंतो
संजमं अणुपालए ॥

यानि चत्वारि अभोज्यानि,
ऋषिणा आहारादीनि ।
तानि तु विवर्जयन्,
संयममनुपालयेत् ॥४६॥

४६—ऋषि के लिए जो आहार आदि चार (निम्न श्लोकोक्त) अकल्पनीय[५] हैं, उनका वर्जन करता हुआ मुनि संयम का पालन करे ।

४७—पिंडं सेज्जं च वत्थं च
चउत्थं पायमेव य ।
अकप्पियं न इच्छेज्जा
पडिगाहेज्ज कप्पियं ॥

पिण्डं शय्यां च वस्त्रं च,
चतुर्थं पात्रमेव च ।
अकल्पिकं नेच्छेत्,
प्रतिगृह्णीयात् कल्पिकम् ॥४७॥

४७—मुनि अकल्पनीय पिण्ड, शय्या—वसति, वस्त्र और पात्र को ग्रहण करने की इच्छा न करे[५८] किन्तु कल्पनीय ग्रहण करे ।

५५—गंभीरविजया एए
पाणा दुप्पडिलेहगा ।
आसंदीपलियंका य
एयमट्ठं विवज्जिया ॥

गम्भीरं विच (ज) या एते,
प्राणा दुष्प्रतिलेख्यकाः ।
आसन्दी पर्यङ्कश्च
एतदर्थं विवर्जितौ ॥५५॥

५५—आसन्दी आदि गम्भीर-छिद्र वाले[८२] होते हैं। इनमें प्राणियों का प्रतिलेखन करना कठिन होता है। इसलिए आसन्दी, पलंग आदि पर बैठना या सोना वर्जित किया है।

५६—गोयरग्गपविट्ठस्स
निसेज्जा जस्स कप्पई ।
इमेरिसमणायारं
आवज्जइ अबोहियं ॥

गोचराग्र-प्रविष्टस्य,
निषद्या यस्य कल्पते ।
एतादृशमनाचार,
आपद्यते अबोधिकम् ॥५६॥

५६—भिक्षा के लिए प्रविष्ट जो मुनि गृहस्थ के घर में बैठता है वह इस प्रकार के आगे कहे जाने वाले, अबोधि-कारक अनाचार को[८३] प्राप्त होता है।

५७—[८४]विवत्ती बंभचेरस्स
पाणाणं अवहे वहो ।
वणीमगपडिग्घाओ
पडिकोहो अगारिणं ॥

विपत्तिर्ब्रह्मचर्यस्य,
प्राणानामवधे वधः ।
वनीपक-प्रतिघातः,
प्रतिक्रोधोऽगारिणाम् ॥५७॥

५७—गृहस्थ के घर में बैठने से ब्रह्मचर्य—आचार का विनाश, प्राणियों का अवधकाल में वध, भिक्षाचरों के अन्तराय और घर वालों को क्रोध उत्पन्न होना है—

५८ अगुत्ती बंभचेरस्स
इत्थीओ यावि संकणं ।
कुसीलवड्ढणं ठाणं
दूरओ परिवज्जए ॥

अगुप्तिर्ब्रह्मचर्यस्य,
स्त्रीतश्चापि शङ्कनम् ।
कुशीलवर्धनं स्थानं,
दूरतः परिवर्जयेत् ॥५८॥

५८—ब्रह्मचर्य असुरक्षित होता है[८५] और स्त्री के प्रति भी शंका उत्पन्न होती है[८६]। यह (गृहान्तर निषद्या) कुशील वर्धक स्थान है इसलिए मुनि इसका दूर से वर्जन करे।

५९ [८७]तिण्हमन्नयरागस्स
निसेज्जा जस्स कप्पई ।
जराए अभिभूयस्स
वाहियस्स तवस्सिणो ॥

त्रयाणामन्यतरकस्य,
निषद्या यस्य कल्पते ।
जरयाऽभिभूतस्य,
व्याधितस्य तपस्विनः ॥५९॥

५९—जराग्रस्त, रोगी और तपस्वी—इन तीनों में से कोई भी साधु गृहस्थ के घर में बैठ सकता है।

६०—वाहिओ वा अरोगी वा
सिणाणं जो उ पत्थए ।
वोक्कंतो होइ आयारो
जढो हवइ संजमो ॥

व्याधितो वा अरोगी वा,
स्नानं यस्तु प्रार्थयते ।
व्युत्क्रान्तो भवति आचारः,
त्यक्तो भवति संयमः ॥६०॥

६०—जो रोगी या नीरोग साधु स्नान करने की अभिलाषा करता है उसके आचार[८८] का उल्लंघन होता है, उसका संयम परित्यक्त[८९] होता है।

६१—[९०]संतिमे सुहुमा पाणा
घसासु भिलुगासु य ।
जे उ भिक्खू सिणायंतो
वियडेणुप्पिलावए ॥

सन्ति इमे सूक्ष्माः प्राणाः,
घसासु 'भिलुगासु' च ।
यांस्तु भिक्षुः स्नान्,
विकटेन उत्प्लावयति ॥६१॥

६१—यह बहुत स्पष्ट है कि पोली भूमि[९१] और दरार-युक्त भूमि में[९२] सूक्ष्म प्राणी होते हैं। प्रासुक जल से[९३] स्नान करने वाला भिक्षु भी उन्हें जल से प्लावित करता है।

टिप्पण : अध्ययन ६

श्लोक १ :

१. ज्ञान (नाण [क]) :

ज्ञान-सम्पन्न के चार विकल्प होते हैं—

(१) दो ज्ञान से सम्पन्न—मति और श्रुत से युक्त।

(२) तीन ज्ञान से सम्पन्न—मति, श्रुत और अवधि से युक्त अथवा मति, श्रुत और मनःपर्याय से युक्त।

(३) चार ज्ञान से सम्पन्न—मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्याय से युक्त।

(४) एक ज्ञान से सम्पन्न—केवलज्ञान से युक्त।

आचार्य इन चारों में से किसी भी विकल्प से सम्पन्न हो सकते हैं[1]।

२. दर्शन (दंसण [ख]) :

दर्शनावरण कर्म के क्षयोपशम या क्षय से उत्पन्न होने वाला सामान्यबोध दर्शन कहलाता है[2]।

३. आगम-सम्पन्न (आगमसंपन्नं [ग]) :

आगम का अर्थ श्रुत या सूत्र है। चतुर्दश-पूर्वी, एकादश अङ्गों के अध्येता या वाचक तथा स्वसमय-परसमय को जाननेवाले 'आगम-सम्पन्न' कहलाते हैं[3]। 'ज्ञान और दर्शन से सम्पन्न'—इस विशेषण से प्राप्त विज्ञान की महत्ता और 'आगम-सम्पन्न' से दूसरों को ज्ञान देने की क्षमता बताई गई है[4]। इसलिए ये दोनों विशेषण अपना स्वतन्त्र अर्थ रखते हैं।

४. उद्यान में (उज्जाणम्मि [घ]) :

जहाँ क्रीडा के लिए लोग जाते हैं वह 'उद्यान' कहलाता है। यह उद्यान शब्द का व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ है[5]। अभिधान चिन्तामणि के अनुसार 'उद्यान' का अर्थ क्रीड़ा-उपवन है[6]। जीवाभिगम वृत्ति के अनुसार पुष्प आदि अच्छे वृक्षों से सम्पन्न और उत्सव आदि में बहुजन उपभोग्य स्थान 'उद्यान' कहलाता है[7]। निशीथ चूर्णिकार के अनुसार उद्यान का अर्थ है—नगर के समीप का वह स्थान जहाँ लोग सहभोज

१—अ० चू० पृ० १३८ : णाणं पंचविहं मति-सुता-ऽवधि-मणपज्जव-केवलणामधेयं ... तत्थ त दोहिं वा मतिसुत्तेहिं, तिहिं वा मतिसुतावहीहिं अहवा मतिसुयमणपज्जवेहिं, चतुहिं वा मतिसुतावहीहिं मणपज्जवेहिं, एक्केण वा केवलनाणेण संपण्ण।

२—जि० चू० पृ० २०७ : दर्शनं द्विप्रकारं क्षायिकं क्षायोपशमिकं च, अतस्तेन क्षायिकेण क्षायोपशमिकेन वा सपन्नम्।

३—(क) अ० चू० पृ० १३८ : आगमो सुतमेव अतो त चोद्दसपुव्वि एक्कारसंगसुयधरं वा।

(ख) जि० चू० पृ० २०८ : आगमसंपन्नं नाम बायगं, एक्कारसंगं च, अन्नं वा ससमयपरसमयवियाणग।

(ग) हा० टी० प० १९१ : 'आगमसंपन्नं' विशिष्टश्रुतधरं, बह्वागमत्वेन प्राधान्यख्यापनार्थमेतत्।

४—(क) अ० चू० पृ० १३८ : नाणदंसणसंपण्णमिति एतेण आतगतं विण्णाणमाहप्पं भण्णति, 'गणि आगमसंपण्णं' एतेण परग्गाहण-सामत्थसंपण्णं। 'संपण्णमिति' सद्दं पुणरुत्तमवि न भवति, पढमे सय संपण्णं, बितिये परसंघातगं एयं समहृवता।

५—हला० : उद्याति क्रीडार्थमस्मिन्।

६—अ० चि० ४.१७८ : आक्रीड, पुनरुद्यानम्।

७—जीव० सू० २५८ वृ० : उद्यानं—पुष्पादि सद्वृक्षसंकुलमुत्सवादौ बहुजनोपभोग्यम्।

'राजन्य' का अर्थ राजवंशीय या सामन्त तथा श्रेष्ठि का अर्थ ग्राम-महत्तर (ग्राम-शासक) या श्रीदेवताङ्कित-पट्ट धारण करने वाला है।

७. आचार का विषय (आयारगोयरो [ग]) :

आचार के विषय को 'आचार-गोचर' कहते हैं[1]। स्थानाङ्ग वृत्ति के अनुसार साधु के आचार के अङ्गभूत छह व्रतों को 'आचार-गोचर' कहा जाता है। वहां आचार और गोचर का अर्थ स्वतन्त्र भाव से भी किया गया है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य—यह पांच प्रकार का आचार है। गोचर का अर्थ है 'भिक्षाचरी'[2]।

श्लोक ३ :

८. शिक्षा में (सिक्खाए [ग]) :

शिक्षा दो प्रकार की होती है—ग्रहण और आसेवन। सूत्र और अर्थ का अभ्यास करना ग्रहण शिक्षा है। आचार का सेवन और अनाचार का वर्जन आसेवन शिक्षा कहलाती है[3]।

श्लोक ४ :

९. (हंदि [क]) :

यह अव्यय है इसका अर्थ है—उपदर्शन[4]।

१०. मोक्ष चाहने वाले (धम्मत्थकामाण [क]) :

चारित्र आदि धर्म का प्रयोजन मोक्ष है। उसकी इच्छा करने वाले 'धर्मार्थकाम' कहलाते हैं[5]।

श्लोक ६ :

११ बाल, वृद्ध (सखुड्डगवियत्ताणं [क]) :

खुड्डग (क्षुद्रक) का अर्थ बाल और वियत (व्यक्त) का अर्थ वृद्ध है। 'सखुड्डगवियत्त' का शब्दार्थ है—सबालवृद्ध[6]।

१२. अखण्ड और अस्फुटित (अखंडफुडिया [ग]) :

टीकाकार के अनुसार आंशिक-विराधना न करना 'अखण्ड' और पूर्णतः विराधना न करना 'अस्फुटित' कहलाता है[7]। अगस्त्य-

---

१—(क) अ० चू० पृ० १३६ : आयारस्स आयारे वा गोयरो—आयारगोयरो, गोयरो पुण विसयो।
(ख) हा० टी० प० १९१ : 'आचारगोचरः' क्रियाकलाप।

२—स्था० ८.३.६५१ प० ४१८ वृ० : 'आचार.' साधुसमाचारस्तस्य गोचरो—विषयो व्रतषट्कादिराचारगोचरः अथवा आचारश्च ज्ञानादिविषयः पञ्चधा गोचरश्च—भिक्षाचर्येत्याचारगोचरम्।

३—जि० चू० पृ० २०६ : सिक्खा दुविधा, तंजहा—गहणसिक्खा आसेवणासिक्खा य, गहणसिक्खा नाम सुत्तत्थाण गहणं, आसेवणासिक्खा नाम जे तत्थ करणिज्जा जोगा तेसिं काएण सफासणं अकरणिज्जाण य वज्जणया।

४—हा० टी० प० १९२ : हंदि' त्ति हन्दीत्युपप्रदर्शने।

५—हा० टी० प० १९२ : धर्म —चारित्रधर्मादिस्तस्यार्थ —प्रयोजन मोक्षस्त कामयन्ति —इच्छन्तीति विशुद्धविहितानुष्ठानकरणेनेति धर्मार्थकामा—मुमुक्षवस्तेषाम्।

६—(क) अ० चू० पृ० १४३ : खुड्डगो—बालो, वियत्तो व्यक्त इति सखुड्डएहिं वियत्ता सखुड्डगवियत्ता, तेसिं।
(ख) जि० चू० पृ० २१६ : सह खुड्डगेहिं सखुड्डगा, वियत्ता नाम महल्ला तेसिं 'सखुड्डगवियत्ताणं' [illegible]
भवइ।
(ग) हा० टी० प० १९५ : सह क्षुल्लकैः—द्रव्यभावबाल
सबालवृद्धानाम्।

७—हा० टी० प० १९५-९६ : अखण्डा देशविराधनापरित्यागेन

श्लोक ८ :

१५. सूक्ष्म रूप से (निउणं [ग]) :

अगस्त्य चूर्णि के अनुसार 'निउण' शब्द 'दिट्ठा' का क्रिया विशेषण है[1]। जिनदास चूर्णि और टीकाकार के अनुसार वह 'अहिंसा' का विशेषण है[2]।

श्लोक ९ :

१६. जान या अजान में (ते जाणमजाण वा [ग]) :

हिंसा दो प्रकार से होती है—जान में या अजान में। जान-बूझकर हिंसा करने वालों में राग-द्वेष की प्रवृत्ति स्पष्ट होती है और अजान में हिंसा करने वालों में अनुपयोग या प्रमाद होता है[3]।

श्लोक ११ :

१७. क्रोध से (कोहा [ग]) :

मृषावाद के छह कारण है— क्रोध, मान, माया, लोभ, भय और हास्य। दूसरे महाव्रत में क्रोध, लोभ, हास्य और भय —इन चारों का निर्देश है[4]। यहां क्रोध और भय इन दो कारणों का उल्लेख है। चूर्णि और टीका ने इनको सांकेतिक मानकर सभी कारणों को समझ लेने का संकेत दिया है।

१ क्रोध-हेतुक मृषावाद जैसे — तू दास है इस प्रकार कहना।

२ मान-हेतुक मृषावाद जैसे अबहुश्रुत होते हुए भी अपने को बहुश्रुत कहना।

३. माया-हेतुक मृषावाद जैसे —भिक्षाटन से जी चुराने के लिए 'पैर में पीड़ा है' यों कहना।

४. लोभ-हेतुक मृषावाद जैसे—सरस भोजन की प्राप्ति होते देख एषणीय नीरस को अनेषणीय कहना।

५. भय-हेतुक मृषावाद जैसे—दोष सेवन कर प्रायश्चित्त के भय से उसे स्वीकृत करना।

६. हास्य-हेतुक मृषावाद . कुतूहलवश बोलना[5]।

१८. पीड़ाकारक सत्य और असत्य न बोले (हिंसगं न मुसं बूया [ग]) :

'हिंसग' शब्द के द्वारा परपीड़ाकारी सत्य वचन बोलने का निषेध और 'मुसा' शब्द के द्वारा सब प्रकार के मृषावाद का निषेध किया गया है[6]।

१—अ० चू० पृ० १४४ निपुणं—सव्वपगारं सव्वसत्तगता इति।

२—(क) जि० चू० पृ० २१७ : 'निउणा' नाम सव्वजीवाण, सव्वे चाहिं अणववाएण, जे णं उद्देसियादीणि भुंजति ते तहेव हिंसगा भवन्ति, जीवाजीवेहिं संजमोत्ति सव्वजीवेसु अविसेसेण संजमो जम्हा अओ अहिंसा जिणसासणे निउणा, ण अण्णत्थ।

(ख) हा० टी० प० १९६ : 'निपुणा' आधाकर्माद्यपरिभोगत. कृतकारितादिपरिहारेण सूक्ष्मा।

३—(क) जि० चू० पृ० २१७ . 'जाणमाणो' नाम जैनि चिंतेऊण रागद्दोसाभिभूओ घाएइ, अजाणमाणो नाम अपदुस्समाणो अणुवओगेणं इंदियाइणावि पमादेण घातयति।

(ख) हा० टी० प० १९६ . तान् जानन् रागाद्यभिभूतो व्यापादनबुध्या अजानन्वा प्रमादपारतन्त्र्येण।

४—जि० चू० पृ० २१८ : कोहग्गहणेण माणमायालोभावि गहिया।

५ हा० टी० प० १९७ . क्रोधाद्वा त्वं दास इत्यादि, 'एकग्रहणे तज्जातीयग्रहण' मिति मानाद्वा अबहुश्रुत एवाहं बहुश्रुत इत्यादि मायातो भिक्षाटनपरिजिहीर्षया पादपीडा ममेत्यादि लोभाच्छोभनतरान्नलाभे सति प्रासुकमेषणीयमप्यनेषणीयमिदमित्यादि, यदि वा 'भयात्' किञ्चिद्वितथं कृत्वा प्रायश्चित्तभयान्न कृतमित्यादि, एवं हास्यादिष्वपि वाच्यम्।

६—(क) अ० चू० पृ० १४५ : हिंसगं जं सच्चमवि पीडाकारि, मुसा—विमहं, तमुभयं ण बूया ण वदेज्ज।

(ख) जि० चू० पृ० २१८ : 'हिंसग' नाम जेण सच्चेण भणिएण पीडा उप्पज्जइ त हिंसगं···· 'ण परसामित्ति, सच्चमेव तं अपि, अपि च न तथ्यवचनं सत्यमतथ्यवचनं न च, यद् भूतहितमत्यन्तं तत्सत्यमितर मृषा।

कोई भी कार्य नहीं होता जिसे वह न कर सके या न करा सके। अर्थात् अब्रह्मचारी रौद्र बन जाता है। इसलिए अब्रह्मचर्य को 'घोर' कहा गया है[1]।

२४. प्रमाद-जनक (पमायं [ग]) :

अब्रह्मचर्य इन्द्रिय का प्रमाद है[2]। अब्रह्मचर्य से मनुष्य प्रमत्त हो जाता है। यह सब प्रमादों का मूल है। इसमें आसक्त मनुष्य का सारा आचार और विचार-व्यवहार प्रमादमय या भूलों से परिपूर्ण बन जाता है। इसलिए अब्रह्मचर्य को 'प्रमाद' कहा गया है[3]।

२५. दुर्बल व्यक्तियों द्वारा आसेवित है (दुरहिट्ठियं [ग]) :

जिनदास के अनुसार अब्रह्मचर्य दुःख प्राप्त कराने वाला होता है, इसलिए उसे 'दुरधिष्ठित' कहा गया है[4]। अगस्त्य चूर्णि के अनुसार अब्रह्मचर्य जुगुप्सित जनों द्वारा अधिष्ठित — आश्रित है[5]। इसका दूसरा अर्थ यह हो सकता है कि अब्रह्मचर्य जन्म-मरण की अनन्त परम्परा का हेतु है — यह जानने वाले के लिए वह सहजतया, आसेवनीय नहीं होता। इसलिए उसे संयति के लिए 'दुरधिष्ठित' कहा गया है[6]।

२६. चरित्र-भंग के स्थान से बचने वाले (भेयाययणवज्जिणो [घ]):

चरित्र-भेद का आयतन (स्थान) मैथुन है। इसका वर्जन करने वाले 'भेदायतनवर्जी' कहलाते हैं[7]।

श्लोक १६ :

२७. मूल (मूलं [क]) :

मूल, बीज और प्रतिष्ठान – ये एकार्थक शब्द हैं[8]।

श्लोक १७ :

२८. बिड-लवण (बिडं [क]) :

यह कृत्रिम लवण गोमूत्र आदि में पकाकर तैयार किया जाता है। अतः यह प्रासुक ही होता है[9]।

२९. समुद्र-लवण (उब्भेइमं [क]) :

उद्भिज लवण दो प्रकार का होता है—

(१) समुद्र के पानी से बनाया जाने वाला।

१—(क) अ० चू० पृ० १४६ : घोरं भयाणगं।
　(ख) जि० चू० पृ० २१९ : घोरं नाम निरणुक्कोसं, कहं ? अबंभपवत्तो हि ण किंचि तं अकिच्चं जं सो न भणइ।
　(ग) हा० टी० प० १९८ : 'घोरं' रौद्रं रौद्रानुष्ठानहेतुत्वात्।

२—अ० चू० पृ० १४६ : स एवइंदियप्पमातो।

३—(क) जि० चू० पृ० २१९ : जम्हा एतेण पमत्तो भवति अतो पमादं भणइ, तं च सव्वपमादाण आदी, अहवा सव्व चरण-करण तम्मि वट्टमाणे पमादेतित्ति।
　(ख) हा० टी० प० १९८ : 'प्रमादं' प्रमादवत् सर्वप्रमादमूलत्वात्।

४—जि० चू० पृ० २१९ : दुरहिट्ठियं नाम दुगुच्छं पावइ तमहिट्ठियतोत्ति दुरहिट्ठियं।

५—अ० चू० पृ० १४६ : 'दुरहिट्ठियं' दुगुंछियाधिट्ठितं।

६—हा० टी० प० १९८ : 'दुराश्रयं' दुःसेवं विदितजिनवचनेनानन्तसंसारहेतुत्वात्।

७—(क) जि० चू० पृ० २१९ : भिज्जइ जेण चरित्तपाली सो भेदो, तस्स भेदस्स पसूतो आयतणं मेहुणंति, तं भेदायतण वज्जति।
　(ख) हा० टी० प० १९८ : भेद —चारित्रभेदस्तदायतनं—तत्स्थानमिदमवोक्तन्यायात्तद्वर्जिनः—चारित्रातिचारभीरव.।

८—जि० चू० पृ० २१९ : मूल नाम बीयति वा पइट्ठाणंति वा मूलंति वा एगट्ठा।

९—(क) अ० चू० पृ० १४६ : 'बिडं' जं पागजातं तं फासुगं।
　(ख) जि० चू० पृ० २२० : बिलं (डं) गोमुत्तादीहिं पविऊण कित्तिमं कीरइ...अहवा बिलग्गहणेण फासुगलोणस्स गहणं कयं।
　(ग) हा० टी० प० १९८ : 'बिडं' गोमूत्रादिपक्वम्।

३४. मैं मानता हूं (मन्ने [ग]) :

यह जिया है। अगस्त्यसिंह स्थविर के अनुसार इसका कर्ता शय्यंभव है[1]। जिनदास महत्तर के अनुसार इसका कर्ता तीर्थङ्कर है[2]। हरिभद्र सूरी के अभिमत से प्राकृत-शैली के अनुसार इसका पुरुष परिवर्तन होता है[3]।

३५. (अन्नयरामवि [ग]) :

चूर्णिकार के अनुसार यह सामान्य निर्देश है इसलिए इसका लिङ्ग नपुंसक है[4]। हरिभद्र सूरी ने इसे सन्निधि का विशेषण माना है[5]। किन्तु 'सन्निधि' पुल्लिङ्ग-शब्द है इसलिए यह चिन्तनीय है।

३६ (सिया [ग]) :

अगस्त्यसिंह स्थविर ने सिया को क्रिया माना है[6]। जिनदास महत्तर और हरिभद्र सूरी ने 'सिया' का अर्थ कदाचित् किया है[7]।

३७ (सन्निहीकामे [ग]) :

चूर्णिकारों ने 'सन्निधिकाम'—यह एक शब्द माना है[8]। टीकाकार ने 'कामे' को क्रिया माना है। उनके अनुसार 'सन्निहिं कामे' ऐसा पाठ बनता है[9]।

श्लोक १९ :

३८. संयम और लज्जा की रक्षा के लिए (संजमलज्जट्ठा [ग]) :

यहां वस्त्र, पात्र, कम्बल और पाद-प्रोञ्छन रखने के दो प्रयोजन बतलाए गए हैं—

(१) संयम के निमित्त।
(२) लज्जा के निमित्त।

शीतकाल में शीत से पीड़ित होकर मुनि अग्नि सेवन न करे, उसके लिए वस्त्र रखने का विधान किया गया है।

पात्र के अभाव में संसक्त और परिशाटन दोष उत्पन्न होते हैं इसलिए पात्र रखने का विधान किया गया है।

पानी के जीवों की रक्षा के लिए कम्बल (वर्षाकल्प) रखने का विधान किया गया है।

लज्जा के निमित्त 'चोलपट्ट' रखने का विधान है।

व्याख्याकारों ने संयम और लज्जा को अभिन्न भी माना है। वहां 'संयम की रक्षा के लिए'—यह एक ही प्रयोजन फलित होता है[10]।

१— अ० चू० पृ० १४७ : सव्वगपिता गणहरो सय मामरवा अप्पणो अभिप्पायमाह—मण्णे एवं जाणामि।
२— जि० चू० पृ० २२० मन्ने णाम तित्थकरो वा एवमाह।
३— हा० टी० प० १९८ : 'मन्ये' मन्यन्ते, प्राकृतशैल्या एकवचनम्, एवमाहुस्तीर्थंकरगणधराः।
४—(क) अ० चू० अण्णतरामिति विरातीणं किंचि जहा अण्णं निहिज्जति।
(ख) जि० चू० पृ० २२० : अन्नतर णाम तिलतुसतिभागमेत्तमवि, अहवा अन्नयरं असणादी।
५—हा० टी० प० १९८ : 'अन्यतरामपि' स्तोकामपि।
६—अ० चू० पृ० १४७ : 'सियादिति भवेज्ज'।
७—(क) जि० चू० पृ० २२० : 'सिया कदापि'।
(ख) हा० टी० प० १९८ : 'य. स्यात्' य: कदाचित्।
८—(क) अ० चू० पृ० १४७ : सन्निधी भणितो, तं कामयतीति सण्णिधीकामो।
(ख) जि० चू० पृ० २२० : सण्णिहिं कामयतीति सन्निहिकामी।
९—हा० टी० प० १९९ : कदाचित्सन्निधिं 'कामयते' सेवते।
१०—(क) जि० चू० पृ० २२१ : तत्थेति वत्थादीण ज धारणं तमवि, संजमनिमित्तं वा वत्थस्स गहणं कीरइ, मा तस्स अभावे अग्गिसेवणादि दोसा भविस्संति, पाताभावेऽवि संसत्तपरिसाडणादी दोसा भविस्संति कम्बलं वासकप्पादी त उदगादिरक्खणट्ठा घेप्पति, लज्जानिमित्तं चोलपट्टको घेप्पति, अहवा संजमो चेव लज्जा, भणितं च —'इह तो लज्जा नाम सज्जामतो भण्णइ, संजममतोत्ति वुत्तं भवति,'' एताणि वत्थादीणि संजमलज्जट्ठा।
(ख) हा० टी० प० १९९ : 'संयमलज्जार्थ' मिति संयमार्थं पात्रादि, तद्व्यतिरेकेण पुरुषमात्रेण गृहस्थभाजने सति संयमपालनाभावात्, लज्जार्थं वस्त्रं, तद्व्यतिरेकेणाङ्गनादौ विशिष्टश्रुतपरिणत्यादिरहितस्य निर्लज्जतोपपत्ते, अथवा संयम एव लज्जा तदर्थं सर्वमेतद्वस्त्रादि धारयति।

शब्द असमीचीन है क्योंकि दोनों के विचार शास्त्र-सम्मत हैं। भाषा और रचना-शैली की दृष्टि से यह प्रमाणित हो चुका है कि उपलब्ध जैन-साहित्य में आचाराङ्ग (प्रथम श्रुतस्कन्ध) प्राचीनतम आगम है। उसकी चूला (आचार चूला) में मुनि को एक वस्त्र सहित, दो वस्त्र सहित आदि कहा है[1]। अन्य आगमों में मुनि की अचेल और सचेल— दोनों अवस्थाओं का उल्लेख मिलता है[2]। जिनकल्पी मुनि के लिए शीत ऋतु बीत जाने पर अचेल रहने का भी विधान है[3]। वास्तव में वस्त्र रखना या न रखना कोई विवाद का विषय नहीं है। परिस्थिति-भेद से सचेलता और अचेलता दोनों अनुज्ञात हैं। अचेल को उत्कर्ष-भाव और सचेल को अपकर्ष-भाव नहीं लाना चाहिए और न आपस में एक दूसरे की अवज्ञा करनी चाहिए—

जोऽवि दुवत्थतिवत्थो, एगेण अचेलगो व संथरइ।
ण हु ते हीलंति परं, सव्वेऽवि य ते जिणाणाए॥१॥
जे खलु विसरिसकप्पा, संघयणधियाइकारणं पप्प।
णऽवमन्नइ ण य हीणं, अप्पाणं मन्नई तेहिं॥२॥
सव्वेऽवि जिणाणाए, जहाविहिं कम्मखवणअट्ठाए।
विहरंति उज्जया खलु, सम्मं अभिजाणई एवं॥३॥ (आचा० वृ० पत्र २२२)

इन गाथाओं में समन्वय की भाषा का उज्ज्वल रूप है। आचार्य उमास्वाति (या उमास्वामी) को दोनों सम्प्रदाय अपना-अपना आचार्य मान रहे हैं। उन्होंने धर्म-देह रक्षा के निमित्त अनुज्ञात पिण्ड, शय्या आदि के साथ वस्त्रैषणा का उल्लेख किया है[4] तथा कल्प्याकल्प्य की समीक्षा में भी वस्त्र का उल्लेख किया है[5]। इसी प्रकार एषणा-समिति की व्याख्या में वस्त्र का उल्लेख है[6]। स्थानाङ्ग में पाँच कारणों से अचेलता को प्रशस्त बतलाया है। वहाँ चौथे कारण को तप और पाँचवें कारण को महान् इन्द्रिय निग्रह कहा है[7]। संक्षेप में यही पर्याप्त होगा कि अवस्था-भेद के अनुसार अचेलता और सचेलता दोनों विहित हैं। परिग्रह का प्रश्न शेष रहता है। शब्द की दृष्टि से विचार किया जाए तो लेना मात्र परिग्रह है। स्थानांग में परिग्रह के तीन नाम बतलाए हैं—शरीर, कर्म-पुद्गल और भण्डोपकरण[8]। बन्धन की दृष्टि से विचार करने पर परिग्रह की परिभाषा मूर्च्छा है। सूत्रकार ने इसे बहुत ही स्पष्ट शब्दों में प्रस्तुत किया है। जीवन-यापन के लिए आवश्यक वस्त्र, पात्र आदि रखे जाते हैं वे संयम-साधना में उपकारी होते हैं इसलिए धर्मोपकरण कहलाते हैं। वे परिग्रह नहीं हैं। उनके धारण करने का हेतु मूर्च्छा नहीं है। सूत्रकार ने उनके रखने के दो प्रयोजन बतलाए हैं—संयम और लज्जा। स्थानाङ्ग में प्रयोजन का विस्तार मिलता है। उसके अनुसार वस्त्र-धारण के तीन प्रयोजन हैं—लज्जा, जुगुप्सा-निवारण और परीषह—

१—आ० चू० ५.१२ : जे निग्गंथे तरुणे जुगवं बलवं अप्पायंके थिरसंघयणे से एगं वत्थं धारिज्जा नो बीयं।

२—उत्त० २.१३ :

एगयाऽचेलए होइ, सचेले आवि एगया।
एयं धम्महियं नच्चा, नाणी नो परिदेवए॥

३—आ० ८.५०-५३ : उवाइक्कंते खलु हेमंते गिम्हे पडिवन्ने अहापरिजुन्नाइं वत्थाइं परिट्ठविज्जा, अदुवा संतरुत्तरे अदुवा ओमचेले अदुवा एगसाडे अदुवा अचेले।

४—प्र० प्र० १३८ :

पिण्डः शय्या वस्त्रैषणादि पात्रैषणादि यच्चान्यत्।
कल्प्याकल्प्यं सद्धर्मदेहरक्षानिमित्तोक्तम्॥

५—प्र० प्र० १४५ :

किंचिच्छुद्धं कल्प्यमकल्प्यं स्यादकल्प्यमपि कल्प्यम्।
पिण्डः शय्या वस्त्रं पात्रं वा भेषजाद्यं वा॥

६—त० भा० ९.५ : अन्नपानरजोहरणपात्रचीवरादीनां धर्मसाधनानामाश्रयस्य च उद्गमोत्पादनैषणादोषवर्जनम्—एषणा-समिति.।

७—ठा० ५.२०१ : पंचहिं ठाणेहिं अचेलए पसत्थे भवति, तंजहा—अप्पा पडिलेहा, लाघविए पसत्थे, रूवे वेसासिते, तवे अणुन्नाते, विउले इंदियनिग्गहे।

८—ठा० ३.९५ : तिविहे परिग्गहे पं० तं०—कम्मपरिग्गहे, सरीरपरिग्गहे, बाहिरभंडमत्तपरिग्गहे।

४५. (जा य [ग]) :

दोनों चूर्णियों में[1] 'जा य' (या च) और टीका में 'जाव' (यावत्) पाठ मानकर व्याख्या की है[2]।

४६ एक बार भोजन (एगभत्तं च भोयण [घ]) :

अगस्त्यसिंह स्थविर ने 'एक-भक्त-भोजन' का अर्थ एक बार खाना अथवा राग-द्वेष रहित भाव से खाना किया है[3]। उक्त वाक्य-रचना में यह प्रश्न शेष रहता है कि एक बार कब खाया जाए? इस प्रश्न का समाधान दिवस शब्द का प्रयोग कर जिनदास महत्तर कर देते हैं[4]। टीकाकार द्रव्य-भाव की योजना के साथ चूर्णिकार के मत का ही समर्थन करते हैं[5]।

काल के दो विभाग हैं—दिन और रात। रात्रि-भोजन श्रमण के लिए सर्वथा निषिद्ध है। इसलिये इसे सतत तप कहा गया है। शेष रहा दिवस-भोजन। प्रश्न यह है कि दिवस-भोजन को एक-भक्त-भोजन माना जाए या दिन में एक बार खाने को? चूर्णिकार और टीकाकार के अभिमत से दिन में एक बार खाना एक-भक्त-भोजन है। आचार्य वट्टकेर ने भी इसका अर्थ यही किया है—

> उदयत्थमणे काले णालीतियवज्जियम्हि मज्झम्हि।
> एकम्हि दुअ तिए वा मुहुत्तकालेयभत्तं तु ॥
> (मूलाचार—मूल गुणाधिकार ३५)

'सूर्य के उदय और अस्त काल की तीन घड़ी छोड़कर या मध्यकाल में एक मुहूर्त, दो मुहूर्त या तीन मुहूर्त काल में एक बार भोजन करना, यह एक-भक्त-मूल मूल-गुण है।'

स्कन्दपुराण को भी इसका यही अर्थ मान्य है[6]। महाभारत में वानप्रस्थ भिक्षु को एक बार भिक्षा लेनेवाला और एक बार भोजन करने वाला कहा है[7]। मनुस्मृति[8] और वशिष्ठ स्मृति[9] में भी एक बार के भोजन का उल्लेख मिलता है। उत्तराध्ययन (२७.१२) के अनुसार सामान्यतः एक बार तीसरे पहर में भोजन करने का क्रम रहा है। पर यह विशेष प्रतिज्ञा रखने वाले श्रमणों के लिए था या सबके लिए इसका कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता। किन्तु आगमों के कुछ अन्य स्थलों के अध्ययन से पता चलता है कि यह क्रम सबके लिए या सब स्थितियों में नहीं रहा है। जो निर्ग्रन्थ सूर्योदय से पहले आहार लेकर सूर्योदय के बाद उसे खाता है वह "क्षेत्रातिक्रान्त पान-भोजन है"[10]। निशीथ (१०.३१-३९) के 'उग्गयवित्तीए' और 'अणत्थमियमणसंकप्पे' इन दो शब्दों का फलित यह है कि भिक्षु का भोजन-काल सूर्योदय से लेकर सूर्यास्त के बीच का कोई भी काल हो सकता है। यही आशय दशवैकालिक के निम्न श्लोक में मिलता है—

> अत्थंगयम्मि आइच्चे, पुरत्था य अणुग्गए।
> आहारमइयं सव्वं, मणसा वि न पत्थए ॥ (८.२८)

१—(क) अ० चू० पृ० १४८ : जा इति वित्ती-उद्देसवयणं चकारो समुच्चये।
(ख) जि० चू० पृ० २२२ : 'जा' इति अविसेसिया, चकारो सावेक्खे।

२—हा० टी० प० १९९ : यावल्लज्जासमा।

३—अ० चू० पृ० १४८ : एगवार भोयणं एगस्स वा राग-दोसरहियस्स भोयणं।

४—जि० चू० पृ० २२२ एगस्स रागदोसरहियस्स भोअण अहवा इक्कवारं दिवसओ भोयणंति।

५—हा० टी० प० १९९ : द्रव्यत एकम्—एकसंख्यानुगतं, भावत एकं—कर्मबन्धाभावादद्वितीय, तद्दिवस एव रागादिरहितस्य अन्यथा भावत एकत्वाभावादिति।

६—दिनार्द्धसमयेऽतीते, भुज्यते नियमेन यत्।
एक भक्तमिति प्रोक्त, रात्रौ तन्न कदाचन ॥

७—महा० शा० २४५.६ : सकृदन्ननिषेविता।

८—म० स्मृ० ६.५५ : एककालं चरेद् भैक्षम्।

९—व० स्मृ० ३.११८ : ब्रह्मचर्योक्तमार्गेण सकृद्भोजनमाचरेत्।

१०—भग० ७.१ सू० २१ : गोयमा! जे णं निग्गंथो वा निग्गंथी वा फासुएसणिज्जं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा अणुग्गए सूरिए पडिग्गाहित्ता उग्गए सूरिए आहारं आहारेति, एस णं गोयमा! खेत्तातिकंते पाणभोयणे।

यद्यपि इसके संस्कृत रूप ये सभी बन सकते हैं फिर भी अर्थ की दृष्टि से यहाँ 'एयं' की अपेक्षा 'एग' अधिक संगत है। यह 'दोस' शब्द का विशेषण है।

५१. समारम्भ (समारंभं [ग]) :

समारम्भ का अर्थ आलेखन आदि किया है[1]। आलेखन आदि की जानकारी के लिए देखिए टिप्पणी सं० ७२-७३ (४.१८)।

श्लोक ३२ :

५२. जाततेज (जायतेयं [घ]) :

जो जन्म-काल से ही तेजस्वी हो वह 'जाततेज' कहलाता है। सूर्य 'जाततेज' नहीं होता। वह उदय-काल में शान्त और मध्याह्न में तीव्र होता है[2]। स्वर्ण परिकर्म से तेजस्वी बनता है इसलिए वह 'जाततेज' नहीं कहलाता। जो परिकर्म के बिना उत्पत्ति के साथ-साथ ही तेजस्वी हो उसे 'जाततेज' कहा जाता है[3]। अग्नि उत्पत्ति के साथ ही तेजस्वी होती है। इसीलिए उसे 'जाततेज' कहा गया है।

५३. अग्नि (पावगं [घ]) :

लौकिक मान्यता के अनुसार जो हुत किया जाता है वह देवताओं के पास पहुँच जाता है इसलिए वह 'पावग' (प्रापक) कहलाता है। जैन दृष्टि के अनुसार 'पावक' का कोई विशेष अर्थ नहीं है। जो जलाता है वह 'पावक' है[4]। यह अग्नि का पर्यायवाची नाम है और 'जाततेज' इसका विशेषण है। टीकाकार के अनुसार 'पावग' का संस्कृत रूप 'पापक' और उसका अर्थ अशुभ है। वे 'जाततेज' को अग्नि का पर्यायवाची नाम और 'पापक' को उसका विशेषण मानते हैं[5]।

५४. दूसरे शस्त्रों से तीक्ष्ण शस्त्र (तिक्खमन्नयरं सत्थं [ग]) :

जिससे शासन किया जाए उसे शस्त्र कहते हैं। कुछेक शस्त्र एक धार, दो धार, तीन धार, चार धार और पाँच धार वाले होते हैं, किन्तु अग्नि सर्वतोधार—सब तरफ से धार वाला शस्त्र है। एक धार वाले परशु, दो धार वाले शलाका या एक प्रकार का बाण, तीन धार वाली तलवार, चार धार वाले चतुष्कर्ण और पाँच धार वाले अजानुफल होते हैं। इन सब शस्त्रों में अग्नि जैसा कोई तीक्ष्ण शस्त्र नहीं है[6]। अगस्त्य चूर्णि के अनुसार 'तिक्खमन्नतरा सत्था' ऐसा पाठ होना चाहिए। इससे व्याख्या में भी बड़ी सरलता होती है। 'तिक्खमन्नतरा सत्था' अर्थात् अन्यतर शस्त्रों से तीक्ष्ण।

१—हा० टी० प० २०० : समारम्भमालेखनादिः।

२—अ० चू० पृ० १५० : जात एव जम्मकाल एव तेजस्सी, ण तहा आदिच्चो उदये सोमो मज्झे तिव्वो।

३—जि० चू० पृ० २२४ : जायतेओ जायते तेजमुप्पत्तीसमकमेव जस्स सो जायतेयो भवति, जहा सुवण्णादीण परिकम्मणाविसेसेण तेयाभिसंबंधो भवति, ण तहा जायतेयस्स।

४—(क) अ० चू० पृ० १५० : पावग हव्वं, सुराणं पावयतीति पावकः—एव लोइया भणंति। वयं पुण अविसेसेण 'डहण' इति पावक त पावकम्।

(ख) जि० चू० पृ० २२४ : लोइयाण पुण जं हूयइ तं देवसगासं (पावइ) अओ पावगो भण्णइ।

५—हा० टी० प० २०१ : जाततेजा—अग्निः, तं जाततेजसं नेच्छन्ति मन प्रभृतिभिरपि 'पापकं' पाप एव पापकस्तं, प्रभूतसत्त्वापकारित्वेनाशुभम्।

६—(क) अ० चू० पृ० १५० : 'तं सत्थं एकधारं ईलिमादि, दुधारं करणयो, तिधारं तरवारी, चउधारं चउक्कण्णओ, सव्वओधारं गहण विरहितं चक्कं अग्गी समंततो सव्वतोधारं, एवमण्णतरातो सत्थातो तिक्खयाए सव्वतोधारता'।

(ख) जि० चू० पृ० २२४ : सासिज्जइ जेण तं सत्थं, किंचि एगधारं, दुधारं, तिधारं, चउधारं, पंचधारं, सव्वतोधारं नत्थि मोत्तूणमगणिमेगं, तत्थ एगधारं परसु, दुधारं कणयो, तिधारं असि, चउधारं तिपडतो कणीयो, पंचधारं अजानुफलं, सव्वओ धारं अग्गी, एतेहिं एगधारदुधारतिधारचउधारपंचधारेहिं सत्थेहिं अण्णं नत्थि सत्थं अगणिसत्थाओ तिक्खतरमिति।

६५. अकल्पनीय (अभोज्जाइं [क]) :

यहाँ अभोज्य (अभोज्य) का अर्थ अकल्पनीय है। जो भक्त-पान, शय्या, वस्त्र और पात्र साधु के लिए अग्राह्य हो—विधि-सम्मत न हो, संयम का अपकारी हो उसे अकल्पनीय कहा जाता है[1]।

६६. (इसिणा [घ]) :

चूर्णिद्वय के अनुसार यह तृतीया का एक वचन है[2] और टीकाकार ने इसे षष्ठी का बहुवचन माना है[3]।

६७. (आहारमाईणि [ग]) :

यहाँ मकार अलाक्षणिक है। आदि शब्द के द्वारा शय्या, वस्त्र और पात्र का ग्रहण किया गया है[4]।

श्लोक ४७ :

६८. अकल्पनीय ...की इच्छा न करे (अकप्पियं न इच्छेज्जा [ग]) :

अकल्प दो प्रकार के होते हैं—शैक्ष-स्थापना अकल्प और अकल्प-स्थापना अकल्प। शैक्ष (जो कल्प, अकल्प न जानता हो) द्वारा आनीत या याचित आहार, वसति और वस्त्र ग्रहण करना, वर्षाकाल में किसी को प्रव्रजित करना या ऋतुबद्ध-काल (वर्षाकाल के अतिरिक्त काल) में अयोग्य को प्रव्रजित करना 'शैक्ष-स्थापना अकल्प' कहलाता है[5]। जिनदास महत्तर के अनुसार जिसने पिण्डनिर्युक्ति का अध्ययन न किया हो उसका लाया हुआ भक्त-पान, जिसने शय्या (आयारचूला २) का अध्ययन न किया हो उसके द्वारा याचित वसति और जिसने वस्त्रैषणा (आयारचूला ५) का अध्ययन न किया हो उसके द्वारा आनीत वस्त्र, वर्षाकाल में किसी को प्रव्रजित करना और ऋतुबद्ध-काल में अयोग्य को प्रव्रजित करना 'शैक्ष स्थापना अकल्प' कहलाता है[6]। जिसने पात्रैषणा (आयारचूला ६) का अध्ययन न किया हो उसके द्वारा आनीत पात्र भी 'शैक्ष-स्थापना अकल्प' है[7]। अकल्पनीय पिण्ड आदि को 'अकल्प-स्थापना-अकल्प' कहा जाता है। यहाँ यही प्रस्तुत है[1]।

१—(क) अ० चू० पृ० १५२ : 'अभोज्जाणि' अकप्पियाणि।
 (ख) जि० चू० पृ० २२७ : 'अभोज्जाणि' अकप्पियाणि।
 (ग) हा० टी० प० २०३ : 'अभोज्यानि' संयमापकारित्वेनाकल्पनीयानि।
२—(क) अ० चू० पृ० १५२ : 'इसिणा' साधुणा।
 (ख) जि० चू० पृ० २२७ : 'इसिणा' णाम साधुणा।
३—हा० टी० प० २०३ : 'ऋषीणां' साधूनाम्।
४—(क) अ० चू० पृ० १५२ : आहारो आदी जेसिं ताणि आहारादीणि।
 (ख) जि० चू० पृ० २२७ : आहारो आई जेसिं ताणि आहारमाईणि ताणि अभोज्जाणि।
 (ग) हा० टी० प० २०३ : आहारशय्यावस्त्रपात्राणि।
५—अ० चू० पृ० १५२ : तत्थ अकप्पो दुविहो—सेहठवणाकप्पो अकप्पठवणाकप्पो य। [illegible] [illegible] वासासु पव्वाविज्जति, उडुबद्धे अलला। अकप्पठवणाकप्पो इमो।
६—जि० चू० पृ० २२७ : [illegible] सेहठवणाकप्पो णाम जेण पिंडणिज्जुत्ती ण सुता तेणं आणियं ण कप्पइ भोत्तुं, जेण [illegible] [illegible] ण कप्पइ, जेण वत्थेसणा ण सुता तेण वत्थं, उडुबद्धे अलला ण पव्वाविज्जंति, वासासु [illegible]
७—हा० टी० प० २०३ : [illegible]
 [illegible]
 [illegible]
 [illegible]
१—[illegible] 'कप्पइ' ति सूत्रम्।

श्लोक ५० :

६९. कांसे के प्याले (कंसेसु [क]) :

कांसे से बने हुए बर्तन को 'कंस' (कांस्य) कहते हैं । अगस्त्यसिंह स्थविर ने प्याले या क्रीड़ा-पात्र के बर्तन को 'कंस' माना है[1] । जिनदास महत्तर थाल या सोरक—कोणाकार बर्तन को 'कंस' मानते हैं[2] । टीकाकार के अनुसार कटोरा आदि 'कंस' कहलाता है[3] । कंस गगरी जैसा पात्र-विशेष है । कुछ लोग इसे फूल या कांसे का पात्र समझते हैं । यूनानियों का ध्यान इसकी ओर गया था । उन्होंने लिखा है कि वह गिरते ही मिट्टी के पात्र की तरह टूट जाता था[4] ।

७०. कुंडमोद (कुंडमोएसु [ग]) :

अगस्त्यचूर्णि के अनुसार कच्छ आदि देशों में प्रचलित कूंडे के आकार वाला कांसे का भाजन 'कुंडमोद' कहलाता है[5] । जिनदास चूर्णि ने हाथी के पांव के आकार वाले बर्तन को 'कुंडमोद' माना है[6] । टीकाकार ने हाथी के पांव के आकार वाले मिट्टी आदि के भाजन को 'कुंडमोद' कहा है[7] । चूर्णिद्वय में 'कुंडमोएसु' के स्थान में 'कोंडकोसेसु' पाठान्तर का उल्लेख है । 'कोंड' का अर्थ तिल पीलने का पात्र[8] अथवा मिट्टी का पात्र[9] और 'कोस' का अर्थ शराव –सकोरा[10] किया गया है ।

७१. (पुणो [ख]) :

दोनों चूर्णिकारों के अनुसार 'पुन.' शब्द 'विशेषण' के अर्थ में है और इसके द्वारा सोने, चांदी आदि के बर्तन सूचित किए गए हैं[11] ।

श्लोक ५१ :

७२. सचित्त जल (सीओदग [क]) .

यहां शीत का अर्थ 'सचित्त' है[12] ।

७३. (छन्नति [ग]) .

चूर्णिद्वय के अनुसार यह धातु 'क्षणु हिंसायाम्'[13] है । टीकाकार ने 'छिप्पति' पाठ मानकर उसके लिए संस्कृत धातु 'क्षिपनज् प्रेरणे' का प्रयोग किया है[14] ।

१—अ० चू० : कसस्स विकारो कासं तेसु वट्टगातिसु लोलापाणेसु ।

२—जि० चू० पृ० २२७ : कंसाओ जायाणि कंसाणि, ताणि पुण थालाणि वा सोरगाणि वा तेसु कंसेसुत्ति ।

३—हा० टी० प० २०३ : 'कंसेषु' करोटकादिषु ।

४—पा० भा० पृ० १४८ ।

५—अ० चू० पृ० १४३ कुंडमोयं कच्छातिसु कुंडसंठियं कंसभायणमेव महंत ।

६—जि० चू० पृ० २२७ 'कुंडमोयो' नाम हत्थिपदागितीसंठियं कुंडमोयं ।

७—हा० टी० प० २०३ : 'कुंडमोदेषु' हस्तिपादाकारेषु मृन्मयादिषु ।

८—अ० चू० पृ० १४३ : 'जे पढंति कोंडकोसेसु वा' तत्थ 'कोंडग' तिलपीलणग ।

९—जि० चू० पृ० १४३ . अन्ने पुण एवं पढंति 'कुंडकोसेसु वा पुणो' तत्थ कुण्ड मट्टियामयं भवति ।

१०—(क) अ० चू० पृ० १४३ : 'कोसे' सरावादी ।

(ख) जि० चू० पृ० २२७ : कोसग्गहणेण सरावादीणि गहियाणि ।

११—अ० चू० पृ० १४३ : पुणो इति विसेसणे, रुप्पतलिकातिसु वा ।

(ख) जि० चू० पृ० २२७ : पुणो सद्दो विसेसणे वट्टति, किं विसेसयति ?, जहा अन्नेसु सुवण्णादिमायणेसुत्ति ।

१२—(क) जि० चू० पृ० २२८ : सीतग्गहणेण सचेयणस्स उदगस्स गहणं कयं ।

(ख) हा० टी० प० २०४ : 'शीतोदक... ...' सचेतनोदकेन ।

१३—(क) अ० चू० पृ० १४३ : 'छन्नति' क्षणु हिंसाया मिति हिंसिज्जति ।

(ख) जि० चू० पृ० २२८ : छण्णसद्दो हिंसाए वट्टइ ।

१४—हा० टी० प० २०४ : 'क्षिप्यन्ते' हिंस्यन्ते ।

७९. आसन (निसेज्जा [ख]) :

एक या अनेक वस्त्रों से बना हुआ आसन[1]।

८०. पीढ़े का (पीढए [ख]) :

जिनदास महत्तर के अनुसार 'पीढ़ा' पलाल का[2] और टीका के अनुसार बेंत आदि का होता है[3]।

८१. (बुद्धवुत्तमहिट्ठगा [घ]) :

यहाँ मकार अलाक्षणिक है।

श्लोक ५५ :

८२. गंभीर-छिद्र वाले (गंभीरविजया [क]) :

गंभीर का अर्थ अप्रकाश और विजय का अर्थ विभाग है। जिनका विभाग अप्रकाशकर होता है वे 'गंभीरविजय' कहलाते हैं[4]। जिनदास चूर्णि में मार्गण, पृथक्करण, विवेचन और विचय को एकार्थक माना है[5]। टीकाकार ने 'विजय' की छाया विजय और उसका अर्थ आश्रय किया है[6]। जिनदास चूर्णि में 'वैकल्पिक' रूप से 'विजय' का अर्थ आश्रय किया है। इसके अनुसार 'गंभीरविजय' का अर्थ 'प्रकाश रहित आश्रय वाला' है[7]। हमने 'विजय' की संस्कृत-छाया 'विचय' की है। अभयदेवसूरि ने भी इसकी छाया यही की है[8]।

श्लोक ५६ :

८३. अबोधि-कारक अनाचार को (अबोहियं [घ])

अगस्त्य चूर्णि और टीका में अबोधिक का अर्थ—अबोधिकारक[9] या जिसका फल मिथ्यात्व हो वह[10] किया है। जिनदास चूर्णि में इसका अर्थ केवल मिथ्यात्व किया है[11]।

श्लोक ५७ :

८४. श्लोक ५७ :

चूर्णिद्वय में गृहस्थ के घर बैठने से होने वाले ब्रह्मचर्य-नाश आदि के कारणों का स्पष्टीकरण इस प्रकार है :

स्त्री को बार-बार देखने से और उसके साथ बातचीत करने से ब्रह्मचर्य का विनाश होता है[12]।

१—(क) जि० चू० पृ० २२६ : 'निसिज्जा' नाम एगो कप्पो अणेगा वा कप्पा।
　(ख) *हा० टी० प० २०४ : निषद्यायाम् एकादिकल्परूपायाम्।*

२—जि० चू० पृ० २२६ : 'पीढगं'—पलालपीढगादि।

३—हा० टी० प० २०४ : 'पीठके'—वेत्रमयादौ।

४—अ० चू० पृ० १५४ : गभीरं अप्पगासं, विजयो—विभागो। गंभीरो जेसिं ते गभीरविजया।

५—जि० चू० पृ० २२६ : गंभीरं अप्पगासं भण्णइ, विजओ नाम मग्गणंति वा पिधुक्करणंति वा विवेयणंति वा विजओत्ति वा एगट्ठा।

६—हा० टी० प० २०४ : गम्भीरम्—अप्रकाशं विजयः—आश्रयः अप्रकाशाश्रया 'एते'।

७—जि० चू० पृ० २२६ : अहवा विजओ उवस्सओ भण्णइ, जम्हा तेसिं पाणाणं गंभीरो उवस्सओ तओ दुव्विसोधणा।

८—भग० २५.७ वृ० : आणाविजए—आज्ञा-जिनप्रवचनं तस्या विचयो निर्णयो यत्र तदाज्ञाविचयं प्राकृतत्वाच्च आणाविजयेत्ति।

९—अ० चू० पृ० १५४ : अबोहिकारि अबोहिकं।

१०—हा० टी० प० २०५ : 'अबोधिकं' मिथ्यात्वफलम्।

११—जि० चू० पृ० २२६ : 'अबोहियं' नाम मिच्छत्तं।

१२—जि० चू० पृ० २२६ : कहं बंभचेरस्स विवत्ती होज्जा ?, अवरोप्परओभासणओऽन्नदंसणादीहिं बंभचेरविवत्ती।

श्लोक ५९ :

८७. श्लोक ५९ :

चूर्णि और टीका के अनुसार अतिजराग्रस्त, अतिरोगी और घोर तपस्वी भिक्षा लेने के लिए नहीं जाते किन्तु जो असहाय होते हैं, जो स्वयं भिक्षा कर लाया हुआ खाने का अभिग्रह रखते हैं या जो साधारण तप करते हैं, वे भिक्षा के लिए जाते हैं[1]। गृहस्थ के घर में स्वल्पकालीन विश्राम लेने का अपवाद इन्हीं के लिए है और वह भी ब्रह्मचर्य-विपत्ति आदि दोषों का सम्भव न हो, उस स्थिति को ध्यान में रखकर किया गया है[2]।

श्लोक ६० :

८८ आचार (आयारो [ग]) :

इस श्लोक में आचार और संयम—ये दो शब्द प्रयुक्त हुए हैं। 'आचार' का तात्पर्य कायक्लेश आदि बाह्य तप और 'संयम' का तात्पर्य अहिंसा—प्राणि-रक्षा है[3]।

८९. परित्यक्त (जढो [घ]) :

'जढ' का अर्थ है परित्यक्त[4]। हेमचन्द्राचार्य ने 'त्यक्त' के अर्थ में 'जढ' को निपात किया है[5] और षड्भाषाचन्द्रिका में इसके अर्थ में 'जढ' का निपात है[6]।

श्लोक ६१ :

९० श्लोक ६१ :

सचित्त जल से स्नान करने में हिंसा होती है इसलिए उसका निषेध बुद्धिगम्य हो सकता है, किन्तु अचित्त जल से स्नान करने का निषेध क्यों ? सहज ही यह प्रश्न होता है। प्रस्तुत श्लोक में इसी का समाधान है[7]।

१—(क) अ० चू० पृ० १५५ : अभिभूत इति अतिप्रपीडितो, एव वाहितो वि, 'तवस्सी' पक्खमासातिखमणकिलतो एतेसि णेव गोयराभरणं। जस्स य पुण सहायासतीए अत्तलाभिए वा हिंडेज्जा ततो एतेसि निसेज्जा अणुण्णाता।

(ख) जि० चू० पृ० २३०-३१ : जराभिभूओ 'वाहिअस्स तवस्सिणो' त्ति अभिभूयग्गहणं जो अतिकट्ठपत्ताए जराए वज्जइ, जो सो पुण वुड्ढभावेऽवि सति समत्थो ण तस्स गहणं कयंति, एते तिन्निवि न हिंडाविज्जति, तिन्नि हिंडाविज्जति सेयो अत्तलाभिओ वा अविकिट्ठतवस्सी वा एवमादि, तेहिं कारणेहिं हिंडेज्जा, तेसिं च तिण्ह णिसेज्जा अणुन्नाया।

(ग) हा० टी० प० २०५ : 'जरयाऽभिभूतस्य' अत्यन्तवृद्धस्य 'व्याधिमतः' अत्यन्तमशक्तस्य 'तपस्विनो' विकृष्टक्षपकस्य। एते च भिक्षाटनं न कार्यन्त एव, आत्मलब्धिकाद्यपेक्षया तु सूत्रविषयः।

२—(क) अ० चू० पृ० १५५ : एतेसि बंभविवत्ति—वणीमगपडिघातातिजयणाए परिहरंताणं णिसेज्जा।

(ख) जि० चू० पृ० २३१ : तस्य थेरस्स बंभचेरस्स विवत्तीमादी दोसा नत्थि, सो मुहुत्तं अच्छइ, जहा अन्तरातपडिघातादओ दोसा न भवति, वाहिओऽवि मग्गति किंचि त आउ निक्कालिज्जइ ताव अच्छइ, विस्समणट्ठ वा, तवस्सीवि आतवेण किलामिओ वीसमिज्जा।

३—(क) जि० चू० पृ० २३१ : आयारग्गहणेण कायकिलेसादिणो बाहिरतवस्स गहणं कयं।

(ख) हा० टी० प० २०५ : 'आचारो' बाह्यतपोरूप, 'संयमः' प्राणिरक्षणादिकः।

४—हा० टी० प० २०५ : 'जढः' परित्यक्तो भवति।

५—हैम० ४.२५८ : 'जढं'—त्यक्तम्।

६—षड्भाषाचन्द्रिका पृ० १७८ : त्यक्ते जढम्।

७—हा० टी० प० २०५ : प्रासुकस्नानेन कथं संयमपरित्याग इत्याह।

इसको घ्राणेन्द्रिय का विषय बतलाया है[१]। उससे भी इसका गन्ध-द्रव्य होना प्रमाणित है। मोनियर-मोनियर विलियम्स ने भी अपने संस्कृत-अंग्रेजी कोष में इसका एक अर्थ सुगन्धित चूर्ण किया है[२]।

६८. कल्क (कक्कं [ग]) :

इसका अर्थ स्नान-द्रव्य, विलेपन द्रव्य अथवा गन्धाट्टक—गन्ध-द्रव्य का आटा है। प्राचीन काल में स्नान में सुगन्धित द्रव्यों का उपयोग किया जाता था। स्नान से पहले तैल-मर्दन किया जाता और उसकी चिकनाई को मिटाने के लिए पिसी हुई दाल या आंवले का सुगन्धित उबटन लगाया जाता था। इसी का नाम कल्क है[३]। इसे चूर्ण-कषाय भी कहा जाता है।

६९. लोध्र (लोद्धं [घ]) :

लोध (गन्ध-द्रव्य) का प्रयोग ईषत् पाण्डुर छवि करने के लिए होता था[४]। 'मेघदूत' के अनुसार लोध्र-पुष्प के पराग का प्रयोग मुख की पाण्डुता के लिए होता था[५]। 'कालिदास का भारत' के अनुसार स्नान के बाद काला-गुरु, लोध्र रेणु, धूप और दूसरे सुवासित द्रव्यों (कोपेय) के सुगन्धमय धूएं में केश सुखाए जाते थे[६]। 'प्राचीन भारत के प्रसाधन'[७] के अनुसार लोध्र (पठानी लोध) वृक्ष की छाल का चूर्ण शरीर पर, मुख्यतः मुख पर लगाया जाता था। इसका रंग पाण्डुर होता है और पसीने को सुखाता है। संभवतः इन्हीं दो गुणों के कारण कवियों को यह प्रिय रहा होगा। इसका उपयोग श्वेतिमा गुण के लिए ही हुआ है। स्वास्थ्य की दृष्टि से सुश्रुत में लोध्र के पानी से मुख को धोना कहा है। लोध्र के पानी से मुख धोने पर झाईं, फुंसी, दाग मिटाते हैं[८]।

लोध के वृक्ष बंगाल, आसाम और हिमालय तथा खसिया पहाड़ियों में पाए जाते हैं। यह एक छोटी जाति का हमेशा हरा रहने वाला वृक्ष होता है। इसके पत्ते ३ से ६ इंच लम्बे, अण्डाकृति और कंगूरेदार होते हैं। इसके फूल पीले रंग के और सुगन्धित होते हैं। इसके प्रायः आधा इंच लम्बा और अंडाकृति का फल लगता है। यह फल पकने पर बैंगनी रंग का होता है। इस फल के अन्दर एक कठोर गुठली रहती है। उस गुठली में दो-दो बीज रहते हैं। इसकी छाल गेरुए रंग की और बहुत मुलायम होती है। इसकी छाल और पत्तों में से रंग निकाला जाता है[९]।

---

१ (क) प्र० प्र० ४१ : स्नानाङ्गरागवर्तिकवर्णकधूपाधिवासपटवासैः ।
गन्धभ्रमितमनस्को मधुकर इव नाशमुपयाति ॥
(ख) प्र० प्र० ४१ अव० : स्नानमङ्गप्रक्षालनं चूर्णम् ।

२—A Sanskrit English Dictionary. Page 1266 : Anything used in ablution (e.g. Water, Perfumed Powder) ।

३—(क) अ० चू० पृ० १५६ : कक्कं ण्हाणसंजोगो वा ।
(ख) जि० चू० पृ० २३२ : कक्को सवत्तयो कीरइ, वण्णादी कक्को वा, उव्वलयं अट्टगमादि कक्को भण्णइ ।

४—(क) अ० चू० पृ० १५६ : लोद्धं कसायादि अपंडुरच्छविकरणत्थं दिज्जति ।
(ख) हा० टी० प० २०६ : लोध्रं—गन्धद्रव्यम् ।

५—मेघ० उ० २ : हस्ते लीलाकमलमलके बालकुन्दानुविद्धं,
नीता लोध्रप्रसवरजसा पाण्डुतामानने श्रीः ।
चूडापाशे नवकुरबकं चारु कर्णे शिरीषं,
सीमन्ते च त्वदुपगमजं यत्र नीपं वधूनाम् ॥

६—कालीदास का भारत पृ० १२० ।

७—प्राचीन भारत पृ० ७५ ।

८—सु० चि० २४.८ : भिल्लोटककषायेण तथैवामलकस्य वा ।
प्रक्षालयेन्मुखं नेत्रे स्वस्थः शीतोदकेन वा ॥
नीलिकां मुखशोषं च पिडकां व्यंगमेव च ।
रक्तपित्तकृतान् रोगान् सद्य एव विनाशयेत् ॥

९—ब० च० भा० ६ पृ० ३२१० ।

१००. पद्म-केसर (पउमगाणि ^ख) :

अगस्त्य चूर्णि[1] के अनुसार 'पद्मक' का अर्थ 'पद्म-केसर' अथवा कुंकुम, टीकाकार[2] के अनुसार उसका अर्थ कुंकुम और केसर तथा जिनदास चूर्णि[3] के अनुसार कुंकुम है। सर मोनियर-मोनियर विलियम्स ने भी इसका अर्थ एक विशेष सुगन्धित द्रव्य किया है[4]।

'पद्मक' का प्रयोग महाभारत में मिलता है—तुलाधार ने जाजलि से कहा—"मैंने दूसरों के द्वारा काटे गए काठ और घास-फूस से यह घर तैयार किया है। अलक्तक (वृक्ष-विशेष की छाल), पद्मक (पद्माख), तुङ्गकाष्ठ तथा चन्दनादि गन्ध-द्रव्य एवं अन्य छोटी-बड़ी वस्तुओं को मैं दूसरों से खरीद कर बेचता हूँ[5]।" सुश्रुत में भी इसका प्रयोग हुआ है—न्यग्रोधादि गण में कहे आम्र से लेकर नंदी वृक्ष पर्यन्त वृक्षों की त्वचा, शङ्ख, लाल चन्दन, मुलैहठी, कमल, गैरिक, अंजन (सुरमा), मंजीठ, कमलनाल, पद्माख—इनको बारीक पीसकर, दूध में घोलकर, शर्करा-मधु मिलाकर भली प्रकार छानकर ठण्डा करके जलन अनुभव करते रोगी को वस्ति दें[6]।

श्लोक ६४ :

१०१. नग्न (नगिणस्स ^क) :

चूर्णिद्वय में 'नगिण' का अर्थ नग्न किया है[7]। टीका में उसके दो प्रकार किए हैं—औपचारिक नग्न और निरुपचरित नग्न। जिनकल्पिक वस्त्र नहीं पहनते इसलिए वे निरुपचरित नग्न होते हैं। स्थविर-कल्पिक मुनि वस्त्र पहनते हैं किन्तु उनके वस्त्र अल्प मूल्य वाले होते हैं, इसलिए उन्हें कुचेलवान् या औपचारिक नग्न कहा जाता है[8]।

१०२. दीर्घ रोम और नख वाले (दीहरोमनहंसिणो ^ख) :

स्थविर-कल्पिक मुनि प्रमाणयुक्त नख रखते हैं जिससे अन्धकार में दूसरे साधुओं के शरीर में वे लग न जाएं। जिन-कल्पिक मुनि के नख दीर्घ होते हैं[9]। अगस्त्य चूर्णि से विदित होता है कि नखों के द्वारा नख काटे जाते हैं किन्तु उनके कोण भलीभाँति नहीं कटते इसलिए वे दीर्घ भी जाते हैं[10]।

१—अ० चू० पृ० १४७ : 'पउमं' पउमकेसरं कुंकुमं वा।

२—हा० टी० प० २०६ : 'पद्मकानि च' कुंकुमकेसराणि।

३—जि० चू० पृ० २३२ : पउमं कुंकुमं भण्णइ।

४—A Sanskrit English Dictionary. Page 584 : Padmaka—A Particular fragrant Substance.

५—महा० शा० अ० २६२, श्लोक ७ : परिच्छिन्नैः काष्ठतृणैर्मयेदं शरणं कृतम्।
अलक्तं पद्मकं तुङ्गं गन्धांश्चोच्चावचांस्तथा॥

६—सु० चिकित्सा० ३८.१४८ : आम्रादीनां त्वचं शङ्खं चन्दनामधुकोत्पलैः॥
गैरिकाञ्जनमञ्जिष्ठामृणालान्यथ पद्मकम्।
क्षीरमालोड्य तु पयसा शर्करामधुसंयुतम्॥

७—(क) अ० चू० पृ० १४० : 'णगिणो' णग्गो।
(ख) जि० चू० पृ० २३२ : णगिणो—णग्गो भण्णइ।

८—हा० टी० प० २०६ : 'नग्नस्य वापि' कुचेलवतोऽप्युपचारनग्नस्य निरुपचरितनग्नस्य वा जिनकल्पिकस्येति [illegible]

९—हा० टी० प० २०६ : 'दीर्घरोमनखवतः' [illegible] जिनकल्पिकस्य, इतरस्य तु प्रमाणयुक्ता [illegible]

१०—अ० चू० पृ० १४० : [illegible]

श्लोक ६७ :

१०३. अमोहदर्शी (अमोहदंसिणो ^क) :

मोह का अर्थ विपरीत है। अमोह इसका प्रतिपक्ष है। जिसका दर्शन अविपरीत है उसे अमोहदर्शी कहते हैं[1]।

१०४ शरीर को (अप्पाणं ^क) :

'आत्मा' शब्द शरीर और जीव—इन दोनों अर्थों में व्यवहृत होता है। मृत शरीर के लिए कहा जाता है कि इसका आत्मा चला गया—आत्मा शब्द का यह प्रयोग जीव के अर्थ में है। यह कृशात्मा है, स्थूलात्मा है—आत्मा शब्द का यह प्रयोग शरीर के अर्थ में है। प्रस्तुत श्लोक में आत्मा शब्द शरीर के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। शरीर अनेक प्रकार के होते हैं। यहाँ कार्मण शरीर का अधिकार है। कार्मण शरीर—सूक्ष्म शरीर को क्षय करने के लिए तप किया गया है तब औदारिक शरीर—स्थूल शरीर स्वयं कृश हो जाता है अथवा औदारिक शरीर को तप के द्वारा कृश किया जाता है तब कार्मण शरीर स्वयं कृश हो जाता है[2]।

श्लोक ६८ :

१०५. आत्म-विद्यायुक्त (सविज्जविज्जाणुगया ^ख) :

'स्वविद्या' का अर्थ अध्यात्म-विद्या है। 'स्वविद्या' ही विद्या है, उससे जो अनुगत—युक्त है उसे 'स्वविद्याविद्यानुगत' कहते हैं[3]। यह अगस्त्य चूर्णि की व्याख्या है। जिनदास महत्तर विद्या शब्द के पुनः प्रयोग को लौकिक-विद्या का प्रतिषेध करने के लिए ग्रहण किया हुआ बतलाते हैं[4]। टीकाकार ने 'स्वविद्या' को केवल ज्ञान या श्रुत-ज्ञान रूप माना है[5]।

१०६ शरद् ऋतु के (उउप्पसन्ने ^ग) :

सब ऋतुओं में अधिक प्रसन्न ऋतु शरद् है। इसलिए उसे 'ऋतु प्रसन्न' कहा गया है। इसका दूसरा अर्थ—प्रसन्न-ऋतु भी किया जा सकता है[6]।

१०७ चन्द्रमा (चंदिमा ^ग) :

चूर्णि और टीका में 'चंदिमा' का अर्थ 'चन्द्र' किया है[7]। प्राकृत व्याकरण के अनुसार 'चंदिमा' का संस्कृत रूप चन्द्रिका होता है[8]।

१—(क) अ० चू० पृ० १५७ : मोहं विवरीयं, ण मोहं अमोहं पस्सति अमोहदंसिणो।
(ख) जि० चू० पृ० २३३ : अमोहं पासतित्ति अमोहदंसिणो सम्मदिट्ठी ··· ।

२—(क) अ० चू० पृ० १५७ : 'अप्पाण' अप्पा इति एस सद्दो जीवे सरीरे य दिट्ठपयोगो, जीवे जधा मतसरीरं भण्णति—गतो सो अप्पा अस्सिम सरीरं, सरीरे—थूलप्पा किसप्पा, इह पुण त खविज्जति, त्ति अप्पवयणं सरीरे ओरालियसरीरलक्खणेण कम्मणं वा सरीरलक्खणमिति, उभयेणाधिकारो।
(ख) जि० चू० पृ० २३३ : आह—किं ताव अप्पाणं खवेंति उदाहु सरीरंति ?, आयरिओ भणइ—अप्पसद्दो दोहिवि दीसइ—सरीरे जीवे य, तत्थ सरीरे ताव जहा एसो संतो दीसई मा णं हिंसहिसि, जीवे जहा गओ सो जीवो अस्सेयं सरीरं, तेण *अजितं खवेंति अप्पाणमिति, तत्थ सरीरे ओरालिए कम्मए य, तत्थ कम्मएण अहिगारो, तस्स य तवसा कए ओरालमवि* ओरालियमवि खिज्जइ।

३—अ० चू० पृ० १५८ : सविज्जविज्जाणुगता 'स्व' इति अप्पा, 'विज्जा' विन्नाणं, आत्मनि विद्या सविज्जा अज्झप्पविज्जा, विज्जागणातो सेसिज्जति, अज्झप्पविज्जा जा विज्जा ताए अणुगता सविज्जविज्जाणुगता।

४—जि० चू० पृ० २३४ : बीय विज्जागहण लोइयविज्जापडिसेहणत्थं कत।

५—हा० टी० प० २०७ : स्वविद्या—परलोकोपकारिणी केवलश्रुतरूपा।

६—अ० चू० पृ० १५८ : उडू छ, तेसु पसन्नो उडुप्पसण्णो, सो पुण सरदो, अहवा उडू एव पसण्णो।

७—(क) अ० चू० पृ० १५८ : चन्द्रमा चन्द्र इत्यर्थः।
(ख) जि० चू० पृ० २३४ : जहा सरए चंदिमा विसेसेण निम्मलो भवति।
(ग) हा० टी० प० २०७ : चन्द्रमा इव विमलाः।

८—हैम० ८.१.१८५ : चन्द्रिकायां मः।

१०८. सौधर्मावतंसक आदि विमानों को (विमाणाइ घ) :

वैमानिक देवों के निवास-स्थान 'विमान' कहलाते हैं[1]। सम्यग्-ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना करने वाले उनका अनुत्तर विमान तक चले जाते हैं[2]।

[illegible]

[illegible]

सत्तमं अज्झयणं

वक्कसुद्धि

सप्तम अध्ययन

वाक्यशुद्धि

आमुख

आचार का निरूपण उसी को करना चाहिए जिसे वाक्य-शुद्धि का विवेक मिला हो। मौन गुप्ति है, वाणी का प्रयोग समिति। गुप्ति का लाभ अकेले साधक को मिलता है, समिति का लाभ वक्ता और श्रोता—दोनों को मिलता है। वाणी का वही प्रयोग समिति है जो सावद्य और अनवद्य के विवेक से सम्वलित हो। जिसे सावद्य-अनवद्य का विवेक न हो उसे बोलना भी उचित नहीं फिर उपदेश देने की बात तो बहुत दूर है[1]।

प्रस्तुत अध्ययन में असत्य और सत्यामृषा भाषा के प्रयोग का निषेध किया गया है[2], क्योंकि भाषा के ये दोनों प्रकार सावद्य ही होते हैं। सत्य और असत्यामृषा (व्यवहार-भाषा) के प्रयोग का निषेध भी है[3] और विधान भी है[4]। सत्य और व्यवहार-भाषा सावद्य और निरवद्य दोनों प्रकार की होती है। वस्तु के यथार्थ रूप का स्पर्श करने वाली भाषा सत्य हो सकती है किन्तु वह वक्तव्य हो भी सकती है और नहीं भी। जिससे कर्म-परमाणु का प्रवाह आए वह जीव-उपघातक-भाषा सत्य होने पर भी अवक्तव्य है[5]। इस प्रकार निर्ग्रन्थ के लिए क्या वक्तव्य और क्या अवक्तव्य—इसका प्रस्तुत अध्ययन में बहुत सूक्ष्म विवेचन है। अहिंसा की दृष्टि से यह बहुत ही मननीय है। दशवैकालिक सूत्र अहिंसा का आचार-दर्शन है। वाणी का प्रयोग आचार का प्रमुख अंग है। अहिंसक को बोलने से पहले और बोलते समय कितनी सूक्ष्म बुद्धि से काम लेना चाहिए, यह अध्ययन उसका निदर्शन है। भाषा के प्रकारों का वर्णन यहाँ नहीं किया गया है। उसके लिए प्रज्ञापना (पद ११) और स्थानाङ्ग (स्था० १०) द्रष्टव्य हैं।

वाक्य-शुद्धि से संयम की शुद्धि होती है। अहिंसात्मक वाणी भाव-शुद्धि का निमित्त बनती है। अतः वाक्य-शुद्धि का विवेक देने के लिए स्वतन्त्र अध्ययन रचा गया है[6]। प्रस्तुत अध्ययन सत्य-प्रवाद (छट्ठे) पूर्व से उद्धृत किया गया है[7]। निर्युक्तिकार ने मौन और भाषण दोनों को कसौटी पर कसा है। भाषा-विवेकहीन मौन का कोई विशेष मूल्य नहीं है। भाषा-विवेक-सम्पन्न व्यक्ति दिन-भर बोलकर भी मौन की आराधना कर लेता है। इसलिए पहले बुद्धि से विमर्श करना चाहिए फिर बोलना चाहिए। आचार्य ने कहा—शिष्य ! तेरी वाणी बुद्धि का वैसे अनुगमन करे जैसे अन्धा आदमी अपने नेता (ले जाने वाले) का अनुगमन करता है[8]।

१—हा० टी० प० २०७ : "सावज्जणवज्जाणं, वयणाणं जो न याणइ विसेसं।
वोत्तुं पि तस्स न खमं, किमंग पुण देसणं काउं॥"

२—दश० ७.१,२।

३—वही, ७.२।

४—वही, ७.३।

५—वही, ७.११-१३।

६—दश० नि० २८८ : जं वक्कं वयमाणस्स संजमो सुज्झई न पुण हिंसा।
न य अत्तकलुसभावो तेण इहं वक्कसुद्धित्ति॥

७—वही, १७ : सच्चप्पवायपुव्वा निज्जूढा होइ वक्कसुद्धी उ।

८—वही, २९०-२९२ : वयणविभत्तिअकुसलो वओगयं बहुविहं अयाणंतो।
जइवि न भासइ किंची न चेव वयगुत्तयं पत्तो॥
वयणविभत्तीकुसलो वओगयं बहुविहं वियाणंतो।
दिवसंपि भासमाणो तहावि वयगुत्तयं पत्तो॥
पुव्विं बुद्धीए पेहित्ता पच्छा वयमुयाहरे।
अचक्खुओ व नेतारं बुद्धिमन्नेउ ते गिरा॥

सत्तमं अज्झयणं : सप्तम अध्ययन

वक्कसुद्धि : वाक्यशुद्धि

मूल

१—चउण्हं खलु भासाणं
परिसंखाय पन्नवं।
दोण्हं तु विणयं सिक्खे
दो न भासेज्ज सव्वसो ॥

२—जा य सच्चा अवत्तव्वा
सच्चामोसा य जा मुसा।
जा य बुद्धेहिऽणाइन्ना
न तं भासेज्ज पन्नवं ॥

३—असच्चमोसं सच्चं च
अणवज्जमकक्कसं।
समुप्पेहमसंदिद्धं
गिरं भासेज्ज पन्नवं ॥

४—एयं च अट्ठमन्नं वा
जं तु नामेइ सासयं।
स भासं सच्चमोसं पि
तं पि धीरो विवज्जए ॥

५—वितहं पि तहामुत्तिं
जं गिरं भासए नरो।
तम्हा सो पुट्ठो पावेणं
किं पुण जो मुसं वए ॥

६—तम्हा गच्छामो वक्खामो
अमुगं वा णे भविस्सई।
अहं वा णं करिस्सामि
एसो वा णं करिस्सई ॥

संस्कृत छाया

चतसृणां खलु भाषाणां,
परिसंख्याय प्रज्ञावान्।
द्वाभ्यां तु विनयं शिक्षेत,
द्वे न भाषेत सर्वशः ॥१॥

या च सत्या अवक्तव्या,
सत्यामृषा च या मृषा।
या च बुद्धैरनाचीर्णा,
न तां भाषेत प्रज्ञावान् ॥२॥

असत्यामृषां सत्यां च,
अनवद्यामकर्कशाम्।
समुत्प्रेक्षां (क्ष्य) असंदिग्धां,
गिरं भाषेत प्रज्ञावान् ॥३॥

एत चार्थमन्यं वा,
यस्तु नामयति स्वाशयम्।
स भाषां सत्यामृषा अपि,
तामपि धीरो विवर्जयेत् ॥४॥

वितथामपि तथा-मूर्ति,
यां गिरं भाषते नरः।
तस्मात्स स्पृष्ट: पापेन,
किं पुनर्यो मृषा वदेत् ॥५॥

तस्माद् गच्छाम वक्ष्याम,
अमुकं वा नो भविष्यति।
अहं वा इदं करिष्यामि,
एष वा इदं करिष्यति ॥६॥

हिन्दी अनुवाद

१—प्रज्ञावान् मुनि चारों भाषाओं को जानकर दो के द्वारा विनय (शुद्ध प्रयोग)[1] सीखे और दो सर्वथा न बोले।

२—जो अवक्तव्य-सत्य[2], सत्यमृषा (मिश्र) मृषा और असत्यामृषा (व्यवहार) भाषा बुद्धों के द्वारा अनाचीर्ण हो[3] उसे प्रज्ञावान् मुनि न बोले।

३—प्रज्ञावान् मुनि असत्यामृषा (व्यवहार-भाषा) और सत्य-भाषा—जो अनवद्य, मृदु और सन्देह-रहित हो, उसे सोच-विचार कर बोले।

४—वह धीर पुरुष उस अनुज्ञात असत्यामृषा को भी[4] न बोले जो अपने आशय को 'यह[5] अर्थ है या दूसरा'[6]—इस प्रकार संदिग्ध बना देती हो।

५—जो पुरुष सत्य दीखने वाली असत्य वस्तु का आश्रय लेकर बोलता है (पुरुष-वेषधारी स्त्री को पुरुष कहता है) उससे भी वह पाप से स्पृष्ट होता है तो फिर उसका क्या कहना जो साक्षात् मृषा बोले?

६-७. इसलिए[10] 'हम जाएंगे'[11], 'कहेंगे', 'हमारा अमुक कार्य हो जाएगा', 'मैं यह करूंगा' अथवा 'यह (व्यक्ति) यह (कार्य) करेगा'—यह और इस प्रकार की

७—एवमाई उ जा भासा एसकालम्मि संकिया । संपयाईयमट्ठे वा तं पि धीरो विवज्जए ॥	एवमादिस्तु या भाषा, एष्यत् काले शङ्किता । साम्प्रतातीतार्थयोर्वा, तामपि धीरो विवर्जयेत् ॥७॥	दूसरी भाषा जो भविष्य-सम्बन्धी होने के कारण (सफलता की दृष्टि से) शंकित हो अथवा वर्तमान और अतीत काल-सम्बन्धी अर्थ के बारे में शंकित[12] हो, उसे भी धीर पुरुष न बोले ।
८—[13]अईयम्मि य कालम्मी पच्चुप्पन्नमणागए । जमट्ठं तु न जाणेज्जा एवमेयं ति नो वए ॥	अतीते च काले, प्रत्युत्पन्नाऽनागते । यमर्थं तु न जानीयात्, एवमेतदिति नो वदेत् ॥८॥	८—अतीत, वर्तमान और अनागत काल-सम्बन्धी जिस अर्थ को (सम्यक् प्रकार से) न जाने, उसे 'यह इस प्रकार ही है'—ऐसा न कहे ।
९—अईयम्मि य कालम्मी पच्चुप्पन्नमणागए । जत्थ संका भवे तं तु एवमेयं ति नो वए ॥	अतीते च काले, प्रत्युत्पन्नाऽनागते । यत्र शंका भवेत्तत्, एवमेतदिति नो वदेत् ॥९॥	९—अतीत, वर्तमान और अनागत काल-सम्बन्धी जिस अर्थ में शंका हो, उसे 'यह इस प्रकार ही है'—ऐसा न कहे ।
१०—[14]अईयम्मि य कालम्मी पच्चुप्पन्नमणागए । निस्संकियं भवे जं तु एवमेयं ति निद्दिसे ॥	अतीते च काले, प्रत्युत्पन्नाऽनागते । निरशङ्कितं भवेद्यत्तु, एवमेतदिति निर्दिशेत् ॥१०॥	१०—अतीत, वर्तमान और अनागत काल-सम्बन्धी जो अर्थ निःशंकित हो (उसके बारे में) 'यह इस प्रकार ही है'—ऐसा कहे ।
११—तहेव फरुसा भासा गुरुभूओवघाइणी । सच्चा वि सा न वत्तव्वा जओ पावस्स आगमो ॥	तथैव परुषा भाषा, गुरुभूतोपघातिनी । सत्याऽपि सा न वक्तव्या, यतः पापस्य आगमः ॥११॥	११—इसी प्रकार परुष[15] और महान् भूतोपघात करने वाली[16] सत्य भाषा भी न बोले, क्योंकि इससे पाप-कर्म का बंध होता[17] है ।
१२—तहेव काणं काणे त्ति पंडगं पंडगे त्ति वा । वाहियं वा वि रोगि त्ति तेणं चोरे त्ति नो वए ॥	तथैव काणं 'काण' इति, पण्डकं पण्डक इति वा । व्याधितं वाऽपि रोगीति, स्तेनं 'चोर'[18] इति नो वदेत् ॥१२॥	१२—इसी प्रकार काने को काना, नपुंसक को नपुंसक, रोगी को रोगी और चोर को चोर न कहे ।
१३—[illegible]	[illegible] ॥१३॥	१३—[illegible]

१४—"तहेव होले गोले त्ति साणे वा वसुले त्ति य। दमए दुहए वा वि नेवं भासेज्ज पन्नवं ॥	तथैव 'होल' 'गोल' इति, 'श्वा' वा 'वृषल' इति च। 'द्रमको' 'दुर्भग' इत्यपि, नैवं भाषेत प्रज्ञावान् ॥१४॥	१४—इसी प्रकार प्रज्ञावान् मुनि रे होल !, रे गोल !, ओ कुत्ता !, ओ वृषल!, ओ द्रमक !, ओ दुर्भग !—ऐसा न बोले।
१५—"अज्जिए पज्जिए वा वि अम्मो माउसिय त्ति य। पिउस्सिए भाइणेज्ज त्ति धूए नत्तुणिए त्ति य ॥	आर्यिके ! प्रार्यिके ! वाऽपि, अम्ब ! मातृष्वसः ! इति च। पितृष्वसः ! भागिनेयि ! इति, दुहितः ! नप्तृके ! इति च ॥१५॥	१५-१६-१७—हे आर्यिके! (हे दादी !, हे नानी !), हे प्रार्यिके ! (हे परदादी !, हे परनानी !), हे अम्ब ! (हे मा !), हे मौसी !, हे बुआ !, हे भानजी !, हे पुत्री !, हे पोती !, हे हले !, हे हला !, हे अन्ने !, हे भट्टे !, हे स्वामिनि !, हे गोमिनि !, हे होले !, हे गोले !, हे वृषले !—इस प्रकार स्त्रियों को आमंत्रित न करे। किन्तु (प्रयोजन वश) यथायोग्य गुण-दोष का विचार कर[१४] एक बार या बार-बार उन्हें उनके नाम या गोत्र से आमंत्रित करे।
१६—"हले हले त्ति अन्ने त्ति भट्टे सामिणि गोमिणि। होले गोले वसुले त्ति इत्थियं नेवमालवे ॥	हले ! हला ! इति 'अन्ने' इति, 'भट्टे !' स्वामिनि ! गोमिनि ! 'होले' ! गोले ! 'वृषले' ! इति, स्त्रियं नैवमालपेत् ॥१६॥	
१७—नामधिज्जेण णं बूया इत्थीगोत्तेण[१] वा पुणो। जहारिहमभिगिज्झ आलवेज्ज लवेज्ज वा ॥	नामधेयेन तां ब्रूयात्, स्त्री-गोत्रेण वा पुनः। यथार्हमभिगृह्य, आलपेत् लपेत् वा ॥१७॥	
१८—अज्जए पज्जए वा वि बप्पो चुल्लपिउ त्ति य। माउला भाइणेज्ज त्ति पुत्ते नत्तुणिय त्ति य ॥	आर्यक ! प्रार्यक ! वाऽपि, वप्तः ! क्षुल्लपितः ! इति च। मातुल ! भागिनेय ! इति, पुत्र ! नप्तः ! इति च ॥१८॥	१८-१९-२०—हे आर्यक !, (हे दादा!, हे नाना !), हे प्रार्यक !, (हे परदादा !, हे परनाना !), हे पिता !, हे चाचा !, हे मामा !, हे भानजा !, हे पुत्र !, हे पोता!, हे हल !, हे अन्न!, हे भट्ट !, हे स्वामिन्!, हे गोमिन् !, हे होल !, हे गोल !, हे वृषल !—इस प्रकार पुरुष को आमंत्रित न करे। किन्तु (प्रयोजनवश) यथायोग्य गुण-दोष का विचार कर एक बार या बार-बार उन्हें उनके नाम या गोत्र से आमंत्रित
१९—"हे हो हले त्ति अन्ने त्ति भट्टा सामिय गोमिए। होल गोल वसुले त्ति पुरिसं नेवमालवे ॥	हे ! भो ! हल ! इति 'अन्न !' इति, भट्ट ! स्वामिक ! गोमिक ! । 'होल !' 'गोल' 'वृषल !' इति पुरुषं नैवमालपेत् ॥१९॥	
२०—नामधेज्जेण णं बूया पुरिसगोत्तेण वा जहारिहमभिगिज्झ आलवेज्ज लवेज्ज		

२८—पीढए चंगबेरे य
नंगले मइयं सिया।
जंतलट्ठी व नाभी वा
गंडिया[14] व अलं सिया॥

पीठकाय चङ्गबेराय च,
लाङ्गलाय मयिकाय स्यात्।
यन्त्रयष्टये वा नाभये वा
गण्डिकायै वा अलं स्यात्॥२८॥

२९—आसणं सयणं जाणं
होज्जा वा किंचुवस्सए।
भूओवघाइणिं भासं
नेवं भासेज्ज पन्नवं॥

आसनं शयनं यानं,
भवेद्वा किञ्चिदुपाश्रये।
भूतोपघातिनीं भाषां
नैवं भाषेत प्रज्ञावान्॥२९॥

३०—तहेव गंतुमुज्जाणं
पव्वयाणि वणाणि य।
रुक्खा महल्ल पेहाए
एवं भासेज्ज पन्नवं॥

तथैव गत्वोद्यानं,
पर्वतान् वनानि च।
वृक्षान् महतः प्रेक्ष्य,
एवं भाषेत प्रज्ञावान्॥३०॥

३१—जाइमंता इमे रुक्खा
दीहवट्टा महालया।
पयायसाला विडिमा
वए दरिसणि त्ति य॥

जातिमन्त इमे वृक्षा,
दीर्घवृत्ता महान्तः।
प्रजातशाखा विटपिनः,
वदेद् दर्शनीया इति च॥३१॥

३२—तहा फलाइं पक्काइं
पायखज्जाइं नो वए।
वेलोइयाइं टालाइं
वेहिमाइ त्ति नो वए॥

तथा फलानि पक्वानि,
पाकखाद्यानि नो वदेत्।
वेलोचितानि टालानि,
वेध्यानि इति नो वदेत्॥३२॥

३३—[15]असंथडा इमे अंबा
बहुनिवट्टिमा[16]-फला।
वएज्ज बहुसंभूया
भूयरूव त्ति वा पुणो॥

असंस्तृता इमे आम्राः,
बहुनिर्वर्तित फलाः।
वदेद् बहुसम्भूता,
भूतरूपा इति वा पुनः॥३३॥

३४—तहेवोसहीओ पक्काओ
नीलियाओ छवीइय।
लाइमा भज्जिमाओ त्ति
पिहुखज्ज त्ति नो वए॥

तथैवौषधयः पक्वाः,
नीलिकाः छविमत्यः।
लवनीया भर्जनीया इति,
पृथुखाद्या इति नो वदेत्॥३४॥

३५—[11]रूढा बहुसंभूया
थिरा ऊसढा वि य ।
गब्भियाओ पसूयाओ
ससाराओ त्ति आलवे ॥

रूढा बहुसम्भूताः,
स्थिरा उच्छृता अपि च ।
गर्भिताः प्रसूताः,
ससारा इत्यालपेत् ॥३५॥

३५—(प्रयोजनवश बोलना हो तो) औषधियाँ अंकुरित हैं, निष्पन्न-प्राय: हैं, स्थिर हैं, ऊपर उठ गई हैं, भुट्टों से रहित हैं, भुट्टों से सहित हैं, धान्य-कण सहित हैं—इस प्रकार बोले ।

३६—तहेव संखडिं नच्चा
किच्चं कज्जं ति नो वए ।
तेणगं वा वि वज्झे त्ति
सुतित्थ त्ति य आवगा ॥

तथैव संस्कृतिं ज्ञात्वा,
कृत्यं कार्यमिति नो वदेत् ।
स्तेनकं वाऽपि वध्य इति,
सुतीर्था इति चापगाः ॥३६॥

३६-३७—इसी प्रकार संखडी (जीमनवार)[12] और कृत्य—मृतभोज को जानकर—ये करणीय हैं[13], चोर मारने योग्य है और नदी अच्छे घाट वाली है—इस प्रकार न कहे । (प्रयोजनवश कहना हो तो) संखडी को संखड़ी, चोर को पणितार्थ (धन के लिए जीवन की बाजी लगाने वाला)[14] और नदी के घाट प्रायः सम हैं—इस प्रकार कहा जा सकता है ।

३७—संखडिं संखडिं बूया
पणियट्ठ त्ति तेणगं ।
बहुसमाणि तित्थाणि
आवगाणं वियागरे ॥

संस्कृतिं संस्कृतिं ब्रूयात्,
पणितार्थ इति स्तेनकम् ।
बहुसमानि तीर्थानि,
आपगानां व्याकृणीयात् ॥३७॥

३८—तहा नईओ पुण्णाओ
कायतिज्ज त्ति नो वए ।
नावाहिं तारिमाओ त्ति
पाणिपेज्ज त्ति नो वए ॥

तथा नद्यः पूर्णाः,
कायतार्या इति नो वदेत् ।
नौभिस्तार्या इति,
प्राणिपेया इति नो वदेत् ॥३८॥

३८-३९—तथा नदियाँ भरी हुई हैं, शरीर के द्वारा पार करने योग्य हैं, नौका के द्वारा पार करने योग्य हैं और तट पर बैठे हुए प्राणी उनका जल पी सकते हैं, इस प्रकार न कहे । (प्रयोजनवश कहना हो तो) (नदियाँ) प्रायः भरी हुई हैं, [illegible] हैं, बहु-सलिला हैं, दूसरी नदियों के द्वारा जल का वेग बढ़ रहा है[15], बहुत विस्तीर्ण जल वाली है—प्रज्ञावान् भिक्षु इस प्रकार कहे ।

३९—बहुवाहडा अगाहा
बहुसलिलुप्पिलोदगा ।
बहुवित्थडोदगा यावि
एवं भासेज्ज पन्नवं ॥

बहुप्रभृता अगाधा,
बहुसलिलोत्पीडोदकाः ।
बहुविस्तृतोदकाश्चापि,
एवं भाषेत प्रज्ञावान् ॥३९॥

४०—[illegible]

[illegible]

४०—इसी प्रकार [illegible]

४१—[illegible]

[illegible]

४१—[illegible]

४२—पयत्तपक्के त्ति व पक्कमालवे
पयत्तछिन्न त्ति व छिन्नमालवे ।
पयत्तलट्ठ त्ति व कम्महेउयं
पहारगाढ त्ति व गाढमालवे ॥

प्रयत्नपक्वमिति वा पक्वमालपेत्,
प्रयत्नछिन्नमिति वा छिन्नमालपेत् ।
प्रयत्नलष्टमिति वा कर्महेतुकम्,
गाढप्रहारमिति वा गाढमालपेत् ॥४२॥

४३—सव्वुक्कसं परग्घं वा
अउलं नत्थि एरिसं ।
अचक्कियमवत्तव्वं
अचिंतं चेव नो वए ॥

सर्वोत्कर्षं परार्घं वा,
अतुलं नास्ति ईदृशम् ।
अशक्यमवक्तव्यम्,
अचिन्त्यं चैव नो वदेत् ॥४३॥

४४—सव्वमेयं वइस्सामि
सव्वमेयं ति नो वए ।
अणुवीइ सव्वं सव्वत्थ
एवं भासेज्ज पन्नवं ॥

सर्वमेतद् वदिष्यामि
सर्वमेतदिति नो वदेत् ।
अनुविचिन्त्य सर्वं सर्वत्र,
एवं भाषेत प्रज्ञावान् ॥४४॥

४५—सुक्कीयं वा सुविक्कीयं
अकेज्जं केज्जमेव वा ।
इमं गेण्ह इमं मुंच
पणियं नो वियागरे ॥

सुक्रीतं वा सुविक्रीतम्,
अक्रेयं क्रेयमेव वा ।
इदं गृहाण इदं मुञ्च,
पण्यं नो व्यागृणीयात् ॥४५॥

४६—अप्पग्घे वा महग्घे वा
कए वा विक्कए वि वा ।
पणियट्ठे समुप्पन्ने
अणवज्जं वियागरे ॥

अल्पार्घे वा महार्घे वा,
क्रये वा विक्रयेऽपि वा ।
पण्यार्थे समुत्पन्ने,
अनवद्यं व्यागृणीयात् ॥४६॥

४७—तहेवासंजयं धीरो
आस एहि करेहि वा ।
सय चिट्ठ वयाहि त्ति,
नेवं भासेज्ज पन्नवं ॥

तथैवासंयतं धीरः,
आस्व एहि कुरु वा ।
शेष्व तिष्ठ व्रज इति,
नैवं भाषेत प्रज्ञावान् ॥४७॥

४८—बहवे इमे असाहू
लोए वुच्चति साहुणो ।
न लवे असाहुं साहु त्ति
साहुं साहु त्ति आलवे ॥

बहव इमे असाधव,
लोके उच्यन्ते साधवः ।
न लपेदसाधुं साधुरिति,
साधुं साधुरित्यालपेत् ॥४८॥

५६—भासाए दोसे य गुणे य जाणिया
तीसे य दुट्ठे परिवज्जए सया।
छसु संजए सामणिए सया जए
वएज्ज बुद्धे हियमाणुलोमियं॥

भाषाया दोषांश्च गुणांश्च ज्ञात्वा,
तस्याश्च दुष्टाया परिवर्जकः सदा।
षट्सु संयतः श्रामण्ये सदा यतः,
वदेद् बुद्धः हितमानुलोमिकीम्॥५६॥

५६—भाषा के दोषों और गुणों को जानकर दोषपूर्ण भाषा को सदा वर्जने वाला, छह जीवकाय के प्रति संयत, श्रामण्य में सदा सावधान रहने वाला प्रबुद्ध भिक्षु हित और आनुलोमिक वचन बोले।

५७—परिक्खभासी सुसमाहिइंदिए
चउक्कसायावगए अणिस्सिए।
स निद्धुणे धुन्नमलं पुरेकडं
आराहए लोगमिणं तहा परं॥

परीक्ष्यभाषी सुसमाहितेन्द्रियः,
अपगतचतुष्कषायः अनिश्रितः।
स निर्धूय धुन्नमलं पुराकृतं,
आराधयेल्लोकमिमं तथा परम्॥५७॥

५७—गुण-दोष को परख कर बोलने वाला[८९], सुसमाहित-इन्द्रिय वाला, चार कषायों से रहित, अनिश्रित (तटस्थ) भिक्षु पूर्वकृत पाप-मल[९०] को नष्ट कर वर्तमान तथा भावी लोक की आराधना करता है।

—त्ति बेमि॥

इति ब्रवीमि

ऐसा मैं कहता हूँ।

'सासय' का संस्कृत रूप 'शाश्वतं' भी होता है। मोक्ष के लिए 'सासयं ठाणं' शब्द व्यवहृत होता है, जब कि स्त्राशय यहाँ स्वतंत्र रहकर भी अपना पूर्ण अर्थ देता है। असत्यामृषा (व्यवहार) भाषा के बारह प्रकार हैं उनमें दसवाँ प्रकार है—'संशयकरणी'[1]। जो भाषा अनेकार्थवाचक होने के कारण श्रोता को संशय में डाल दे उसे संशयकरणी कहा जाता है। जैसे—किसी ने कहा—"सैन्धव लाओ।" सैन्धव का अर्थ—नमक और सिन्धु देश का घोड़ा, पुरुष और वस्त्र होता है[2]। श्रोता संशय में पड़ जाता है। वक्ता अपने सहजभाव से अनेकार्थवाचक शब्द का प्रयोग करता है। वह संशयकरणी व्यवहार-भाषा अनाचीर्ण नहीं है, किन्तु आशय को छिपाकर दूसरों को भ्रम में डालने के लिए अनेकार्थ शब्द का प्रयोग (जैसे—अश्वत्थामा हत) किया जाए वह संशयकरणी व्यवहार-भाषा अनाचीर्ण है अथवा जो शब्द सामान्यतः संदिग्ध हों—सन्देह-उत्पादक हों उनका प्रयोग भी अनाचीर्ण है।

टीकाकार ने चौथे श्लोक में सत्यासत्य[3], सावद्य एवं कर्कश सत्य और पाँचवें में असत्य[4] का निषेध बतलाया है, किन्तु वह आवश्यक नहीं लगता। वे सर्वथा त्याज्य हैं, इसलिए उनके पुनर् निषेध की कोई आवश्यकता नहीं जान पड़ती। असत्य-भाषा सावद्य ही होती है इसलिए सावद्य आदि विशेषणयुक्त असत्य के निषेध का कोई अर्थ नहीं होता।

५. उस अनुज्ञात असत्यामृषा को भी (स भासं सच्चमोसं पि [ग] सं पि [घ]) :

अगस्त्यसिंह स्थविर इस श्लोक में सत्य और असत्यामृषा का प्रतिषेध बतलाते हैं[5]। जिनदास महत्तर असत्यामृषा का प्रतिषेध बतलाते हैं[6] और टीकाकार सत्य तथा सत्य-मृषा का निषेध बतलाते हैं[7]।

हमारी धारणा के अनुसार ये दोनों श्लोक तीसरे श्लोक के 'असंदिग्ध' शब्द से सम्बन्धित होने चाहिए—वह व्यवहार और सत्य-भाषा अनाचीर्ण है जो संदिग्ध हो। अगस्त्य चूर्णि के आधार पर इसका अनुवाद यह होगा—यह (सावद्य और कर्कश) अर्थ या इसी प्रकार का दूसरा (सक्रिय, आस्नवकर और छेदनकर आदि) अर्थ जो शाश्वत मोक्ष को भग्न करे, उस असत्यामृषा-भाषा और सत्य-भाषा का भी धीर पुरुष प्रयोग न करे।

६. यह (एयं [क]) :

दोनों चूर्णिकार और टीकाकार 'एय' शब्द से सावद्य और कर्कश वचन का निर्देश करते हैं[8]।

७. दूसरा (अन्नं [क]) :

अगस्त्यसिंह स्थविर अन्य शब्द के द्वारा सक्रिय, आस्नवकर और छेदनकर आदि का ग्रहण करते हैं[9]। इसकी तुलना आयारचूला (४।१०) से होती है। वहाँ भाषा के चार प्रकारों का निरूपण करने के पश्चात् बतलाया है कि मुनि सावद्य, सक्रिय, कर्कश, कटुक,

---

१—पन्न० भा० ११ सू० १६५।

२—दश० नि० गाथा २७७; हा० टी० प० २१०; संशयकरणी च भाषा—अनेकार्थसाधारणा योच्यते सैन्धवमित्यादिवत्।

३—हा० टी० प० २१३ : साम्प्रतं सत्यासत्यामृषाप्रतिषेधार्थमाह।

४—हा० टी० प० २१४ : साम्प्रतं मृषाभाषासंरक्षणार्थमाह।

५—अ० चू० पृ० १६५ : सा पुण साधुणो अब्भणुण्णतात्ति सच्चा, ' असच्चामोसा मपि तं पढममब्भणुण्णतामवि।

६—जि० चू० पृ० २४५-२४६ : स भिक्खू ण केवलं जाओ पुव्वभणियाओ सावज्जभासाओ वज्जेज्जा, किन्तु जावि असच्चमोसा भासा तमवि धीरो विविहं अणेगप्पगारं वज्जए विवज्जएत्ति।

७—हा० टी० प० २१३ : 'स' साधुः पूर्वोक्तभाषाभाषकत्वेनाधिकृतो भाषां 'सत्यामृषामपि' पूर्वोक्ताम्, अपिशब्दात्सत्यापि या तथाभूता तामपि 'धीरो' बुद्धिमान् 'विवर्जयेत्' न ब्रूयादिति भावः।

८—(क) अ० चू० पृ० १६५ : एतमितिसावज्जं कक्कसं च।

(ख) जि० चू० पृ० २४५ : एयं सावज्जं कक्कसं च।

(ग) हा० टी० प० २१३ : 'एतं चार्थम्' अनन्तरप्रतिषिद्धं सावद्यकर्कशविषयम्।

९—अ० चू० पृ० १६५ : अण्णं सकिरियं अण्हयकरी छेदनकरी एवमादि।

११. हम जायेंगे (गच्छामो [क]) :

यहाँ 'वर्तमान सामीप्ये वर्तमानवद्वा'[१] इस सूत्र के अनुसार निकट भविष्य के अर्थ में वर्तमान विभक्ति है।

श्लोक ७ :

१२. वर्तमान और अतीत काल-संबन्धी अर्थ के बारे में शंकित (संपयाईयमट्ठे [ग]) :

[illegible] की दृष्टि से शंकित भाषा के तीन प्रकार होते हैं :

(१) भविष्यत्कालीन (२) वर्तमानकालीन और (३) अतीतकालीन। भविष्यकालीन शंकित भाषा के उदाहरण छट्ठे श्लोक [illegible] है। निश्चित जानकारी के अभाव में—अमुक वस्तु अमुक की है—इस प्रकार कहना वर्तमानकालीन शंकित भाषा है।

टीकाकार के अनुसार—स्त्री या पुरुष है—ऐसा निश्चय न होने पर किसी को स्त्री या पुरुष कहना वर्तमान शंकित भाषा है। [illegible] देखा या गाय, उसकी ठीक स्मृति न होते हुए भी ऐसा कहे कि मैंने गाय देखी थी—यह अतीतकालीन शंकित भाषा है[२]।

श्लोक ८-९ :

१३. श्लोक ८-१० :

दोनों चूर्णियों में आठवें, नवें और दसवें श्लोक के स्थान पर दो ही श्लोक हैं और रचना-दृष्टि से वे इनसे भिन्न हैं। [illegible] की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं जान पड़ता किन्तु शब्द-संकलन की दृष्टि से चूर्णि में व्याख्यात श्लोक गम्भीर है।

टीकाकार ने चूर्णि से भिन्न परम्परा के आदर्शों का अनुसरण किया है। अगस्त्य चूर्णिगत श्लोक और उनका अनुवाद इस प्रकार है :

तहेवाणागतं अट्ठं जं वण्णऽणुवधारितं।
संकितं पडुपण्णं वा एवमेयं ति णो वदे ॥८॥
तहेवाणागतं अट्ठं जं होति उवधारितं।
नीसंकितं पडुप्पण्णं वायवावाए णिद्दिसे ॥९॥

अनुवाद

[illegible] मुनि भविष्य और अतीत के अज्ञात तथा वर्तमान के सन्दिग्ध अर्थ के बारे में यह इस प्रकार ही है—ऐसा [illegible]

[illegible] मुनि भविष्य और अतीत के सुज्ञात तथा वर्तमान के निश्चित अर्थ को हृदय में सम्यक् प्रकार से [illegible] [illegible]।

[illegible] निश्चयपूर्ण शब्दों में कहने का निषेध किया है [illegible] निश्चित जानकारी के अभाव में या संदिग्ध [illegible] किया है। अगस्त्य चूर्णि में 'पडुप्पन्न' का अर्थ [illegible] [illegible] अर्थ है[४]। [illegible] अतीत में हुए हैं[५]। [illegible]

१ [illegible]
२ [illegible]
३ [illegible]
४ [illegible]
५ [illegible]

उप(अव)धारित का अर्थ वस्तु की सामान्य जानकारी (उपलब्धिमात्र) और निःशङ्कित का अर्थ वस्तु की विशिष्ट जानकारी (सर्वोपलब्धि) है[1]।

अतीत और अनागत के साथ उपधारित और वर्तमान के साथ निःशङ्कित का प्रयोग किया है यह सापेक्ष है। वर्तमान की जितनी पूर्ण जानकारी हो सकती है उतनी अतीत और भविष्य की नहीं हो सकती।

सामान्य बात यही है कि दोनों काल के अनवधारित और शङ्कित अर्थ के बारे में 'यह इसी प्रकार है' इस प्रकार नहीं कहना चाहिये किन्तु 'मैं नहीं जानता' इस प्रकार कहना चाहिए। मिथ्या वचन और विवाद से बचने का यह उत्तम उपाय है।

जिनदास चूर्णि (पृ० २४८) में ये श्लोक इस प्रकार हैं

तं तहेव अईयंमि, कालंमिऽणवधारियं।
जं चण्णं संकियं यावि, एवमेयंति नो वए॥
तहेवाणागयं अत्थं, जं होइ उवहारियं।
निस्संकियं पडुप्पन्ने, एवमेयंति निद्दिसे॥

अनुवाद

इसी प्रकार अतीत काल के अनिश्चित अर्थ तथा अन्य (वर्तमान तथा भविष्य) के शङ्कित अर्थ के विषय में यह ऐसे ही है—इस प्रकार न कहे।

इसी प्रकार भविष्यकाल तथा वर्तमान और अतीत के निश्चित अर्थ के बारे में यह ऐसे ही है—इस प्रकार न कहे।

श्लोक १० :

१४ श्लोक १० :

छट्ठे श्लोक से नवें श्लोक तक निश्चयात्मक भाषा बोलने का निषेध किया है और इस श्लोक में उसके बोलने का विधान है। निश्चयात्मक भाषा बोलनी ही नहीं चाहिए, ऐसा जैन दृष्टिकोण नहीं है, किन्तु जैन दृष्टिकोण यह है कि जिस विषय के बारे में वक्ता को सन्देह हो या जिस कार्य का होना सदिग्ध हो उसके बारे में निश्चयात्मक भाषा नहीं बोलनी चाहिए—ऐसा करूँगा, ऐसा होगा, इस प्रकार नहीं कहना चाहिए। 'किन्तु मेरी कल्पना है कि मैं ऐसा करूँगा,' 'सभव है कि यह इस प्रकार होगा'—यों कहना चाहिए। स्याद्वाद को जो लोग सन्देहवाद कहते हैं और जो कहते हैं कि जैन लोग निश्चयात्मक भाषा में बोलते ही नहीं उनके लिए यह श्लोक सहज प्रतिवाद है।

श्लोक ११ :

१५. परुष (फरसा [क]) :

जिनदास और हरिभद्र ने 'परुष' का अर्थ स्नेह-वर्जित—रूखा किया है[2]। शीलाङ्कसूरि के अनुसार इसका अर्थ मर्म का प्रकाशन करने वाली वाणी है[3]।

१६. महान् भूतोपघात करने वाली (गुरुभूओवघाइणी [ख]) :

आयारचूला ४।१० में केवल 'भूओवघाइय' शब्द का प्रयोग मिलता है। यहाँ 'गुरु' शब्द का प्रयोग सभवतः पद-रचना की दृष्टि से हुआ है। 'गुरु' शब्द भूत का विशेषण हो तो अर्थ का विरोध आता है। छोटे या बड़े किसी भी जीव की घात करने वाली भाषा मुनि के लिए अवाच्य है। इसलिए यह भूतोपघातिनी का विशेषण होना चाहिए। जिस भाषा के प्रयोग से महान् भूतोपघात हो उसे गुरु-भूतोपघातिनी भाषा कहा जा सकता है[4]।

१—अ० चू० पृ० १६७ : उवधारियं वत्थुमत्तं, नीसंकितं सव्वपगारं।

२—(क) जि० चू० पृ० २४६ : 'फरसा' णाम णेहवज्जिया।

(ख) हा० टी० प० २१५ : 'परुषा भाषा' निष्ठुरा भावस्नेहरहिता।

३—आ० चू० ४।१० वृ० : 'परुषा' मर्मोद्घाटनपराम्।

४—जि० चू० पृ० २४६ : जीए भासाए भासियाए गुरुओ भूयाणुवघाओ भवइ।

अगस्त्य चूर्णि में 'गुरु-भूतोपघातिनी' के तीन अर्थ किए गए हैं : (१) वृद्ध आदि गुरुजन या सब जीवों को उपतप्त करने वाली (२) गुरु अर्थात् बड़े व्यक्तियों का उपघात करने वाली, जैसे—कोई विदेशागत व्यक्ति है। वह अपने को कुल-पुत्र या ब्राह्मण बतलाता है, उसे दास आदि कहना उसके उपघात का हेतु बनता है। (३) गुरु अर्थात् बड़ी भूतोपघात करने वाली, जैसे—कोई ऐसी बात कहना जिससे [illegible] हो जाए, अन्तःपुर आदि को मार डाले[1]।

यहाँ उपघात के प्राणिवध, पीड़ा और अभ्याख्यान—ये तीन अर्थ हो सकते हैं[2]।

प्रस्तुत श्लोक में स्नेह-रहित, पीड़ा और प्राणिवधकारक तथा अभ्याख्यानात्मक सत्य वचन बोलने का निषेध है।

श्लोक १३ :

१७. आचार-सम्बन्धी भाव-दोष को जानने वाला (आयारभावदोसन्नू [ग]) :

जिनदास चूर्णि और टीका में 'आचार' का कोई अर्थ नहीं किया गया है। अगस्त्यसिंह स्थविर ने 'आयार' का अर्थ—[illegible] किया है। भाव-दोष का अर्थ प्रदुष्ट चित्त है। काना किसी व्यक्ति का नाम हो उसे काना कहने में दोष नहीं है, किन्तु [illegible] से काने व्यक्ति को काना नहीं कहना चाहिए।

भाव दोष का दूसरा अर्थ प्रमाद है। प्रमादवश किसी को काना नहीं कहना चाहिए[3]।

श्लोक १४ :

१८. श्लोक १४ :

होल, गोल आदि शब्द भिन्न-भिन्न देशों में प्रयुक्त होने वाले तुच्छता, कुचेष्टा, विग्रह, परिभव, दीनता और अनिष्टता के [illegible] हैं[4]। इन शब्दों में ये अवज्ञा-सूचक शब्द हैं। होल—निष्ठुर आमंत्रण। गोल—जारपुत्र। श्वान—कुत्ता। वृषल—शूद्र। द्रमक—[illegible] दुर्भग—[illegible][5]।

तुलना के लिए देखिए आचारचूला ४।१२ तथा 'होलावायं सहीवायं, गोयावायं च नो वदे' (सूत्रकृताङ्ग १.९.२७)।

श्लोक १५ :

१९. श्लोक १५ :

इन शब्दों का प्रयोग करने से स्नेह उत्पन्न होता है। 'यह श्रमण अभी भी लोक-संज्ञा को नहीं छोड़ रहा है, यह चाटुकारी है' [illegible] लोग अनुमान करते हैं, इसलिए इसका निषेध किया गया है[6]।

---

1. अ० चू० पृ० १६७ : [illegible] गुरुन [illegible] वा उवघातिनी, अहवा गुरूणि जाणि भूताणि महंति, [illegible] दासादि वदति ततो से उवघातो भवति गुरुं वा भूतोवघातं जा [illegible]।
2. [illegible] : [illegible] उवघातो—प्राणिवधो निश्चितम्—आश्रितम्, इत्यर्थः।
   [illegible] पीड़ा अभ्याख्यानं वा।
   [illegible] अभ्याख्यानम्।
3. [illegible] प्रमाद [illegible]।
4. [illegible]
5. [illegible]
6. [illegible]

श्लोक १६ :

२०. श्लोक १६ :

अगस्त्य चूर्णि के अनुसार 'हले' और 'अन्ने' तरुणी स्त्री के लिए सम्बोधन-शब्द हैं । इनका प्रयोग महाराष्ट्र में होता था । लाट (मध्य और दक्षिणी गुजरात) देश में उसके लिए 'हला' शब्द का प्रयोग हुआ करता था । 'भट्टे' पुत्र-रहित स्त्री के लिए प्रयुक्त होता था । 'सामिणी' यह लाट देश में प्रयुक्त होने वाला सम्मान-सूचक सम्बोधन शब्द है और 'गोमिणी' प्राय सब देशों में प्रयुक्त होता था । होले, गोले और वसुले - ये तीनों प्रिय वचन वाले आमंत्रण हैं, जो कि गोल्ल देश में प्रयुक्त होते थे[1] ।

जिनदास के अनुसार 'हले' आमंत्रण का प्रयोग वरदा-तट में होता था, और 'हला' का प्रयोग लाट देश में । 'अन्ने' का प्रयोग महाराष्ट्र में वेश्याओं के लिए होता था । 'भट्टे' का प्रयोग लाट देश में ननद के लिए होता था । 'सामिणी' और 'गोमिणी'—ये चाटुता के आमन्त्रण हैं । होले, गोले और वसुले —ये तीनों मधुर आमंत्रण हैं ।[2]

श्लोक १७ :

२१ (नामधिज्जेण ... गोत्तेण) :

प्राचीन काल में व्यक्ति के दो नाम होते थे—गोत्र-नाम और व्यक्तिगत-नाम । व्यक्ति को इन दोनों नामों से सम्बोधित किया जाता था । जैसे—भगवान् महावीर के ज्येष्ठ शिष्य का नाम इन्द्रभूति था और वे आगमों में गौतम—इस गोत्रज नाम से प्रसिद्ध हैं ।

पाणिनी ने गोत्र का अर्थ -पौत्र आदि अपत्य किया है[3] । यशस्वी और प्रसिद्ध पुरुष के परंपर-वंशज गोत्र कहलाते थे । स्थानाङ्ग में काश्यप, गौतम, वत्स, कुत्स, कौशिक, मण्डव, वाशिष्ट—ये सात गोत्र बतलाये हैं[4] ।

वैदिक साहित्य में गोत्र शब्द व्यक्ति-विशेष या रक्त-सम्बन्ध से सबद्ध जन-समूह के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है[5] ।

बौधायन श्रौतसूत्र के अनुसार विश्वामित्र, जमदग्नि, भारद्वाज, गौतम, अत्रि, वशिष्ठ और कश्यप—ये सात गोत्र-कर्ता ऋषि हैं तथा आठवाँ गोत्र-कर्ता ऋषि अगस्त्य हैं । इनकी संतति या वंश-परम्परा को गोत्र कहा जाता है[6] ।

इस श्लोक में बताया गया है कि नाम याद हो तो नाम लेकर सम्बोधित करें, नाम याद न हो तो गोत्र से सम्बोधित करे अथवा नाम या गोत्र दोनों में से जो अधिक उचित हो उससे सम्बोधित करे । अवस्था आदि की दृष्टि से जिस व्यक्ति के लिए जो उचित हो उसी शब्द से उसको सम्बोधित करे[7] । मध्य प्रदेश में वयोवृद्धा स्त्री को 'ईश्वरा' कहा जाता है, कहीं उसे 'धर्म-प्रिया' और कहीं 'धर्मशीला' । इस प्रकार जहाँ जो शब्द उचित हो, उसी से सम्बोधित करे[8] ।

१—अ० चू० पृ० १६८ : हले-अन्नेति मरहट्ठेसु तरुणित्थीमामंतणं । हले त्ति लाडेसु । भट्टे त्ति अवच्च-रहितवयणं पायो लाडेसु । सामिणित्ति सव्वदेसेसु । गोमिणी गोल्लविसए । होले गोले वसुले त्ति देसीए लालणगत्थाणीयाणि प्रियवयणामंतणाणि ।

२—जि० चू० पृ० २५० : तत्थ वरदातडे हलेत्ति आमंतणं, लाडविसए समाणवयमण्ण वा आमंतणं जहा हलित्ति, मरहट्ठविसए आमंतणं, दोमूलवत्तरगाण चाडुवयणं अण्णेत्ति, भट्टे त्ति लाडाण पतिभगिणी भण्णइ, सामिणी गोमिणिओ चाडुए वयणं, होलेत्ति आमंतणं, जहा—'होलवणिओ ते पुच्छइ, सयवकऊ परमेसाणो इ वो । अण्णवि किर वारसा इ वमहुसतं समतिरेक' ।। एव गोलवसुगावि महुरं सप्पिवास आमंतण ।

३ पा० व्या० ४. १. १६२ : अपत्यं पौत्रप्रभृति गोत्रम् ।

४—ठा० ७ ३० : सत्त मूलगोत्ता प० तं०—कासवा गोतमा वच्छा कोच्छा कोसिता मंडवा वासिट्ठा ।

५—भ० वे० ५. २१. ३ ।

६—प्रवराध्याय ५४ ।

७—जि० चू० पृ० २५१ : जं तीए नामं तेण नामधिज्जेण सा इत्थी आलवियव्वा, जाहे नामं न सरेज्जा ताहे गोत्तेण आलवेज्जा, जहा कासवगोत्ते ! एवमादि, 'जहारिहं' नाम जा वुड्ढा सा अहोत्ति वा तुब्भेत्ति वा भाणियव्वा, जा समावयया सा तुमति वा वत्तव्वा, कच्छ पुणो मज्झ ईसरोति वा, समाणवया ऊणा वा तहावि तुब्भेत्ति भाणियव्वा, जेणप्पगारेण लोगो आभासइ जहा भट्टा गोमिणित्ति वा एवमादि ।

८—हा० टी० प० २१६ : तत्र वयोवृद्धा मध्यदेशे ईश्वरा धर्मप्रियाऽन्यत्रोच्यते धर्मशीले इत्यादिना, अन्यथा च यथा न लोकोपघातः ।

जिनदास महत्तर के अनुसार जिसमें रहँट की घड़ियाँ पानी डालें वह जल-कुंडी अथवा काठ की बनी हुई वह कुंडी जो कम पानी वाले देशों में जल से भरकर रखी जाती है और जहाँ स्नान तथा कुल्ला किया जाता है, वह 'उदगदोणि' कहलाती है[1]।

टीकाकार ने इसका अर्थ—रहँट के जल को धारण करने वाली—किया है[2]। आयार चूला ४।२९ में 'यह वृक्ष उदक द्रोणी के योग्य है' ऐसा कहने का निषेध मिलता है। 'द्रोणी' का अर्थ जल-कुंडी के सिवाय काष्ठमय नौका भी हो सकता है[3]। अर्थशास्त्र में द्रोणी का अर्थ काष्ठमय जलाधार किया है[4]।

श्लोक २८ :

४५. काष्ठ-पात्री (चंगबेरे क) :

काष्ठमयी या वंशमयी पात्री को 'चंगबेर' कहा जाता है[5]। प्रश्न व्याकरण में इसी अर्थ में 'चंगेरी' शब्द का प्रयोग मिलता है[6]।

४६. मयिक (मइयं ग) :

मदन अर्थात् बोए हुए बीज को सम करने के लिए उपयोग में आने वाला एक कृषि का उपकरण[7]। आयारचूला में 'मइयं' के स्थान पर 'कुलियं' शब्द का प्रयोग हुआ है[8]। शीलाङ्काचार्य ने 'कुलीय' का अर्थ नहीं किया है। अनुयोगद्वार की वृत्ति में इसका अर्थ यह है—[illegible] जिसके नीचे तिरछे और तीखी लोह की पट्टियां बंधी हुई हों, वैसा लघुतर काष्ठ। इसका उपयोग खेत की घास काटने के लिए किया जाता है[9]। प्रश्न व्याकरण में इसी अर्थ में 'मत्तिय' शब्द मिलता है[10]।

४७ (गंडिया घ) :

गण्डिका अर्थात् अहरन[11], काष्ठफलक[12]। कौटिलीय अर्थशास्त्र में एक स्थल पर गण्डिका को जल-संतरण का उपाय बताया है[13]। व्याख्याकार ने भाष्य को उद्धृत करते हुए इसका अर्थ प्लवन-काष्ठ किया है[14]।

१— जि॰ चू॰ पृ॰ २५४ : उदगदोणी अरहट्टस्स भवति, जीए उवरि घडीओ पाणियं पाडेंति, अहवा उदगदोणी घरांगणए कट्ठमई अप्पोदएसु देसेसु कीरइ, तत्थ मणुस्सा ण्हायंति आयमंति वा।

२— हा॰ टी॰ प॰ २१८ : उदकद्रोण्योऽरहट्टजलधारिकाः।

३— (क) प्रश्न॰ (आश्रवद्वार) १.१३ वृ॰ : दोनि—द्रोणी नौः।
(ख) अ॰ चि॰ ३.५४१।

४— कौटि॰ अर्थ॰ २.५६ : द्रोणी दारुमयो जलाधारो जलपूर्णः।

५— जि॰ चू॰ पृ॰ २५४ : चंगबेरं कट्ठमयभायणं भण्णइ, अहवा चंगेरी वंसमयी भवति।

६— प्रश्न॰ (आश्रवद्वार) १.१३ वृ॰ : चंगेरी—[illegible] महती काष्ठ-पात्री [illegible]पटलिका वा।

७— हा॰ टी॰ प॰ २१८ : मत्यम्—[illegible]।

८— आ॰ चू॰ ४.२९ : [illegible]

९— अनु॰ वृ॰ : [illegible] कुलिकं लघुतरं काष्ठं तृणादिच्छेदार्थं यत् क्षेत्रे वाह्यते [illegible]

१०— प्रश्न॰ (आश्रवद्वार) १ [illegible] : [illegible]

११— [illegible] (अहिगरणी) [illegible]।
(ख) [illegible]

१२— [illegible]

१३— [illegible]

१४— [illegible]

श्लोक २९ :

४८. उपाश्रय के (उवस्सए [ग]) :

उपाश्रय—घर अथवा साधुओं के रहने का स्थान[1]।

श्लोक ३१ :

४९. दीर्घ ··· हैं, वृत्त ··· हैं, महालय ··· हैं (दीहवट्टा महालया [ग]) :

नालिकेर, ताड़ आदि वृक्ष दीर्घ होते हैं[2]। अशोक, नन्दि आदि वृक्ष वृत्त होते हैं[3]। बरगद आदि वृक्ष महालय होते हैं[4] अथवा जो वृक्ष बहु विस्तृत होने के कारण नानाविध पक्षियों के आधारभूत हों, उन्हें महालय कहा जाता है[5]।

५०. प्रशाखा वाले हैं (विडिमा [ग]) :

विटपी—जिनमें प्रशाखाएं फूट गई हों[6]।

श्लोक ३२ :

५१. पकाकर खाने योग्य हैं (पायखज्जाइं [ख]) :

पाक-खाद्य—इन फलों में गुठलियाँ पड़ गई हैं, इसलिए ये भूसे आदि में पकाकर खाने योग्य हैं[7]।

५२. वेलोचित हैं (वेलोइयाइं [ग]) :

जो फल अति पक्व होने के कारण डाल पर लगा न रह सके—तत्काल तोड़ने योग्य हो उसे 'वेलोचित' कहा जाता है[8]।

५३. इनमें गुठली नहीं पड़ी है (टालाइं [ग]) :

जिस फल में गुठली न पड़ी हो उसे 'टाल' कहा जाता है[9]।

१—अ० चू० पृ० १७२ : उवस्सयं साधुणिलयणं।

२—जि० चू० पृ० २५५ : दीहा जहा नालिएरतालमादी।

३—(क) जि० चू० पृ० २५५ : वट्टा जहा असोगमाई।
(ख) हा० टी० प० २१८ : वृत्ता नन्दिवृक्षादयः।

४—जि० चू० पृ० २५५ : महालया नाम वडमादि।

५—जि० चू० पृ० २५५ : अहवा महसद्दो बाहुल्ले वट्टइ, बहूणं पक्खिसिघाण आलया महालया।

६—(क) जि० चू० पृ० २५५ : 'विडिमा' तस्य जे खधओ ते साला भण्णति, सालाहितो जे णिग्गया ते विडिमा भण्णति।
(ख) हा० टी० प० २१८ : 'विटपिनः' प्रशाखावन्त।

७—(क) जि० चू० पृ० २५६ : पाइखज्जाणि णाम जहा एताणि फलाणि बद्धट्ठियाणि संपयं कारसपलालादिसु पाइऊण खाइयव्वाणित्ति।
(ख) हा० टी० प० २१८-१९ : 'पाकखाद्यानि' बद्धास्थीनीति गर्त्तप्रक्षेपकोद्रवपलालादिना विपाच्य भक्षणयोग्यानीति।

८—(क) हा० टी० प० २१९ : 'वेलोचितानि' पाकातिशयतो ग्रहणकालोचितानि, अत परं कालं न विषहन्ति इत्यर्थः।
(ख) जि० चू० पृ० २५६ : 'वेलोइयाणि' नाम वेला कालो, तं जा णिति वेला तेसि उच्चिणिऊणं ते अतिपक्काणि एयाणि पडंति अह न उच्चिणिज्जंति।

९—(क) जि० चू० पृ० २५६ : टालाणि नाम अबद्धट्ठिगाणि भन्नति।
(ख) हा० टी० प० २१९ : 'टालानि' अबद्धास्थीनि कोमलानीति।

५४. ये दो टुकड़े करने योग्य हैं (वेहिमाइं घ) :

जिन आमों में गुठली न पड़ी हों उनकी फांकें की जाती हैं[१]। वैसे आमों को देखकर उन्हें वेध्य नहीं कहना चाहिए।

श्लोक ३३ :

५५. श्लोक ३३ :

मार्ग बताने के लिये वृक्ष का संकेत करना जरूरी हो तो—'वृक्ष पक्व हैं' के स्थान पर ये असंतृत हैं—फल धारण करने में असमर्थ हैं—इस प्रकार कहा जा सकता है[२]।

पाक-खाद्य के स्थान पर ये वृक्ष बहुनिर्वर्तित फल (प्रायः निष्पन्न फल वाले हैं) इस प्रकार कहा जा सकता है[३]।

'वेलोचित' के स्थान पर ये वृक्ष बहुसम्भूत (एक साथ उत्पन्न बहुत फल वाले हैं) इस प्रकार कहा जा सकता है[४]।

'टाल—इन फलों में गुठली नहीं पड़ी है' के स्थान पर ये फल भूत-रूप (कोमल) हैं—इस प्रकार कहा जा सकता है[५]।

'द्वैधिक—दो टुकड़े करने योग्य' के स्थान पर क्या कहना चाहिए ? यह न तो यहाँ बतलाया गया है और न आचारांग में ही। इससे यह जाना जा सकता है कि 'टाल' और 'द्वैधिक' ये दोनों शब्द परस्पर सम्बन्धित हैं। अचार के लिए केरी या अंबिया (गिरगाली—अन्दर का [illegible] आम का कच्चा फल) तोड़ी जाती है और उसकी फांकें की जाती हैं, इसलिए 'टाल' और 'वेहिम' [illegible] निर्देश है।

५६. (बहुनिवट्टिमा ग) :

इसका मतार्थ दीर्घ है, वह अस्वाभाविक है।

श्लोक ३४ :

५७. ओषधियाँ (ओसहीओ क) :

एक फसल पौधा, चावल, गेहूँ आदि[१]।

५८. अपक्व हैं (नीलियाओ ग)

नीलिका का अर्थ हरी या अपक्व है[२]।

५९. छवि (फली) वाली हैं (छवी इय घ) :

जिनदास चूर्णि के अनुसार 'नीलिया' ओषधि का और टीका के अनुसार 'छवि' का विशेषण है[३]।

---

१ (क) जि० चू० पृ० २५६ : वेहिमं, अबद्धट्ठियाणं अंबाणं पेसियाओ कीरंति।
(ख) हा० टी० प० २१९ : 'द्वैधिकानि' इति पेशीसंपादनेन द्वैधीभावकरणयोग्यानि।

२ हा० टी० प० २१९ : [illegible] , अतिभारेण न शक्नुवन्ति फलानि धारयितुमित्यर्थः।

३ हा० टी० प० २१९ : बहुनिर्वर्तितफला [illegible] फलानि येषु ते तथा, अनेन पाकखाद्यार्थ उक्तः।

४ हा० टी० प० २१९ : 'बहुसम्भूता' [illegible] फलानि येषु ते तथा, अनेन [illegible]

५ (क) जि० चू० पृ० २५६ : [illegible]
(ख) हा० टी० प० २१९ : [illegible] फलानि येषु ते तथा, अनेन टालार्थ उक्तः।

६ (क) [illegible]
(ख) [illegible]

७ [illegible]

८ [illegible]

९ [illegible]

टीकाकार को संभवतः 'फलियाँ मोटी हैं, कच्ची हैं', यह अर्थ अभिप्रेत रहा है। अगस्त्य चूर्णि के अनुसार 'पक्काओ' और 'नीलियाओ' 'छवी इव' के भी विशेषण होते हैं, जैसे—फलियाँ पक गई हैं या अपक्व हैं[1]।

आचारचूला के अनुसार पक्काओ, नीलियाओ, छवीइ, लाइमा, भज्जिमा, पिहुखज्जा—ये सारे 'ओसहिओ' के विशेषण हैं[2]।

६०. चिड़वा बनाकर खाने योग्य हैं (पिहुखज्ज ^घ^)

पृथुक का अर्थ चिड़वा है[3]। आचारचूला (४।३३) में 'बहुखज्जाति वा' ऐसा पाठ है। शीलाङ्कसूरि ने उसका वैकल्पिक रूप में वही अर्थ किया है जो 'पिहुखज्ज' का है[4]।

श्लोक ३५ :

६१. श्लोक ३५ :

(१) रूढ	(५) गर्भित
(२) बहुसम्भूत	(६) प्रसूत
(३) स्थिर	(७) ससार
(४) उत्सृत	

वनस्पति की ये सात अवस्थाएँ हैं। इनमें बीज के अङ्कुरित होने से पुनः बीज बनने तक की अवस्थाओं का क्रम है।

(१) बीज बोने के पश्चात् जब वह प्रादुर्भूत होता है तो दोनों बीज-पत्र एक दूसरे से अलग हो जाते हैं, भ्रूणाग्र को बाहर निकलने का मार्ग मिलता है—इस अवस्था को 'रूढ' कहा जाता है।

(२) पृथ्वी के ऊपर आने के पश्चात् बीज-पत्र हरे हो जाते हैं और बीजाङ्कुर की पहली पत्ती बन जाते हैं—इस अवस्था को 'सम्भूत' कहा जाता है।

(३) भ्रूणमूल नीचे की ओर बढ़कर जड़ के रूप में विस्तार पाता है—इस अवस्था को 'स्थिर' कहा जाता है।

(४) भ्रूणाग्र स्तम्भ के रूप में आगे बढ़ता है इसे 'उत्सृत' कहा जाता है।

(५) आरोह पूर्ण हो जाता है और भुट्टा नहीं निकलता उस अवस्था को 'गर्भित' कहा जाता है।

(६) भुट्टा निकलने पर उसे 'प्रसूत' और

(७) दाने पड़ जाने पर उसे 'ससार' कहा जाता है।

अगस्त्य चूर्णि के अनुसार—(१) अङ्कुरित को रूढ (२) मुकुलित (विकसित) को बहुसम्भूत (३) उपघात से मुक्त बीजाङ्कुर को उत्पादक शक्ति को स्थिर (४) सुसंवर्धित स्तम्भ को उत्सृत (५) भुट्टा न निकला हो तो उसे गर्भित (६) भुट्टा निकलने पर प्रसूत और दाने पड़ने पर ससार कहा जाता है[5]।

जिनदास चूर्णि और टीका में भी शब्दान्तर के साथ लगभग यही अर्थ है[6]।

१—अ० चू० पृ० १७३ : छवीओ सवत्तीओ णिप्फावादीण ताओ वि पक्काओ नीलिताओ वा।

२—आ० चू० ४।३३ : से भिक्खू वा भिक्खुणी वा बहुसभूयाओ ओसहीओ पेहाए तहावि ताओ न एवं वएज्जा तंजहा—पक्काति वा ····।

३—(क) अ० चू० पृ० १७३ : पृथुकादिचपिटकतुल्यो।

(ख) जि० चू० पृ० २५६ : पिहुखज्जाओ नाम अवगोधूमादीणं पिहुगा कीरंति ताधे खज्जंति।

(ग) हा० टी० प० २१६ : पृथुका अर्धपक्वशाल्यादिषु क्रियन्ते।

४—आ० चू० ४।३३ वृ० : 'बहुखज्जा' बहुभक्ष्याः पृथुककरणयोग्या वेति।

५—अ० चू० पृ० १७३ : विरूढा—अङ्कुरिता। बहुसम्भूता—सुफलिता। ओगादि उवघातातीताओ थिरा। सुसंवड्ढिता उस्सडा। अणिव्विसुणाओ गब्भिणाओ। णिव्विसूताओ पसूताओ। सव्वोवघातविरहिताओ सुणिप्फणाओ ससाराओ।

६—(क) जि० चू० पृ० २५७ : 'विरूढा' णाम जाता, बहुसभूया णाम निप्फन्ना, थिरा णाम निब्भयीभूया उवगया यत्ति उसिया भण्णति, गब्भिया णाम जाव ण ताव सीसयं निप्फिड इत्ति, निप्फाडिएसु पसूताओ भण्णति, ससाराओ णाम सहसारेण ससाराओ सतंदुलाओत्ति वुत्तं भवइ।

(ख) हा० टी० प० २१६ : 'रूढा.' प्रादुर्भूताः स'बहुसंभूता' निष्पन्नप्राया ·· 'उत्सृता' इति उपघातेभ्यो निर्गता इति वा, तथा 'गर्भिता' अनिर्गतशीर्षका· 'प्रसूता' निर्गतशीर्षका 'ससारा.' सञ्जाततण्डुलादिसारा·।

श्लोक ४१ :

६७. श्लोक ४१ :

अगस्त्य चूर्णि के अनुसार 'सुकृत' सर्व क्रिया का प्रशंसक (अनुमोदक) वचन है। इसी प्रकार 'सुपक्व' पाक-क्रिया, 'सुच्छिन्न' छेद-क्रिया, 'सुहृत' हरण-क्रिया, 'सुमृत' मरण-क्रिया, 'सुनिष्ठित' सम्पन्न-क्रिया, 'सुलष्ट' शोभन या विशिष्ट-क्रिया के प्रशंसक वचन हैं। दशवैकालिक-चूर्णिकार और टीकाकार इनके उदाहरण भोजन-विषयक भी देते हैं और सामान्य भी।

उत्तराध्ययन के टीकाकार शान्त्याचार्य इनके सारे उदाहरण भोजन-विषयक देते हैं[1]। नेमिचन्द्राचार्य इन सारे प्रयोगों की भोजन-विषयक व्याख्या कर विकल्प के रूप में सुकृत शब्द को छोड़कर शेष शब्दों की सामान्य विषयक व्याख्या भी करते हैं[2]।

सुकृत आदि के प्रयोग सामान्य हो सकते हैं, किन्तु इस श्लोक में मुख्यतया भोजन के लिए प्रयुक्त हैं—ऐसा लगता है।

आचाराङ्ग में कहा है—भिक्षु बने हुए भोजन को देखकर 'यह बहुत अच्छा किया है' इस प्रकार न कहे[3]।

दशवैकालिक के प्रस्तुत श्लोक की तुलना इसीसे होती है, इससे यह सहज ही जाना जाता है कि यहाँ ये सारे प्रयोग भोजन आदि से सम्बन्धित हैं।

सुकृत आदि शब्दों का निरवद्य प्रयोग किया जा सकता है। जैसे—इसने बहुत अच्छी सेवा की, इसका वचन-विज्ञान परिपक्व है। इसने स्नेह-बन्धन को बहुत अच्छी तरह छेद डाला है आदि-आदि[4]।

६८. बहुत अच्छा किया है (सुकडे त्ति [क]) :

जिसे स्नेह, नमक, काली मिर्च आदि मसाले के साथ सिद्ध किया जाए वह 'कृत' कहलाता है। सुकृत अर्थात् बहुत अच्छा किया हुआ[5]।

श्लोक ४२ :

६९. कर्म-हेतुक (कम्महेउयं [ग]) :

कर्म-हेतुक का अर्थ है—शिक्षापूर्वक या सधे हुए हाथों से किया हुआ[6]।

श्लोक ४३ :

७०. इसका मोल करना शक्य नहीं है (अचक्किय [ग]) :

हस्तलिखित (ख और ग) आदर्शों और अगस्त्य चूर्णि में अचक्किय तथा कुछ आदर्शों में अविक्किय पाठ है। दोनों चूर्णिकारों

१—उत्त० स० १.३६ : सुकृतम्—अन्नादि, सुपक्वं—घृतपूर्णादि, सुच्छिन्नं—पत्र-शाकादि, सुहृतं—शाकादेस्तिक्ततादि, सुमृत—घृतादि सक्तुसूपादौ, सुनिष्ठित—रसप्रकर्षंगमा निष्ठांगतम्, सुलष्टं—शोभन शाल्यादिमखण्डोऽज्ज्वल्यादि प्रकारैरेवमन्यदपि सावद्य वर्जयेत् मुनिः।

२—उत्त० ने० १.३६ वृ० : यद्वा सुष्ठु कृत यदनेनाऽरातेः प्रतिकृतं, सुपक्वं पूर्ववत्, सुच्छिन्नोऽयं न्यग्रोधद्रुमादिः, सुहृतं कदर्यस्य धनं चौरादिभिः सुमृतोऽयं प्रत्यनीकधिग्वर्णादिः, सुनिष्ठितोऽयं प्रासादादिः, सुलष्टोऽयं करितुरगादिरिति सामान्येनैव सावद्य वचो वर्जयेद् मुनि।

३—आ० चू० ४.२३ : से भिक्खू वा, भिक्खुणी वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा उवक्खडियं पेहाए, तहावि त णो एवं वएज्जा, तजहा—सुकडे त्ति वा, सुकडे त्ति वा, साहुकडे त्ति वा, कल्लाणे त्ति वा, करणिज्जे त्ति वा। एयप्पगारं भासं सावज्जं जाव णो भासेज्जा।

४—उत्त० ने० १.३६ वृ० : निरवद्य तु सुकृतमनेन धर्मध्यानादि, सुपक्वमस्य वचनविज्ञानादि, सुच्छिन्नं स्नेहनिगडादि, सुहृतोऽयमुत्प्रव्राजयितुकामेभ्यो निजकेभ्यः शैक्षकः, सुमृतमस्य पण्डितमरणेन, सुनिष्ठितोऽय साध्वाचारे, सुलष्टोऽयं दारको व्रतग्रहणस्येत्यादिरूपम्।

५—अ० (चू०) : २७.२६४ की व्याख्या :

'अस्नेहलवण सर्वमकृत कटुकैर्विना।
विज्ञेयं लवणस्नेह-कटुकैः संस्कृत कृतम्॥'

६—जि० चू० पृ० २५६ : कम्महेउयं नाम सिक्खापुव्वगति वुत्त भवति।

८४. (माणवो [ग]) :

अगस्त्यसिंह और जिनदास के अनुसार मनुष्य ही मुनि बन सकते हैं, इसलिए यहाँ उन्हें 'मानव' शब्द से सम्बोधित किया है[1]। हरिभद्र सूरि ने 'मानव' को कर्तृपद माना है[2]। 'माणवा' और 'माणवो' -ये दोनों मूल पाठ के परिवर्तित रूप प्रतीत होते हैं। मूलपाठ 'माणओ' होना चाहिए। यहाँ मानव का अर्थ प्रासंगिक नहीं है। मानवश वचन बोलना भाषा का एक दोष है। अतः क्रोध, लोभ, भय और हास्य के प्रकरण में 'मान' शब्द ही अधिक संगत लगता है। किसी कारण से 'माणओ' का 'मानवो' में परिवर्तन हो गया तब व्याख्याकारों को खींचतान कर मानव शब्द की संगति बिठानी पड़ी।

८५. श्लोक ५७ :

भगवान् महावीर ने अहिंसा की दृष्टि से सावद्य और निरवद्य भाषा का सूक्ष्म विवेचन किया है। प्रिय, हित, मित, मनोहर, वचन बोलना चाहिए—यह स्थूल बात है। इसकी पुष्टि नीति के द्वारा भी होती है किन्तु अहिंसा की दृष्टि नीति से बहुत आगे जाती है। ऋग्वेद में भाषा के परिष्कार को अभ्युदय का हेतु बतलाया है—

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि॥

जैसे चलनी से सत्तू को परिष्कृत किया जाता है, वैसे ही बुद्धिमान् लोग बुद्धि के बल से भाषा को परिष्कृत करते हैं। उस समय विद्वान् लोग अपने अभ्युदय को जानते हैं। विद्वानों के वचन में मंगलमयी लक्ष्मी निवास करती है[3]।

महात्मा बुद्ध ने चार अंगों से युक्त वचन को निरवद्य वचन कहा है

"ऐसा मैंने सुना :

एक समय भगवान् श्रावस्ती में अनाथ पिण्डक के जेतवनाराम में विहार करते थे। उस समय भगवान् ने भिक्षुओं को सम्बोधित कर कहा—'भिक्षुओ! चार अंगों से युक्त वचन अच्छा है न कि बुरा, विज्ञों के अनुसार वह निरवद्य है, दोषरहित है। कौन से चार अंग? भिक्षुओ! यहाँ भिक्षु अच्छा वचन ही बोलता है न कि बुरा, धार्मिक वचन ही बोलता है न कि अधार्मिक, प्रिय वचन ही बोलता है न कि अप्रिय, सत्य वचन ही बोलता है न कि असत्य। भिक्षुओ! इन चार अंगों से युक्त वचन अच्छा है न कि बुरा, यह विज्ञों के अनुसार निरवद्य तथा दोष-रहित है।' ऐसा बताकर भगवान् ने फिर कहा :

'सन्तों ने अच्छे वचन को ही उत्तम बताया है। धार्मिक वचन को ही बोले न कि अधार्मिक वचन को—यह दूसरा है। प्रिय वचन को ही बोले न कि अप्रिय वचन को —यह है तीसरा। सत्य वचन को ही बोले न कि असत्य वचन को'—यह है चौथा॥१॥

तब आयुष्मान वंगीस ने आसन से उठकर, एक कन्धे पर चीवर सम्भालकर, भगवान् को हाथ जोड़कर अभिवादन कर उन्हें कहा—'भन्ते! मुझे कुछ सूझता है।' भगवान् ने कहा—'वंगीस! उसे सुनाओ।' तब आयुष्मान् के सम्मुख अनुकूल गाथाओं से यह स्तुति की :

'वह बात बोले जिससे न स्वयं कष्ट पाए और न दूसरे को ही दुःख हो, ऐसी ही बात सुन्दर है।'
'आनन्ददायी प्रिय वचन ही बोले। पापी बातों को छोड़कर दूसरों को प्रिय वचन ही बोले।'
'सत्य ही अमृत वचन है, यह सदा का धर्म है। सत्य, अर्थ और धर्म में प्रतिष्ठित सन्तों ने (ऐसा) कहा है।'
'बुद्ध जो कल्याण-वचन निर्वाण प्राप्ति के लिए, दुःख का अन्त करने के लिए बोलते हैं, वही वचनों में उत्तम है[4]।"

१—(क) अ० चू० पृ० १७८ : माणवा! इति मणुस्सामंतणं 'मणुस्सेसु धम्मोवदेस' इति।
(ख) जि० चू० पृ० २६३ : माणवा इति मणुस्सजातीए एस साहुधम्मोत्तिकाऊण मणुस्सामंतणं कयं, जहा हे माणवा!
२—हा० टी० प० २२३ : 'मानवः' पुमान् साधुः।
३—ऋग्वेद १०.७१।
४—सु० नि० सुभासित सुत्त ३.५ पृ० ८१।

अट्ठमं अज्झयणं

आयारपणिही

अष्टम अध्ययन

आचार-प्रणिधि

आमुख

आचार वही है जो संक्षेप में तीसरे और विस्तार से छठे अध्ययन में कहा गया है[1]। इस अध्ययन का प्रतिपाद्य आचार नहीं है। इसका अभिप्रेत अर्थ है—आचार की प्रणिधि या आचार-विषयक प्रणिधि। आचार एक निधि है। उसे पाकर निर्ग्रन्थ को जैसे चलना चाहिए उसका पथ-दर्शन इस अध्ययन में मिलता है। आचार की सरिता में निर्ग्रन्थ इन्द्रिय और मन को कैसे प्रवाहित करे, उसका दिशा-निर्देश मिलता है। प्रणिधि का दूसरा अर्थ है—एकाग्रता, स्थापना या प्रयोग। ये प्रशस्त और अप्रशस्त दोनों प्रकार के होते हैं। उच्छृङ्खल-अश्व सारथि को उन्मार्ग में ले जाते हैं वैसे ही दुष्प्रणिहित (राग-द्वेष प्रयुक्त) इन्द्रियाँ श्रमण को उत्पथ में ले जाती हैं[2]। यह इन्द्रिय का दुष्प्रणिधान है।

शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श में इन्द्रियों की मध्यस्थ प्रवृत्ति हो—राग और द्वेष का लगाव न हो यह उनका सुप्रणिधान है।

क्रोध, मान, माया और लोभ का संग्राहक शब्द है—कषाय। जिस श्रमण का कषाय प्रबल होता है उसका श्रामण्य ईक्षु-पुष्प की भाँति निष्फल होता है[3]। इसलिए श्रमण को कषाय का निग्रह करना चाहिए। यही है मन का सुप्रणिधान।

"श्रमण को इन्द्रिय और मन का अप्रशस्त-प्रयोग नहीं करना चाहिए, प्रशस्त-प्रयोग करना चाहिए"—यह शिक्षा ही इस अध्ययन की आत्मा है, इसलिए इसका नाम 'आचार-प्रणिधि' रखा गया है[4]।

कौटिल्य अर्थशास्त्र में गूढ-पुरुष-प्रणिधि, राज-प्रणिधि, दूत-प्रणिधि आदि प्रणिधि उत्तरपद वाले कई प्रकरण हैं। इस प्रकार के नामकरण की पद्धति उस समय प्रचलित थी—ऐसा जान पड़ता है। अर्थशास्त्र के व्याख्याकार ने प्रणिधि का अर्थ कार्य में लगाना व व्यापार किया है। आचार में प्रवृत्त करना व व्यापार करना—ये दोनों अर्थ यहाँ संगत होते हैं। यह 'प्रत्याख्यान प्रवाद' नामक नवें पूर्व की तीसरी वस्तु से उद्धृत हुआ है[5]। इसकी शिक्षाएं प्रकीर्ण हैं। ये दैनंदिन व्यवहारों को बड़े मार्मिक ढंग से छूती हैं।

कान खुले रहते हैं, बहुत सुना जाता है, आँखें खुली रहती हैं, बहुत दीख पड़ता है, किन्तु सुनी और देखी गई सारी बातों को दूसरों से कहे—यह भिक्षु के लिए उचित नहीं है। श्रुत और दृष्ट बात के औपघातिक अंश को पचा ले, उसे प्रकाशित न करे (श्लोक २०-२१)।

'देह में उत्पन्न दुःख को सहना महान् फल का हेतु है'—इस विचार-मन्थन का नवनीत है अहिंसा। एक दृष्टि से प्रस्तुत अध्ययन का हृदय 'देहे दुक्खं महाफलं' (श्लोक २७) है। यह 'देहली-दीपक न्याय' से अध्ययन के आर और पार—दोनों भागों को प्रकाशित करता है और श्रामण्य के रत्न की शुद्धि के लिए शोधन-यंत्र का काम करता है।

इसमें कषाय-विजय, निद्रा-विजय, अट्टहास्य-विजय के लिए बड़े सुन्दर निर्देशन दिए गए हैं।

श्रद्धा का सातत्य रहना चाहिए। भाव-विशुद्धि के जिस उत्कर्ष से पैर बढ़ चलें, वे न रुकें और न अपने पथ से हटें—ऐसा प्रयत्न होना चाहिए (श्लोक ६१)।

स्वाध्याय और ध्यान—ये आत्म-दोषों को माँजने वाले हैं। इनके द्वारा आत्मा परमात्मा बने (श्लोक ६३)।

यहाँ पहुँचकर 'आचार-प्रणिधि' सम्पन्न होती है।

१—दश० नि० २९३ : जो पुव्वि उद्दिट्ठो, आयारो सो अहीणमइरित्तो।

२—दश० नि० २९९ : जस्स खलु दुप्पणिहिआणि, इंदिआइं तव चरंतस्स।
सो हीरइ असहीणेहिं, सारही वा तुरंगेहिं॥

३—दश० नि० ३०१ : सामन्नमणुचरंतस्स, कसाया जस्स उक्कडा होंति।
मन्नामि उच्छुफुल्लं व, निप्फलं तस्स सामन्नं॥

४—दश० नि० ३०८ : तम्हा उ अप्पसत्थं, पणिहाणं उज्झिऊण समणेण।
पणिहाणम्मि पसत्थे, भणिओ 'आयारपणिहि' त्ति॥

५—दश० नि० १-१७।

आयारपणिही : आचार-प्रणिधि

अट्ठमं अज्झयणं : अष्टम अध्ययन

मूल	संस्कृत	हिन्दी अनुवाद
१—आयारप्पणिहिं लद्धुं जहा कायव्व भिक्खुणा। तं भे उदाहरिस्सामि आणुपुव्विं सुणेह मे॥	आचार प्रणिधिं लब्ध्वा, यथा कर्तव्यं भिक्षुणा। तं भवद्भ्यः उदाहरिष्यामि, आनुपूर्व्या शृणुत मे॥१॥	१—आचार-प्रणिधि को[1] पाकर[2] भिक्षु को जिस प्रकार (जो) करना चाहिए वह मैं तुम्हें कहूँगा। अनुक्रमपूर्वक मुझसे सुनो।
२—[3]पुढविदगअगणिमारुय तणरुक्ख सबीयगा[3]। तसा य पाणा जीव त्ति इइ वुत्तं महेसिणा॥	पृथिव्युदकाग्निमारुताः, तृणवृक्षाः सबीजकाः। त्रसाश्च प्राणाः जीवा इति, इति उक्तं महर्षिणा॥२॥	२—पृथ्वी, उदक, अग्नि, वायु, बीज-पर्यन्त तृण-वृक्ष और त्रस प्राणी—ये जीव हैं—ऐसा महर्षि महावीर ने कहा है।
३—तेसिं अच्छणजोएण निच्चं होयव्वयं सिया। मणसा कायवक्केण एवं भवइ संजए॥	तेषामक्षण-योगेन, नित्यं भवितव्यं स्यात्। मनसा काय-वाक्येन, एवं भवति संयतः॥३॥	३—भिक्षु को मन, वचन और काया से उनके प्रति सदा अहिंसक[4] होना चाहिए। इस प्रकार अहिंसक रहने वाला संयत (संयमी) होता है।
४—[5]पुढविं भित्तिं सिलं लेलुं नेव भिंदे न संलिहे। तिविहेण करणजोएण संजए सुसमाहिए॥	पृथिवीं भित्तिं शिलां लेष्टुं, नैव भिन्द्यात् न संलिखेत्। त्रिविधेन करण-योगेन, संयतः सुसमाहितः॥४॥	४—सुसमाहित संयमी तीन करण और तीन योग से पृथ्वी, भित्ति[6] (दरार), शिला और ढेले का भेदन न करे और न उन्हें कुरेदे।
५—सुद्धपुढवीए न निसिए ससरक्खम्मि[7] य आसणे। पमज्जित्तु निसीएज्जा जाइत्ता जस्स ओग्गहं॥	शुद्धपृथिव्यां न निषीदेत्, ससरक्षे च आसने। प्रमृज्य निषीदेत्, याचित्वा यस्यावग्रहम्॥५॥	५—मुनि शुद्ध पृथ्वी[8] और सचित्त-रज से संसृष्ट आसन पर न बैठे[9]। अचित्त-पृथ्वी पर प्रमार्जन कर[11] और वह जिसकी हो उसकी अनुमति लेकर[12] बैठे।
६—सीओदगं न सेवेज्जा सिलावुट्ठं[11] हिमाणि य। उसिणोदगं तत्तफासुयं पडिगाहेज्ज संजए॥	शीतोदकं न सेवेत, शिला-वृष्टं हिमानि च। उष्णोदकं तप्तप्रासुकं, प्रतिगृह्णीयात् संयतः॥६॥	६—संयमी शीतोदक[13], ओले, बरसात के जल और हिम का[14] सेवन न करे। तप्त होने पर जो प्रासुक हो गया हो वैसा जल[15] ले।

१४—कयराइं अट्ठ सुहुमाइं
जाइं पुच्छेज्ज संजए।
इमाइं ताइं मेहावी
आइक्खेज्ज वियक्खणो॥

कतराणि अष्टौ सूक्ष्माणि,
यानि पृच्छेत् संयतः।
इमानि तानि मेधावी,
आचक्षीत विचक्षणः॥१४॥

१४—वे आठ सूक्ष्म कौन-कौन से हैं? संयमी शिष्य यह पूछे तब मेधावी और विचक्षण आचार्य कहे कि वे ये हैं—

१५—[30]सिणेहं पुप्फसुहुमं च
पाणुत्तिंगं तहेव य।
पणगं बीय हरियं च
अंडसुहुमं च अट्ठमं॥

स्नेहं पुष्प-सूक्ष्मं च,
'प्राणोत्तिङ्गं' तथैव च।
'पनकं' बीजं हरितं च,
'अण्डसूक्ष्मं' च अष्टमम्॥१५॥

१५—स्नेह, पुष्प, प्राण, उत्तिङ्ग[31], काई, बीज, हरित और अण्ड—ये आठ प्रकार के सूक्ष्म हैं।

१६—एवमेयाणि जाणित्ता
सव्वभावेण संजए।
अप्पमत्तो जए निच्चं
सव्विंदियसमाहिए॥

एवमेतानि ज्ञात्वा,
सर्वभावेन संयतः।
अप्रमत्तो यतेत नित्यं,
सर्वेन्द्रिय-समाहितः॥१६॥

१६—सब इन्द्रियों से समाहित साधु इस प्रकार इन सूक्ष्म जीवों को सब प्रकार से[32] जानकर अप्रमत्त-भाव से सदा यतना करे।

१७—धुवं च पडिलेहेज्जा
जोगसा पायकंबलं।
सेज्जमुच्चारभूमिं च
संथारं अदुवासणं॥

ध्रुवं च प्रतिलेखयेत्,
योगेन पात्र-कम्बलम्।
शय्यामुच्चारभूमिं च,
संस्तारमथवासनम्॥१७॥

१७—मुनि पात्र[33], कम्बल[34] शय्या[35], उच्चार-भूमि[36], संस्तारक[37] अथवा आसन का[38] यथासमय[39] प्रमाणोपेत[40] प्रतिलेखन करे[41]।

१८—[42]उच्चारं पासवणं
खेलं सिंघाणजल्लियं।
फासुयं पडिलेहित्ता
परिट्ठावेज्ज संजए॥

उच्चारं प्रस्रवणं,
'खेलं' सिंघाणं 'जल्लिकम्'।
प्रासुकं प्रतिलेख्य,
परिष्ठापयेत् संयतः॥१८॥

१८—संयमी मुनि प्रासुक (जीव रहित) भूमि का प्रतिलेखन कर वहाँ उच्चार, प्रस्रवण, श्लेष्म, नाक के मैल और शरीर के मैल का[43] उत्सर्ग करे।

१९—पविसित्तु परागारं
पाणट्ठा भोयणस्स वा[44]।
जयं चिट्ठे मियं भासे
ण य रूवेसु मणं करे॥

प्रविश्य परागारं,
पानार्थं भोजनाय वा।
यतं तिष्ठेत् मितं भाषेत,
न च रूपेषु मनः कुर्यात्॥१९॥

१९—मुनि जल या भोजन के लिए गृहस्थ के घर में प्रवेश करके उचित स्थान में खड़ा रहे[45], परिमित बोले[46] और रूप में मन न करे[47]।

२०—[48]बहुं सुणेइ कण्णेहिं
बहुं अच्छीहिं पेच्छइ।
न य दिट्ठं सुयं सव्वं
भिक्खू अक्खाउमरिहइ॥

बहु शृणोति कर्णैः,
बह्वक्षिभिः प्रेक्षते।
न च दृष्टं श्रुतं सर्वं,
भिक्षुराख्यातुमर्हति॥२०॥

२०—कानों से बहुत सुनता है, आँखों से बहुत देखता है; किन्तु सब देखे और सुने को कहना भिक्षु के लिए उचित नहीं।

२१—सुयं वा जइ वा दिट्ठं
न लवेज्जोवघाइयं ।
न य केणइ उवाएणं
गिहिजोगं समायरे ॥

श्रुतं वा यदि वा दृष्टं,
न लपेद् औपघातिकम् ।
न च केनचिदुपायेन,
गृहियोगं समाचरेत् ॥२१॥

२१—सुनी हुई[३९] या देखी हुई[४०] बात के बारे में साधु औपघातिक वचन न कहे और किसी उपाय से गृहस्थोचित कर्म का समाचरण न करे ।

२२—निट्ठाणं रसनिज्जूढं
भद्दगं पावगं ति वा ।
पुट्ठो वा वि अपुट्ठो वा
लाभालाभं न निद्दिसे ॥

निष्ठानं निर्यूढरसम्,
भद्रकं पापकमिति वा ।
पृष्टो वाप्यपृष्टो वा,
लाभालाभं न निर्दिशेत् ॥२२॥

२२—किसी के पूछने पर या बिना पूछे यह सरस[४२] है, यह नीरस[४३] है, यह अच्छा है, यह बुरा है—ऐसा न कहे और सरस या नीरस आहार मिला या न मिला—यह भी न कहे ।

२३—न य भोयणम्मि गिद्धो
चरे उंछं अयंपिरो ।
अफासुयं न भुंजेज्जा
कीयमुद्देसियाहडं ॥

न च भोजने गृद्धः,
चरेदुञ्छमजल्पिता ।
अप्रासुकं न भुञ्जीत,
क्रीतमौद्देशिकाहृतम् ॥२३॥

२३—भोजन में गृद्ध होकर विशिष्ट घरों में न जाए[४४] किन्तु वाचालता से रहित होकर[४५] उञ्छ[४६] (अनेक घरों से थोड़ा-थोड़ा) ले । अप्रासुक, क्रीत, औद्देशिक और आहृत आहार प्रमादवश आ जाए तो भी न खाए ।

२४—सन्निहिं च न कुव्वेज्जा
अणुमायं पि संजए ।
मुहाजीवी असंबद्धे
हवेज्ज जगनिस्सिए ॥

सन्निधिं च न कुर्यात्,
अणुमात्रमपि संयतः ।
मुधाजीवी असंबद्धः,
भवे 'ज्जगत्' निश्रितः ॥२४॥

२४—संयमी अणुमात्र भी सन्निधि न करे । वह मुधाजीवी[४८], असंबद्ध (अलिप्त) और जनपद के आश्रित रहे, कुल या ग्राम के आश्रित न रहे ।

२५—लूहवित्ती सुसंतुट्ठे
अप्पिच्छे सुहरे सिया ।
आसुरत्तं न गच्छेज्जा
सोच्चाणं जिणसासणं ॥

रूक्षवृत्तिः सुसन्तुष्टः,
अल्पेच्छः सुभरः स्यात् ।
आसुरत्वं न गच्छेत्,
श्रुत्वा जिन-शासनम् ॥२५॥

२५—मुनि रूक्षवृत्ति,[४९] सुसंतुष्ट, अल्प इच्छा वाला[५०] और अल्प आहार से तृप्त होने वाला[५१] हो । वह जिन-शासन को सुनकर क्रोध[५२] न करे ।

२६—कण्णसोक्खेहिं सद्देहिं
पेमं नाभिनिवेसए ।
दारुणं कक्कसं फासं
काएण अहियासए ॥

कर्णसौख्येषु शब्देषु,
प्रेम नाभिनिवेशयेत् ।
दारुणं कर्कशं स्पर्शं,
कायेन अध्यासीत ॥२६॥

२६—कानों के लिए सुखकर शब्दों में प्रेम न करे, दारुण और कर्कश स्पर्श को काया से सहन करे ।

२७—खुहं पिवासं दुस्सेज्जं
सीउण्हं अरइं भयं ।
अहियासे अव्वहिओ
देहदुक्खं महाफलं ॥

क्षुधां पिपासां दुःशय्यां,
शीतोष्णमरतिं भयम् ।
अध्यासीताव्यथितः,
देहदुःखं महाफलम् ॥२७॥

२७—क्षुधा, प्यास, [illegible] [illegible] [illegible] देह-दुःख महाफल[५६] का हेतु होता है ।

२८—अत्थंगयम्मि आइच्चे
पुरत्था य अणुग्गए।
आहारमइयं[७८] सव्वं
मणसा वि न पत्थए॥

अस्तङ्गते आदित्ये,
पुरस्तात् चानुद्गते।
आहारमयं सर्वं,
मनसापि न प्रार्थयेत् ॥२८॥

२८—सूर्यास्त से लेकर[७६] पुन सूर्य पूर्व में[७७] न निकल आए तब तक सब प्रकार के आहार की मन से भी इच्छा न करे[७९]।

२९—अतिंतिणे अचवले
अप्पभासी मियासणे।
हवेज्ज उयरे दंते
थोवं लद्धुं न खिंसए॥

'अतिन्तिणः' अचपलः,
अल्पभाषी मिताशनः।
भवेदुदरे दान्तः,
स्तोकं लब्ध्वा न खिंसयेत् ॥२९॥

२९—आहार न मिलने या अरस आहार मिलने पर प्रलाप न करे[८०], चपल न बने, अल्पभाषी[८१], मितभोजी[८२] और उदर का दमन करने वाला[८३] हो। थोड़ा आहार पाकर दाता की निन्दा न करे[८४]।

३०—[८५]न बाहिरं परिभवे
अत्ताणं न समुक्कसे।
सुयलाभे न मज्जेज्जा
जच्चा तवस्सिबुद्धिए॥

न बाह्यं परिभवेत्,
आत्मानं न समुत्कर्षयेत्।
श्रुतलाभे न माद्येत्,
जात्या तपस्वि-बुद्ध्या ॥३०॥

३०—दूसरे का[८६] तिरस्कार न करे। अपना उत्कर्ष न दिखाए। श्रुत, लाभ, जाति, तपस्विता और बुद्धि का[८७] मद न करे।

३१—[८८]से[८९] जाणमजाणं वा
कट्टु आहम्मियं पयं।
संवरे खिप्पमप्पाणं
बीयं तं न समायरे॥

अथ जानन् अजानन् वा,
कृत्वा आधार्मिकं पदम्।
संवृणुयात् क्षिप्रमात्मानं,
द्वितीयं तत् न समाचरेत् ॥३१॥

३१—ज्ञान या अज्ञान में[९०] कोई अधर्म-कार्य कर बैठे तो अपनी आत्मा को उससे तुरन्त हटा ले, फिर दूसरी बार[९१] वह कार्य न करे।

३२—अणायारं परक्कम्म
नेव गूहे न निण्हवे।
सुई सया वियडभावे
असंसत्ते जिइंदिए॥

अनाचारं पराक्रम्य,
नैव गूहेत न निह्नुवीत।
शुचिः सदा विकटभावः,
असंसक्तो जितेन्द्रियः ॥३२॥

३२—अनाचार[९२] का सेवन कर उसे न छिपाए और न अस्वीकार करे[९३] किन्तु सदा पवित्र[९४], स्पष्ट[९५], अलिप्त और जितेन्द्रिय रहे।

३३—अमोहं वयणं कुज्जा
आयरियस्स महप्पणो।
तं परिगिज्झ वायाए
कम्मुणा उववायए॥

अमोघं वचनं कुर्यात्,
आचार्यस्य महात्मनः।
तत्परिगृह्य वाचा,
कर्मणोपपादयेत् ॥३३॥

३३—मुनि महान् आत्मा आचार्य के वचन को सफल करे। (आचार्य जो कहे) उसे वाणी से ग्रहण कर कर्म से उसका आचरण करे।

३४—अधुवं जीवियं नच्चा
सिद्धिमग्गं वियाणिया।
विणियट्टेज्ज भोगेसु[९६]
आउं परिमियमप्पणो॥

अध्रुवं जीवितं ज्ञात्वा,
सिद्धिमार्गं विज्ञाय।
विनिवर्तेत भोगेभ्यः,
आयुः परिमितमात्मनः ॥३४॥

३४—मुमुक्षु जीवन को अनित्य और अपनी आयु को परिमित जान तथा सिद्धि-मार्ग का[९७] ज्ञान प्राप्त कर भोगों से निवृत्त बने।

४७—अप्पत्तियं जेण सिया
आसु कुप्पेज्ज वा परो ।
सव्वसो तं न भासेज्जा
भासं अहियगामिणिं ॥

अप्रीतिर्येन स्यात्,
आशु कुप्येद्वा परः ।
सर्वशस्तां न भाषेत,
भाषामहितगामिनीम् ॥४७॥

४७—जिससे अप्रीति उत्पन्न हो और दूसरा शीघ्र कुपित हो ऐसी अहितकर भाषा सर्वथा[129] न बोले ।

४८—दिट्ठं मियं असंदिद्धं
पडिपुन्नं [illegible]वियं जियं ।
अयंपिरमणुव्विग्गं
भासं निसिर अत्तवं ॥

दृष्टां मितामसंदिग्धां,
प्रतिपूर्णां व्यक्तां जिताम् ।
अजल्पाकीमनुद्विग्नां,
भाषां निसृजेदात्मवान् ॥४८॥

४८—आत्मवान्[130], दृष्ट[131], परिमित[132], असंदिग्ध, प्रतिपूर्ण[133], व्यक्त, परिचित, वाचालता-रहित और भय-रहित भाषा बोले ।

४९—[illegible]आयारपन्नत्तिधरं
दिट्ठिवायमहिज्जगं ।
वइविक्खलियं नच्चा
न तं उवहसे मुणी ॥

आचार-प्रज्ञप्ति-धरं,
दृष्टिवादमधीयानम् ।
वाग्विस्खलितं ज्ञात्वा,
न तमुपहसेन्मुनिः ॥४९॥

४९—आचारांग और प्रज्ञप्ति—भगवती को धारण करने वाला तथा दृष्टिवाद को पढ़नेवाला[134] मुनि बोलने में स्खलित हुआ है[135] (उसने वचन, लिङ्ग और वर्ण का विपर्यास किया है) यह जान कर मुनि उसका उपहास न करे ।

५०—[illegible]नक्खत्तं सुमिणं जोगं
निमित्तं मंत भेसजं ।
गिहिणो तं न आइक्खे
भूयाहिगरणं पयं ॥

नक्षत्रं स्वप्नं योग,
निमित्तं मंत्र-भेषजम्,
गृहिणस्तन्नाचक्षीत,
भूताधिकरणं पदम् ॥५०॥

५०—नक्षत्र[136], स्वप्नफल[137], वशीकरण[138], निमित्त[139], मन्त्र[140] और भेषज—ये जीवों की हिंसा के[141] स्थान हैं, इसलिए मुनि गृहस्थों को इनके फलाफल न बताए ।

५१—अन्नट्ठं पगडं लयणं
भएज्ज सयणासणं ।
उच्चारभूमिसंपन्नं
इत्थीपसुविवज्जियं ॥

अन्यार्थं प्रकृतं लयनं,
भजेत शयनासनम् ।
उच्चारभूमिसम्पन्नं,
स्त्रीपशुविवर्जितम् ॥५१॥

५१—मुनि दूसरों के लिए बने हुए[illegible] गृह[illegible], शयन और आसन का सेवन करे । वह गृह मल-मूत्र-विसर्जन की भूमि से युक्त तथा स्त्री और पशु से रहित[illegible] हो ।

५२—विवित्ता य भवे सेज्जा
नारीणं न लवे कहं ।
गिहिसंथवं न कुज्जा
कुज्जा साहूहिं संथवं ॥

विविक्ता च भवेच्छय्या,
नारीणां न लपेत् कथाम् ।
गृहिसंस्तवं न कुर्यात्,
कुर्यात् साधुभिः संस्तवम् ॥५२॥

५२—जो एकान्त स्थान हो [illegible] केवल स्त्रियों के बीच व्याख्यान न दे[illegible] । मुनि गृहस्थों से परिचय न करे, [illegible] साधुओं से करे[illegible] ।

५३—[illegible]जहा कुक्कुडपोयस्स
[illegible]
[illegible]
[illegible]

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible] ॥५३॥

५३—जिस प्रकार मुर्गे के बच्चे [illegible]

५४—चित्तभित्तिं न निज्झाए
नारिं वा सुअलंकियं ।
भक्खरं पिव दट्ठूणं
दिट्ठिं पडिसमाहरे ॥

चित्रभित्तिं न निध्यायेत्,
नारीं वा स्वलङ्कृताम् ।
भास्करमिव दृष्ट्वा,
दृष्टिं प्रतिसमाहरेत् ॥५४॥

५४—चित्र-भित्ति[123] (स्त्रियों के चित्रों से चित्रित भित्ति) या आभूषणों से सुसज्जित[124] स्त्री को टकटकी लगाकर न देखे। उन पर दृष्टि पड़ जाए तो उसे वैसे खींच ले जैसे मध्याह्न के सूर्य पर पड़ी हुई दृष्टि स्वयं खिंच जाती है।

५५—हत्थपायपडिच्छिन्नं
कण्णनासविगप्पियं[125] ।
अवि [126]वाससइं नारिं
बंभयारी विवज्जए ॥

प्रतिच्छिन्न हस्तपादां,
विकल्पित-कर्णनासाम् ।
अपि वर्षशतां नारीं,
ब्रह्मचारी विवर्जयेत् ॥५५॥

५५—जिसके हाथ पैर कटे हुए हों, जो कान-नाक से विकल हो वैसी सौ वर्ष की बूढ़ी नारी से भी ब्रह्मचारी दूर रहे।

५६—विभूसा इत्थिसंसग्गी
पणीयरसभोयणं ।
नरस्सत्तगवेसिस्स
विसं तालउडं जहा ॥

विभूषा स्त्री संसर्गः,
प्रणीत-रसभोजनम् ।
नरस्यात्मगवेषिणः,
विषं तालपुटं यथा ॥५६॥

५६—आत्मगवेषी[127] पुरुष के लिए विभूषा[128], स्त्री का संसर्ग और प्रणीत-रस[129] का भोजन तालपुट-विष[130] के समान है।

५७—अंगपच्चंगसंठाणं
चारुल्लवियपेहियं ।
इत्थीणं तं न निज्झाए
कामरागविवड्ढणं ॥

अङ्ग-प्रत्यङ्ग संस्थान,
चारूल्लपितप्रेक्षितम् ।
स्त्रीणां तन्न निध्यायेत्,
कामरागविवर्धनम् ॥५७॥

५७—स्त्रियों के अङ्ग, प्रत्यङ्ग, संस्थान[131], चारु-भाषित (मधुर बोली) और कटाक्ष[132] को न देखे—उनकी ओर ध्यान न दे, क्योंकि ये सब काम-राग को बढ़ाने वाले हैं।

५८—विसएसु मणुन्नेसु
पेमं नाभिनिवेसए ।
अणिच्चं तेसिं विन्नाय
परिणामं पोग्गलाण उ ॥

विषयेषु मनोज्ञेषु,
प्रेम नाभिनिवेशयेत् ।
अनित्यं तेषां विज्ञाय,
परिणामं पुद्गलानां तु ॥५८॥

५८—शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श इन पुद्गलों के परिणमन को[133] अनित्य जानकर ब्रह्मचारी मनोज्ञ विषयों में राग-भाव न करे[134]।

५९—पोग्गलाण परीणामं
तेसिं नच्चा जहा तहा ।
विणीयतण्हो विहरे
सीईभूएण अप्पणा ॥

पुद्गलानां परिणामं,
तेषां ज्ञात्वा यथा तथा ।
विनीततृष्णो विहरेत्,
शीतीभूतेनात्मना ॥५९॥

५९—इन्द्रियों के विषयभूत पुद्गलों के परिणमन को, जैसा है वैसा जानकर अपनी आत्मा को उपशान्त कर[135] तृष्णा-रहित हो विहार करे।

६०—जाए[136] सद्धाए निक्खंतो
परियायट्ठाणमुत्तमं ।
तमेव अणुपालेज्जा
गुणे आयरियसम्मए ॥

यया श्रद्धया निष्क्रान्तः
पर्यायस्थानमुत्तमम् ।
तामेवानुपालयेत्,
गुणान् आचार्यसम्मतान् ॥६०॥

६०—जिस श्रद्धा से[137] उत्तम प्रव्रज्या-स्थान के लिए घरसे निकला, उस श्रद्धा को[138] पूर्ववत् बनाए रखे और आचार्य-सम्मत[139] गुणों का अनुपालन करे।

६१—तवं चिमं संजमजोगयं च
सज्झायजोगं च सया अहिट्ठए।
सूरे व सेणाए समत्तमाउहे
अलमप्पणो होइ अलं परेसिं ॥

तपश्चेदं संयमयोगं च,
स्वाध्याययोगं च सदाऽधिष्ठेत्।
शूर इव सेनया समाप्तायुधः,
अलमात्मने भवत्यलं परेभ्यः ॥६१॥

६१—जो मुनि इस तप, संयम-योग और स्वाध्याय-योग में[१७३] सदा प्रवृत्त रहता है[१७४] वह अपनी और दूसरों की रक्षा करने में उसी प्रकार समर्थ होता है जिस प्रकार सेना से घिर जाने पर आयुधों से सुसज्जित वीर।

६२ सज्झायसज्झाणरयस्स ताइणो
अपावभावस्स तवे रयस्स।
विसुज्झई जंसि मलं पुरेकडं
समीरियं रुप्पमलं व जोइणा ॥

स्वाध्याय-सद्ध्यानरतस्य त्रायिणः,
अपापभावस्य तपसि रतस्य।
विशुद्ध्यते यदस्य मलं पुराकृतं,
समीरितं रूप्यमलमिव ज्योतिषा ॥६२॥

६२—स्वाध्याय और सद्ध्यान में लीन, त्राता, निष्पाप मन वाले और तप में रत मुनि का पूर्व संचित मल उसी प्रकार विशुद्ध होता है जिस प्रकार अग्नि द्वारा तपाए हुए सोने का मल।

६३ से तारिसे दुक्खसहे जिइंदिए
सुएण जुत्ते अममे अकिंचणे।
विरायई कम्मघणम्मि अवगए
कसिणब्भपुडावगमे व चंदिमा ॥

स तादृशो दुःखसहो जितेन्द्रियः,
श्रुतेन युक्तोऽममोऽकिञ्चनः।
विराजते कर्मघनेऽपगते,
कृत्स्नाभ्रपुटापगम इव चन्द्रमाः ॥६३॥

६३—जो पूर्वोक्त गुणों से युक्त है, दुःखों को सहन करने वाला है, जितेन्द्रिय है, श्रुतवान् है, ममत्व-रहित और अकिंचन है, वह कर्म रूपी बादलों के दूर होने पर उसी प्रकार शोभित होता है जिस प्रकार सम्पूर्ण अभ्रपटल से वियुक्त चन्द्रमा।

ति बेमि।

इति ब्रवीमि।

ऐसा मैं कहता हूँ।

टिप्पण : अध्ययन ८

श्लोक १ :

आचार-प्रणिधि को (आयारप्पणिहिं [क]) :

प्रणिधि का अर्थ समाधि या एकाग्रता है[1]। आचार में सर्वात्मना जो अध्यवसाय (एकाग्र चिन्तन या दृढ़ मानसिक संकल्प) होता उसे 'आचार-प्रणिधि' कहा जाता है[2]।

पाकर (लद्धं [ख]) :

अगस्त्य चूर्णि[3] और टीका[4] के अनुसार यह पूर्वकालिक क्रिया (क्त्वा प्रत्यय) का और जिनदास चूर्णि[5] के अनुसार यह 'तुम्' प्रत्यय रूप है। 'तुम्' प्रत्यय का रूप मानने पर 'आयार-पणिहिं लद्धुं' का अनुवाद 'आचार-प्रणिधि की प्राप्ति के लिए' होगा।

श्लोक २ :

श्लोक २ :

तुलना कीजिए—पुढवीजीवा पुढो सत्ता, आउजीवा तहाऽगणी।
वाउजीवा पुढो सत्ता, तणरुक्खा सबीयगा॥
अहावरा तसा पाणा, एवं छक्काय आहिया।
एतावए जीवकाए, णावरे कोइ विज्जई॥

(सूत्रकृताङ्ग १.११.७-८)

(सबीयगा [ख]) :

देखिए ४.८ की टिप्पण संख्या २०।

श्लोक ३ :

अहिंसक (अच्छणजोएण [क]) :

'छण' का अर्थ हिंसा है। न छण—अछण अर्थात् अहिंसा[6]। 'योग' का अर्थ सम्बन्ध[7] या व्यापार है। जिसका प्रयत्न

१—अ० चि० ६.१४ : अवधानसमाधानप्रणिधानानि तु समाधौ स्युः।

२—अ० चू० पृ० १८४ : आयारप्पणिधी—आयारे सव्वप्पणा अज्झवसातो।

३—अ० चू० पृ० १८४ : 'लद्धुं' पाविऊण।

४—हा० टी० प० २२७ : 'लब्ध्वा' प्राप्य।

५—जि० चू० पृ० २७१ : (लद्धुं) प्राप्तये।

६—अ० चू० पृ० १८५ : छणणं छण: क्षणु हिंसायामिति एयस्स रूवं, खकारस्स य छकारता पाकते, जधा अक्खीणि अच्छीणि अकारो पडिसेधे, ण छण. अछण. अहिंसणमित्यर्थः।

७—अ० चू० पृ० १८५ : जोगो सम्बन्धो।

१०. न बैठे (निसिए [क]) :

बैठने का स्पष्ट निषेध है। इसके उपलक्षण से खड़ा रहने, सोने आदि का भी निषेध समझ लेना चाहिए[1]।

११. प्रमार्जन कर (पमज्जित्तु [ग]) :

सचित्त-पृथ्वी पर बैठने का सर्वथा निषेध है। अचित्त पृथ्वी पर सामान्यतः आसन बिछाए बिना बैठने का निषेध है, किन्तु धूलि का प्रमार्जन कर बैठने का विधान भी है। यह उस सामान्य विधि का अपवाद है[2]।

१२ लेकर (जाइत्ता [घ]) :

चूर्णि और टीका के अनुसार यह पाठ 'जाणित्तु' रहा—ऐसा सम्भव है। उसके संस्कृत रूप 'ज्ञात्वा' और 'याचयित्वा' दोनों हो सकते हैं। ज्ञात्वा अर्थात् पृथ्वी को अचेतन जानकर, याचयित्वा अर्थात् वह जिसकी हो उसे जताकर—अनुमति लेकर या मांगकर। टीका में 'जाइत्ता' की भी व्याख्या है[3]।

श्लोक ६ :

शीतोदक (सीओदगं [क]) :

यहाँ इसका अर्थ है—भूम्याश्रित सचित्त जल[4]।

(वुट्ठं [ख]) :

बरसात का पानी, अन्तरिक्ष का जल[5]।

हिम का (हिमाणि [ख]) :

हिम-पात शीतकाल में होता है[6] और वह प्रायः उत्तरापथ में होता है[7]।

तप्त होने पर जो प्रासुक हो गया हो वैसा जल (उसिणोदगं तत्तफासुयं [ग]) :

शिष्य ने पूछा—भगवन् ! जो उष्णोदक होता है वह तप्त भी होता है और प्रासुक भी होता है तब फिर उसके साथ तप्त-प्रासुक विशेषण क्यों लगाया गया ?

१—हा० टी० प० २२८ : न निषीदेत्, निषीदनग्रहणात् स्थानत्वग्वर्तनपरिग्रह.।

२—हा० टी० प० २२८ : अचेतनायां तु प्रमृज्य तां रजोहरणेन निषीदेत्।

३—(क) अ० चू० पृ० १८५ : जाणित्तु सच्चोवहता इति लिंगतो पच्चक्खं वा ओग्गहं जाणित्तु सं जाइय अणुण्णविय।

(ख) जि० चू० पृ० २७५ : जाणिऊण जहा एसा अचित्तजाणा, अणणिमाईं उवहयस्स य जस्स सो परिग्गहो तस्स उग्गहं अणुजाणावेऊण निसीयणादीणि कुज्जा।

(ग) हा० टी० प० २२८ : 'ज्ञात्वे' त्यचेतनां ज्ञात्वा 'याचयित्वाऽवग्रह' मिति यस्य सम्बन्धिनी पृथिवी तमवग्रहमनुज्ञाप्येति।

४—(क) अ० चू० पृ० १८५ : 'सीतोदग' तलागादिसु भोम पाणितं।

(ख) जि० चू० पृ० २७५ : सीतोदगगहणेण सचेतणस्स उदयस्स गहणं कयं।

(ग) हा० टी० प० २२८ : 'शीतोदक' पृथिव्युद्भवं सच्चित्तोदकम्।

५—(क) अ० चू० पृ० १८५ : 'वुट्ठ' तक्कालवरिसोदगं।

(ख) जि० चू० पृ० २७६ : वुट्ठग्गहणेण सेसअन्तरिक्खोदगस्स गहणं कयं।

६—अ० चू० पृ० १८५ : हिमं हिमवति सीतकाले भवति।

७—(क) जि० चू० पृ० २७६ : हिमं पाउसे उत्तरापहे भवति।

(ख) हा० टी० प० २२८ : हिमं प्रतीतं प्राय उत्तरापथे भवति।

आचार्य ने कहा—सारा उष्णोदक तप्त-प्रासुक नहीं होता, किन्तु पर्याप्त मात्रा में उबल जाने पर ही वह तप्त-प्रासुक होता है। इसलिए यह विशेषण सार्थक है। मुनि के लिए वही उष्णोदक ग्राह्य है, जो पूर्ण मात्रा में तप्त होने पर प्रासुक हो जाए[1]।

अनुसन्धान के लिए देखिए ५.२.२२ की टिप्पण संख्या ४०-४१।

श्लोक ७ :

१७. जल से भीगे अपने शरीर को (उदउल्लं अप्पणो कायं क) :

मुनि के शरीर भीगने का प्रसंग तब आता है जब वे नदी पार करते हैं या भिक्षाटन में वर्षा आ जाती है[2]।

१८. पोंछे... मले (पुंछे... संलिहे ग) :

वस्त्र, तृण आदि से पोंछना 'प्रोञ्छन' और उंगली, हाथ आदि से पोंछना 'संलेखन' कहलाता है[3]।

१९. तथाभूत (तहाभूयं ग) :

'तथाभूत' का अर्थ आर्द्र या स्निग्ध है[4]।

२०. देखकर (समुप्पेह ग) :

टीका में इसका अर्थ 'देखकर' किया है[5]। चूर्णियों के अनुसार 'समुप्पेहे' पाठ है। इसका अर्थ है—सम्यक् प्रकार से देखे[6]।

श्लोक ८ :

२१. श्लोक ८ :

अङ्गार आदि शब्दों की विशेष जानकारी के लिए देखिए ४.२० की टिप्पण संख्या ८९-१००।

श्लोक ९ :

२२. बाहरी पुद्गलों पर (बाहिरं····· पोग्गलं घ) :

बाह्य पुद्गल का अर्थ [illegible] वस्तु[7]—उष्णोदक आदि पदार्थ हैं[8]।

१—(क) जि० चू० पृ० २७६ : तं पुण उण्होदगं जाहे तत्तं फासुयं भवति ताहे संजतो पडिग्गाहिज्जत्ति, आह—उसिणोदगमेव भण्णउ, तत्तफासुयग्गहणं न कायव्वं, जम्हा जं उण्होदगं तमवस्सं तत्तं फासुयं च भविस्सइ ?, आयरियो आह—न सव्वं उण्होदगं तत्तफासुयं भवति, जाहे [illegible] डंडो ताहे फासुयं भवति, अतो तत्तफासुयग्गहणं कयं भवति।

(ख) हा० टी० प० २२८ : 'उष्णोदकं' क्वथितोदकं 'तप्तप्रासुकं' तप्तं सत्प्रासुकं त्रिदण्डोद्वृत्तं, नोष्णोदकमात्रम्।

२—हा० टी० प० २२८ : नदीमुत्तीर्णो भिक्षाप्रविष्टो वा वृष्टिहतः 'उदकार्द्रम्' उदकबिन्दुचितमात्मनः 'कायं' शरीरं स्निग्धं वा।

३—(क) अ० चू० पृ० १८६ : पुंछणं वत्थादीहिं [illegible] संलिहणमंगुलिमादीहिं निल्लोहणं।

(ख) जि० चू० पृ० २७७ : तत्थ पुंछणं वत्थेहिं तणादीहिं वा भवइ, संलिहणं जं पाणिणा संलिहिऊण णिच्छोडेइ [illegible]।

(ग) हा० टी० प० २२८ : 'पुञ्छेत्' वस्त्रतृणादिभिः 'न संलिखेत्' पाणिना।

४—(क) अ० चू० पृ० १८६ : [illegible] उदउल्लं [illegible]।

(ख) जि० चू० पृ० २७७ : [illegible] उदउल्लं [illegible]।

(ग) हा० टी० प० : 'तथाभूतम्' [illegible]।

५—हा० टी० प० २२८ : [illegible]।

६—(क) अ० चू० पृ० १८६ : [illegible]।

(ख) जि० चू० पृ० २७७ : [illegible]।

७—[illegible]।

८—(क) [illegible]।

(ख) [illegible]।

श्लोक १० :

२३. तृण, वृक्ष (तणरुक्खं [क]) :

'तृण' शब्द से सभी प्रकार की घासों और 'वृक्ष' शब्द से सभी प्रकार के वृक्षों एवं गुच्छ, गुल्म आदि का ग्रहण किया गया है[1]। तृणद्रुम संयुक्त शब्द भी है। कोश में नालिकेर, खर्जूर और पूग आदि ताल जाति के वृक्षों को तृणद्रुम कहा है[2], सम्भवतः इसीलिए कि तृणों के समान इनके भी रेशे समानान्तर और काठ खुरीले होते हैं। किन्तु यहाँ इनका वियुक्त अर्थ-ग्रहण ही अधिक संगत है।

श्लोक ११ :

२४. वन-निकुञ्ज के बीच (गहणेसु [क]) :

गहन का अर्थ है वृक्षाच्छन्न प्रदेश। गहन में हलन-चलन करने से वृक्ष की शाखा आदि का स्पर्श होने की संभावना रहती है इसलिए वहाँ ठहरने का निषेध है[3]।

२५ अनन्तकायिक वनस्पति (उदगम्मि [ग]) :

'उदक' के दो अर्थ किए गए हैं—अनन्तकायिक वनस्पति और जल[4]। किन्तु यह वनस्पति का प्रकरण है, इसलिए यहाँ इसका अर्थ वनस्पति-परक ही संगत है। प्रज्ञापना व भगवती में अनन्तकायिक वनस्पति के प्रकरण में 'उदक' नामक वनस्पति का उल्लेख हुआ है[5]। जहाँ जल होता है वहाँ वनस्पति होती है अर्थात् जल में वनस्पति होने का नियम है। इस वनस्पति-प्रधान दृष्टि से इसका अर्थ जल भी किया जा सकता है।

२६. सर्पच्छत्र (उत्तिग [घ]) :

इसका अर्थ सर्पच्छत्र[6]—कुकुरमुत्ता है। यह पौधा बरसात के दिनों में पेड़ों की जड़ों में या सील की जगह में उगा करता है।

२७. खड़ा न रहे (न चिट्ठेज्जा [क]) :

यह शब्द न बैठे, न सोए आदि का संग्राहक है[7]।

श्लोक १२ :

२८. सब जीवों के (सव्वभूएसु [ग]) :

यह त्रस का प्रकरण है इसलिए यहाँ 'सर्वभूत' का अर्थ 'सर्व त्रस जीव' है[8]।

१—(क) जि० चू० पृ० २७७ : तत्थ तणं दब्भादि, रुक्खगहणेण एगट्ठियाण बहुबीयाण य गहणं, 'एगग्गहणे गहणं तज्जातीयाण' मितिकाउं सेसावि गुच्छगुम्मादि गहिया।

(ख) हा० टी० प० २२६ : तृणानि—दर्भादीनि, वृक्षाः—कदम्बादयः।

२—अमर० काण्ड २ वर्ग ४ श्लोक १७० : खर्जूरः केतकी ताली खर्जूरी च तृणद्रुमाः।

३—(क) जि० चू० पृ० २७७ : गहणं गुविलं भण्णइ, तत्थ उव्वत्तमाणो परियत्तमाणो वा साहादीणि घट्टेइ तं गहणं, तत्थ नो चिट्ठेज्जा।

(ख) हा० टी० प० २२६ : 'गहनेषु' वननिकुञ्जेषु न तिष्ठेत्, संघट्टनादिदोषप्रसङ्गात्।

४—जि० चू० पृ० २७७ : तत्थ उदगं नाम अणंतवणप्फई, से भणियं च—'उदए अवए पणए सेवाले' एवमादि, अहवा उदगगहणेण उदगस्स गहणं करेंति, कम्हा ?, जेण उदएण वणप्फइकाओ अत्थि।

५—पन्न १.४३ पृ० १०५ : जलरुहा अणेगविहा पन्नत्ता, तंजहा—उदए, अवए, पणए ····।

६—हा० टी० प० २२६ : 'उत्तिङ्ग'...सर्पच्छत्रादिः।

७—अ० चू० पृ० १८७ : ण चिट्ठे णिसीयणादि सव्वं ण चेएज्जा।

८—अ० चू० पृ० १८७ : सव्वभूताणि तसकायाधिकारोति सव्वतसा।

के टीकाकार हरिभद्र सूरि ने 'उत्तिग' का अर्थ 'कीटिका-नगर' किया है[1]। इन दोनों सूत्रों के शाब्दिक-भेद और आर्थिक-अभेद से एक बड़ा लाभ हुआ है, वह है 'उत्तिग' शब्द के अर्थ का निश्चय। विभिन्न व्याख्याकारों ने 'उत्तिग' शब्द के विभिन्न अर्थ किए हैं, किन्तु प्रस्तुत श्लोक में प्रयुक्त 'उत्तिग' का अर्थ वही होना चाहिए जो 'लयन' का है। इस प्रकार 'लयन' शब्द 'उत्तिग' के अर्थ को कस देता है। इसी अध्ययन के ग्यारहवें श्लोक में जो 'उत्तिग' शब्द आया है वह वनस्पति का वाचक है। प्रस्तुत प्रकरण त्रसकाय से सम्बन्धित है। प्रकरण भेद से दोनों में अर्थ-भेद है।

श्लोक १६ :

३२. सब प्रकार से (सव्वभावेण[ख]) :

अगस्त्य चूर्णि में लिङ्ग, लक्षण, भेद, विकल्प—यह सर्वभाव की व्याख्या है[2]। लिङ्ग आदि सर्व साधनों से जानना, सर्वभाव से जानना कहलाता है। इसका दूसरा अर्थ 'सर्वस्वभाव' किया है[3]। जिनदास चूर्णि में वर्ण, संस्थान आदि को 'सर्वभाव' माना गया है[4]। वहीं एक विशेष जानकारी दी गई है कि छद्मस्थ सब पर्यायों को नहीं जान सकता। इसलिए 'सर्वभाव' का अर्थ होगा जिसका जो विषय है उसे पूर्णरूप से (जानकर)[5]। टीकाकार ने इसका अर्थ 'अपनी शक्ति के अनुरूप स्वरूप-संरक्षण' किया है[6]।

श्लोक १७ :

३३. पात्र (पाय[ख]) :

यहाँ पात्र शब्द से काष्ठ, तुम्बा और मिट्टी—ये तीनों प्रकार के पात्र ग्राह्य हैं[7]।

३४. कम्बल (कवलं[ख]) :

यहाँ कम्बल शब्द से ऊन और सूत—दोनों प्रकार के वस्त्र ग्राह्य हैं[8]।

३५. शय्या (सेज्जं[ग]) :

शय्या का अर्थ है वसति—उपाश्रय। उसका दिन में दो या तीन बार प्रतिलेखन करने की परम्परा का उल्लेख है[9]।

१—हा० टी० प० २३० : उत्तिगमुक्तं—कीटिका-नगरम्। तत्र कीटिका अन्ये च सूक्ष्मसत्त्वा भवन्ति।

२—अ० चू० पृ० १८८ सव्वभावेणलिंगलक्खणभेदविकप्पेण।

३—अ० चू० पृ० १८८ : अहवा सव्वसभावेण।

४—जि० चू० पृ २७८ : सव्वप्पगारेहिं वण्णसंठाणाईहिं णाऊणति।

५—जि० चू० पृ० २७८-२७६ : अहवा ण सव्वपरियाएहिं छउमत्थो सक्केइ उवलभिउं, किं पुण जो जस्स विसयो? तेण सव्वेण भावेण जाणिऊणति।

६—हा० टी० प० २३० 'सर्वभावेन' शक्त्यनुरूपेण स्वरूपसंरक्षणादिना।

७—(क) अ० चू० पृ० १८८ : पाय लाबुदारुमट्टियामयं।
(ख) जि० चू० पृ० २७६ : पायग्गहणेण दारुअलाउयमट्टियपायाण गहण।
(ग) हा० टी० प० २३१ 'पात्रग्रहणात् —अलाबुदारुमयादिपरिग्रहः।

८—(क) अ० चू० पृ० १८८ : कंबलोपदेसेण सज्जातीय सव्वाणि सव्वमुपदिट्ठं।
(ख) जि० चू० पृ० २७६ : कम्बलग्गहणेण उण्णियसोत्तियाण सव्वेसिं गहणं।
(ग) हा० टी० प० २३१ : कम्बलग्रहणादूर्णासूत्रमयपरिग्रहः।

९—(क) जि० चू० पृ० २७६ : सेज्जाओ वसहीओ भण्णइ, तमवि दुकालं तिकालं वा पडिलेहिज्जा।
(ख) हा० टी० प० २३१ : 'शय्यां' वसतिं द्विकालं त्रिकालं च।

३६. उच्चार-भूमि (उच्चारभूमिं ग) :

जहाँ लोगों का अनापात और असंलोक हो अर्थात् लोगों का गमनागमन न हो और लोग न दीखते हों, वह उच्चार—मलोत्सर्ग करने योग्य भूमि है। साधु उसका प्रतिलेखन और प्रमार्जन कर उसमें प्रवेश करे[1]।

३७. संस्तारक (संथारं घ) :

संस्तारक-भूमि के लिए भी प्रतिलेखन और प्रमार्जन दोनों का विधान है[2]।

३८. आसन का (आसणं घ) :

बैठते समय आसन का प्रतिलेखन करने का विधान है[3]।

३९. यथासमय (धुवं क) :

इसका अर्थ नित्य-नियत समय या यथासमय है[4]।

४०. प्रमाणोपेत (जोगसा ग) :

इसका अर्थ अन्यूनातिरिक्त अर्थात् प्रमाणोपेत है। प्रतिलेखन न हीन करना चाहिए और न अतिरिक्त, किन्तु प्रमाणोपेत करना चाहिए। जैसे योग-रक्त साड़ी का अर्थ प्रमाण-रक्त साड़ी होता है, वैसे ही जोगसा का अर्थ प्रमाण-प्रतिलेखन होता है[5]। [illegible] इसका एक अर्थ—'सामर्थ्य होने पर' भी किया गया है[6]।

४१. प्रतिलेखन करे (पडिलेहेज्जा क) :

प्रतिलेखन का अर्थ है देखना। मुनि के लिए दिन में दो बार (प्रातः और सायं) वस्त्र आदि का प्रतिलेखन करना विहित है। प्रतिलेखन-विधि की जानकारी के लिए उत्तराध्ययन (२६.२२-३१) और ओघनिर्युक्ति गाथा (२५६-२७५) द्रष्टव्य हैं।

श्लोक १८ :

४२. श्लोक १८ :

इस श्लोक में निर्दिष्ट उच्चार आदि की तरह अन्य शरीर के अवयव, आहार या उपकरण आदि का भी प्रासुक स्थान में [illegible] करना चाहिए। यह उपाश्रय में उत्सर्ग करने की विधि का वर्णन है[7]।

१—(क) अ० चू० पृ० १८८ : उच्चारो सरीरमलो तस्स भूमी उच्चारभूमी, तमवि अणावातमसंलोगादिविहिणा पडिलेहिय पमज्जिय वा आयरेज्ज।

(ख) जि० चू० पृ० २७६ : उच्चारभूमिमवि अणावायमसंलोयादिगुणेहिं जुत्तं गवसाणो।

(ग) हा० टी० प० २३२ : उच्चारभुवं च—अनापातवदादि स्थण्डिलम्।

२—(क) जि० चू० पृ० २७६ : तहा संथारभूमिमवि पडिलेहिय पमज्जिय अत्थुरेज्जा।

(ख) हा० टी० प० २३२ : 'संस्तारकं' तृणमयादिरूपम्।

३—जि० चू० पृ० २७६ : तहा आसणमवि पडिलेहिऊण उवविसेज्ज।

४—(क) अ० चू० पृ० १८८ : धुवं निच्चं।

(ख) जि० चू० पृ० २७६ : धुवं णाम जो जस्स पच्चुवेक्खणकालो तं तम्मि निच्चं।

(ग) हा० टी० प० २३२ : 'ध्रुवं' नित्यं [illegible] उक्तोऽनागतः परिभोगे च [illegible]।

५—[illegible]

६—[illegible]

७—[illegible]

४३. शरीर के मैल का (जल्लियं [ख]) :

'जल्लिय' का अर्थ है शरीर पर जमा हुआ मैल। चूर्णिद्वय के अनुसार मुनि के लिए उसका उद्वर्तन करना —मैल उतारना विहित नहीं है। पसीने से गलकर मैल उतरता है अथवा ग्लान साधु शरीर पर जमे हुए मैल को उतार सकता है। यहाँ मैल के उत्सर्ग का उल्लेख इन्हीं की अपेक्षा से है[1]।

अगस्त्यसिंह ने 'जाव सरीरभेओ' इस वाक्य के द्वारा 'जल्ल परीषह' की ओर संकेत किया है। इसकी जानकारी के लिए देखिए उत्तराध्ययन (२.३७)।

श्लोक १९ :

४४. (वा [ख]) :

सामान्यतः गृहस्थ के घर जाने के भोजन और पानी—ये दो प्रयोजन बतलाए हैं। रुग्ण साधु के लिए औषध लाने के लिए तथा इसी कोटि के अन्य कारणों से भी गृहस्थ के घर में प्रवेश करना होता है—यह 'वा' शब्द से सूचित किया गया है[2]।

४५. उचित स्थान में खड़ा रहे (जयं चिट्ठे [ग]) :

इसका शाब्दिक अर्थ है—यतनापूर्वक खड़ा रहे। इसका भावार्थ है—गृहस्थ के घर में मुनि झरोखा, सन्धि आदि स्थानों को देखता हुआ खड़ा न रहे अर्थात् उचित स्थान में खड़ा रहे[3]।

४६. परिमित बोले (मियं भासे [ग]) :

गृहस्थ के पूछने पर मुनि यतना से एक बार या दो बार बोले[4] अथवा प्रयोजन वश बोले[5]। जो बिना प्रयोजन बोलता है वह भले थोड़ा ही बोले, मितभाषी नहीं होता और प्रयोजनवश अधिक बोलने वाला भी मितभाषी है। आहार एषणीय न हो तो उसका प्रतिषेध करे[6] यह भी 'मियं भासे' का एक अर्थ है।

४७. रूप में मन न करे (ण य रूवेसु मणं करे [घ]) :

भिक्षाकाल में दान देने वाली या दूसरी स्त्रियों का रूप देखकर यह चिन्तन न करे—इसका आश्चर्यकारी रूप है, इसके साथ मेरा संयोग हो आदि। रूप की तरह शब्द, रस, गन्ध और स्पर्श में भी मन न लगाए—आसक्त न बने[7]।

१—(क) अ० चू० पृ० १९९ : जल्लिया मलो, तस्स य जाव सरीरभेदाए नत्थि उव्वट्टणं जदा पुण परसेदेण गलति गिलाणाति कज्जे वा अवकरिसणं तदा।

(ख) जि० चू० पृ० २७९ : जल्लियं नाम मलो, णो कप्पइ उवट्टेउं, जो पुण गिम्हकाले पसेयो भवति, अण्णमि गिलाणादि कारणे मलत्थे करिसो कीरइ तस्स स गहण कयति।

२—(क) जि० चू० पृ० २७९-२८० ; अन्नेसु वा कारणेसु पविसिऊण।

(ख) हा० टी० प० २३१ : ग्लानादेरौषधार्थं वा।

३—(क) जि० चू० पृ० २८० : तत्थ जयं चिट्ठे नाम तमि गिहदुवारे चिट्ठे, णो आलोयत्थिग्गलाईणि वज्जयंति, अवलेयं मोहयतो चिट्ठेज्जा।

(ख) हा० टी० प० २३१ : यत—गवाक्षद्वारोन्यनवलोकयन् तिष्ठेदुचितदेशे।

४—जि० चू० पृ० २८० : मितं भासेज्जा नाम पुच्छिओ संजओ जयणाए एक्क वा दो वा वारे भासेज्जा।

५—जि० चू० पृ० २८० : कारणणिमित्त वा भासइ।

६—जि० चू० पृ० २८० : अणेसणं वा पडिसेहयइ।

७—जि० चू० पृ० २८० : रूवं दायगस्स अण्णेसिं वा दट्ठूणं तेसु मणं ण कुज्जा, जहा अ होज्जति एवमादि।

श्लोक २० :

४८. श्लोक २० :

चूर्णिकार ने इस श्लोक के प्रतिपाद्य की पुष्टि के लिए एक उदाहरण दिया है :

एक व्यक्ति पर-स्त्री के साथ मैथुन सेवन कर रहा था। किसी साधु ने उसे देख लिया। वह लज्जित हुआ और सोचने लगा कि साधु किसी दूसरे को कह देगा, इसलिए मैं इसे मार डालूं। उसने आगे जाकर मार्ग रोका और मौका देखकर साधु से पूछा—'आज तूने मार्ग में क्या देखा ?' साधु ने कहा :

> बहुं सुणेइ कण्णेहिं, बहुं अच्छीहिं पिच्छइ।
> न य दिट्ठं सुयं सव्वं, भिक्खु अक्खाउमरिहइ ॥

यह सुनकर उसने मारने का विचार छोड़ दिया[1]। इस प्रसंग से यह स्पष्ट होता है कि सत्य भी विवेकपूर्वक बोलना चाहिए। साधु को झूठ नहीं बोलना चाहिए, किन्तु जहाँ सत्य बोलने से हिंसा का प्रसंग हो वहाँ सत्य भी नहीं बोलना चाहिए। वैसी स्थिति में मौन रखना ही अहिंसक का धर्म है। इसका सम्बन्ध आचाराङ्ग से भी है। वहाँ बताया गया है—पथिक ने साधु से पूछा : 'क्या तुमने मार्ग में मनुष्य, बैल, महिष, पशु, पक्षी, सांप, सिंह या जलचर को देखा ? यदि देखा हो तो बताओ।' वैसी स्थिति में साधु जानता हुआ भी 'जानता हूँ'—ऐसा न कहे। किन्तु मौन रहे[2]।

श्लोक २१ :

४९. सुनी हुई (सुयं [क]) :

किसी के बारे में दूसरों से सुनकर कहना कि 'तू चोर है'—यह सुना हुआ औपघातिक वचन है[3]।

५०. देखी हुई (दिट्ठं [ग]) :

मैंने इसे आंखों से धन चुराते देखा है—यह देखा हुआ औपघातिक वचन है[4]।

५१. गृहस्थोचित कर्म का (गिहिजोगं [घ]) :

गिहिजोग का अर्थ है—गृहस्थ का संसर्ग या गृहस्थ का कर्म—व्यापार। 'इस लड़की का तूने वैवाहिक सम्बन्ध नहीं किया ? [illegible]'—ऐसा कहना गृहियोग कहलाता है[5]।

1. (क) अ० चू० पृ० १९० ।
   (ख) जि० चू० पृ० २८२ ।
2. आ० चू० [illegible] : [illegible] जाणं वा नो जाणंति वएज्जा ।
3. (क) जि० चू० पृ० [illegible] : [illegible] सुयं [illegible] सुओ [illegible] चोरो एवमादि ।
   (ख) हा० टी० प० [illegible] : [illegible] ।
4. (क) जि० चू० पृ० २८३ : [illegible] एवमादि ।
   (ख) हा० टी० प० २३३ : [illegible] ।
5. (क) अ० चू० पृ० १९० : [illegible] ।
   (ख) जि० चू० पृ० [illegible] ।
   (ग) हा० टी० प० २३३ : [illegible] ।

प्रकार अमनोज्ञ शब्दों में द्वेष न करे। इसी प्रकार शेष इन्द्रियों के प्रिय और अप्रिय विषयों में राग और द्वेष न करे। जैसे बाहरी वस्तुओं में राग और द्वेष का निग्रह कर्म-क्षय के लिए किया जाता है, वैसे ही कर्म-क्षय के लिए आन्तरिक दुःख भी सहने चाहिए[1]।

६७. कानों के लिए सुखकर (कण्णसोक्खेहिं [क]) :

वेणु, वीणा आदि के जो शब्द कानों के सुख के हेतु होते हैं, वे शब्द 'कर्णसौख्य' कहे जाते हैं[2]।

६८. दारुण और कर्कश (दारुणं कक्कसं [ग]) :

जिनदास चूर्णि के अनुसार 'दारुण' का अर्थ है विदारण करने वाला और कर्कश का अर्थ है शरीर को कृश करने वाले शीत, उष्ण आदि के स्पर्श। इन दोनों को एकार्थक भी माना है। तीव्रता बताने के लिए अनेक एकार्थक शब्दों का प्रयोग करना पुनरुक्त नहीं कहलाता[3]। टीका के अनुसार 'दारुण' का अर्थ अनिष्ट और 'कर्कश' का अर्थ कठिन है[4]। अगस्त्य चूर्णि के अनुसार शीत, उष्ण आदि दारुण स्पर्श है और कंकड़ आदि के स्पर्श कर्कश है। पहले का सम्बन्ध ऋतु-विशेष और दूसरे का सम्बन्ध मार्ग-गमन से है[5]।

६९. स्पर्श (फासं [ग]) :

स्पर्श का अर्थ स्पर्शन-इन्द्रिय का विषय (कठोर आदि) है। इसका दूसरा अर्थ दुःख या कष्ट भी है[6]। यहाँ दोनों अर्थ किए जा सकते हैं।

श्लोक २७ :

७०. दुःशय्या (विषम भूमि पर सोना) (दुस्सेज्जं [क]) :

जिस पर सोने से कष्ट होता है उसे दुःशय्या कहा जाता है। विषमभूमि, फलक आदि दुःशय्या हैं[7]।

७१. अरति (अरइं [ख]) :

अरति भूख, प्यास आदि से उत्पन्न होती है[8]। टीकाकार ने मोहजनित उद्वेग को 'अरति' माना है[9]।

---

१ — जि० चू० पृ० २८३ : तत्थ कण्णसोक्खेहिं सद्देहिंति एतेण आदिल्लस्स सोइंदियस्स गहणं कयं, दारुणं कक्कसं फासंति—एतेण अंतिल्लस्स फासिंदियस्स गहणं कयं, आदिल्ले अंतिल्ले य गहिए सेसावि तस्स मज्झपडिया सव्वे [illegible] गहिया, कण्णेहिं [illegible] रागं न गच्छेज्जा, एवं सद्दा, सेसेसुवि रागं न गच्छेज्जति, जहा एतेसु सद्दादिसु मणुण्णेसु रागं न गच्छेज्जा तहा अमणुण्णेसु दोसं न गच्छेज्जा, जहा बाहिरवत्थूसु रागदोसनिग्गहो कम्मक्खयत्थं कीरइ तहा कम्मक्खवणत्थमेव अन्तब्भूयमवि दुक्खं सहियव्वं।

२ — जि० चू० पृ० २८३ : कण्णाणं सुहा कण्णसोक्खा तेसु कण्णसोक्खेसु वंसीवीणादिसद्देसु।
हा० टी० प० २३२ : कर्णसौख्यहेतवः कर्णसौख्याः शब्दाः वेणुवीणादिसम्बन्धिनः।

३ — जि० चू० पृ० २८३ : दारुणं णाम दारणसीलं दारुणं, कक्कसं णाम जो सीउण्हफासादिफासो सो सरीरं किसं कुव्वइत्ति कक्कसं, [illegible] अहवा दारुणसद्दो कक्कससद्दोऽवि एगट्ठा, अच्चत्थनिमित्तं [illegible] पुणरुत्तं भवइ।

४ — हा० टी० प० २३२ : 'दारुणम्' अनिष्टं 'कर्कशं' कठिनम्।

५ — [illegible]

६ — [illegible]

७ — [illegible]

८ — [illegible]

९ — [illegible]

७२. भय को (भयं क):

सिंह, सांप आदि के निमित्त से उत्पन्न होने वाला उद्वेग 'भय' कहलाता है[१]।

७३. अव्यथित (अव्वहिओ ग):

अव्यथित का अर्थ—अदीन, अविक्लीव और असीदमान—विषाद न करता हुआ है[२]।

७४. देह में उत्पन्न कष्ट को (देहे दुक्खं घ):

कष्ट दो प्रकार के होते हैं—उदीर्ण—स्वतः उत्पन्न और उदीरित—जान-बूझ कर उत्पादित। यहाँ 'देह' शब्द में सप्तमी विभक्ति है। इसके आधार पर अगस्त्यसिंह ने 'देहे दुक्खं' का अर्थ देह में उत्पन्न दुःख किया है[३]। जिनदास इस विषय में मौन हैं[४]। हरिभद्र इसका सम्बन्ध इस प्रकार बतलाते हैं—देह होने पर दुःख होता है। देह असार है—यह सोचकर दुःख को सहन करना महा फल का हेतु होता है[५]।

मुनि की अनेक भूमिकाएँ हैं। जिन-कल्पी या विशिष्ट अभिग्रहधारी मुनि कष्टों की उदीरणा करते हैं। स्थविर-कल्पी का मार्ग इससे भिन्न है। वे उत्पन्न कष्टों को सहन करते हैं। अगस्त्यसिंह की व्याख्या इस भूमिका-भेद को 'उत्पन्न' शब्द के द्वारा स्पष्ट करती है।

७५. महाफल (महाफलं घ):

आत्मवादी का चरम साध्य मोक्ष है, इसलिए वह उसीको सबसे महान् फल मानता है। उत्पन्न दुःख को सहन करने का अंतिम फल मोक्ष होता है, इसलिए उसे महाफल कहा गया है[६]।

श्लोक २८ :

७६. सूर्यास्त से लेकर (अत्थंगयम्मि क):

यहाँ 'अस्त' के दो अर्थ हो सकते हैं—सूर्य का डूबना—अदृश्य होना अथवा वह पर्वत जिसके पीछे सूर्य छिप जाता है[७]।

७७. पूर्व में (पुरत्था ख):

अगस्त्य चूर्णि के अनुसार 'पुरस्तात्' का अर्थ पूर्व दिशा और टीका के अनुसार प्रातःकाल है[८]।

७८. (आहारमइयं ग):

यहाँ 'मइय' मयट् प्रत्यय के स्थान में है[९]।

१—(क) अ० चू० पृ० १९१ : भयं उव्वेगो सीह-सप्पातीतो।
(ख) जि० चू० पृ० २८३ : 'भयं' सप्पसीहवाघ्रादि वा भवति।
(ग) हा० टी० प० २३२ : 'भयं' व्याघ्रादिसमुत्थम्।

२—(क) जि० चू० पृ० २८३ : अव्वहिओ नाम अहीणो अविक्कीवो असीयमाणोत्ति वुत्तं भवति।
(ख) हा० टी० प० २३२ : 'अव्यथित.' अदीनमनाः सन्।

३—अ० चू० पृ० १९२ : देहो सरीरं तंमि उप्पण्णं दुक्खं।

४—जि० चू० पृ० २८३ : देहे दुक्खं महाफलं।

५—हा० टी० प० २३२ : देहे दुःखं महाफलं संचिन्त्येति वाक्यशेषः। तथा च शरीरे सत्येतद्दुःखं, शरीरं चासारं, सम्यगतिसह्यमान
· · · मोक्षफलमेवेदम्।

—(क) अ० चू० पृ० १९२ : मोक्खपज्जवसाणफलत्तेण महाफलं।
(ख) जि० चू० पृ० २८३ : महाफलं—महा मोक्खो भण्णइ, तं मोक्खपज्जवसाणं फलमिति।

—(क) अ० चू० पृ० १९२ : आइच्चादितिरोभावकरण पव्वयो अत्थो, खेत्तविप्पकरिसभावेण वा अदरिसणमत्थो तं गते।
(ख) जि० चू० पृ० २८३ : अत्थो णाम पव्वओ, तंमि गतो आदिच्चो अत्थगओ, अहवा अचक्खुविसयपत्थो, अत्थगते आदिच्चे
(ग) हा० टी० प० २३५ : 'अस्त' गत आदित्ये' अस्तपर्वतं प्राप्ते अदर्शनीभूते वा।

·(क) अ० चू० पृ० १९२ : पुरत्था वा पुव्वाए दिसाए।
(ख) हा० टी० प० २३२ : 'पुरस्ताच्चानुद्गते' प्रत्यूषस्यनुदिते।

—पाइयसद्दमहण्णव पृ० ८१८।

७९. मन से भी इच्छा न करे (मणसा वि न पत्थए [घ]) :

मन से भी इच्छा न करे, तब वचन और शरीर के प्रयोग की कल्पना ही कैसे की जा सकती है—यह स्वयंगम्य है[1]।

श्लोक २९ :

८० प्रलाप न करे (अतितिणे [क]) :

तेन्दु आदि की लकड़ी को अग्नि में डालने पर जो तिण-तिण शब्द होता है उसे तितिण' कहते हैं। यह ध्वनि का अनुकरण है। अर्थात् मनचाहा कार्य न होने पर बकवास करता है उसे भी 'तितिण' कहा जाता है। आहार न मिलने पर या मनचाहा न मिलने पर जो प्रलाप नहीं करता वह 'अतितिण' होता है[2]।

८१. अल्पभाषी (अप्पभासी [ग]) :

अल्पभाषी का अर्थ है कार्य के लिए जितना बोलना आवश्यक हो उतना बोलने वाला[3]।

८२. मितभोजी (मियासणे [ग]) :

जिनदास चूर्णि के अनुसार इसका समास दो तरह से होता है।

१. मित+अशन=मिताशन

२. मित+आसन=मितासन

मिताशन का अर्थ मितभोजी और मितासन का अर्थ थोड़े समय तक बैठने वाला है। इसका आशय है कि श्रमण भिक्षा के लिए जाए तब किसी कारण से बैठना पड़े तो अधिक समय तक न बैठे[4]।

८३ उदर का दमन करने वाला (उयरे दंते [ग]) :

जो भिन्न-भिन्न प्रकार के प्राप्त भोजन से संतुष्ट हो जाता है, वह उदर का दमन करने वाला कहलाता है[5]।

८४. थोड़ा आहार पाकर दाता की निन्दा न करे (थोवं लद्धुं न खिंसए [घ]) :

थोड़ा आहार पाकर श्रमण देय—अन्न, पानी आदि और दायक की खिंसना न करे, निन्दा न करे[6]।

१—(क) जि० चू० पृ० २८४ : किमंग पुण वायाए कम्मुणा इति।
(ख) हा० टी० प० २३२ : मनसापि न प्रार्थयेत्, किमङ्ग पुनर्वाचा कर्मणा चेति।

२—(क) अ० चू० पृ० १९२ : तेंदुग विकट्ठदारुमिव तिणितिणणं तितिणं, तहा अलाभादि ण होति [illegible] अतितिणे।
(ख) जि० चू० पृ० २८४ : जहा तिंदुयदारुयं अगणिमि पक्खित्तं तडतडेंती [illegible] तहावि [illegible]।
(ग) हा० टी० प० २३२ : अतिन्तिणो लाभालाभयोरपि [illegible]भाषी।

३—(क) अ० चू० पृ० १९२ : अप्पवादी जो कारणमत्तं आभासति [illegible]
(ख) जि० चू० पृ० २८४ : अप्पवादी नाम कज्जमेत्तभासी।
(ग) हा० टी० प० २३२ : 'अल्पभाषी' कारणे परिमितवक्ता।

४—(क) जि० चू० पृ० २८४ : मितमासणे णाम मितं असतीति मितासणे, परिमितमाहारोत्ति वुत्तं भवति, अहवा [illegible] [illegible]।
(ख) हा० टी० प० २३२ : 'मितासनः' मितभोक्ता।

५—(क) जि० चू० पृ० २८४ : 'उयरे दंते' [illegible] जेण तेणेव संतुसियव्वंति।
(ख) हा० टी० प० २३२ : [illegible] वृत्तिशीलः।

६—(क) जि० चू० पृ० २८४ : [illegible] दायगं वा णो हिलेज्जा।
(ख) हा० टी० प० २३२ : [illegible] न खिंसयेद्' देयं दातारं वा न हीलयेदिति।

८५. श्लोक ३० :

श्लोक ३० :

श्रुत मद की तरह मैं कुल-सम्पन्न हूँ, और बल-सम्पन्न हूँ और रूप-सम्पन्न हूँ—इस प्रकार मुनि कुल, बल और रूप का भी मद न करे[१]।

८६. दूसरे का (बाहिरं क) :

बाह्य अर्थात् अपने से भिन्न व्यक्ति[२]।

८७. श्रुत, लाभ, जाति, तपस्विता और बुद्धि का (सुयलाभे ग . बुद्धिए घ) :

श्रुत, लाभ, जाति, तपस्विता और बुद्धि—ये आत्मोत्कर्ष के हेतु हैं। मैं बहुश्रुत हूँ, मेरे समान दूसरा कौन है ? इस प्रकार श्रमण श्रुत का गर्व न करे। लाभ का अर्थ है—लब्धि, प्राप्ति। लब्धि में मेरे समान दूसरा कौन है ? इस प्रकार लाभ का गर्व न करे। मैं उत्तम जातीय हूँ, बारह प्रकार के तप करने में और बुद्धि में मेरे समान दूसरा कौन है ? इस प्रकार जाति, तप और बुद्धि का मद न करे[३]। लाभ का वैकल्पिक पाठ लज्जा है। लज्जा अर्थात् संयम में मेरे समान दूसरा कौन है—इस प्रकार लज्जा का मद न करे।

८८. श्लोक ३१-३३ :

श्लोक ३१ :

जान या अजान में लगे हुए दोष को आचार्य या बड़े साधुओं के सामने निवेदन करना आलोचना है। अनाचार का सेवन कर गुरु के समीप उसकी आलोचना करे तब आलोचक को बालक की तरह सरल होकर सारी स्थिति स्पष्ट कर देनी चाहिए[४]। जो ऋजु नहीं होता वह अपने अपराध की आलोचना नहीं कर सकता[५]। जो मायावी होता है वह (आकम्पयित्ता) गुरु को प्रसन्न कर आलोचना करता है। इसके पीछे भावना यह होती है कि गुरु प्रसन्न होंगे तो मुझे प्रायश्चित्त थोड़ा देंगे।

जो मायावी होता है वह (अणुमाणइत्ता) छोटा अपराध बताने पर गुरु थोड़ा दण्ड देंगे, यह सोच अपने अपराध को बहुत छोटा बनाता है। इस प्रकार वह भगवती (२५.७) और स्थानाङ्ग (१०.७०) में निरूपित आलोचना के दस दोषों का सेवन करता है। इसीलिए कहा है कि आलोचना करने वाले को विकट-भाव (बालक की तरह सरल और स्पष्ट भाव वाला) होना चाहिए[६]। जिसका हृदय पवित्र नहीं होता, वह आलोचना नहीं कर सकता। आलोचना नहीं करने वाले विराधक होते हैं, यह सोचकर आलोचना की जाती है[७]।

१—हा० टी० प० २३३ : उपलक्षणं चैतत्कुलबलरूपाणाम्, कुलसंपन्नोऽहं बलसंपन्नोऽहं रूपसंपन्नोऽहमित्येवं न माद्येतेति।

२—(क) अ० चू० पृ० १९२ : अप्पाणवतिरित्तो बाहिरो।

(ख) जि० चू० पृ० २८४ : बाहिरो नाम अत्ताणं मोत्तूण जो सो लोगो सो बाहिरो भण्णइ।

(ग) हा० टी० प० २३३ : 'बाह्यम्' आत्मनोऽन्यम्।

३—(क) जि० चू० पृ० २८४ : सुएण उक्करिसं गच्छेज्जा, जहा बहुस्सुतोऽहं को मए समाणोत्ति, (पाठवेण) लाभेणऽवि को मए अण्णो ?, लद्धीएवि जहा को मए समाणोत्ति एवमादिएअहियासि लज्जा (ठी) संजमो भण्णइ, तेणवि संजमेण उक्करिसं गच्छेज्जा, को मए संजमेण सरिसोत्ति ?, जातीएवि जहा उत्तमजातीओऽहं तवेण को अण्णो बारसविधे तवे समाणो मएत्ति ?, बुद्धिएवि जहा को मए समाणोत्ति एवमादि, एतेहिं सुयादीहिं णो उक्करिसं गच्छेज्जा।

(ख) हा० टी० प० २३३ : श्रुतलाभाभ्यां न माद्येत पण्डितो लब्धिमानहमित्येवं, तथा जात्या—तापस्त्येन बुद्ध्या वा, न माद्येतेति वर्तते, जातिसंपन्नस्तपस्वी बुद्धिमानहमित्येवम्।

४—भग० २५.७.१९८; ठा० १०.७१।

५—ठा० ८.१८।

६—अ० चू० पृ० १९१ : सदा वियडभावो सब्भावत्थं जधा बालो जंपतो तहेव वियडभावो।

७—ठा० ८.१८।

आलोचना करने पर अपराधी भी पवित्र हो जाता है अथवा पवित्र वही है जो स्पष्ट (दोष से निर्लिप्त) होता है[1]। आलोचना करने के पश्चात् आलोचक को असंसक्त और जितेन्द्रिय (फिर दोषपूर्ण कार्य न करने वाला) होना चाहिए[2]।

आलोचना करने योग्य साधु के दस गुण बतलाए हैं। उनमें आठवां गुण दान्त है[3]। दान्त अर्थात् जितेन्द्रिय। जो जितेन्द्रिय और असंसक्त होता है वही आलोचना का अधिकारी है।

आलोचना के पश्चात् शिष्य का यह कर्तव्य होता है कि गुरु जो प्रायश्चित्त दे, उसे स्वीकार करे और तदनुकूल प्रवृत्ति करे, उसका निर्वाह करे[4]।

अनाचार-सेवन, उसकी आलोचना-विधि और प्रायश्चित्त का निर्वाह—ये तीनों तथ्य क्रमशः ३१,३२,३३—इन तीन श्लोकों में प्रतिपादित हुए हैं।

८९. (से ^घ^) :

अगस्त्य चूर्णि के अनुसार 'से' का अर्थ वाक्य का उपन्यास है[5]। जिनदास चूर्णि और टीका के अनुसार 'से' शब्द साधु का निर्देश करने वाला है[6]।

९०. ज्ञान या अज्ञान में (जाणमजाणं वा ^घ^) :

अधर्म का आचरण केवल अज्ञान में ही नहीं होता, किन्तु यदा-कदा ज्ञानपूर्वक भी होता है। इसका कारण मोह है। मोह का उदय होने पर राग और द्वेष से ग्रस्त मुनि जानता हुआ भी मूलगुण और उत्तरगुण में दोष लगा लेता है और कभी कल्प्य और अकल्प्य को न जानकर अकल्प्य का आचरण कर लेता है[7]।

९१. दूसरी बार (बीयं ^घ^) :

प्राकृत में कहीं-कहीं एक पद में भी सन्धि हो जाती है। इसके अनुसार 'बिइओ' का 'बीओ' बना है[8]।

श्लोक ३२ :

९२. अनाचार (अणायारं ^क^) :

अनाचार अर्थात् अकरणीय वस्तु[9], उन्मार्ग[10], सावद्यप्रवृत्ति[11]।

१—जि॰ चू॰ पृ॰ २८५ : सुद्धो सो चेव सुई जो सदा विमलभावो ।

२—अ॰ चू॰ पृ॰ १९३ : असंसत्तो दोसेहिं गिहत्थकज्जेहिं वा । जितसोतादिंदिओ, ण पुण तहाकारी ।

३—भग॰ २५.७.१९; ठा॰ ८.१८ ।

४—अ॰ चू॰ पृ॰ १९३ : एवं संदरिसितगत्तसब्भावो अणायारविसोधणत्थं जं आणवेंति गुरवो तं ।

५—अ॰ चू॰ पृ॰ १९३ : से इति वयणोवन्नासो ।

६—(क) जि॰ चू॰ पृ॰ २८४ : सेत्ति साधुनिद्देसे ।

(ख) हा॰ टी॰ प॰ २३३ : 'स' साधुः ।

७—(क) जि॰ चू॰ पृ॰ २८४-२८५ : तेण साहुणा जाणं आयाणमाणेण रागद्दोसवसगएण मूलगुणउत्तरगुणाण अण्णयरं पडिसेवियं भवइ, अजाणमाणेण वा अकप्पियं बुद्धीए पडिसेवियं होज्जा ।

(ख) हा॰ टी॰ प॰ २३३ : 'जानन्नजानन् वा' आभोगतोऽनाभोगतश्चेत्यर्थः ।

८—हैम॰ ८.१.५ ।

९—अ॰ चू॰ पृ॰ १९३ : अणायारं अकरणीयं वत्थुं ।

१०—जि॰ चू॰ पृ॰ २८५ : अणायारो उम्मग्गो [illegible] ।

११—हा॰ टी॰ प॰ २३३ : 'अनाचारं' सावद्ययोगम् ।

६३ न छिपाए और न अस्वीकार करे (नेव गूहे न निण्हवे ^ग^) :

पूरी बात न कहना, थोड़ा कहना और थोड़ा छिपा लेना—यह 'गूहन' का अर्थ है[1]। 'निन्हव' का अर्थ है—सर्वथा अस्वीकार, इन्कार[2]।

६४. पवित्र (सुई ^ग^) :

शुचि अर्थात् आलोचना के दोषों को वर्जने वाला[3] अथवा अकलुषित मति[4]। शुचि वह होता है जो सदा स्पष्ट रहता है[5]।

६५. स्पष्ट (वियडभावे ^ग^)

जिसका भाव—मन प्रकट होता है—स्पष्ट होता है, वह 'विकटभाव' कहलाता है[6]।

श्लोक ३४:

६६ सिद्धि मार्ग का (सिद्धिमग्ग ^ग^) :

सिद्धि-मार्ग—सम्यग्-ज्ञान, सम्यग्-दर्शन और सम्यग्-चारित्रात्मक मोक्ष-मार्ग[7]। विशेष जानकारी के लिए देखिए उत्तराध्ययन (अ० २८)।

६७. (भोगेसु ^ग^) :

यहाँ पंचमी के स्थान पर सप्तमी विभक्ति है[8]।

६८ श्लोक ३७ :

श्लोक ३७:

क्रोधादि को वश में न करने पर केवल पारलौकिक हानि ही नहीं होती किन्तु इहलौकिक हानि भी होती है। इस श्लोक में यही बतलाया गया है[9]।

६९ लोभ सब का विनाश करने वाला है (लोहो सव्वविणासिणो ^घ^) :

लोभ से प्रीति आदि सब गुणों का नाश होता है। जिनदास चूर्णि में इसे सोदाहरण स्पष्ट किया है। लोभवश पुत्र मृदु-स्वभाव वाले पिता से भी रुष्ट हो जाता है—यह प्रीति का नाश है। धन का भाग नहीं मिलता है तब वह उद्धत हो प्रतिज्ञा करता है कि धन का भाग अवश्य लूंगा—यह विनय का नाश है। वह कपटपूर्वक धन लेता है और पूछने पर स्वीकार नहीं करता, इस प्रकार मित्र-भाव नष्ट हो जाता है। यह लोभ की सर्वगुण नाशक वृत्ति है। लोभ से वर्तमान और आगामी—दोनों जीवन नष्ट होते हैं। इस दृष्टि से

1—(क) अ० चू० पृ० १९३ : गूहण पडिच्छादण।
(ख) जि० चू० पृ० २८५ : गूहणं किंचि कहणं भण्णइ।
(ग) हा० टी० प० २३३ : गूहन किंचित्कथनम्।

2—(क) जि० चू० पृ० २८५ : णिण्हवो णाम पुच्छिओ संतो सव्वहा अवलवइ।
(ख) हा० टी० प० २३३ : निह्नव एकान्तापलापः।

3—अ० चू० पृ० १९३ : सुती ण आकंपतिता अणुमाणतिता।

4—हा० टी० प० २३३ : 'शुचिः' अकलुषितमतिः।

5—जि० चू० पृ० २८५ : सो चेव सुई जो सदा वियडभावो।

6—हा० टी० प० २३३ : 'विकटभावः' प्रकटभावः।

7—(क) जि० चू० पृ० २८५ : सिद्धिमग्गं च णाणदंसणचरित्तमइयं।
(ख) हा० टी० प० २३३ : 'सिद्धिमार्गं' सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रलक्षणम्।

8—हा० टी० प० २३३ : भोगेभ्यो बन्धैकहेतुभ्यः।

9—जि० चू० पृ० २८६ : तेसि कोहाईणमणिग्गहियाण (च) इहलोइओ इमो दोसो भवइ।

प्रधान अर्थ काले रंग से सम्बन्धित है किन्तु मन के बुरे या दुष्ट विचार आत्मा को अन्धकार में ले जाते हैं, इसलिए कृष्ण शब्द मानसिक संक्लेश के अर्थ में प्रयुक्त होता है।

१०५. कषाय (कसाया ग):

यह अनेकार्थक शब्द है। कुछ एक अर्थ, जो क्रोधादि की भावना से सम्बन्धित हैं, ये हैं—गेरुआ रंग, लेप, गोंद, भावावेश[1]। क्रोध, मान, माया और लोभ रंग हैं—इनसे आत्मा रंजित होता है। ये लेप हैं—इनके द्वारा आत्मा कर्म-रज से लिप्त होता है। ये गोंद हैं—इनके योग से कर्म-परमाणु आत्मा पर चिपकते हैं। ये भावावेश हैं—इनके द्वारा मन का सहज सन्तुलन नष्ट होता है, इसलिए इन्हें 'कषाय' कहा गया है। प्राचीन व्याख्याओं के अनुसार 'कष' का अर्थ है संसार। जो आत्मा को संसारोन्मुख बनाता है, वह 'कषाय' है। कषाय-रस से भीगे हुए वस्त्र पर मजीठ का रंग लगता है और टिकाऊ होता है, वैसे ही क्रोधादि से भीगे हुए आत्मा पर कर्म-परमाणु चिपकते हैं और टिकते हैं, इसलिए ये कषाय कहलाते हैं।

श्लोक ४० :

१०६ पूजनीयों के प्रति (राइणिएसु क):

अगस्त्य चूर्णि के अनुसार आचार्य, उपाध्याय आदि सर्व साधु, जो दीक्षा पर्याय में ज्येष्ठ हों, रात्निक कहलाते हैं[2]। जिनदास महत्तर ने रात्निक का अर्थ पूर्व-दीक्षित अथवा सद्भाव (पदार्थ) के उपदेशक किया है[3]। टीकाकार के अनुसार चिर-दीक्षित[4] अथवा जो ज्ञान आदि भाव-रत्नों से अधिक समृद्ध हों वे रात्निक कहलाते हैं[5]।

रत्न दो प्रकार के होते हैं—द्रव्य-रत्न और भाव-रत्न। पार्थिव-रत्न द्रव्य-रत्न हैं। कारण कि ये परमार्थ-दृष्टि से अकिंचित्कर हैं। परमार्थ-दृष्टि से भाव-रत्न हैं—ज्ञान, दर्शन और चारित्र। ये जिनके पास अधिक उन्नत हों उन्हें टीकाकार रत्नाधिक कहते हैं। अभयदेवसूरि ने 'रायणिय' का संस्कृत रूप 'रात्निक' दिया है[6]। इसका सम्बन्ध रत्नी से है। रत्नी ज्येष्ठ, सम्मानित या उच्चाधिकारी के अर्थ में प्रयुक्त होता रहा है। शतपथ ब्राह्मण (५.३.१.१) में ब्राह्मण अर्थात् पुरोहित, राजन्य, सेनानी, कोषाध्यक्ष, भागदुघ् (राजग्राह्य कर संचित करने वाला) आदि के लिए 'रत्नी' का प्रयोग हुआ है। इसलिए रात्निक का प्रवृत्ति-लभ्य अर्थ पूजनीय या विनयास्पद व्यक्ति होना चाहिए।

स्थानाङ्ग में साधु-साध्वी, श्रावक और श्राविका इन सभी के लिए 'राइणिते' और 'ओमरातिणिते'[7] तथा मूलाचार में साधुओं के लिए 'रादिणिय' और 'ऊणरादिणिय' शब्द प्रयुक्त हुए हैं[8]। सूत्रकृताङ्ग में 'रातिणिय' और 'समव्वय' शब्द मिलते हैं[9]। ये दीक्षा-पर्याय की दृष्टि से साधुओं को तीन श्रेणियों में विभक्त करते हैं।

१—बृ० हि० पृ० २६६।

२—अ० चू० पृ० १९५ : रातिणिया पुव्वदिक्खिता आयरियोवज्झायादिसु सव्वसाधुसु वा अप्पणतो पढमपव्वतितेसु।

३—जि० चू० पृ० २९६ : रायणिआ पुव्वदिक्खिया सब्भावोवदेसगा वा।

४—हा० टी० प० २३५ : 'रत्नाधिकेषु' चिरदीक्षितादिषु।

५—हा० टी० प० २५२-२५३ : 'रत्नाधिकेषु' ज्ञानादिभावरत्नाभ्युच्छ्रितेषु।

६—ठा० ५.४८ वृ० : रत्नानि द्विधा—द्रव्यतो भावतश्च, तत्र द्रव्यतः कर्केतनादीनि भावतो ज्ञानादीनि तत्र रत्नैः—ज्ञानादिभिर्व्यवहरतीति रात्निकः—बृहत्पर्यायः।

७—ठा० ४.४२६-४२९ वृ० : रत्नानि भावतो ज्ञानादीनि तैर्व्यवहरतीति रात्निकः पर्यायज्येष्ठ इत्यर्थः।

८—मूला० अधि० ५. गा० १८७ पृ० ३०३ : रादिणिए ऊणरादिणिएसु अ, अज्जासु चेव गिहिवग्गे।
विणओ जहारिओ सो, कायव्वो अप्पमत्तेण॥

९—सू० १.१४.७।

जे णो करंति ६०००	जे णो कारयंति ६०००	जे णो समणुजाणंति ६०००							
मणसा २०००	वयसा २०००	कायसा २०००							
णिज्जिय आहारसण्णा ५००	णिज्जिय भयसण्णा ५००	णिज्जिय मेहुणसण्णा ५००	णिज्जिय परिग्गहसण्णा ५००						
श्रोत्रेन्द्रिय १००	चक्षुरिन्द्रिय १००	घ्राणेन्द्रिय १००	रसनेन्द्रिय १००	स्पर्शनेन्द्रिय १००					
पृथिवी १०	अप् १०	तेज १०	वायु १०	वनस्पति १०	द्वीन्द्रिय १०	त्रीन्द्रिय १०	चतुरिन्द्रिय १०	पंचेन्द्रिय १०	
क्षान्ति १	मुक्ति २	आर्जव ३	मार्दव ४	लाघव ५	सत्य ६	संयम ७	तप ८	ब्रह्मचर्य ९	अकिञ्चन १०

श्रमण सूत्र (परिशिष्ट)

१०८ कूर्म की तरह आलीन-गुप्त और प्रलीन-गुप्त (कुम्मो व्व अल्लीणपलीणगुत्तो ग) :

अगस्त्य चूर्णि के अनुसार 'गुप्त' शब्द 'आलीन' और 'प्रलीन' दोनों से सम्बद्ध है अर्थात् आलीन-गुप्त और प्रलीन-गुप्त । कूर्म की तरह काय-चेष्टा का निरोध करे, वह 'आलीन-गुप्त' और कारण उपस्थित होने पर यतनापूर्वक शारीरिक प्रवृत्ति करे, वह प्रलीन-गुप्त कहलाता है[1] । जिनदास चूर्णि के अनुसार आलीन का अर्थ थोड़ा लीन और प्रलीन का अर्थ विशेष लीन होना है । जिस प्रकार कूर्म अपने अङ्गों को गुप्त रखता है तथा आवश्यकता होने पर उन्हें धीमे से फैलाता है, उसी तरह श्रमण आलीन-प्रलीन-गुप्त रहे[2] ।

१—अ० चू० पृ० १९५ : कुम्मो कच्छभो, जधा सो सज्जोविसपालणत्थमंगाणि कमन्ले सहरति, पमजानिकारणे य सणियं पसारेति; तहा साधू वि संजमकडाहे इंदियप्पयार कायचेट्ठं निरंभिऊण अल्लीणगुत्तो । कारणे जतणाए ताणि चेव पवत्तयतो पलीणगुत्तो । गुत्तसद्दो पत्तेयं परिसमप्पति ।

२—(क) जि० चू० पृ० २८७ : जहा कुम्मो सए सरीरे अंगाणि गोवेऊण चिट्ठइ, कारणेवि सणियमेव पसारेइ, तहा साहूवि अल्लीण-पलीणगुत्तो परक्कमेज्जा तवसंजमंमित्ति, आह—आलीणाणं पलीणाण को पइविसेसो ?, भण्णइ, ईसि लीणाणि आली-णाणि, अच्चत्थलीणाणि पलीणाणित्ति ।

(ख) हा० टी० प० २३५ : 'कूर्म इव' कच्छप इवालीनप्रलीनगुप्तः अङ्गोपाङ्गानि सम

श्लोक ४१ :

१०९. निद्रा को बहुमान न दे (निद्दं च न बहुमन्नेज्जा [क]) :

बहुमान न दे अर्थात् प्रकामशायी न बने —सोता ही न रहे[1]। सूत्रकृताङ्ग में बताया है कि सोने के समय में सोए "सयणं सयणकाले।" वृत्तिकार के अनुसार अगीतार्थ दो प्रहर तक सोए और गीतार्थ एक प्रहर तक[2]।

११०. अट्टहास (संपहासं [ग]) :

संप्रहास अर्थात् समुदित रूप में होने वाला समवद्ध हास्य[3]। जिनदास चूर्णि और टीका में 'सप्पहासं' पाठ है। उसका अर्थ है अट्टहास[4]।

१११. मैथुन की कथा में (मिहोकहाहिं [ग]) :

अगस्त्यसिंह ने इसका अर्थ स्त्री-सम्बन्धी रहस्य-कथा किया है[5]। जिनदास महत्तर के अनुसार इसका अर्थ स्त्री-सम्बन्धी या भक्त, देश आदि सम्बन्धी रहस्यमयी कथा है[6]। टीकाकार ने इसे राहस्यिक-कथा कहा है[7]। आचाराङ्ग, उत्तराध्ययन और ओघनिर्युक्ति की टीका में भी इसका यही अर्थ मिलता है[8]।

११२. स्वाध्याय में (सज्झायम्मि [घ]) :

स्वाध्याय का अर्थ है —विधिपूर्वक अध्ययन। इसके पांच प्रकार हैं[9] :

१. वाचना—पढ़ाना।
२. प्रच्छना—संदिग्ध विषय को पूछना।
३. परिवर्तना—कण्ठस्थ किए हुए ज्ञान का पुनरावर्तन करना।
४. अनुप्रेक्षा—अर्थ-चिन्तन करना।
५. धर्मकथा—श्रुत आदि धर्म की व्याख्या करना।

१—(क) जि० चू० पृ० २८७ : बहुमन्निज्जा नाम नो पकामसायी भवेज्जा।
(ख) हा० टी० प० २३५ : 'निद्रां च न बहुमन्येत', न प्रकामशायी स्यात्।
२—सू० २.१.१५ वृ० ३०२ पृ० : शय्यतेऽस्मिन्निति शयनं—संस्तारकः स च शयनकाले, तत्राप्यगीतार्थानां प्रहरद्वयं निद्रा गीतार्थानां प्रहरमेकमिति।
३—अ० चू० पृ० १९५ : सहितेण समुदियाण पहसणं [illegible] संपहासो।
४—(क) जि० चू० पृ० २८७ : सप्पहासो नाम अतीव पहासो सप्पहासो, परवादिउद्देसगादिकारणे जइ हसेज्जा [illegible]।
(ख) हा० टी० प० २३५ : 'सप्रहासं च' अतीवहासरूपम्।
५—अ० चू० पृ० १९५ : मिहुकहाओ रहस्सकहाओ इत्थी संबद्धाओ तदनुगाओ वा ताओ।
६—जि० चू० पृ० २८७ : मिहोकहा नाम रहस्सियकहाओ भण्णंति, ताओ इत्थिसंबद्धाओ वा होज्जा अण्णाओ वा [illegible]।
७—हा० टी० प० २३५ : 'मिथःकथासु' राहस्यिकीषु।
८—(क) [illegible] मिथः कथासु [illegible]। टीका—[illegible]
(ख) [illegible] (बृहद्वृत्ति) [illegible]
(ग) [illegible]
९—ओघ० [illegible] वायणा, पडिपुच्छणा, परियट्टणा, अणुप्पेहा, धम्मकहा।

जिनदास चूर्णि में 'अज्झयणम्मि रओ सया' पाठ है और 'अध्ययन' का अर्थ स्वाध्याय किया है[1]। हरिभद्रसूरि ने स्वाध्याय का अर्थ वाचना आदि किया है[2]।

श्लोक ४२ :

११३. श्रमण-धर्म में (समणधम्मम्मि क) :

यहाँ अनुप्रेक्षा, स्वाध्याय और प्रतिलेखन आदि श्रमण-चर्या को 'श्रमण-धर्म' कहा है। सूत्रकार का आशय यह है कि अनुप्रेक्षाकाल में मन को, स्वाध्याय-काल में वचन को और प्रतिलेखन-काल में काया को श्रमण-धर्म में लगा देना चाहिए और भङ्ग-प्रधान (विकल्प-प्रधान) श्रुत में तीनों योगों का प्रयोग करना चाहिए। उसमें मन से चिन्तन, वचन से उच्चारण और काया से लेखन—ये तीनों होते हैं[3]।

११४. यथोचित (धुवं ख) :

ध्रुव का शब्दार्थ है निश्चित। यथोचित इसका भावार्थ है। जिस समय जो क्रिया निश्चित हो, जिसका समाचरण उचित हो उस समय वहीं क्रिया करनी चाहिए[4]।

११५. लगा हुआ (जुत्तो ग) :

युक्त का अर्थ है व्यापृत—लगा हुआ[5]।

११६. फल (अट्ठं घ) :

यहाँ अर्थ शब्द फलवाची है[6]। इसका दूसरा अर्थ है ज्ञानादि रूप वास्तविक अर्थ[7]।

श्लोक ४३ :

११७ श्लोक ४३ :

पिछले श्लोक में कहा है—श्रमण-धर्म में लगा हुआ मुनि अनुत्तर फल को प्राप्त होता है, उसी को इस श्लोक के प्रथम दो चरणों में स्पष्ट किया है। श्रमण-धर्म में मन, वाणी और शरीर का प्रयोग करने वाला इहलोक में वन्दनीय होता है। श्रमण-धर्म में एक दिन के दीक्षित साधु को भी लोग विनयपूर्वक वन्दन करते हैं और वह परलोक में उत्तम स्थान में उत्पन्न होता है[8]। आगामी दो चरणों में श्रमण-धर्म की उपलब्धि के दो उपाय बतलाए हैं—(१) बहुश्रुत की उपासना और (२) अर्थ-विनिश्चय के लिए प्रश्न[9]।

१—जि० चू० पृ० २८७ : 'अज्झयणंमि रओ सया' अज्झयणं सज्झाओ भण्णइ, तमि सज्झाए सदा रतो भविज्जत्ति।

२—हा० टी० प० २३५ : 'स्वाध्याये' वाचनादौ।

३—अ० चू० पृ० १९५ : जोगं मणोवयणकायमयं अणुप्पेहणसज्झायपडिलेहणादिसु पत्तेयं समुच्चयेण वा च सद्देण नियमेण भंगितसुते तिविधमवि।

४—(क) अ० चू० पृ० १९५ : अप्पणो काले अण्णोणमबाहंतं धुवं।

(ख) हा० टी० प० २३५ : 'ध्रुवं' कालादौचित्येन नित्यं संपूर्णं सर्वत्र प्रधानोपसर्जनभावेन वा, अनुप्रेक्षाकाले मनोयोगमध्ययनकाले वाग्योगं प्रत्युपेक्षणाकाले काययोगमिति।

५—हा० टी० प० २३५ : 'युक्त' एव व्यापृतः।

६—अ० चू० पृ० १९५ : अत्थो सद्दो इह फलवाची।

७—हा० टी० प० २३५ : भावार्थं ज्ञानादिरूपम्।

८—अ० चू० पृ० १९५-९६ : इहलोगे एगदिवसदिक्खितोवि विणएणं वदिज्जते य पूतिज्जते य अवि रायरायीहिं। परलोए सुकुलसमवादि।

९—अ० चू० पृ० १९६ : सव्वस्सेतस्स उवलंभणत्थं बहुसुतं पज्जुवासेज्ज पज्जुवासेज्जमाणो पुच्छेज्जत्थविणिच्छयं।

११८. बहुश्रुत (बहुस्सुयं ग) :

जो आगम-वृद्ध हो—जिसने श्रुत का बहुत अध्ययन किया हो, वह बहुश्रुत कहलाता है[1]। जिनदास चूर्णि ने आचार्य, उपाध्याय आदि को बहुश्रुत माना है[2]। बहुश्रुत तीन प्रकार के होते हैं—जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट। प्रकल्पाध्ययन (निशीथ) का अध्ययन करने वाला जघन्य, चतुर्दश पूर्वों का अध्ययन करने वाला उत्कृष्ट तथा प्रकल्पाध्ययन और चतुर्दश पूर्वों के बीच का अध्ययन करने वाला मध्यम बहुश्रुत कहलाता है[3]।

११९. अर्थ-विनिश्चय (अत्थविणिच्छयं घ) :

अर्थ-विनिश्चय—तत्त्व का निश्चय, तत्त्व की यथार्थता[4]।

श्लोक ४४ :

१२०. श्लोक ४४ :

पिछले श्लोक में कहा है—बहुश्रुत की पर्युपासना करे। इस श्लोक में उसकी विधि बतलाई गई है[5]।

१२१. संयमित कर[1] (पणिहाय ग) :

इसका अर्थ है—हाथों को न नचाना, पैरों को न फैलाना और शरीर को न मोड़ना[6]।

१२२. आलीन…और गुप्त… होकर (अल्लीणगुत्तो ग) :

आलीन का शाब्दिक अर्थ है—थोड़ा लीन। तात्पर्य की भाषा में जो गुरु के न अति-दूर और न अति-निकट बैठता है, उसे 'आलीन' कहा जाता है[7]। जो मन से गुरु के वचन में दत्तावधान[8] और प्रयोजनवश बोलने वाला होता है, उसे 'गुप्त' कहा जाता है[9]। शिष्य को गुरु के समीप आलीन-गुप्त हो बैठना चाहिए।

श्लोक ४५ :

१२३. श्लोक ४५ :

पिछले श्लोक में कहा है—गुरु के समीप बैठे। इस श्लोक में गुरु के समीप कैसे बैठना चाहिए उसकी विधि बतलाई गई है[1]। शिष्य के लिए गुरु के पार्श्व-भाग में, आगे और पीछे बैठने का निषेध है। इसका तात्पर्य है कि पार्श्व-भाग में, कानों की समश्रेणि में बैठे, वहाँ बैठने पर शिष्य का शब्द सीधा गुरु के कान में जाता है। इससे गुरु की एकाग्रता का भंग होता है। इस आशय से [illegible]

१ हा० टी० प० २३५ : 'बहुश्रुतम्' आगमवृद्धम्।

२ जि० चू० पृ० २८७ : बहुसुयग्गहणेणं आयरियउवज्झायादीणाण गहणं।

३ नि० भा० (गाथा ४९५) : बहुस्सुयं जस्स सो बहुस्सुतो, सो तिविहो—जहण्णो मज्झिमो उक्कोसो। जहण्णो जेण पकप्पज्झयणं अधीतं, उक्कोसो चोद्दसपुव्वधरो, तम्मज्झे मज्झिमो।

४ (क) अ० चू० पृ० १९९ : अत्थविणिच्छयो तस्सत्थनिण्णयो तं।
(ख) जि० चू० पृ० २८७ : विणिच्छओ नाम विगयसंसयंति वा अवितहभावोत्ति वा एगट्ठं।
(ग) हा० टी० प० २३५ : 'अर्थविनिश्चयम्' अपायरक्षकं कल्याणावहं यथार्थविनिश्चयमिति।

५ अ० चू० पृ० १९९ : पज्जुवासणाए अयं विही—हत्थं पादं च कायं च सिलोगो।

६ हा० टी० प० २३५ : 'प्रणिधाय' संयम्य।

७ जि० चू० पृ० २८८ : [illegible] नाम ईसिंलीणो [illegible] अपरिणते [illegible]
[illegible]

८ जि० चू० पृ० २८८ : अल्लीणो नाम ईसिंलीणो अल्लीणो, [illegible]

९ अ० चू० पृ० १९९ : [illegible]
पृ० [illegible]
पृ० [illegible]

गुरु के पार्श्व-भाग में अर्थात् बराबर न बैठे[१]। आगे न बैठे अर्थात् गुरु के सम्मुख अत्यन्त निकट न बैठे। वैसा करने से अविनय होता है और गुरु को वन्दना करने वालों के लिए व्याघात होता है, इस आशय को 'आगे न बैठे' इन शब्दों में समाहित किया है[२]।

पीछे न बैठे—इसका आशय भी यही है कि गुरु से सटकर न बैठे अथवा पीछे बैठने पर गुरु के दर्शन नहीं होते[३], उनके इङ्गित और आकार को नहीं समझा जा सकता, इसलिए कहा है—'पीछे न बैठे'। 'गुरु के ऊरु से अपना ऊरु सटाकर बैठना' अविनय है। इसलिए इसका निषेध है। सारांश की भाषा में असभ्य और अविनयपूर्ण ढंग से बैठने का निषेध है।

१२४. ऊरु से अपना ऊरु सटाकर (ऊरुं समासेज्जा ग) :

ऊरु का अर्थ है—घुटने के ऊपर का भाग। 'समासेज्जा' का संस्कृत रूप टीका में 'समाश्रित्य' है। समाश्रित्य अर्थात् करके[४]। 'समासेज्जा' का संस्कृत रूप 'समाश्रयेत्' होना चाहिए। समासि (समा+श्रि) धातु है। इसके आगे 'ज्जा' लगाने पर 'समासेज्जा' रूप बनता है। यदि 'समासाद्य' रूप माना जाए तो पाठ 'समास (सि) ज्ज' होना चाहिए। आयारो (८.८.१) में 'समासिज्ज' (या समासज्ज) शब्द मिलता है। उसका संस्कृत रूप 'समासाद्य' (प्राप्त करके) किया है[५]। इन दोनों का शाब्दिक अर्थ है—ऊरु को कर या प्राप्त कर और उसका भावार्थ अगस्त्य चूर्णि के अनुसार 'अपने ऊरु से गुरु के ऊरु का स्पर्श कर'[६] तथा जिनदास चूर्णि और टीका के अनुसार 'ऊरु रखकर'[७] इन शब्दों में है।

उत्तराध्ययन (१.१८) में 'न जुजे ऊरुणा ऊरु' पाठ है। इसकी व्याख्या में चूर्णिकार ने अगस्त्य चूर्णि के शब्दों का ही अनुसरण किया है[८]। शान्त्याचार्य ने भी इसका अर्थ—'गुरु के ऊरु से अपना ऊरु न सटाए'[९]—किया है। इनके द्वारा भी अगस्त्य चूर्णि के आशय की पुष्टि होती है।

श्लोक ४६ :

१२५ बिना पूछे न बोले (अपुच्छिओ न भासेज्जा क) :

यहाँ निष्प्रयोजन—बिना पूछे बोलने का वर्जन है, प्रयोजनवश नहीं[१०]।

१२६ बीच में (भासमाणस्स अंतरा ख) :

'आपने यह कहा था, यह नहीं' इस प्रकार बीच में बोलना असभ्यता है, इसलिए इसका निषेध है[११]।

१—अ० चू० पृ० १९६ : समुप्पहप्पेरिया सद्दपोग्गला कण्णबिलमणुपविसंतीति कण्णसममेढी पक्खो, ततो ण चिट्ठे गुरूण मंतिए तथा अणेगगता भवति।

२—जि० चू० पृ० २८८ : पुरओ नाम अग्गओ, तत्थवि अविणओ वंदमाणाणं च वग्घाओ, एवमादि दोसा भवतित्तिकाऊण पुरओ गुरूण नवि चिट्ठेज्जत्ति।

—हा० टी० प० २३५ : यथासंख्यमविनयवन्दमानान्तरायादर्शनादिदोषप्रसङ्गात्।

—हा० टी० प० २३५ : समाश्रित्य ऊरोरुपर्यूरुं कृत्वा।

५—आचा० वृ० १.८.८.१ : 'समासाद्य' प्राप्य।

६—अ० चू० पृ० १९६ : ऊरुगमूरुणो संघट्टेऊण एवमवि ण चिट्ठे।

७—(क) जि० चू० पृ० २८८ : 'ण य ऊरु' समासिज्जा' णाम ऊरुग ऊरुस्स उवरि काऊण ण गुरुसगासं चिट्ठेज्जत्ति।

(ख) हा० टी० प० २३५ : न च 'ऊरुं समाश्रित्य' ऊरोरुपर्यूरुं कृत्वा तिष्ठेद्गुर्वन्तिके, अविनयादिदोषप्रसङ्गात्।

८—उत्त० चू० पृ० ३५ : ऊरुगमूरुणेण सनट्टेऊण एवमवि ण चिट्ठेज्जा।

९—उत्त० बृ० वृ० १.१८ : 'न युञ्ज्यात्' न सङ्घट्टयेद् अत्यासन्नोपवेशादिभिः, 'ऊरुणा' आत्मीयेन 'ऊरु' इत्य-संबन्धिन, तथा-करणेऽत्यन्ताविनयसम्भवात्।

१०—(क) जि० चू० पृ० २८८ : 'अपुच्छिओ' णिक्कारणे ण भासेज्जा।

(ख) हा० टी० प० २३५ : अपृष्टो निष्कारणं न भाषेत।

११—जि० चू० पृ० २८८ : भासमाणस्स अंतरा ण कुज्जा, जहा णं एयं ते भणितं एयं ण।

१२७. चुगली न खाए (पिट्ठिमंसं न खाएज्जा ग) :

परोक्ष में किसी का दोष कहना—'पृष्ठिमांसभक्षण' अर्थात् चुगली खाना कहलाता है[1] ।

१२८. कपटपूर्ण असत्य का (मायामोसं घ) :

'मायामृषा' यह संयुक्त शब्द है । 'माया' का अर्थ है कपट और 'मृषा' का अर्थ है असत्य । असत्य बोलने से पहले माया का प्रयोग अवश्य होता है । जो व्यक्ति असत्य बोलता है वह अयथार्थता को छिपाने के लिए अपने भावों पर माया का इस प्रकार से आवरण डालने का यत्न करता है जिससे सुनने वाले लोग उसकी बात को यथार्थ मान लें, इसलिए चिन्तनपूर्वक जो असत्य बोला जाता है उसके लिए 'मायामृषा' शब्द का प्रयोग किया जाता है[2] । इसका दूसरा अर्थ कपट-सहित असत्य वचन भी किया जाता है ।[3]

श्लोक ४७ :

१२९. सर्वथा (सव्वसो क) :

सर्वशः अर्थात् सब प्रकार से—सब काल और सब अवस्थाओं में[4] ।

श्लोक ४८ :

१३०. आत्मवान् (अत्तवं घ) :

'आत्मा' शब्द मन, शरीर और आत्मा—इन तीन अर्थों में प्रयुक्त होता है । सामान्यतः जिसमें आत्मा है उसे 'आत्मवान्' कहते हैं, किन्तु अध्यात्म-शास्त्र में यह कुछ विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त होता है । जिसकी आत्मा ज्ञान, दर्शन और चारित्रमय हो, उसे 'आत्मवान्' कहा जाता है[6] ।

१३१. दृष्ट (दिट्ठं क) :

जिस भाषा का विषय अपनी आँखों से देखा हो, वह 'दृष्ट' कहलाती है[7] ।

१३२. परिमित (मियं क) :

उच्च स्वर से न बोलना और जितना आवश्यक हो उतना बोलना[8]—यह 'मितभाषा' का अर्थ है ।

१३३. प्रतिपूर्ण (पडिपुन्नं ग) :

जो भाषा स्वर, व्यञ्जन, पद आदि सहित हो, वह 'प्रतिपूर्णभाषा' कहलाती है[9] ।

---

१. (क) जि० चू० पृ० २८८ : जं परंमुहस्स अववोलिज्जइ तं तस्स पिट्ठिमंसभक्खणं भवइ ।
(ख) हा० टी० प० २३५ : 'पृष्ठिमांसं' परोक्षदोषकीर्तनरूपम् ।

२. जि० चू० पृ० २८८ : मायाए सह मोसं मायामोसं, न मायामंतरेण मोसं भासइ, कहं ?, पुव्विं भासं कुडिलीकरेत्ता पच्छा भासइ ।

३. (क) जि० चू० पृ० २८८ : अहवा जं मायासहियं मोसं ।
(ख) हा० टी० प० २३५ : मायाप्रधानां मृषावाचम् ।

४. जि० चू० पृ० २८९ : सव्वसो नाम सव्वकालं सव्वावत्थासु ।

५. (क) हा० टी० प० २३६ : 'आत्मवान्' सचेतन इति ।
(ख) जि० चू० पृ० २८९ : अत्तवं नाम अप्पवंति वा [illegible] वा एगट्ठा ।

६. अ० चू० पृ० १९७ : णाणदंसणचरित्तमतो जस्स आया अत्थि, सो अत्तवं ।

७. (क) जि० चू० पृ० २८९ : दिट्ठं नाम जं चक्खुणा सयं उवलद्धं ।
(ख) हा० टी० प० २३५ : 'दृष्टां' दृष्टार्थविषयाम् ।

८. (क) अ० चू० पृ० १९७ : अणुच्चं [illegible] च मितं ।
(ख) जि० चू० पृ० २८९ : मियं दुविहं—सद्दओ परिमाणओ य, सद्दओ अणुच्चं [illegible] कज्जमेत्तं भणमाणं मियं, [illegible]
(ग) हा० टी० प० २३५ : [illegible] ।

९. [illegible] जि० चू० पृ० २८९ : पडिपुण्णं [illegible] उववेयं ।
हा० टी० प० २३५ : 'प्रतिपूर्णां' [illegible] ।

१३४. (वियं जियं च) :

अगस्त्य चूर्णि और टीका में 'विय जियं' इन शब्दों को पृथक् मानकर व्याख्या की गई है। 'विय' का अर्थ व्यक्त है[1]। अगस्त्यसिंह स्थविर ने 'जिय' का अर्थ व्यामोह उत्पन्न करने वाली अर्थात् स्खलित भाषा[2] और टीकाकार ने परिचित भाषा किया है[3]। 'व्यक्त' का प्राकृत रूप 'वत' या 'वियत' बनता है। उसका 'विद' रूप बहुत प्राचीन होना चाहिए। यजुर्वेद में व्यक्त करने के अर्थ में 'विद' शब्द का प्रयोग हुआ है[4]। संभव है यह 'विद' ही आगे चल कर 'विय' बन गया हो।

जिनदास महत्तर 'वियजिय' को एक शब्द मानते हैं। उनके अनुसार इसका अर्थ तथ्य है[5]। अनुयोगद्वार के आधार पर 'वियजिय' की एक कल्पना और हो सकती है। वहाँ 'शिक्षित स्थित जित मित परिजित' ये पांच शब्द एक साथ प्रयुक्त हुए हैं। जो पढ़ लिया जाता है उस पद को शिक्षित, जिस शिक्षित पद की विस्मृति नहीं होती उसे 'स्थित', जो पद परिवर्तन करते समय या किसी के पूछने पर शीघ्र आ जाए वह 'जित', जिसके श्लोक, पद और वर्ण आदि की संख्या जानी हुई हो वह 'मित' तथा परिवर्तन करते समय जिसे क्रम या व्युत्क्रम से—किसी भी प्रकार से याद किया जा सके वह 'परिजित' कहलाता है[6]। दशवैकालिक का प्रस्तुत प्रकरण भी भाषा से सम्बन्धित है, इसलिए कल्पना की जा सकती है कि लिपि-भेद के कारण 'ठिय जिय' के स्थान पर 'विय जिय' ऐसा पाठ हो गया हो, जिसका होना सम्भव है। चूर्णिकार और टीकाकार के सामने वह परिवर्तित पाठ रहा है और वही उनके व्याख्या-भेद का हेतु बना है।

१३५ श्लोक ४९ :

प्रस्तुत श्लोक में आचार, प्रज्ञप्ति और दृष्टिवाद—ये तीनों शब्द द्व्यर्थक हैं। द्वादशाङ्गी में पहला अङ्ग आचार, पाँचवाँ प्रज्ञप्ति और बारहवाँ दृष्टिवाद है। अगस्त्यसिंह स्थविर ने आचारधर और प्रज्ञप्तिधर का अर्थ भाषा के विनयों—नियमों को धारण करने वाला किया है[7]। जिनदास महत्तर के अनुसार 'आचारधर' शब्दों के लिङ्ग (स्त्री, पुरुष और नपुंसक) को जानता है[8]। टीकाकार ने 'आचारधर' का यही किया है। प्रज्ञप्तिधर का अर्थ लिङ्ग का विशेष जानकार और दृष्टिवाद के अध्येता का अर्थ प्रकृति, प्रत्यय, लोप, आगम, वर्णविकार, काल, कारक आदि व्याकरण के अङ्गों को जानने वाला किया है[9]। दीपिकाकार टीकाकार का अनुगमन करते हैं। अवचूरिकार ने आचारधर और प्रज्ञप्तिधर का अर्थ क्रमशः आचाराङ्गधर और भगवतीधर किया है। आचार, प्रज्ञप्ति और दृष्टिवाद—इनका सम्बन्ध वचन-कौशल से है, इसलिए कहा गया है कि आचार और प्रज्ञप्ति को धारण करने वाला तथा दृष्टिवाद को पढ़ने वाला बोलने में चूक जाए तो उसका उपहास न किया जाए।

१—(क) अ० चू० पृ० १९७ : विय व्यक्तं।
(ख) हा० टी० प० २३५ : 'व्यक्ताम्' अलल्लाम्।

२—अ० चू० पृ० १९७ : जित न वामोहकरमणेगाकारं।

३—हा० टी० प० २३५ : 'जितां' परिचिताम्।

४—अध्याय १३.३।

५—जि० चू० पृ० २८९ : 'वियजितं' णाम वियजितंति वा तत्थति वा एगट्ठा।

६—अनु० सू० पृ० १४।

७—अ० चू० पृ० १९७ : आयारधरो भासेज्जा तेसु विणीयभासाविणयो, विसेसेण पन्नति-धरो... एवं वयणलिंगवण्णविवज्जासे ण अवयते।

८—जि० चू० पृ० २८९ : आयारधरो इत्थिपुरिसणपुंसगलिंगाणि जाणइ।

९—हा० टी० प० २३६ : आचारधरः स्त्रीलिङ्गादीनि जानाति प्रज्ञप्तिधरस्तान्येव सविशेषाणीत्येवंभूतम्। तथा दृष्टिवादमधीयानं प्रकृतिप्रत्ययलोपागमवर्णविकारकालकारकादिवेदिनम्।

१३७. बोलने में स्खलित हुआ है (वइविक्खलियं[ग]) :

वाग्स्खलित का अर्थ है—बोलने में स्खलित होना। जिनदास चूर्णि में इसके दो उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं—कोई व्यक्ति 'घड़ा ला' के स्थान में 'घड़ा लाता है' और 'सोमशर्मा' के स्थान में 'शर्मसोम' कहता है यह वाणी की स्खलना है[1]।

श्लोक ५० :

१३८. श्लोक ५० :

कोई व्यक्ति नक्षत्र आदि के विषय में पूछे तो उससे इस प्रकार कहना चाहिए कि 'यह हमारा अधिकार क्षेत्र नहीं है' इससे अहिंसा की सुरक्षा भी हो जाती है और अप्रिय भी नहीं लगता[2]।

१३९. नक्षत्र (नक्खत्तं[क]) :

कृत्तिका आदि जो नक्षत्र हैं उनके विषय में—आज चन्द्रमा अमुक नक्षत्र-युक्त है—इस प्रकार गृहस्थ को न बताए[3]।

१४० स्वप्नफल (सुमिणं[क]) :

स्वप्न का शुभ-अशुभ फल बताना[4]।

१४१. वशीकरण (जोगं[क]) .

यहाँ योग का अर्थ है—औषध[5] या खाद्य आदि पदार्थों के संयोग की विधि अथवा वशीकरण[6]। संयोग की विधि, जैसे—दो पल घी, एक पल मधु, एक आढक दही, बीस काली मिर्च और दो भाग चीनी या गुड़—ये सब चीजें मिलाने से राजा के खाने योग्य 'रसालू' नामक पदार्थ बनता है[7]। वशीकरण अर्थात् मन्त्र, चूर्ण आदि प्रयोगों से दूसरों को अपने वश में करना।

१४२. निमित्त (निमि॑[ख]) .

निमित्त का अर्थ है अतीत, वर्तमान और भविष्य-सम्बन्धी शुभाशुभ फल बताने वाली विद्या[8]।

१४३ मन्त्र (मंतं[ख]) :

मन्त्र का अर्थ है—देवता या अलौकिक शक्ति की प्राप्ति के लिए जपा जाने वाला शब्द या शब्द-समूह। मन्त्र के साथ विद्या का ग्रहण स्वतः प्राप्त है। ये वृश्चिक मन्त्र आदि अनेक प्रकार के होते हैं[9]।

१—जि० चू० पृ० २८९ : वायविक्खलियं नाम विविधमनेगप्पगारं वइए खलियं भण्णइ, जहा घडं आणेहित्ति (भाणियव्वे घडं आणेमित्ति) भणियं, पुव्वाभिहाणं वा पच्छा उच्चारयइ, जहा सोमसम्मोत्ति भणियव्वे सम्मसोमोत्ति भणियं च, एवमादि वायविक्खलियं।

२—हा० टी० प० २३६ : ततश्च तदप्रीतिपरिहारार्थमित्य ब्रूयाद्—अनधिकारोऽत्र तपस्विनामिति।

३—जि० चू० पृ० २८९ : गिहत्थाण पुच्छमाणाण णो णक्खत्तं कहेज्जा, जहा चंदिमा अज्ज अमुकेण णक्खत्तेण जुत्तोत्ति।

४—(क) जि० चू० पृ० २८९ : सुमिणे अव्वत्तदंसणे।

(ख) हा० टी० प० २३६ . 'स्वप्नं' शुभाशुभफलमनुभूतादि।

५—अ० चू० पृ० १९७ : जोगो ओसहसमवादो।

६—(क) जि० चू० पृ० २९० : अहवा निद्देसणवसीकरणाणि जोगो भण्णइ।

(ख) हा० टी० प० २३६ : 'योग' वशीकरणादि।

७—जि० चू० पृ० २८९-२९० : जोगो जहा—दो घयपला मधु पलं दहियस्स य आढयं मिरीय वीसा।
खंडगुला दो भागा एस रसालू निवइजोग्गो।

८—(क) जि० चू० पृ० २९० निमित्तं तीतादी।
(ख) हा० टी० प० २३६ : 'निमित्तं' अतीतादि।

९—(क) जि० चू० पृ० २९० : मंतो - असाहणो 'एगग्गहणे गहणं तज्जातीयाण'मितिकाउ विज्जा गहिता।

(ख) हा० टी० प० २३६ : 'मन्त्रं' वृश्चिकमन्त्रादि।

करते हुए लिखा है— औचित्य देखकर पुरुषों को कथा कहनी चाहिए और स्थान अविविक्त हो तो स्त्रियों को भी कथा कहनी चाहिए[1]। स्थानाङ्ग सूत्र के वृत्तिकार अभयदेवसूरि ने ब्रह्मचर्य की नौ गुप्तियों के वर्णन में 'नो इत्थीण कहं कहेत्ता भवइ' के दो अर्थ किए हैं—(१) केवल स्त्रियों को कथा न कहे (२) स्त्रियों के रूपादि से सम्बन्ध रखने वाली कथा न कहे[2]। समवायाङ्ग सूत्र की वृत्ति में उन्होंने 'स्त्रियों को कथा न कहे'—ऐसा एक ही अर्थ माना है[3]।

मूल आगम में इसका एक अर्थ और भी मिलता है नारीजनों के मध्य में शृंगार और करुणापूर्वक कथा नहीं करनी चाहिए[4]। अगस्त्यसिंह स्थविर का अर्थ इसी का अनुगामी है और आगे चल कर उन्होंने 'स्त्रियों को कथा न कहे'—यह अर्थ भी मान्य किया है।

देखिए अगले श्लोक का पाद-टिप्पण।

१४९. गृहस्थों से परिचय न करे, साधुओं से करे (गिहिसंथवं न कुज्जा ग साहूहिं संथवं घ) :

संस्तव का अर्थ संसर्ग या परिचय है। स्नेह आदि दोषों की संभावना को ध्यान में रखकर गृहस्थ के साथ परिचय करने का निषेध किया है और कुशल-पक्ष की वृद्धि के लिए साधुओं के साथ संसर्ग रखने का उपदेश दिया है[5]।

श्लोक ५३ :

१५०. श्लोक ५३ :

शिष्य ने पूछा—भगवन् ! विविक्त स्थान में स्थित मुनि के लिए किसी प्रकार आई हुई स्त्रियों को कथा कहने का निषेध है—इसका क्या कारण है ?

आचार्य ने कहा—वत्स ! तुम सही मानो, चरित्रवान् पुरुष के लिए स्त्री बहुत बड़ा खतरा है।

शिष्य ने पूछा—कैसे ? इसके उत्तर में आचार्य ने जो कहा वही इस श्लोक में वर्णित है[6]।

१५१. बच्चे को (पोयस्स क) :

पोत अर्थात् पक्षी का बच्चा, जिसके पंख न आए हों[7]।

१५२. स्त्री के शरीर से भय होता है (इत्थीविग्गहओ भयं घ) :

विग्रह का अर्थ शरीर है[8]। 'स्त्री से भय है' ऐसा न कहकर 'स्त्री के शरीर से भय है' ऐसा क्यों कहा ? इस प्रश्न का उत्तर है—ब्रह्मचारी को स्त्री के सजीव शरीर से ही नहीं, किन्तु मृत शरीर से भी भय है, यह बताने के लिए 'स्त्री के शरीर से भय है'—यह कहा है[9]।

---

१ हा० टी० प० २३७ : औचित्यं विज्ञाय पुरुषाणां तु कथयेत्, अविविक्तायां नारीणामपीति।

२—ठा० ९.३ वृ० : नो स्त्रीणां केवलानामिति गम्यते 'कथां' धर्मदेशनादिलक्षणवाक्यप्रतिबन्धरूपां यदि वा—'कर्णाटी सुरतोपचार-कुशला, लाटी विदग्धप्रिया' इत्यादिकां प्रागुक्तां वा जात्यादिचतुर्भेदरूपां कथयिता—तत्कथको भवति ब्रह्मचारीति।

३—सम० वृ० प० १५ : नो स्त्रीणां कथा, कथयिता भवतीति।

४—प्रश्न० संवरद्वार ४ : 'बितियं नारीजणस्स मज्झे न कहेयव्वा कहा विचित्ता ''''।

५—हा० टी० प० २३७ : 'गृहिसंस्तवं' गृहिपरिचयं न कुर्यात्, तत्स्नेहादिदोषसंभवात्। कुर्यात्साधुभिः सह 'संस्तवं' परिचयं, कल्याण-मित्रयोगेन कुशलपक्षवृद्धिभावत.।

६—अ० चू० पृ० १९८ : को पुण निबंधो जं विवित्तलयणत्थितेणावि कहचि उवगताण नारीण कहा ण कथणीया। भण्णति, वत्स ! णणु चरित्तवतो महाभयमिदं इत्थी णाम, कहं।

७—जि० चू० पृ० २९१ : पोतो णाम अपक्खजायओ।

८—(क) जि० चू० पृ० २९१ : विग्गहो सरीरं भण्णइ।

(ख) हा० टी० प० २३७ : 'स्त्रीविग्रहात्' स्त्रीशरीरात्।

९—(क) जि० चू० पृ० २९१ : आह—इत्थीओ भयति भाणियव्वे ता किमत्थं विग्गहग्गहणं कयं ?, भण्णइ न केवलं सजीवइ-त्थीसमीवाओ भयं, किन्तु ववगतजीवाएवि सरीरं ततोऽवि भयं भवइ, अओ विग्गहग्गहणं कयंति।

(ख) हा० टी० प० २३७ : विग्रहग्रहणं मृतविग्रहादपि भयख्यापनार्थमिति।

१५६. प्रणीत-रस (पणीयरस ^ग^) :

इसका शब्दार्थ है—रूप, रस आदि युक्त अन्न[1], व्यञ्जन[2]। पिण्डनिर्युक्ति में 'प्रणीत' का अर्थ गलत्स्नेह (जिससे घृत आदि टपक रहा हो वैसा भोजन) किया है[3]। नेमिचन्द्राचार्य ने 'प्रणीत' का अर्थ अतिबृंहक—अत्यन्त पुष्टिकर किया है[4]। प्रश्नव्याकरण में प्रणीत और स्निग्ध भोजन का प्रयोग एक साथ मिलता है[5]। इससे जान पड़ता है कि प्रणीत का अर्थ केवल स्निग्ध ही नहीं है, उसके अतिरिक्त भी है। स्थानाङ्ग में भोजन के छह प्रकार बतलाए हैं—मनोज्ञ, रसिक, प्रीणनीय, बृंहणीय, दीपनीय और दर्पणीय[6]। इनमें बृंहणीय (धातु का उपचय करने वाला या बलवर्द्धन) और दर्पणीय (उन्मादकर या मदनीय—कामोत्तेजक) जो हैं उन्हीं के अर्थ में प्रणीत शब्द का प्रयोग हुआ है—ऐसा हमारा अनुमान है। इसका समर्थन हमें उत्तराध्ययन (१६.७) के 'पणीयं भत्तपाणं तु, खिप्पं मयविवड्ढणं' इस वाक्य से मिलता है। प्रणीत-भोजन का त्याग ब्रह्मचर्य की सातवीं गुप्ति है[7]। एक ओर प्रस्तुत श्लोक में प्रणीतरस भोजन को ब्रह्मचारी के लिए ताल-पुट विष कहा है, दूसरी ओर मुनि के लिए विकृति—दूध, दही, घृत आदि का सर्वथा निषेध भी नहीं है। उसके लिए बार-बार विकृति को त्यागने का विधान मिलता है[8]। मुनिजन प्रणीत-भोजन लेते थे, ऐसा वर्णन आगमों में मिलता है[9]।

भगवान् महावीर ने भी प्रणीत-भोजन लिया था[10]। आगम के कुछ स्थलों को देखने पर लगता है कि मुनि को प्रणीत-भोजन नहीं करना चाहिए और कुछ स्थलों को देखने पर लगता है कि प्रणीत-भोजन किया जा सकता है। यह विरोधाभास है। इसका समाधान पाने के लिए हमें प्रणीत-भोजन के निषेध के कारणों पर दृष्टि डालनी चाहिए। प्रणीत-भोजन मद-वर्धक होता है, इसलिए ब्रह्मचारी उसे न खाए[11]। ब्रह्मचर्य महाव्रत की पाँचवीं भावना (प्रश्नव्याकरण के अनुसार) प्रणीत—स्निग्ध भोजन का विवर्जन है। वहाँ बताया है कि ब्रह्मचारी को दर्पकर—मदवर्धक आहार नहीं करना चाहिए, बार-बार नहीं खाना चाहिए, प्रतिदिन नहीं खाना चाहिए, शाक-सूप अधिक हो वैसा भोजन नहीं खाना चाहिए, डटकर नहीं खाना चाहिए। जिससे संयम-जीवन का निर्वाह हो सके और जिसे खाने पर विभ्रम (ब्रह्मचर्य के प्रति अस्थिर भाव) और ब्रह्मचर्य-धर्म का भ्रंश न हो वैसा खाना चाहिए। उक्त निर्देश का पालन करने वाला प्रणीत-भोजन विरति की भावना से भावित होता है[12]। प्रणीत की यह पूर्ण परिभाषा है। उक्त प्रकार का प्रणीत-भोजन उन्माद बढ़ाता है, इसलिए उसका निषेध किया गया है। किन्तु जीवन-निर्वाह के लिए स्निग्ध-पदार्थ आवश्यक हैं, इसलिए उनका भोजन विहित भी है। मुनि का भोजन सन्तुलित होना चाहिए। ब्रह्मचर्य की दृष्टि से प्रणीत-भोजन का त्याग और जीवन-निर्वाह की दृष्टि से उसका स्वीकार—ये दोनों सम्मत हैं। जो श्रमण प्रणीत-आहार और तपस्या का सन्तुलन नहीं रखता उसे भगवान् ने पाप-श्रमण कहा है[13] और प्रणीत-रस के भोजन को तालपुट-विष कहने का आशय भी यही है।

१—अ० चि० स्वोपज्ञ टीका ३.७७ पृ० १७० : 'प्रणीतमुपसम्पन्नं'—प्रणीयतेस्म प्रणीतं रूपरसादिनिष्पन्नमन्नम्।

२—हला० पृ० ४५२ : पाकेन रूपरसादिसम्पन्नं व्यञ्जनादि।

३—पि० नि० गाथा ६४५ : जं पुण गलंतनेहं, पणीयमिति तं बुहा बेंति, वृत्ति—यत् पुनर्गलत्स्नेहं भोजनं तत्प्रणीतं, 'बुधाः' तीर्थङ्करादयो ब्रुवते।

४—उत्त० ३०.२६ ने० वृ० पृ० ३४१ : 'प्रणीतम्' अतिबृंहकम्।

५—प्रश्न० संवरद्वार ४ : आहारपणीयनिद्धभोयण विवज्जते।

६—ठा० ६.१०१ : छव्विहे भोयणपरिणामे पण्णत्ते, तंजहा—मणुन्ने, रसिए, पीणणिज्जे, बिंहणिज्जे, मयणिज्जे, दप्पणिज्जे।

७—उत्त० १६.७ : नो पणीयं आहारं आहरित्ता हवइ से निग्गंथे।

८—दश० चू० २.७ : अभिक्खणं निव्विगइं गया य।

९—अन्त० ८.१।

१०—भग० १५।

११—उत्त० १६.७।

१२—प्रश्न० संवरद्वार ४ : 'न दप्पणं, न बहुसो, न नितिकं, न सायसूपाहिकं, न खद्धं, तहा भोत्तव्वं जहा से जायामायाए भवइ, न य भवइ विब्भमो न भंसणा य धम्मस्स। एवं पणीयाहारविरति समितिजोगेण भावितो भवति।

१३—उत्त० १७.१५ : दुद्धदहीविगईओ, आहारेइ अभिक्खणं।
अरए य तवोकम्मे, पावसमणि त्ति वुच्चई॥

श्लोक ५६ :

१६५ उपशान्त कर (सीईभूएण [घ]) :

शीत का अर्थ है उपशान्त[1]। क्रोध आदि कषाय को उपशान्त करने वाला 'शीतीभूत' कहलाता है[2]।

श्लोक ६० :

१६६. (जाए [क]) :

जिस अर्थात् प्रव्रजित होने के समय होने वाली (श्रद्धा) से[3]।

१६७. श्रद्धा से (सद्धाए [क]) :

धर्म में आदर[4], मन का परिणाम[5] और प्रधान गुण का स्वीकार[6]—श्रद्धा के ये विभिन्न अर्थ किए गए हैं। इन सबको मिलाकर निष्कर्ष की भाषा में कहा जा सकता है—जीवन-विकास के प्रति जो आस्था होती है, तीव्र मनोभाव होता है वही 'श्रद्धा' है।

१६८. उस श्रद्धा को (तमेव [ग]) :

अगस्त्य चूर्णि और टीका के अनुसार यह श्रद्धा का सर्वनाम है[7] और जिनदास चूर्णि के अनुसार पर्याय-स्थान का[8]। आचाराङ्ग वृत्ति में इसे श्रद्धा का सर्वनाम माना है[9]।

१६९. आचार्य-सम्मत (आयरियसम्मए [घ]) :

आचार्य-सम्मत अर्थात् तीर्थंकर, गणधर आदि द्वारा अनुमत[10]। यह गुण का विशेषण है। टीका में उल्लिखित मतान्तर के अनुसार यह श्रद्धा का विशेषण है। श्रद्धा का विशेषण मानने पर दो चरणों का अनुवाद इस प्रकार होगा—आचार्य-सम्मत उसी श्रद्धा का अनुपालन करे[11]।

श्लोक ६१ :

१७० (सूरे व सेणाए [ग]) :

जिस प्रकार शस्त्रों से सुसज्जित वीर चतुरङ्ग (घोड़ा, हाथी, रथ और पदाति) सेना से घिर जाने पर अपना और दूसरों का संरक्षण

१—अ० चू० पृ० २०० . सीतभूतेण सीतो उवसतो, जधा निसण्णो देवो, अतो सीतभूतेण उवसंतेण।

२—हा० टी० प० २३८ : 'शीतीभूतेन' क्रोधाद्यग्न्युपगमात्प्रशान्तेन।

३—अ० चू० पृ० २०० : जाएत्ति निक्खमणसमकालं भण्णति।

४—अ० चू० पृ० २०० : सद्धा धम्मे आयरो।

५—जि० चू० पृ० २९३ : सद्धा परिणामो भण्णइ।

६—हा० टी० प० २३८ . 'श्रद्धया' प्रधानगुणस्वीकरणरूपया।

७—(क) अ० चू० : तं सद्धं पव्वज्जासमकालिणिं अणुपालेज्जा।

(ख) हा० टी० प० २३८ : तामेव श्रद्धामप्रतिपतिततया प्रवर्द्धमानाम्।

८—जि० चू० पृ० २९३ : तमेव परिआयट्ठाणं।

९—आ० १।३५ : 'जाए सद्धाए णिक्खंतो तमेव अणुपालिज्जा, वृ०—'यया श्रद्धया' प्रवर्धमानसंयमस्थानकण्डकरूपया 'निष्क्रान्त.' प्रव्रज्यां गृहीतवान् 'तामेव' श्रद्धामश्रान्तो यावज्जीवम् 'अनुपालयेद्'—रक्षेत्।

१०—जि० चू० पृ० २९३ : 'आयरिअसमओ'त्ति आयरिया नाम तित्थकरगणधराई तेसिं संमए नाम समओत्ति वा अणुमओत्ति वा एगट्ठा।

११—हा० टी० प० २३८ : अन्ये तु श्रद्धाविशेषणमेतदिति व्याचक्षते, तामेव श्रद्धामनुपालयेद् गुणेषु, किंभूताम् ? आचार्यसंमतां, न तु स्वाग्रहकलङ्किताम् इति।

नवमं अज्झयणं

विणयसमाही

(पढमो उद्देसो)

नवम अध्ययन

विनय-समाधि

(प्र० उद्देशक)

नवमं अज्झयणं

विणयसमाही

(पढमो उद्देसो)

नवम अध्ययन

विनय-समाधि

(प्र० उद्देशक)

आमुख

धर्म का मूल है 'विनय' और उसका परम है 'मोक्ष'[1]। विनय तप है और तप धर्म है, इसलिए विनय का प्रयोग करना चाहिए[2]। जैन-आगमों में 'विनय' का प्रयोग आचार व उसकी विविध धाराओं के अर्थ में हुआ है। विनय का अर्थ केवल नम्रता ही नहीं है। नम्र-भाव आचार की एक धारा है। पर विनय को नम्रता में ही बांध दिया जाए तो उसकी सारी व्यापकता नष्ट हो जाती है। जैन धर्म वैनयिक (नमस्कार, नम्रता को सर्वोपरि मानकर चलने वाला) नहीं है। वह आचार-प्रधान है। सुदर्शन ने थावच्चापुत्त अणगार से पूछा—"भगवन्! आपके धर्म का मूल क्या है?" थावच्चापुत्त ने कहा—"सुदर्शन! हमारे धर्म का मूल विनय है। वह विनय दो प्रकार का है—(१) आगार-विनय (२) अणगार-विनय। पांच अणुव्रत, सात शिक्षाव्रत और ग्यारह उपासक प्रतिमाएं—यह आगार-विनय है। पांच महाव्रत, अठारह पाप-विरति रात्रि-भोज विरति, दशविध प्रत्याख्यान और बारह भिक्षु प्रतिमाएं यह अणगार विनय है[3]।" प्रस्तुत अध्ययन का नाम विनय-समाधि है। उत्तराध्ययन के पहले अध्ययन का नाम भी यही है। इनमें विनय का व्यापक निरूपण है। फिर भी विनय की दो धाराएं – अनुशासन और नम्रता अधिक प्रस्फुटित हैं।

विनय अन्तरंग तप है। गुरु के आने पर खड़ा होना, हाथ जोड़ना, आसन देना, भक्ति और सुश्रूषा करना विनय है।

औपपातिक सूत्र में विनय के सात प्रकार बतलाए हैं। उनमें सातवां प्रकार उपचार-विनय है। उक्त श्लोक में उसी की व्याख्या है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र, मन, वाणी और काय का विनय— ये छह प्रकार शेष रहते हैं। इन सबके साथ विनय की संगति उद्धत-भाव के त्याग के अर्थ में होती है। उद्धत भाव और अनुशासन का स्वीकार—ये दोनों एक साथ नहीं हो सकते। आचार्य और साधना के प्रति जो नम्र होता है वही आचारवान् बन सकता है। इस अर्थ में नम्रता आचार का पूर्णरूप है। विनय के अर्थ की व्यापकता की पृष्ठभूमि में यह दृष्टिकोण अवश्य रहा है।

बौद्ध साहित्य में भी विनय व्यवस्था, विधि व अनुशासन के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। बौद्ध-भिक्षुओं के विधि-ग्रन्थ का नाम इसी अर्थ में 'विनयपिटक' रखा गया है।

प्रस्तुत अध्ययन के चार उद्देशक हैं। आचार्य के साथ शिष्य का वर्तन कैसा होना चाहिए—इसका निरूपण पहले में है। "अणंतनाणोवगओ वि संतो"—शिष्य अनन्त ज्ञानी हो जाए तो भी वह आचार्य की आराधना वैसे ही करता रहे जैसे पहले करता था—यह है विनय का उत्कर्ष। जिसके पास धर्म-पद सीखे उसके प्रति विनय का प्रयोग करे – मन, वाणी और शरीर से नम्र रहे (श्लोक १२)। जो गुरु मुझे अनुशासन देते हैं उनकी मैं पूजा करूं (श्लोक १३) ऐसे मनोभाव विनय की परम्परा को सहज बना देते हैं शिष्य के मानस में ऐसे संस्कार बैठ जाएं तभी आचार्य और शिष्य का एकात्मभाव हो सकता है और शिष्य आचार्य से इष्ट-तत्त्व पा सकता है।

दूसरे में अविनय और विनय का भेद दिखलाया गया है। अविनीत विपदा को पाता है और विनीत सम्पदा का भागी होता है। जो इन दोनों को जान लेता है वही व्यक्ति शिक्षा प्राप्त करता है (श्लोक २१)। अविनीत असंविभागी होता है। जो संविभागी नहीं होता वह मोक्ष नहीं पा सकता (श्लोक २२)।

जो आचार के लिए विनय का प्रयोग करे, वह पूज्य है (श्लोक २)। जो अप्रिय प्रसंग को धर्म-बुद्धि से सहन करता है, वह पूज्य है (श्लोक ८)। पूज्य के लक्षणों का निरूपण—यह तीसरे का विषय है।

१—दश० ९.२.२ : एवं धम्मस्स विणओ, मूलं परमो से मोक्खो।

२—प्रश्न० संवरद्वार ३ पांचवीं भावना : विणओ वि तवो तवो वि धम्मो तम्हा विणओ पउंजियव्वो।

३—ज्ञाता० ५।

४—उत्त० ३०.३२ : अब्भुट्ठाणं अंजलिकरणं, तहेवासणदायणं।
गुरुभत्तिभावसुस्सूसा, विणओ एस वियाहिओ॥

चौथे में चार समाधियों का वर्णन है। समाधि का अर्थ है—हित, सुख या स्वास्थ्य। उसके चार हेतु हैं—विनय, श्रुत, तप और आचार। अनुशासन को सुनने की इच्छा, उसका सम्यक्-ग्रहण उसकी आराधना और सफलता पर गर्व न करना—विनय-समाधि के ये चार अङ्ग हैं। विनय का आरम्भ अनुशासन से होता है और अहंकार के परित्याग में उसकी निष्ठा होती है।

मुझे ज्ञान होगा, मैं एकाग्र-चित्त होऊँगा, सन्मार्ग पर स्थित होऊँगा, दूसरों को भी वहाँ स्थित करूँगा इसलिए मुझे पढ़ना चाहिए—यह श्रुत-समाधि है। तप क्यों तपा जाए? आचार क्यों पाला जाए? इनके उद्देश्य की महत्वपूर्ण जानकारी यहाँ मिलती है। इस प्रकार यह अध्ययन विनय की सर्वांगीण परिभाषा प्रस्तुत करता है।

इसका उद्धार नवें पूर्व की तीसरी वस्तु से हुआ है[1]।

विणयसमाही (पढमो उद्देसो) : विनय-समाधि (प्रथम उद्देशक)

मूल	संस्कृत छाया	हिंदी अनुवाद
१—थंभा व कोहा व मयप्पमाया गुरुस्सगासे विणयं न सिक्खे[1]। सो चेव उ तस्स अभूइभावो फलं व कीयस्स वहाय होइ॥	स्तम्भाद्वा क्रोधाद्वा मायाप्रमादात्, गुरु-सकाशे विनयं न शिक्षेत। स चैव तु तस्याऽभूतिभावः, फलमिव कीचकस्य वधाय भवति॥१॥	१—जो मुनि गर्व, क्रोध, माया[2] या प्रमादवश[3] गुरु के समीप विनय की[4] शिक्षा नहीं लेता वही (विनय की अशिक्षा) उसके विनाश[5] के लिए होती है, जैसे—कीचक (बांस) का[6] फल उसके वध के लिए होता है।
२—जे यावि मंदि त्ति गुरुं विइत्ता डहरे इमे अप्पसुए त्ति नच्चा। हीलंति[7] मिच्छं पडिवज्जमाणा करेंति आसायण ते गुरूणं॥	ये चापि "मन्द" इति गुरुं विदित्वा, "डहरो"ऽयं "अल्पश्रुत" इति ज्ञात्वा। हीलयन्ति मिथ्या प्रतिपद्यमानाः, कुर्वन्त्याशातनां ते गुरूणाम्॥२॥	२—जो मुनि गुरु को—'ये मन्द[8] (अल्पप्रज्ञ) हैं', 'ये अल्पवयस्क और अल्प-श्रुत हैं,'—ऐसा जानकर उनके उपदेश को मिथ्या मानते हुए उनकी अवहेलना करते हैं, वे गुरु की आशातना करते[9] हैं।
३—पगईए मंदा वि[10] भवंति एगे डहरा वि य जे सुयबुद्धोववेया। आयारमंता गुणसुट्ठियप्पा जे हीलिया सिहिरिव भास कुज्जा॥	प्रकृत्या मन्दा अपि भवन्ति एके, डहरा अपि च ये श्रुत-बुद्ध्युपेताः। आचारवन्तो गुणसुस्थितात्मानः, ये हीलिताः शिखीव भस्म कुर्युः॥३॥	३—कई आचार्य वयोवृद्ध होते हुए भी स्वभाव से ही मन्द (अल्प-प्रज्ञ) होते हैं और कई अल्पवयस्क होते हुए भी श्रुत और बुद्धि से सम्पन्न[11] होते हैं। आचारवान् और गुणों में सुस्थितात्मा आचार्य, भले फिर वे मन्द हों या प्राज्ञ, अवज्ञा प्राप्त होने पर गुण-राशि को उसी प्रकार भस्म कर डालते हैं जिस प्रकार अग्नि ईंधन-राशि को।
४—जे यावि नागं डहरं ति नच्चा आसायए से अहियाय होइ। एवायरियं पि हु हीलयंतो नियच्छई जाइपहं खु मंदे॥	यश्चापि नागं डहर इति ज्ञात्वा, आशातयेत् स तस्याहिताय भवति। एवमाचार्यमपि खलु हीलयन्, निर्गच्छति जातिपथं खलु मन्दः॥४॥	४—जो कोई—यह सर्प छोटा है—ऐसा जानकर उसकी आशातना (कदर्थना) करता है, वह (सर्प) उसके अहित के लिए होता है। इसी प्रकार अल्पवयस्क आचार्य की भी अवहेलना करने वाला मन्द संसार में[12] परिभ्रमण करता है।
५—[13]आसीविसो यावि परं सुरुट्ठो किं जीवनासाओ परं नु कुज्जा। आयरियपाया पुण अप्पसन्ना अबोहिआसायण नत्थि मोक्खो॥	आशीविषश्चापि परं सुरुष्टः, किं जीवनाशात् परं नु कुर्यात्। आचार्यपादाः पुनरप्रसन्नाः अबोधिमाशातनया नास्ति मोक्षः॥५॥	५—आशीविष सर्प[14] अत्यन्त क्रुद्ध होने पर भी 'जीवन-नाश' से अधिक क्या कर सकता है? परन्तु आचार्यपाद अप्रसन्न होने पर अबोधि के कारण बनते हैं। अतः आशातना से मोक्ष नहीं मिलता।

१३—लज्जा दया संजम बंभचेरं	लज्जा दया संयम ब्रह्मचर्यं,
कल्लाणभागिस्स विसोहिठाणं ।	कल्याणभागिन विशोधिस्थानम् ।
जे मे गुरू सययमणुसासयंति ॥	ये मा गुरवः सततमनुशासति,
ते हं गुरू सययं पूययामि ॥	तानहं गुरुन् सततं पूजयामि ॥१३॥
१४—जहा निसंते तवणच्चिमाली	यथा निशान्ते तपन्नर्चिर्माली,
पभासई केवलभारहं तु ।	प्रभासते केवलभारतं तु ।
एवायरिओ सुयसीलबुद्धिए	एवमाचार्यं श्रुत-शील बुद्ध्या,
विरायई सुरमज्झे व इंदो ॥	विराजते सुरमध्य इव इन्द्र ॥१४॥
१५—जहा ससी कोमुइजोगजुत्तो	यथा शशी कौमुदीयोगयुक्तः,
नवखत्ततारागणपरिवुडप्पा ।	नक्षत्रतारागणपरिवृतात्मा ।
खे सोहई विमले अब्भमुक्के	खे शोभते विमलेऽभ्रमुक्ते,
एवं गणी सोहइ भिक्खुमज्झे ॥	एवं गणी शोभते भिक्षुमध्ये ॥१५॥
१६—महागरा आयरिया महेसी	महाकरान् आचार्यान् महर्षीन्
समाहिजोगे सुयसीलबुद्धिए ।	समाधियोगस्य [illegible]
संपाविउकामे अणुत्तराइं	सम्प्राप्तुकामोऽनुत्तराणि,
आराहए तोसए धम्मकामी ॥	आराधयेत् [illegible]
१७—सोच्चाण मेहावी सुभासियाइं	श्रुत्वा मेधावी सुभाषितानि [illegible]
सुस्सूसए आयरियप्पमत्तो ।	शुश्रूषयेद् आचार्यान् [illegible]
आराहइत्त	
से पाव	

५. विनाश (अभूइभावो [ग]) :

अभूतिभाव—'भूति' का अर्थ है विभव या ऋद्धि। भूति के अभाव को 'अभूतिभाव' कहते हैं। यह अगस्त्य चूर्णि और टीका की व्याख्या है[1]। जिनदास चूर्णि में अभूतिभाव का पर्याय शब्द विनाशभाव है[2]।

६. कीचक (बांस) का (कीयस्स [घ]) :

हवा से शब्द करते हुए बांस को कीचक कहते हैं[3]। वह फल लगने पर सूख जाता है। इसकी जानकारी चूर्णि में उद्धृत एक प्राचीन श्लोक से मिलती है। जैसे कहा है—चींटियों के पर, ताड़, कदली और हरताल के फल तथा अविद्वान्– अविवेकशील व्यक्ति का ऐश्वर्य उन्हीं के विनाश के लिए होता है[4]।

> तुलना—यो सासनं अरहत अरियान धम्मजीविनं ।
> पटिक्कोसति दुम्मेधो दिट्ठिं निस्साय पापिकं ।।
> फलानि कट्ठकस्सेव अत्तघञ्ञाय फुल्लति ।। (धम्मपद १२८)

—जो दुर्बुद्धि मनुष्य अरहन्तों तथा धर्म-निरत आर्य-पुरुषों के शासन की, पापमयी दृष्टि का आश्रय लेकर, अवहेलना करता है, वह आत्मघात के लिए बांस के फल की तरह प्रफुल्लित होता है।

श्लोक २ :

७. (हीलंति [ग]) :

संस्कृत में अवज्ञा के अर्थ में 'हीळ्' धातु है। अगस्त्य चूर्णि में इसका समानार्थक प्रयोग 'ह्रेपयति' और 'अहियालेंति' है[5]।

८. मद (मंदि [क]) :

मन्द का अर्थ सत्प्रज्ञाविकल—अल्पबुद्धि है। प्राणियों में ज्ञानावरण के क्षयोपशम की विचित्रता होती है। उसके अनुसार कोई तीव्र बुद्धि वाला होता है—तन्त्र, युक्ति आदि की आलोचना में समर्थ होता है और कोई मन्द बुद्धि वाला होता है—उनकी आलोचना में समर्थ नहीं होता[6]।

९. आशातना (आसायण [घ]) :

आशातना का अर्थ विनाश करना या कदर्थना करना है। गुरु की लघुता करने का प्रयत्न या जिससे अपने सम्यग्दर्शन का ह्रास हो, उसे आशातना कहते हैं। भिन्न-भिन्न स्थलों में इसके प्रतिकूल वर्तन, विनय-भ्रंश, प्रतिषिद्धकरण, कदर्थना आदि ये भिन्न-भिन्न अर्थ भी मिलते हैं।

१—(क) अ० चू० पृ० २०६ : भूतीभावो ऋद्धी भूतीए अभावो अभूतिभावो ।

(ख) हा० टी० प० २४३ : 'अभूतिभाव' इति अभूतेर्भावोऽभूतिभावः, असद्भाव इत्यर्थः ।

२—जि० चू० पृ० ३०२ : अभूतिभावो नाम अभूतिभावोत्ति वा विणासभावोत्ति वा एगट्ठा ।

३—अ० चि० ४.२१६ : स्वनन् वाताद् स कीचकः ।

४—अ० चू० पृ० २०६ : कीयो वंसो, सो य फलेण सुक्खति । उक्तं च—

> पक्षाः पिपीलिकानां, फलानि तलकदलीवंशपत्राणाम् ।
> ऐश्वर्यञ्चाऽविदुषामुत्पद्यन्ते विनाशाय ।।

५—अ० चू० पृ० २०७ ।

६—हा० टी० प० २४३ : क्षयोपशमवैचित्र्यात्तन्त्रयुक्त्यालोचनाऽसमर्थ सत्प्रज्ञाविकल इति ।

श्लोक ३ :

१०. (पगईए मंदा वि क) :

श्लोक ११ :

१५ आहिताग्नि ब्राह्मण (आहियग्गी [क]) :

वह ब्राह्मण जो अग्नि की पूजा करता है और उसको सतत प्रज्वलित रखता है, आहिताग्नि कहलाता है[1]।

१६. आहुति (आहुई [ख]) :

देवता के उद्देश्य से मन्त्र पढ़कर अग्नि में घी आदि डालना[2]।

१७ मन्त्रपदों से (मंतपय [ख]) :

मन्त्रपद का अर्थ 'अग्नये स्वाहा' आदि मन्त्र वाक्य है[3]। जिनदास चूर्णि में 'पद' का अर्थ 'क्षीर' किया है[4]।

श्लोक १२ :

१८ धर्म-पदों को (धम्मपयाइ [क])

वे धार्मिक वाक्य जिनका फल धर्म का बोध हो[5]।

१९ सिर को झुकाकर, हाथों को जोड़कर (सिरसा पञ्जलीओ [ग])

ये शब्द 'पञ्चाङ्ग-वन्दन' विधि की ओर संकेत करते हैं। अगस्त्यसिंह स्थविर और जिनदास महत्तर ने इसका स्पष्ट उल्लेख किया है। दोनों घुटनों को भूमि पर टिका कर, दोनों हाथों को भूमि पर रखकर, उस पर अपना मस्तक रखे—यह पञ्चाङ्ग (दो पैर, दो हाथ और एक सिर)-वन्दन की विधि है[6]। टीकाकार ने इस विधि का कोई उल्लेख नहीं किया है। बंगाल में नमस्कार की यह विधि आज भी प्रचलित है।

श्लोक १३ :

२०. लज्जा (लज्जा [क]) :

इसका अर्थ है—अकरणीय का भय या अपवाद का भय[7]।

१—(क) अ० चू० : आहिअग्गी—एस वेदवादो जधा हव्ववाहो सव्वदेवाण हव्वं पावेति अतो ते तं परमादरेण हुणंति।
　(ख) जि० चू० पृ० ३०६ : आहियअग्गी बंभणो।
　(ग) हा० टी० प० २४५ : 'आहिताग्नि' कृतावसथादिर्ब्राह्मण।
२—(क) जि० चू० पृ० ३०६ णाणाविहेणघयादिणा मंतं उच्चारेऊण आहुयं दलयइ।
　(ख) हा० टी० प० २४५ : आहुतयो—घृतप्रक्षेपादिलक्षणा।
३—हा० टी० प० २४५ मंत्रपदानि—अग्नये स्वाहेत्येवमादीनि।
४—जि० चू० पृ० ३०६ : पदं खीरं भण्णइ।
५—हा० टी० प० २४५ : 'धर्मपदानि' धर्मफलानि सिद्धान्तपदानि।
६—(क) अ० चू० : सिरसा पञ्जलितोत्ति—एतेण पञ्चंगिनस्स वंदणगहणं ·· जाणुदुयलपाणितलजुतो सिरं च भूमिए णिमेऊण।
　(ख) जि० चू० पृ० ३०६ पंचंगीएण वंदणिएण, तंजहा—जाणुदुगं भूमीए निवडिएण हत्थदुएण भूमीए अवट्ठंभिय ततो सिरं पंचमं निवाएज्जा।
७—(क) अ० चू० : अकरणिज्जसंकणं लज्जा।
　(ख) जि० चू० पृ० ३०६ : लज्जा अववादभयं।
　(ग) हा० टी० प० २४६ : 'लज्जा' अपवादभयरूपा।

श्लोक १४ :

२१. भारत (भारहं [ग]) :

यहाँ भारत का अर्थ जम्बूद्वीप का दक्षिण भाग है[1]।

श्लोक १५ :

२२. कार्तिक-पूर्णिमा (कोमुइ [क]) :

दशवैकालिक की व्याख्या में इसका अर्थ कार्तिक पूर्णिमा किया है[2]। मोनियर विलियम्स ने इसके कार्तिक पूर्णिमा और आश्विन पूर्णिमा ये दोनों अर्थ किए हैं[3]। 'से सोहइ विमले अब्भमुक्के' इसके साथ आश्विन पूर्णिमा की कल्पना अधिक संगत है। शरद् पूर्णिमा की निर्मलता अधिक प्रचलित है।

श्लोक १६ :

२३. समाधियोग और बुद्धि के (समाहिजोगे···बुद्धिए [ख]) :

चूर्णि में इसका अर्थ षष्ठी विभक्ति और टीका में तृतीया विभक्ति के द्वारा किया है तथा सप्तमी के द्वारा भी हो सकता है। चूर्णि के अनुसार समाधियोग, श्रुत, शील और बुद्धि का सम्बन्ध 'महाकर' शब्द से होता है[4]—जैसे समाधियोग, श्रुत, शील और बुद्धि के महान् आकर। टीका के अनुसार इसका सम्बन्ध 'महेसी' शब्द से है—जैसे समाधियोग, श्रुत, शील और बुद्धि के द्वारा महान् की एषणा करते हैं[5]।

नवमं अज्झयणं

विणयसमाही

(बीओ उद्देसो)

नवम अध्ययन

विनय-समाधि

(द्वितीय उद्देशक)

विणयसमाही (बीओ उद्देसो) : विनय-समाधि (द्वितीय उद्देशक)

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१—मूलाओ खंधप्पभवो दुमस्स खंधाओ पच्छा समुवेंति साहा । साहप्पसाहा विरुहंति पत्ता तओ से पुप्फं च फलं रसो य ॥	मूलात् स्कन्धप्रभवो द्रुमस्य, स्कन्धात्पश्चात्समुपयन्ति शाखाः । शाखाभ्यः प्रशाखा विरोहन्ति पत्राणि, ततस्तस्य पुष्पं च फलं च रसश्च ॥१॥	१—वृक्ष के मूल से स्कन्ध उत्पन्न होता है, स्कन्ध के पश्चात् शाखाएँ आती हैं, और शाखाओं में से प्रशाखाएं निकलती हैं। उसके पश्चात् पत्र, पुष्प, फल और रस होता है।
२—एवं धम्मस्स विणओ मूलं परमो से मोक्खो । जेण कित्तिं सुयं सिग्घं निस्सेसं चाभिगच्छई ॥	एवं धर्मस्य विनयो, मूलं परमस्तस्य मोक्षः । येन कीर्तिं श्रुतं श्लाघ्यं, निःशेषं चाधिगच्छति ॥२॥	२—इसी प्रकार धर्म का मूल है 'विनय' (आचार) और उसका परम (अन्तिम) फल[1] है मोक्ष। विनय के द्वारा मुनि कीर्ति, श्लाघनीय[2] श्रुत और समस्त इष्ट तत्त्वों को[3] प्राप्त होता है।
३—जे य चंडे मिए थद्धे दुव्वाई नियडी सढे । वुज्झइ से अविणीयप्पा कट्ठं सोयगयं जहा ॥	यश्च चण्डो मृगस्तब्धः, दुर्वादी निकृतिः शठः । उह्यते सोऽविनीतात्मा, काष्ठं स्रोतोगतं यथा ॥३॥	३—जो चण्ड, मृग[4]—अज्ञ, स्तब्ध, अप्रिय-वादी, मायावी और शठ[5] है, वह अविनीतात्मा संसार-स्रोत में वैसे ही प्रवाहित होता रहता है जैसे नदी के स्रोत में पड़ा हुआ काठ।
४—विणयं पि जो उवाएणं चोइओ कुप्पई नरो । दिव्वं सो सिरिमेज्जंतिं दंडेण पडिसेहए ॥	विनयमपि य उपायेन, चोदितः कुप्यति नरः । दिव्यां स श्रियमायान्तीं, दण्डेन प्रतिषेधति ॥४॥	४—विनय में उपाय के द्वारा भी प्रेरित करने पर जो कुपित होता है, वह आती हुई दिव्य लक्ष्मी को डंडे से रोकता है।
५—तहेव अविणीयप्पा उववज्झा हया गया । दीसंति दुहमेहंता आभिओगमुवट्ठिया ॥	तथैवाऽविनीतात्मानः, उपवाह्या हया गजाः । दृश्यन्ते दुःखमेधमानाः, आभियोग्यमुपस्थिताः ॥५॥	५—जो औपवाह्य[1] घोड़े और हाथी अविनीत होते हैं, वे सेवाकाल में दुःख का अनुभव करते हुए देखे जाते हैं।
६—तहेव सुविणीयप्पा उववज्झा हया गया । दीसंति सुहमेहंता इड्ढिं पत्ता महायसा ॥	तथैव सुविनीतात्मानः, उपवाह्या हया गजाः । दृश्यन्ते सुखमेधमानाः, ऋद्धिं प्राप्ता महायशसः ॥६॥	६—जो औपवाह्य घोड़े और हाथी सुविनीत होते हैं, वे ऋद्धि और महान् यश को पाकर सुख का अनुभव करते हुए देखे जाते हैं।

७—तहेव अविणीयप्पा
लोगंसि नरनारिओ ।
दीसंति दुहमेहंता
छाया विगलितेंदिया ॥

तथैवाऽविनीतात्मानः,
लोके नरनार्यः ।
दृश्यन्ते दुःखमेधमानाः,
'छाता' विकलितेन्द्रियाः ॥७॥

८—दंडसत्थपरिजुण्णा
असब्भवयणेहि य ।
कलुणा विवन्नछंदा
खुप्पिवासाए परिगया ॥

दण्डशस्त्राभ्यां परिजीर्णाः,
असभ्यवचनैश्च ।
करुणा विपन्नच्छन्दसः,
क्षुत्पिपासया परिगताः ॥८॥

७-८—लोक में जो पुरुष और स्त्री अविनीत होते हैं, क्षत-विक्षत या इन्द्रिय-विकल[८], दण्ड और शस्त्र से असभ्य वचनों के द्वारा तिरस्कृत, परवश, भूख और प्यास से पीड़ित दुःख का अनुभव करते हुए देखे जाते

९—तहेव सुविणीयप्पा
लोगंसि नरनारिओ ।
दीसंति सुहमेहंता
इड्ढि पत्ता महायसा ॥

तथैव सुविनीतात्मानः,
लोके नरनार्यः ।
दृश्यन्ते सुखमेधमानाः,
ऋद्धिं प्राप्ता महायशसः ॥९॥

९—लोक में जो पुरुष और स्त्री सुविनीत होते हैं, वे ऋद्धि और महान् यश को पाकर सुख का अनुभव करते हुए देखे जाते

१०—तहेव अविणीयप्पा
देवा जक्खा य गुज्झगा ।
दीसंति दुहमेहंता
आभिओगमुवट्ठिया ॥

तथैवाऽविनीतात्मानः,
देवा यक्षाश्च गुह्यकाः ।
दृश्यन्ते दुःखमेधमानाः,
आभियोग्यमुपस्थिताः ॥१०॥

१०—जो देव, यक्ष और गुह्यक (भवन-वासी देव) अविनीत होते हैं, वे सेवा-काल में दुःख का अनुभव करते हुए देखे जाते

११—तहेव सुविणीयप्पा
देवा जक्खा य गुज्झगा ।
दीसंति सुहमेहंता
इड्ढि पत्ता महायसा ॥

तथैव सुविनीतात्मानः,
देवा यक्षाश्च गुह्यकाः ।
दृश्यन्ते सुखमेधमानाः,
ऋद्धिं प्राप्ता महायशसः ॥११॥

११—जो देव, यक्ष और गुह्यक सुविनीत होते हैं, वे ऋद्धि और महान् यश को पाकर सुख का अनुभव करते हुए देखे जाते हैं ।

१२—जे आयरियउवज्झायाणं
सुस्सूसावयणंकरा ।
तेसिं सिक्खा पवड्ढंति
जलसित्ता इव पायवा ॥

ये आचार्योपाध्याययोः,
शुश्रूषावचनकराः ।
तेषां शिक्षाः प्रवर्धन्ते,
जलसिक्ता इव पादपाः ॥१२॥

१२—जो मुनि आचार्य और उपाध्याय की शुश्रूषा और आज्ञा-पालन करते हैं, उनकी शिक्षा[११] उसी प्रकार बढ़ती है जैसे जल से सींचे हुए वृक्ष ।

१३—अप्पणट्ठा परट्ठा वा
सिप्पा णेउणियाणि य ।
गिहिणो उवभोगट्ठा
इहलोगस्स कारणा ॥

आत्मार्थं परार्थं वा,
शिल्पानि नैपुण्यानि च ।
गृहिण उपभोगार्थं,
इहलोकस्य कारणात् ॥१३॥

१३-१४—जो गृहि अपने या [illegible] लिए, लौकिक उपभोग के निमित्त [illegible] और नैपुण्य[१२] सीखते हैं

१४—[22]जेण बंधं वहं घोरं
परियावं च दारुणं।
सिक्खमाणा नियच्छंति
जुत्ता ते ललिइंदिया॥

येन बन्धं वधं घोरं,
परितापं च दारुणम्।
शिक्षमाणा नियच्छन्ति,
युक्तास्ते ललितेन्द्रियाः॥१४॥

वे पुरुष ललितेन्द्रिय[23] होते हुए भी शिक्षा-काल में (शिक्षक के द्वारा) घोर बन्ध, वध और दारुण परिताप को प्राप्त होते हैं।

१५—ते वि तं गुरुं पूयंति
तस्स सिप्पस्स कारणा।
सक्कारेंति नमंसंति
तुट्ठा निद्देसवत्तिणो॥

तेऽपि तं गुरुं पूजयन्ति,
तस्य शिल्पस्य कारणाय।
सत्कुर्वन्ति नमस्यन्ति,
तुष्टा निर्देशवर्तिनः॥१५॥

१५—फिर भी वे उस शिल्प के लिए उस गुरु की पूजा करते हैं, सत्कार करते हैं[24], नमस्कार करते हैं[25] और सन्तुष्ट होकर उसकी आज्ञा का पालन करते हैं।

१६—किं पुण जे सुयग्गाही
अणंतहियकामए।
आयरिया जं वए भिक्खू
तम्हा तं नाइवत्तए॥

किं पुनर्यः श्रुतग्राही,
अनन्तहितकामकः।
आचार्या यद् वदेयुः भिक्षुः,
तस्मात्तन्नातिवर्तयेत्॥१६॥

१६—जो आगम-ज्ञान को पाने में तत्पर और अनन्तहित (मोक्ष) का इच्छुक है उसका फिर कहना ही क्या? इसलिए आचार्य जो कहे भिक्षु उसका उल्लंघन न करे।

१७—नीयं सेज्जं गइं ठाणं
नीयं च आसणाणि य।
नीयं च पाए वंदेज्जा
नीयं कुज्जा य अंजलिं॥

नीचां शय्यां गतिं स्थानं,
नीचं चासनानि च।
नीचं च पादौ वन्देत,
नीचं कुर्याच्चाञ्जलिम्॥१७॥

१७—भिक्षु (आचार्य से) नीची शय्या करे[27], नीची गति करे[28], नीचे खड़ा रहे[29], नीचा आसन करे[30], नीचा होकर आचार्य के चरणों में वन्दना करे[31] और नीचा होकर अञ्जलि करे—हाथ जोड़े[32]।

१८—[33]संघट्टइत्ता काएण
तहा उवहिणामवि[34]।
खमेह अवराहं मे
वएज्ज न पुणो त्ति य॥

संघट्य कायेन,
तथोपधिनापि।
क्षमस्वापराधं मे,
वदेन्न पुनरिति च॥१८॥

१८—अपनी काया से तथा उपकरणों से एवं किसी दूसरे प्रकार से[35] आचार्य का स्पर्श हो जाने पर शिष्य इस प्रकार कहे—"आप मेरा अपराध क्षमा करें, मैं फिर ऐसा नहीं करूँगा।"

१९—[36]दुग्गओ वा पओएणं
चोइओ वहई रहं।
एवं दुबुद्धि किच्चाणं[37]
वुत्तो वुत्तो पकुव्वई॥

दुर्गौर्वा प्रतोदेन,
चोदितो वहति रथम्।
एवं दुर्बुद्धिः कृत्यानां,
उक्त उक्तः प्रकरोति॥१९॥

१९—जैसे दुष्ट बैल चाबुक आदि से प्रेरित होने पर रथ को वहन करता है, वैसे ही दुर्बुद्धि शिष्य आचार्य के बार-बार कहने पर कार्य करता है।

श्लोक ५ :

६. औपवाह्य (उववज्झा ग) :

इसके संस्कृत रूप 'उपवाह्य' और 'औपवाह्य'— दोनों किए जा सकते हैं[1]। इन दोनों का अर्थ—सवारी के काम में आने वाले अथवा राजा की सवारी में काम आने वाले वाहन—हाथी, रथ आदि है[2]। कारण या अकारण—सब अवस्थाओं में जिसे वाहन बनाया जाए, उसे औपवाह्य कहा जाता है[3]।

श्लोक ७ :

श्लोक १२ :

९. आचार्य और उपाध्याय की (आयरियउवज्झायाणं [क]) :

जैन परम्परा में आचार्य और उपाध्याय का स्थान बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। परम्परा एक प्रवाह है। उसका स्रोत सूत्र है। उसकी आत्मा है अर्थ। अर्थ और सूत्र के अधिकारी आचार्य और उपाध्याय होते हैं। अर्थ की वाचना आचार्य देते हैं। उपाध्याय का कार्य है सूत्र की वाचना देना[1]। स्मृतिकार की भाषा में भी आचार्य और उपाध्याय की यही व्याख्या मिलती है[2]। अगस्त्य चूर्णि के अनुसार सूत्र और अर्थ से सम्पन्न तथा अपने गुरु द्वारा जो गुरु-पद पर स्थापित होता है, वह आचार्य कहलाता है[3]। जिनदास चूर्णि के अनुसार सूत्र और अर्थ को जानने वाला आचार्य होता है और सूत्र तथा अर्थ का जानकार हो किन्तु गुरु-पद पर स्थापित न हो वह भी आचार्य कहलाता है[4]।

टीका के अनुसार सूत्रार्थ दाता अथवा गुरु—स्थानीय ज्येष्ठ-आर्य 'आचार्य' कहलाता है[5]। इन सबका तात्पर्य यही है कि गुरुपद पर स्थापित या अस्थापित जो सूत्र और अर्थ प्रदाता है, वह आचार्य है। इससे गुरु और आचार्य के तात्पर्यार्थ में जो अन्तर है, वह स्पष्ट होता है।

१०. शिक्षा (सिक्खा [ग]) :

शिक्षा दो प्रकार की होती है—(१) ग्रहण-शिक्षा और (२) आसेवन-शिक्षा[6]। कर्तव्य का ज्ञान ग्रहण-शिक्षा और उसका आचरण का अभ्यास आसेवन-शिक्षा कहलाता है।

श्लोक १३ :

११ शिल्प (सिप्पा [घ]) :

कारीगरी। स्वर्णकार, लोहकार, कुम्भकार आदि का कर्म[7]।

१—ओ० नि० वृ० 'अत्थं वाएइ आयरिओ'
'सुत्तं वाएइ उवज्झाओ'
वृत्ति—सूत्रप्रदा उपाध्यायाः, अर्थप्रदा आचार्याः।

२—वृ० गौ० स्मृ० अ० १४.५६,६० : "इहोपनयनं वेदान् योऽध्यापयति नित्यशः।
सुकल्पान् इतिहासांश्च स उपाध्याय उच्यते ॥
साङ्गान् वेदांश्च योऽध्याप्य शिक्षयित्वा व्रतानि च।
विवृणोति च मन्त्रार्थानाचार्यः सोऽभिधीयते ॥"

३—अ० चू० ९.२.१ : सुत्तत्थतदुभयादि गुणसम्पण्णो अप्पणो गुरूहिं गुरुपदे त्थावितो आयरिओ।

४—जि० चू० पृ० ३१८ : आयरिओ सुत्तत्थतदुभयविऊ, जो वा अन्नोऽवि सुत्तत्थतदुभयगुणेहिं अ उववेओ गुरुपए ण ठाविओ सोऽवि आयरिओ चेव।

५—हा० टी० प० २५२ : 'आचार्य' सूत्रार्थप्रदं तत्स्थानीयं वाऽन्यं ज्येष्ठार्यम्।

६—(क) जि० चू० पृ० ३१३ : सिक्खा दुविहा—गहणसिक्खा आसेवणसिक्खा य।
(ख) हा० टी० प० २४९ : 'शिक्षा' ग्रहणासेवनालक्षणा।

७—(क) अ० चू० : सिप्पाणि सुवण्णकारादीणि।
(ख) जि० चू० पृ० ३१३ : सिप्पाणि—कुंभारलोहारादीणि।
(ग) हा० टी० प० २४९ : 'शिल्पानि' कुम्भकारक्रियादीनि।

१२. नैपुण्य (णेउणियाणि ग) :

कौशल, वाद्य-विद्या[1], लौकिक कला[2], चित्र-कला[3] ।

श्लोक १४ :

श्लोक १७ :

१७. नीची शय्या करे (नीयं सेज्जं [क]) :

आचार्य की शय्या (बिछौने) से अपनी शय्या नीचे स्थान में करना[१]।

१८. नीची गति करे (गइं [क]) :

नीची गति अर्थात् शिष्य आचार्य से आगे न चले, पीछे चले। अति समीप और अति दूर न चले। अति समीप चलने से रज उड़ती है और अति दूर चलना प्रत्यनीकता तथा आशातना है[२]।

१९. नीचे खड़ा रहे (ठाणं [क]) :

मुनि आचार्य खड़े हों उससे नीचे स्थान में खड़ा रहे[३]। आचार्य के आगे और पार्श्व भाग में खड़ा न हो[४]।

२०. नीचा आसन करे (नीयं च आसणाणि [ख]) :

आचार्य के आसन—पीठ, फलक आदि से अपना आसन नीचा करना। हरिभद्र ने इसका अर्थ—लघुतर आसन किया है[५]।

२१. नीचा होकर आचार्य के चरणों में वन्दना करे (नीयं च पाए वंदेज्जा [ग]) :

आचार्य आसन पर आसीन हों और शिष्य निम्न भूभाग में खड़ा हो फिर भी सीधा खड़ा-खड़ा वन्दना न करे, कुछ झुककर करे। सिर से चरण स्पर्श कर सके उतना झुककर वन्दना करे[६]।

२२. नीचा होकर अञ्जलि करे—हाथ जोड़े (नीयं कुज्जा य अंजलिं [घ]) :

वन्दना के लिए सीधा खड़ा-खड़ा हाथ न जोड़े, किन्तु कुछ झुककर वैसा करे[७]।

१—(क) अ० चू० : सेज्जा संथारओ तं णीयतरमायरियसंथारगाओ कुज्जा।
(ख) जि० चू० पृ० ३१४ : सेज्जा संथारओ भण्णइ, सो आयरियसंतियाओ णीयतरो कायव्वो।
(ग) हा० टी० प० २५० : नीचां 'शय्यां' संस्तारकलक्षणामाचार्यशय्यायाः सकाशात्कुर्यादिति योगः।

२—(क) अ० चू० : न आयरियाण पुरतो गच्छेज्जा।
(ख) जि० चू० पृ० ३१४-३१५ : 'णीया' नाम आयरियाण पिट्ठओ गंतव्वं, तमवि णो अच्चासण्णं, न वा अतिदूरत्थेण गंतव्वं, अच्चासण्णे ताव पादरेणुणा आयरियसंघट्टणदोसो भवइ, अइदूरे पडिणीय आसायणादि बहवे दोसा भवतीति, अतो णच्चासण्णे णातिदूरे य चंकमितव्वं।
(ग) हा० टी० प० २५० : नीचां गतिमाचार्यगतेः, तत्पृष्ठतो नातिदूरेण नातिद्रुतं यायादित्यर्थः।

३—(क) जि० चू० पृ० ३१५ : तहा जम्मिवि ठाणे आयरिया उवचिट्ठा अच्छंति तत्थ जं नीययरं ठाणं तंमि ठाइयव्वं।
(ख) हा० टी० प० २५० : नीचं स्थानमाचार्यस्थानात्, यत्राचार्य आस्ते तस्मान्नीचतरे स्थाने स्थातव्यमितिभावः।

४—अ० चू० : ठाणमवि जं ण पच्छतो ण पुरतो, एवमादि अविरुद्धं तं णीतं तहा कुज्जा।

५—(क) अ० चू० : एवं पीढफलगादिमवि आसणं।
(ख) जि० चू० पृ० ३१५ : तहा नीययरे पीढगाइंमि आसणे आयरिअणुन्नाए उवविसेज्जा।
(ग) हा० टी० प० २५० : 'नीचानि' लघुतराणि कदाचित्कारणजाते 'आसनानि' पीठकानि तस्मिन्नुपविष्टे तदनुज्ञातः सेवेत।

६—(क) जि० चू० पृ० ३१५ : जइ आयरिओ आसणे इयरो भूमिए नीययरे भूमिप्पदेसे वंदमाणो उवट्ठिओ न वंदेज्जा, किन्तु जाव सिरेण छुभे पादे ताव णीयं वंदेज्जा।
(ख) हा० टी० प० २५० : 'नीचं' च सम्यगवनतोत्तमाङ्गः सन् पादावाचार्यसत्कौ वन्देत, नावज्ञया।

७—(क) जि० चू० पृ० ३१५ : तहा अंजलिमवि कुव्वमाणेण णो पट्ठाणंमि उवविट्ठेण अंजली कायव्वा, किन्तु ईसिअवणएण कायव्वा।
(ख) हा० टी० प० २५० : 'नीचं' नम्रकायं 'कुर्यात्' संपादयेच्चाञ्जलिं, न तु स्थाणुवत्स्तब्ध एवेति।

श्लोक १८ :

२३. श्लोक १८ :

आशातना होने पर क्षमा-याचना करने की विधि इस प्रकार है—शिर झुकाकर गुरु से कहे—मेरा अपराध हुआ है उसके लिए मैं "मिच्छामि दुक्कडं" का प्रायश्चित्त लेता हूँ। आप मुझे क्षमा करें। मैं फिर से इसे नहीं दोहराऊँगा'[1]।

२४. (वुग्गहिणामवि ग) :

यहाँ मकार अलाक्षणिक है।

२५. किसी दूसरे प्रकार से (अवि ग) :

यह अवि शब्द का भावानुवाद है। यहाँ 'अवि' संभावना के अर्थ में है[2]। अगस्त्य चूर्णि के अनुसार 'गमन से उत्पन्न वायु से'[2] जिनदास चूर्णि के अनुसार 'शय्या और उपधि—दोनों से एक साथ स्पर्श हो जाने पर' यह 'अवि' का संभावित अर्थ है[3]।

लाए[1]। जैसे—शरद्-ऋतु में वात-पित्त हरने वाले द्रव्य, हेमन्त में उष्ण, वसन्त में श्लेष्म हरने वाले, ग्रीष्म में शीतकर और वर्षा में उष्ण आदि-आदि[2]।

२९ अभिप्राय (छंदं [क]) :

शिष्य का कर्तव्य है कि वह आचार्य की इच्छा को जाने। देश-काल के आधार पर इच्छाएँ भी विभिन्न होती हैं, जैसे—किसी को छाछ आदि, किसी को मधु आदि इष्ट होते हैं। क्षेत्र के आधार पर भी रुचि की भिन्नता होती है, जैसे—कोंकण देश वालों को पेया प्रिय होती है, उत्तरापथ वासियों को सत्तू आदि-आदि[3]।

३०. आराधन-विधि (उवयारं [क]) :

अगस्त्य चूर्णि में 'उवयार' का अर्थ आज्ञा[4], जिनदास चूर्णि में 'विधि'[5] और टीका में 'आराधना का प्रकार'[6] किया है।

श्लोक २१ :

३१. सम्पत्ति (संपत्ती [ख]) :

इसका अर्थ है सम्पदा[7]। अगस्त्य चूर्णि में इसका अर्थ कार्य-लाभ[8] और टीका में सम्प्राप्ति किया है[9]।

श्लोक २२ :

३२. जिसे बुद्धि और ऋद्धि का गर्व है (मइइड्ढिगारवे [क]) :

जो मति द्वारा ऋद्धि का गर्व वहन करता है[10], जो जातीयता का गर्व करता है[11] और जो ऋद्धि-गौरव में अभिनिविष्ट है[12]—ये क्रमशः अगस्त्य चूर्णि, जिनदास चूर्णि और टीका के अर्थ हैं। मति अर्थात् श्रुत और ऋद्धि-ऐश्वर्य का गर्व—यह इसका सरल अर्थ प्रतीत होता है।

१—अ० चू० : जधा कालं जोग्गं भोजणसयणासणादि उवणेय।

२—जि० चू० पृ० : ३१५-१६ : तत्थ सरदि वातपित्तहराणि दव्वाणि आहरति, हेमन्ते उण्हाणि, वसंते हिंमहराणि (सिंभहराणि), गिम्हे सीयकरणानि, वासासु उण्हवण्णाणि (उण्णवण्ण), एवं ताव उडु उडु पप्प गुरुण अट्ठाए दव्वाणि आहरिज्जा, तहा उडु पप्प सेज्जमवि आणेज्जा।

३—जि० चू० पृ० ३१६ : छन्दो णाम इच्छा भण्णइ, कयाइ अणुदुप्पयोगमवि दव्वं इच्छति, भणियं च—'अण्णस्स पिया छासी मासी अण्णस्स आसुरी किसरा। अण्णस्स घारिया पुरिया य बहुरोहलो लोगो॥' तहा कोई सत्तुए इच्छइ कोति एगरसं इच्छइ, देसं वा पप्प अण्णस्स पियं जहा कुंकुणकाणं कोंकणयाण पेज्जा, उत्तरापहगाणं सत्तुया, एवमादि।

४—अ० चू० : उवयारो आणा कीति आणत्तिआए तूसति।

५—जि० चू० पृ० ३१६ : 'उवयार' णाम विधी भण्णइ।

६—हा० टी० प० २५० : 'उपचारम्' आराधनाप्रकारम्।

७—जि० चू० पृ० ३१६ : अट्ठं हि विणीयस्स संपया भवति।

८—अ० चू० : संपत्ती कज्जलाभो।

९—हा० टी० प० २५१ : संप्राप्तिर्विनीतस्य च ज्ञानादिगुणानाम्।

१०—अ० चू० : जो मतीए इड्ढिगारवमुव्वहति।

११—जि० चू० पृ० ३१६ : जातीए इड्ढिगारवं वहति, जहाऽहं उत्तमजातीओ बहुमेतस्स पादे लग्गिहामित्ति मति इड्ढी गारवो भण्णति।

१२—हा० टी० प० २५१ : 'ऋद्धिगौरवमति.' ऋद्धिगौरवे अभिनिविष्ट'।

३३. जो साहसिक है (साहस [ग]) :

इसका अर्थ है—बिना सोचे-समझे आवेश में कार्य करने वाला अथवा 'अकृत्य कार्य करने में तत्पर'[1]। इस शब्द के अर्थ का उत्कर्ष हुआ है। प्राचीन साहित्य में इसका प्रयोग चोर, हिंसक, शोषक आदि के अर्थ में होता था, परन्तु कालान्तर में इसका अर्थ शक्तिशाली, संकल्पवान् हुआ है। प्रश्नव्याकरण सूत्र में 'साहस' को हिंसा का पर्यायवाची शब्द माना है[2]। कोशकार होरेस हेमेन विल्सन ने 'साहस' के हिंसा और शक्ति दोनों अर्थ किए हैं परन्तु 'साहसिक' का हिंसापरक अर्थ ही किया है[3]।

३४. जो गुरु की आज्ञा का यथासमय पालन नहीं करता (हीणपेसणे [ख]) :

'पेसण' का अर्थ है नियोजन, कार्य में प्रवृत्त करना, आज्ञा आदि। जो शिष्य अपने गुरु की आज्ञा को हीन—लघु करता है—यथासमय उसका पालन नहीं करता, वह हीन-प्रेषण कहलाता है[4]।

३५. जो असंविभागी है (असंविभागी [घ]) :

जो अपने प्राप्त हुए आहार आदि का दूसरे समानधर्मी साधुओं को संविभाग नहीं देता, वह 'असंविभागी' कहलाता है[5]। 'असंविभागी न हु तस्स मोक्खो'—यह धर्म-सूत्र आधुनिक समाजवाद की भावना का प्रतिनिधि-वाक्य है।

श्लोक २३ :

नवमं अज्झयणं

विणयसमाही

(तइओ उद्देसो)

नवम अध्ययन

विनय-समाधि

(तृतीय उद्देशक)

विणयसमाही (तइओ उद्देसो) : विनय-समाधि (तृतीय उद्देशक)

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१ आयरियं अग्गिमिवाहियग्गी सुस्सूसमाणो पडिजागरेज्जा। आलोइयं इंगियमेव नच्चा जो छन्दमाराहयइ स पुज्जो ॥	आचार्यमग्निमिवाहिताग्निः, शुश्रूषमाणः प्रतिजागृयात्। आलोकितमिङ्गितमेव ज्ञात्वा, यश्छन्दमाराधयति स पूज्यः ॥१॥	१—जैसे आहिताग्नि अग्नि की शुश्रूषा करता हुआ जागरूक रहता है, वैसे ही जो आचार्य की शुश्रूषा करता हुआ जागरूक रहता है, जो आचार्य के आलोकित और इङ्गित को जानकर उनके अभिप्राय की आराधना करता है[१], वह पूज्य है।
२-आयारमट्ठा विणयं पउंजे सुस्सूसमाणो परिगिज्झ वक्कं। जहोवइट्ठं अभिकंखमाणो गुरुं तु नासाययई स पुज्जो ॥	आचारार्थं विनयं प्रयुञ्जीत, शुश्रूषमाणः परिगृह्य वाक्यम्। यथोपदिष्टमभिकाङ्क्षन्, गुरुं तु नाशातयति स पूज्यः ॥२॥	२—जो आचार के लिए[२] विनय का प्रयोग करता है, जो आचार्य को सुनने की इच्छा रखता हुआ उनके वाक्य को ग्रहण कर उपदेश के अनुकूल आचरण करता है, जो गुरु की आशातना नहीं करता, वह पूज्य है।
३—राइणिएसु विणयं पउंजे डहरा वि य जे परियायजेट्ठा। नियत्तणे वट्टइ सच्चवाई ओवायवं वक्ककरे स पुज्जो ॥	रात्निकेषु विनयं प्रयुञ्जीत, डहरा अपि ये पर्यायज्येष्ठाः। नीचत्वे वर्तते सत्यवादी, अवपातवान् वाक्यकरः स पूज्यः ॥३॥	३—जो अल्पवयस्क[३] होने पर भी दीक्षा-काल में ज्येष्ठ[४] हैं—उन पूजनीय साधुओं के प्रति विनय का प्रयोग करता है, नम्र व्यवहार करता है, सत्यवादी है, गुरु के समीप रहने वाला है[५] और जो गुरु की आज्ञा का पालन करता है, वह पूज्य है।
४—अन्नायउंछं चरई विसुद्धं जवण[illegible] समुयाणं च निच्चं। [illegible] नो परिदेवएज्जा [illegible]त्थयई स पुज्जो ॥	अज्ञातोञ्छं चरति विशुद्धं, यापनार्थं समुदानं च नित्यम्। अलब्ध्वा न परिदेवयेत्, लब्ध्वा न विकत्थते स पूज्यः ॥४॥	४—जो जीवन-यापन के लिए[६] विशुद्ध सामुदायिक अज्ञात-उञ्छ (भिक्षा) की[७] सदा चर्या करता है, जो भिक्षा न मिलने पर खिन्न नहीं होता[८], मिलने पर श्लाघा नहीं करता[९], वह पूज्य है।
[illegible]पाणे [illegible]लाभे वि संते। [illegible]भितोसएज्जा [illegible] स पुज्जो ॥	संस्तार-शय्यासन-भक्तपाने, अल्पेच्छताऽतिलाभेऽपि सति। य एवमात्मानमभितोषयेत्, सन्तोषप्राधान्यरतः स पूज्यः ॥५॥	५—संस्तारक, शय्या, आसन, भक्त और पानी का अधिक लाभ होने पर भी जो अल्पेच्छ होता है[१०], अपने-आप को सन्तुष्ट रखता है और जो सन्तोष-प्रधान जीवन में रत है, वह पूज्य है।

१२—तहेव डहरं च महल्लगं वा
इत्थीपुमं पव्वइयं गिहिं वा ।
नो हीलए नो वि य खिंसएज्जा
थंभं च कोहं च चए स पुज्जो ॥

तथैव डहरं च 'महल्लकं' वा,
स्त्रियं पुमांसं प्रव्रजितं गृहिणं वा ।
नो हीलयेन्नो अपि च खिंसयेत्,
स्तम्भञ्च क्रोधञ्च त्यजेत् स पूज्यः ॥१२॥

१२—बालक या वृद्ध, स्त्री या पुरुष, प्रव्रजित या गृहस्थ को दुश्चरित की याद दिलाकर जो लज्जित नहीं करता, उनकी निन्दा नहीं करता[२४], जो गर्व और क्रोध का त्याग करता है, वह पूज्य है।

१३—"जे माणिया सययं माणयंति
जत्तेण कन्नं व निवेसयंति ।
ते माणए माणरिहे तवस्सी
जिइंदिए सच्चरए" स पुज्जो ॥

ये मानिताः सततं मानयन्ति,
यत्नेन कन्यामिव निवेशयन्ति ।
तान्मानयेन्मानार्हान्तपस्विनः,
जितेन्द्रियान् सत्यरतान् स पूज्यः ॥१३॥

१३—अभ्युत्थान आदि के द्वारा सम्मानित किए जाने पर जो शिष्यों को सतत सम्मानित करते हैं – श्रुत ग्रहण के लिए प्रेरित करते हैं, पिता जैसे अपनी कन्या को यत्न-पूर्वक योग्य कुल में स्थापित करता है, वैसे ही जो आचार्य अपने शिष्यों को योग्य मार्ग में स्थापित करते हैं, उन माननीय, तपस्वी, जितेन्द्रिय और सत्यरत आचार्य का जो सम्मान करता है, वह पूज्य है।

१४—तेसिं गुरूणं गुणसागराणं
सोच्चाण मेहावि सुभासियाइं ।
चरे मुणी पंचरए तिगुत्तो
चउक्कसायावगए स पुज्जो ॥

तेषां गुरूणां गुणसागराणां,
श्रुत्वा मेधावी सुभाषितानि ।
चरेन्मुनिः पञ्चरतस्त्रिगुप्तः,
अपगत-चतुष्कषायः स पूज्यः ॥१४॥

१४—जो मेधावी मुनि उन गुण-सागर गुरुओं के सुभाषित सुनकर उनका आचरण करता है, पाँच महाव्रतों में रत, मन, वाणी और शरीर से गुप्त[२५] तथा क्रोध, मान, माया और लोभ को दूर करता है[२६], वह पूज्य है।

१५—गुरुमिह सययं पडियरिय मुणी
जिणमयनिउणे अभिगमकुसले ।
धुणिय रयमलं पुरेकडं
भासुरमउलं गइं गय ॥

त्ति बेमि ।

गुरुमिह सततं परिचर्य मुनिः,
जिनमतनिपुणोऽभिगमकुशलः ।
धूत्वा रजोमलं पुरा कृतं,
भास्वरामतुलां गतिं गतः ॥१५॥

इति ब्रवीमि ।

१५—इस लोक में गुरु की सतत सेवा कर[२७], जिनमत-निपुण[२८] (आगम-निपुण) और अभिगम (विनय-प्रतिपत्ति) में कुशल[२९] मुनि पहले किए हुए रज और मल को[३०] कम्पित कर प्रकाशयुक्त अनुपम गति को प्राप्त होता है।

ऐसा मैं कहता हूँ।

४. दीक्षा-काल में ज्येष्ठ (परीयायजेट्ठा [ग])

ज्येष्ठ या स्थविर तीन प्रकार के होते हैं।

(१) जाति स्थविर—जो जन्म से ज्येष्ठ होते हैं।

(२) श्रुत स्थविर—जो ज्ञान से ज्येष्ठ होते हैं।

(३) पर्याय स्थविर—जो दीक्षा-काल से ज्येष्ठ होते हैं।

यहाँ इन तीनों में से 'पर्याय ज्येष्ठ' की विशेषता बताई गई है[1]। जो जाति और श्रुत में ज्येष्ठ न होने पर भी पर्याय से ज्येष्ठ हो उनके प्रति विनय का प्रयोग करना चाहिए।

५. जो गुरु के समीप रहने वाला है (ओवायव [घ])

आगम-टीकाओं में 'ओवाय' के संस्कृत रूप 'उपपात और अवपात' दोनों दिये जाते हैं। उपपात का अर्थ है—समीप व आज्ञा और अवपात का अर्थ है—वन्दन, सेवा आदि। अगस्त्य चूर्णि में 'ओवायव' का अर्थ 'आचार्य का आज्ञाकारी' किया है[2]। जिनदास चूर्णि में भी 'ओवाय' का अर्थ आज्ञा—निर्देश किया है[3]। टीकाकार ने 'ओवायव' के दो अर्थ किए हैं—वन्दनशील या समीपवर्ती[4]। 'अव' को 'ओ' होता है परन्तु 'उप' को प्राकृत व्याकरण में 'ओ' नहीं होता। आर्ष प्रयोगों में 'उप' को 'ओ' किया जाता है, जैसे—उपवास=ओवास (पउमचरिय ४२, ८६)।

वन्दनशील के अतिरिक्त 'समीपवर्ती या आज्ञाकारी' अर्थ 'उपपात' शब्द को ध्यान में रखकर ही किए गए हैं। 'ओवायव' से अगला शब्द 'वक्ककर' है। इसका अर्थ है—गुरु की आज्ञा का पालन करने वाला[5]। इसलिए 'ओवायव' का अर्थ 'वन्दनशील' और 'समीपवर्ती' अधिक उपयुक्त है। जिनदास महत्तर ने 'आज्ञापूर्वक वचन करने वाला'—इस प्रकार संयुक्त अर्थ किया है। परन्तु 'ओवायवं' शब्द स्वतन्त्र है, इसलिए उसका अर्थ स्वतंत्र किया जाए यह अधिक संगत है।

श्लोक ४ :

६ जीवन-यापन के लिए (जवणट्ठया [ख])

संयम-भार को वहन करने वाले शरीर को धारण करने के लिए—यह अगस्त्यसिंह स्थविर और टीकाकार की व्याख्या है[6]। जिनदास महत्तर इसी व्याख्या को कुछ और स्पष्ट करते हैं, जैसे—यात्रा के लिए गाड़ी के पहिए में तेल चुपड़ा जाता है वैसे ही संयम-यात्रा को निभाने के लिए भोजन करना चाहिए[7]।

१—अ० चू० : जातिसुतथेरभूमीहितो परियागथेरभूमिसुकरिसतोहिं विसेसिज्जति इहरावि जो पढमं परियायजेट्ठा पव्वज्जा-भईस्सा।

२—अ० चू० : आयरिय आणाकारी ओवायवं।

३—जि० चू० पृ० ३११ : उपातो नाम आणानिद्देसो।

४—हा० टी० प० २५३ : 'अवपातवान्' वन्दनशीलो निकटवर्ती वा।

५—हा० टी० प० २५३ : 'वाक्यकरो' गुरुनिर्देशकरणशील:।

६—(क) अ० चू० : संजमभारवह सरीरधारणत्थं जवणट्ठता।

(ख) हा० टी० प० २५३ : 'यापनार्थं' संयमभरोद्वाहिशरीरपालनाय नान्यथा।

७—जि० चू० पृ० ३११ : 'जवणट्ठया' नाम जहा सगडस्स अब्भंगो जत्तत्थं कीरइ, तहा संजमजत्तानिव्वहणत्थं आहारेयव्वति।

७. अपना परिचय न देते हुए उञ्छ (भिक्षा) की (अन्नायउञ्छं क)

अगस्त्यसिंह स्थविर ने 'अज्ञात' और 'उञ्छ' की व्याख्याएँ भिन्न-भिन्न स्थलों में इस प्रकार की हैं—जो मित्र, स्वजन आदि से न हो वह 'अज्ञात' कहलाता है[1]। पूर्व-संस्तव—मातृ-पितृपक्षीय परिचय और पश्चात्-संस्तव—श्वसुरपक्षीय परिचय के बिना प्राप्त भैक्ष 'अज्ञात-उञ्छ' कहलाता है[2]। उद्गम, उत्पादन और एषणा के दोषों से रहित जो भैक्ष उपलब्ध हो वह 'अज्ञात-उञ्छ' है[3]। 'अज्ञात-उञ्छ' की ८.२३ में भी यही व्याख्या है[4]। इन व्याख्याओं के आधार पर 'अज्ञात-उञ्छ' के फलितार्थ दो हैं :

श्लोक ५ :

१०. जो अल्पेच्छ होता है (अप्पिच्छया ग) :

अल्पेच्छता का तात्पर्य है—प्राप्त होने वाले पदार्थों में मूर्च्छा न करना और आवश्यकता से अधिक न लेना[१]।

श्लोक ६ :

११. श्लोक ६ :

पुरुष धन आदि की आशा से लोहमय काँटों को सहन कर लेता है—यहाँ सूत्रकार ने एक प्राचीन परम्परा का उल्लेख किया है। चूर्णिकार उसे इस भाषा में प्रस्तुत करते हैं—

कई व्यक्ति तीर्थ-स्थान में धन की आशा से भाले की नोंक या बबूल आदि के काँटों पर बैठ या सो जाते थे। उधर जाने वाले व्यक्ति उनकी दयनीय दशा से द्रवित हो कहते "उठो, उठो, जो तुम चाहोगे वही तुम्हें देंगे।" इतना कहने पर वे उठ खड़े होते[२]।

१२. कानों में पैठते हुए (कण्णसरे घ) :

अगस्त्यसिंह स्थविर ने इसके दो अर्थ किए हैं—'कानों में प्रवेश करने वाले अथवा कानों के लिए बाण जैसे तीखे,[३]। जिनदास और टीकाकार ने इसका केवल एक (प्रथम) अर्थ ही किया है।[४]

श्लोक ७ :

१३. सहजतया निकाले जा सकते हैं (सुउद्धरा ख) :

जो बिना कष्ट के निकाला जा सके और मरहमपट्टी कर व्रण को ठीक किया जा सके—यह 'सुउद्धर' का तात्पर्यार्थ है[५]।

१४. वैर की परम्परा को बढ़ाने वाले (वेराणुबंधीणि घ) :

अनुबन्ध का अर्थ सातत्य, निरन्तरता है। कटु वाणी से वैर आगे से आगे बढ़ता जाता है, इसलिए उसे वैरानुबन्धी कहा है[६]।

१—जि० चू० पृ० ३२० : अप्पिच्छया णाम णो मुच्छं करेइ, ण वा अतिरित्ताणि गिण्हइ।

(ख) हा० टी० प० २५३ : 'अल्पेच्छता' अमूर्च्छया परिभोगोऽतिरिक्ताग्रहणं वा।

२—(क) अ० चू० : सक्कणीया सक्का सहितुं सरिसेतुं, लाभो आसा, ताए कटगा बब्बूलपभीतीण जधा केति तित्थाविस्थाणेसु लोभेण अवस्स मम्हे धम्ममुद्दिस्स कोति उत्थावेहितित्ति कटकसयण।

(ख) जि० चू० पृ० ३२० : जहा कोपि लोहमयकटया पत्थरेऊण सयमेव उच्चहमाणा ण पराभियोगेण तेसिं लोहकंटगाणं उवरिं णुविज्जति, ते य अण्णे पासित्ता किवापरिगयचेतसा अहो वरागा एते अत्थहेउ इम आवइं पत्तत्ति भन्नति जहा उट्ठेह उट्ठेहति, जं मग्गह तं भे पयच्छामो, तओ तिक्खकंटाणिभिन्नसरीरा उट्ठेंति।

३—अ० चू० : कण्णं सरंति पावंति कण्णसरा अथवा सरीरस्स दुस्सहमायुधं सरो तहा ते कण्णस्स एवं कण्णसरा।

४—(क) जि० चू० पृ० ३११ : कन्नं सरतीति कन्नसरा, कन्न पविसंतीति वुत्त भवइ।

(ख) हा० टी० प० २५३ : 'कर्णसरान्' कर्णगामिन।

५—(क) जि० चू० पृ० ३२० : सुह च उद्धरिज्जंति, वणपरिकम्मणावीहि य उवाएहिं वरुभविज्जति

(ख) हा० टी० प० २५३ : 'सूद्धरा' सुखेनैवोद्ध्रियन्ते व्रणपरिकर्म च क्रियते।

६—हा० टी० प० २५३ : तथाभ्यवणप्रद्वेषादिनेह परत्र च वैरानुबन्धीनि भवन्ति।

श्लोक ८ :

श्लोक १४ :

२८. मन, वाणी और शरीर से गुप्त (तिगुत्तो ग) :

गुप्ति का अर्थ है—गोपन, संवरण । वे तीन हैं :
(१) मन-गुप्ति, (२) वचन-गुप्ति और (३) काय-गुप्ति[1] ।
इन तीनों से जो युक्त होता है, वह 'त्रिगुप्त' कहलाता है[2] ।

२९. क्रोध, मान, माया और लोभ को दूर करता है (चउक्कसायावगए घ) :

कषाय की जानकारी के लिए देखिए ८.३६-३९ ।

श्लोक १५ :

३०. सेवा कर (पडियरिय क) :

प्रतिचर्य अर्थात् विधिपूर्वक आराधना करके, शुश्रूषा करके, भक्ति करके[3] ।

३१. जिनमत-निपुण (जिणमयनिउणे ख)

जो आगम में प्रवीण होता है, उसे 'जिनमत-निपुण' कहा जाता है[4] ।

३२. अभिगम (विनय-प्रतिपत्ति) में कुशल (अभिगमकुसले ख) :

अभिगम का अर्थ है अतिथि—साधुओं का आदर-सम्मान व भक्ति करना । इस कार्य में जो दक्ष होता है, वह 'अभिगम-कुशल' कहलाता है[5] ।

३३. रज और मल को (रयमलं ग) :

आस्रव-काल में कर्म 'रज' कहलाता है और बद्ध, स्पृष्ट तथा निकाचित काल में 'मल' कहलाता है[6] । यह अगस्त्यसिंह स्थविर की व्याख्या है । कहीं-कहीं 'रज' का अर्थ आस्रव द्वारा आकृष्ट होने वाले 'कर्म' और 'मल' का अर्थ आस्रव किया है ।

१—उत्त० २४.१९-२५ ।

२—हा० टी० प० २५५ : 'त्रिगुप्तो' मनोगुप्त्यादिमान् ।

३—(क) अ० चू० : जधा जोगं सुस्सूसिऊण पडियरिय ।
(ख) जि० चू० पृ० ३२४ : जिणोवइट्ठेण विणएण आराहेऊण ।
(ग) हा० टी० प० २५५ : 'परिचर्य' विधिना आराध्य ।

४—हा० टी० प० २५५ : 'जिनमतनिपुण' आगमे प्रवीणः ।

५—(क) जि० चू० पृ० ३२४ : अभिगमो नाम साधूणमायरियाणं वा विणयपडिवत्ती सो अभिगमो भण्णइ, तंमि कुसले ।
(ख) हा० टी० प० २५५ : 'अभिगमकुशलो' लोकप्राघूर्णकादिप्रतिपत्तिदक्षः ।

६—अ० चू० : आसवकालेरयो बद्धपुट्ठनिकाइय कम्म मलो ।

नवमं अज्झयणं

विणयसमाही

(चउत्थो उद्देसो)

नवम अध्ययन
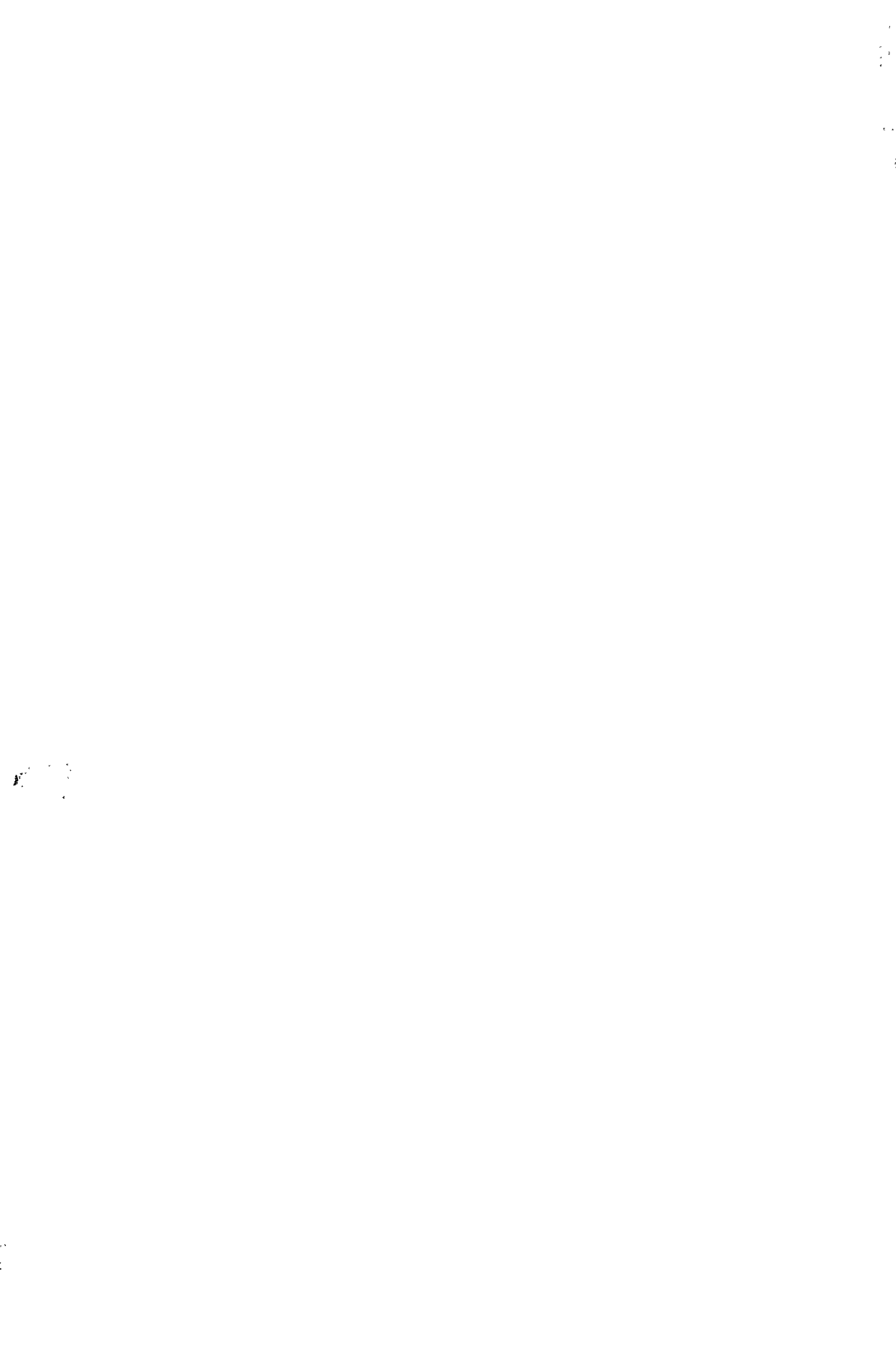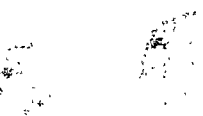
विनय-समाधि

(चतुर्थ उद्देशक)

विणयसमाही (चउत्थो उद्देसो) : विनय समाधि (चतुर्थ उद्देशक)

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
सुयं मे आउसं तेणं भगवया एवमक्खायं—इह खलु[1] थेरेहिं भगवंतेहिं चत्तारि विणयसमाहिट्ठाणा पन्नत्ता। सू० १	श्रुतं मया आयुष्मन्! तेन भगवतैवमाख्यातम्, इह खलु स्थविरैर्भगवद्भिश्चत्वारि विनय-समाधि-स्थानानि प्रज्ञप्तानि ॥१॥	आयुष्मन्! मैंने सुना है उन भगवान् (प्रज्ञापक आचार्य प्रभवस्वामी) ने इस प्रकार कहा—इस निर्ग्रन्थ-प्रवचन में[1] स्थविर[2] भगवान् ने विनय-समाधि[3] के चार स्थानों का प्रज्ञापन किया है।
कयरे खलु ते थेरेहिं भगवंतेहिं चत्तारि विणयसमाहिट्ठाणा पन्नत्ता। सू० २	कतराणि खलु तानि स्थविरैर्भगवद्भिश्चत्वारि विनय-समाधिस्थानानि प्रज्ञप्तानि ॥२॥	वे विनय-समाधि के चार स्थान कौन से हैं जिनका स्थविर भगवान् ने प्रज्ञापन किया है?
इमे खलु ते थेरेहिं भगवंतेहिं चत्तारि विणयसमाहिट्ठाणा पन्नत्ता तंजहा— (१) विणयसमाही (२) सुयसमाही (३) तवसमाही (४) आयारसमाही।	इमानि खलु तानि स्थविरैर्भगवद्भिश्चत्वारि विनय-समाधिस्थानानि प्रज्ञप्तानि। तद्यथा—(१) विनय-समाधिः, (२) श्रुत-समाधि, (३) तप-समाधिः, (४) आचार-समाधिः।	वे विनय-समाधि के चार प्रकार ये हैं, जिनका स्थविर भगवान् ने प्रज्ञापन किया है, जैसे—विनय-समाधि, श्रुत-समाधि, तप-समाधि और आचार-समाधि।
१—[4]विणए सुए अ तवे आयारे निच्चं पंडिया। अभिरामयंति अप्पाणं जे भवंति जिइंदिया ॥ सू० ३	विनये श्रुते च तपसि, आचारे नित्यं पण्डिताः। अभिरामयन्त्यात्मानं, ये भवन्ति जितेन्द्रियाः ॥१॥	१—जो जितेन्द्रिय होते हैं वे पण्डित पुरुष अपनी आत्मा को सदा विनय, श्रुत, तप और आचार में लीन किए रहते हैं[1]।
चउव्विहा खलु विणयसमाही भवइ तंजहा—(१) अणुसासिज्जंतो सुस्सूसइ (२) सम्मं संपडिवज्जइ (३) वेयमाराहयइ (४) न य भवइ अत्तसंपग्गहिए। चउत्थं पयं भवइ। भवइ य इत्थ सिलोगो—	चतुर्विधः खलु विनय-समाधिर्भवति। तद्यथा—(१) अनुशास्यमानः शुश्रूषते, (२) सम्यक् सम्प्रतिपद्यते, (३) वेदमाराधयति, (४) न च भवति सम्प्रगृहीतात्मा,—चतुर्थं पदं भवति। भवति चात्र श्लोकः—	विनय-समाधि के चार प्रकार हैं, जैसे— (१) शिष्य आचार्य के अनुशासन को सुनना चाहता है[2]। *(२) अनुशासन को सम्यग् रूप से स्वीकार करता है।* (३) वेद (ज्ञान)[3] की आराधना करता है[4] अथवा (अनुशासन के अनुकूल आचरण कर आचार्य की वाणी को सफल बनाता है)।

४—विविहगुणतवोरए य निच्चं
भवइ निरासए[११] निज्जरट्ठिए।
तवसा धुणइ पुराणपावगं
जुत्तो सया तवसमाहिए॥

विविधगुणतपोरतश्च नित्यं,
भवति निराशकः निर्जरार्थिकः।
तपसा धुनोति पुराण-पापकं,
युक्त सदा तपः-समाधिना॥४॥

सदा विविध गुण वाले तप में रत रहने वाला मुनि पौद्गलिक प्रतिफल की इच्छा से रहित होता है। वह केवल निर्जरा का अर्थी होता है, तप के द्वारा पुराने कर्मों का विनाश करता है और तप-समाधि में सदा युक्त हो जाता है।

सू० ६

चउव्विहा खलु आयारसमाही भवइ तजहा—(१) नो इहलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठेज्जा (२) नो परलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठेज्जा, (३) नो कित्तिवण्णसद्दसिलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठेज्जा (४) नन्नत्थ आरहंतेहिं हेऊहिं आयारमहिट्ठेज्जा। चउत्थं पयं भवइ।

भवइ य इत्थ सिलोगो—

चतुर्विध खल्वाचारसमाधिर्भवति। तद्यथा—(१) नो इहलोकार्थमाचारमधितिष्ठेत्, (२) नो परलोकार्थमाचारमधितिष्ठेत्, (३) नो कीर्तिवर्णशब्दश्लोकार्थमाचारमधितिष्ठेत्, (४) नान्यत्राऽर्हतेभ्यो हेतुभ्य आचारमधितिष्ठेत्। चतुर्थं पदं भवति।

भवति चात्र श्लोकः—

आचार-समाधि के चार प्रकार हैं, जैसे :

(१) इहलोक के निमित्त आचार का पालन नहीं करना चाहिए।

(२) परलोक के निमित्त आचार का पालन नहीं करना चाहिए।

(३) कीर्ति, वर्ण, शब्द और श्लोक के निमित्त आचार का पालन नहीं करना चाहिए।

४—आर्हत-हेतु के[१२] अतिरिक्त अन्य किसी भी उद्देश्य से आचार का पालन नहीं करना चाहिए—यह चतुर्थ पद है और यहां (आचार-समाधि के प्रकरण में) एक श्लोक है—

५—जिणवयणरए अतिंतिणे
पडिपुण्णाययमाययट्ठिए।
आयारसमाहिसंवुडे
भवइ य दंते भावसंधए[१६]॥

जिनवचनरतोऽतिन्तिणः,
प्रतिपूर्ण आयतमायतार्थिकः।
आचारसमाधिसंवृतः,
भवति च दान्तो भावसन्धकः॥५॥

५—जो जिनवचन[१३] में रत होता है, जो प्रलाप नहीं करता, जो सूत्रार्थ से प्रतिपूर्ण होता है[१४], जो अत्यन्त मोक्षार्थी होता है, वह आचार-समाधि के द्वारा संवृत होकर इन्द्रिय और मन का दमन करने वाला[१५] तथा मोक्ष को निकट करने वाला होता है।

सू० ७

६—अभिगम चउरो समाहिओ
सुविसुद्धो सुसमाहियप्पओ।
विउलहियसुहावहं पुणो
कुव्वइ सो पयखेममप्पणो॥

अभिगम्य चतुरः समाधीन्,
सुविशुद्धः सुसमाहितात्मकः।
विपुलहितसुखावहं पुनः,
करोति स पद क्षेममात्मनः॥६॥

६—जो चारों समाधियों को जानकर[१७] सुविशुद्ध और सुसमाहित-चित्त वाला होता है, वह अपने लिए विपुल हितकर और सुखकर मोक्ष-स्थान को प्राप्त करता है।

७—जाइमरणाओ मुच्चई
इत्थंथं च चयइ सव्वसो।
सिद्धे वा भवइ सासए
देवे वा अप्परए महिड्ढिए॥

जातिमरणात् मुच्यते,
इत्थंस्थं च त्यजति सर्वशः।
सिद्धो वा भवति शाश्वतः,
देवो वाऽल्परजा महर्द्धिकः॥७॥

७—वह जन्म-मरण से[१८] मुक्त होता है, नरक आदि अवस्थाओं को[१९] पूर्णतः त्याग देता है। इस प्रकार वह या तो शाश्वत सिद्ध अथवा अल्प कर्म वाला[२०] महर्द्धिक देव[२१] होता है।

त्ति बेमि।

इति ब्रवीमि।

ऐसा मैं कहता हूं।

टिप्पण : अध्ययन ६ (चतुर्थ उद्देशक)

सूत्र १ :

१. इस निर्ग्रन्थ-प्रवचन में (इह) :

'इह' शब्द के द्वारा दो अर्थ गृहीत किए गए हैं—(१) निर्ग्रन्थ-प्रवचन में और (२) इस लोक में—इस क्षेत्र में[1]।

२. (खलु) :

यहाँ 'खलु' शब्द से अतीत और अनागत स्थविरों का ग्रहण किया गया है[2]।

३. स्थविर (थेरेहिं) :

यहाँ स्थविर का अर्थ गणधर किया है[3]।

४. समाधि (समाही) :

समाधि शब्द अनेकार्थक है। टीकाकार ने यहाँ इसका अर्थ आत्मा का हित, सुख और स्वास्थ्य किया है[4]। विनय, श्रुत, तप और आचार के द्वारा आत्मा का हित होता है, इसलिए समाधि के चार रूप बतलाए गए हैं। अगस्त्यसिंह ने समारोपण और गुणों के समाधान (आरोपण या स्थापन) को समाधि कहा है। उनके अनुसार विनय, श्रुत, तप और आचार के समारोपण या इनके द्वारा होने वाले गुणों के समाधान को विनय-समाधि, श्रुत-समाधि और आचार-समाधि कहा जाता है[5]।

अभिव्यक्ति के लिए श्लोक दिया जाता है[1]। इस अभिमत की पुष्टि के लिए वे पूर्वज आचार्यों के अभिमत का भी उल्लेख करते हैं। जो अर्थ गद्य में कहकर पुनः श्लोक में कहा जाता है, वह व्यक्ति के अर्थ-निश्चय (स्फुट अर्थ-निश्चय) में सहायक होता है और दुरूह स्थलों को सुगम बना देता है[2]।

६. लीन किए रहते हैं (अभिरामयंति) :

'अभिराम' का यहाँ अर्थ है जोड़ना, योजित करना[3], विनय आदि गुणों में लगाना[4], लीन करना।

सूत्र ४ :

७. सुनना चाहता है (सुस्सूसइ) :

'शुश्रूष्' धातु का यहाँ अर्थ है—सम्यक् रूप से ग्रहण करना[5]। इसका दूसरा अर्थ है सुनने की इच्छा करना या सेवा करना।

८. (ज्ञान) को (वेय) :

वेद का अर्थ है ज्ञान[6]।

६. आराधना करता है (आराहयइ) :

आराधना का अर्थ है—ज्ञान के अनुकूल क्रिया करना[7]।

१०. आत्मोत्कर्ष · · नहीं करता (अत्तसंपग्गहिए) :

जिसकी आत्मा गर्व से सम्प्रगृहीत (अभिमान से अवलिप्त) हो, उसे सम्प्रगृहीतात्मा (आत्मोत्कर्ष करने वाला) कहा जाता है। मैं विनीत हूँ, कार्यकारी हूँ—ऐसा सोचना आत्मोत्कर्ष है[8]।

१—(क) अ० चू० : उद्दिट्ठस्स अत्थस्स फुडीकरणत्थं सुभणणत्थ सिलोगबंधो।
(ख) जि० चू० पृ० ३२५ : तेसिं चेव अत्थाण फुडीकरणणिमित्त अविकप्पणानिमित्त च।

२—(क) अ० चू० : गद्येनोक्त पुनः श्लोके, योऽर्थः समनुगीयते।
स व्यक्तिव्यवसायार्थं, दुरुक्तग्रहणाय च॥
(ख) जि० चू० पृ० ३२५ : "यदुक्तो य. (ऽत्र) पुनः श्लोकैरर्थःसमनुगीयते।

३—जि० चू० पृ० ३२५ : अप्पाण जोएति त्ति।

४—हा० टी० प० २५६ . 'अभिरमयन्ति' अनेकार्थत्वादाभिमुख्येन विनयादिषु युञ्जते।

५—(क) अ० चू० सुस्सूसतीय परमेणादरेण आयरिओवज्झाए।
(ख) जि० चू० पृ० ३२७ : आयरियउवज्झायावओ य आदरेण हिओवदेसर्गत्तकाऊण सुस्सूसइ।
(ग) हा० टी० प० २५६ : 'शुश्रूषते' इत्यनेकार्थत्वाद्यथाविषयमवबुध्यते।

६—(क) अ० चू० : विदति जेण अत्थिविसेसे जंमि वा भणिते विदति सो वेदो तं पुण नाणमेव।
(ख) जि० चू० पृ० ३२६ : वेदो—नाणं भण्णइ।
(ग) हा० टी० प० २५५ : वेद्यतेऽनेनेति वेद —श्रुतज्ञानम्।

७—(क) जि० चू० पृ० ३२६ : तत्थ जं जहा भणित तहेव कुव्वमाणो समायरइत्ति।
(ख) हा० टी० प० २५६ : आराधयति · · ·यथोक्तानुष्ठानपरतया सफलीकरोति।

८—(क) अ० चू० : संपग्गहितो गव्वेण जस्स अप्पा सो अत्तसंपग्गहितो।
(ख) जि० चू० पृ० ३२६ : अत्तुक्करिसं करेइत्ति, जहा विणीयो अहूलकारो य एवमादि।

११. मोक्षार्थी मुनि (आययट्ठिए) :

आयतार्थी—मोक्षार्थी[1]। इसका दूसरा अर्थ है भविष्यकालीन सुख का इच्छुक[2]।

१२. अभिलाषा करता है (पेहेइ) :

इसके संस्कृत रूप तीन होते हैं :

१. प्र+ईक्ष्—प्रेक्षते—देखना।

२. प्र+ईह्—प्रेहते।

३. स्पृह्—स्पृहयति—प्रार्थना करना, इच्छा करना, चाहना[3]।

१३. आचरण करता है (अहिट्ठए) :

अनुशासन के अनुकूल आचरण करना[4]।

१४. गर्व के उन्माद से (माणमएण) :

मान का अर्थ गर्व और मद का अर्थ उन्माद है[5]। टीका में मद का अर्थ गर्व किया है[6]।

१५. (विणयसमाही आययट्ठिए) :

इस पद में विनय-समाधि और आयतार्थिक—इन दोनों का समास है। विनय-समाधि में आयतार्थिक है—इसका वि
इस प्रकार किया है[7]।

सूत्र ६ :

१७. इहलोक के निमित्त ' परलोक के निमित्त (इहलोगट्ठयाए···परलोगट्ठयाए) :

उत्तराध्ययन में कहा है—धर्म करने वाला इहलोक और परलोक दोनों की आराधना कर लेता है और यहाँ बतलाया है कि इहलोक और परलोक के लिए तप नहीं करना चाहिए। इनमें कुछ विरोधाभास जैसा लगता है। पर इसी सूत्र के श्लोकगत 'निरासए' शब्द की ओर जब हम दृष्टि डालते हैं तो इनमें कोई विरोध नहीं दीखता। इहलोक और परलोक के लिए जो तप का निषेध है उसका सम्बन्ध पौद्गलिक सुख की आशा से है। तप करने वाले को निराश (पौद्गलिक सुखरूप प्रतिफल की कामना से रहित होकर) तप करना चाहिए। तपस्या का उद्देश्य ऐहिक या पारलौकिक भौतिक सुख-समृद्धि नहीं होना चाहिए। जो प्रतिफल की कामना किए बिना तप करता है उसका इहलोक भी पवित्र होता है और परलोक भी। इस तरह वह दोनों लोकों की आराधना कर लेता है[1]।

१८. कीर्ति, वर्ण, शब्द और श्लोक (कित्तिवण्णसद्दसिलोग) :

अगस्त्यसिंह स्थविर इन चार शब्दों के अलग-अलग अर्थ करते हैं[2] :

कीर्ति—दूसरों के द्वारा गुणकीर्तन।

वर्ण—लोकव्यापी यश।

शब्द—लोक-प्रसिद्धि।

श्लोक—श्लाघा।

हरिभद्र के अर्थ इनसे भिन्न हैं। सर्व दिग्व्यापी प्रशंसा कीर्ति, एक दिग्व्यापी प्रशंसा वर्ण, अर्द्ध दिग्व्यापी प्रशंसा शब्द और स्थानीय प्रशंसा श्लोक[3]।

जिनदास महत्तर ने चारों शब्दों को एकार्थक माना है[4]।

१९. निर्जरा के (निज्जरट्ठयाए) :

निर्जरा नव-तत्त्वों में एक तत्त्व है। मोक्ष के दो साधन हैं—संवर और निर्जरा। संवर के द्वारा अनागत कर्म-परमाणुओं का निरोध और निर्जरा के द्वारा पूर्व-संचित कर्म-परमाणुओं का विनाश होता है। कर्म-परमाणुओं के विनाश और उससे निष्पन्न आत्म-शुद्धि—इन दोनों को निर्जरा कहा जाता है[5]। भगवान् ने कहा—'केवल आत्म-शुद्धि के लिए तप करना चाहिए।' यह वचन उन सब मतवादों के साथ अपनी असहमति प्रगट करता है जो स्वर्ग या ऐहिक एवं पारलौकिक सुख-सुविधा के लिए धर्म करने का विधान करते थे, जैसे—'स्वर्गकामोऽग्निं यथा यजेत्' आदि।

२०. अतिरिक्त (अन्नत्थ) :

अतिरिक्त, इतर, वर्जन[6]। देखिए अ० ४ सू० ८ का टिप्पण।

२१. (निरासए) :

पौद्गलिक प्रतिफल की इच्छा से रहित[7]।

१—उत्त० ८.२० : इह एस धम्मे अक्खाए, कविलेणं च विसुद्धपन्नेण।
तरिहिंति जे उ काहिंति, तेहिं आराहिया दुवे लोग॥

२—अ० चू० : परेहिं गुणसंसद्दणं कित्ती, लोकव्यापी जसो वण्णो, लोके विदितया सद्दे, परेहिं पूर (य) णं सिलोगो।

३—हा० टी० प० २५७ : सर्वदिग्व्यापी साधुवादः कीर्तिः, एकदिग्व्यापी वर्णः, अर्द्धदिग्व्यापी शब्दः, तत्स्थान एव श्लाघा।

४—जि० चू० पृ० ३२८ : कित्तिवण्णसद्दसिलोगट्ठया एगट्ठा।

५—जैन० सि० ५.१३.१५।

६—जि० चू० पृ० ३२८ : अन्नत्थसद्दो परिवज्जणे वट्टइ।

७—(क) जि० चू० पृ० ३२८ : निग्गता आसा अप्पसत्था जस्स सो निरासए।
(ख) हा० टी० प० २५७ : 'निराशो' निष्प्रत्याश इहलोकादिषु।

सूत्र ७ :

२२. आर्हत-हेतु के (आरहंतेहिं हेऊहिं) :

आर्हत-हेतु—अर्हतों के द्वारा मोक्ष-साधना के लिए उपदिष्ट या आचीर्ण हेतु। वे दो हैं—संवर और निर्जरा[1]।

२३. जिनवचन (जिणवयण) :

इसका अर्थ जिनमत या आगम है[2]।

२४. जो सूत्रार्थ से प्रतिपूर्ण होता है (पडिपुण्णाययं) :

अगस्त्यसिंह ने इसका अर्थ 'पूर्ण भविष्यत्काल' किया है[3]।
जिनदास और हरिभद्र ने 'पडिपुण्ण' का अर्थ सूत्रार्थ से प्रतिपूर्ण और 'आययं' का अर्थ 'अत्यन्त' किया है[4]।

२५. इन्द्रिय और मन का दमन करने वाला (दंते) :

इन्द्रिय और नो-इन्द्रिय का दमन करने वाला 'दान्त' कहलाता है[5]।

२६. (आयसंयए) :

मोक्ष को निकट करने वाला[6]।

श्लोक ७ :

२८. जन्म-मरण से (जाइमरणाओ) :

अगस्त्यसिंह स्थविर ने इसके दो अर्थ किए हैं—जन्म-मृत्यु और संसार[1]। जिनदास और हरिभद्र ने जाति-मरण का अर्थ संसार किया है[2]।

२९. नरक आदि अवस्थाओं को (इत्थंथं) :

इत्थं का अर्थ है—इस प्रकार। जो इस प्रकार स्थित हो—जिसके लिए 'यह ऐसा है'—इस प्रकार का व्यपदेश किया जाए उसे 'इत्थंस्थ' कहा जाता है। नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव—ये चार गतियाँ, शरीर, वर्ण, संस्थान आदि जीवों के व्यपदेश के हेतु हैं। इत्थंस्थ को त्याग देता है अर्थात् उक्त हेतुओं के द्वारा होने वाले अमुक-अमुक प्रकार के निश्चित रूपों को त्याग देता है[3]। अगस्त्य चूर्णि में 'इत्थत्त' ऐसा पाठ है। उसका अर्थ है—इस प्रकार की अवस्था का भाव[4]।

३०. अल्प कर्म वाला (अप्परए) :

इसका संस्कृत रूप है - 'अल्परजा:' और इसका अर्थ है—थोड़े कर्म वाला[5]। टीकाकार ने इसका संस्कृत रूप 'अल्परत:' देकर इसका अर्थ 'अल्प आसक्ति वाला' किया है[6]।

३१. महर्द्धिक देव (महिड्ढिए) :

महान् ऋद्धि वाला, अनुत्तर आदि विमानों में उत्पन्न[7]।

१—अ० चू० : जाती समुप्पत्ती, देहपरिच्चागो मरणं अहवा जातीमरणं संसारो।

२—(क) जि० चू० पृ० ३२६ : जातीमरणं संसारो।
(ख) हा० टी० प० २५८ : 'जातिमरणात्' संसारात्।

३—(क) हा० टी० प० २५८ : इदं प्रकारमापन्नमित्थम् इत्थं स्थितमित्थंस्थं नारकादिव्यपदेशबीजं वर्णसंस्थानादि।
(ख) जि० चू० पृ० ३२६ : 'इत्थत्थं' नाम जेण भण्णइ एस नेरइओ वा तिरिओ मणुस्सो देवो वा एवमादि।

४—अ० चू० : अयं प्रकार इत्थं—तस्स भावो इत्थत्तं।

५—(क) अ० चू० : अप्परते अप्पकम्मावसेसे।
(ख) जि० चू० पृ० ३२६ : थोवावसेसेसु कम्मंसेसु।

६—हा० टी० प० २५८ : 'अल्परत:' कण्डूपरिगतकण्डूयनकल्परतर

७—हा० टी० प० २५८ : 'महर्द्धिक:'—अनुत्तरवैमानिकादि।

दसमं अज्झयणं

स-भिक्खु

दशम अध्ययन

सभिक्षु

आमुख

सदृश वेष और रूप के कारण मूलतः भिन्न-भिन्न धातुओं की संज्ञा एक पड़ जाती है।

जात्य-सोने और यौगिक-सोने—दोनों का रंग सदृश (पीला) होने से दोनों 'सुवर्ण' कहे जाते हैं।

जिसकी आजीविका केवल भिक्षा हो वह 'भिक्षु' कहलाता है। सच्चा साधु भी भिक्षा कर खाता है और ढोंगी साधु भी भिक्षा कर खाता है, इससे दोनों की संज्ञा 'भिक्षु' बन जाती है।

पर असली सोना जैसे अपने गुणों से कृत्रिम सोने से सदा पृथक् होता है, वैसे ही सद्-भिक्षु असद्-भिक्षु से अपने गुणों के कारण सदा पृथक् होता है।

कसौटी पर कसे जाने पर जो खरा उतरता है, वह सुवर्ण होता है। जिसमें सोने की युक्ति—रंग आदि तो होते हैं पर जो कसौटी पर अन्य गुणों से खरा नहीं उतरता, वह सोना नहीं कहलाता।

जैसे नाम और रूप से यौगिक-सोना सोना नहीं होता, वैसे ही केवल नाम और वेष से कोई सच्चा भिक्षु नहीं होता। गुणों से ही सोना होता है और गुणों से ही भिक्षु। विष को घात करने वाला, रसायन, मांगलिक, विनयी, लचीला, भारी, न जलने वाला, काट-रहित और दक्षिणावर्त—इन गुणों से उपेत सोना होता है।

जो कष, छेद, ताप और ताडन—इन चार परीक्षाओं में विषघाती आदि गुणों से संयुक्त ठहरता है, वह भाव-सुवर्ण—असली सुवर्ण है और अन्य द्रव्य-सुवर्ण—नाम मात्र का सुवर्ण।

संवेग, निर्वेद, विवेक (विषय-त्याग), सुशील-संसर्ग, आराधना, तप, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, विनय, क्षान्ति, मार्दव, आर्जव, अदीनता, तितिक्षा, आवश्यक-शुद्धि—ये सच्चे भिक्षु के लिंग हैं।

जो इनमें खरा ठहरता है, वही सच्चा भिक्षु है। जो केवल भिक्षा मांगकर खाता है पर अन्य गुणों से रहित है, वह सच्चा भिक्षु नहीं होता। वर्ण से जात्य-सुवर्ण के सदृश होने पर भी अन्य गुण न होने से जैसे यौगिक-सोना सोना नहीं ठहरता।

सोने का वर्ण होने पर भी जात्य-सुवर्ण वही है जो गुण-संयुक्त हो। भिक्षाशील होने पर भी सच्चा भिक्षु वही है जो इस अध्ययन में वर्णित गुणों से संयुक्त हो।

भिक्षु का एक निरुक्त है—जो भेदन करे वह 'भिक्षु'। इस अर्थ से जो कुल्हाड़े से वृक्ष का छेदन-भेदन करता है वह भी भिक्षु कहलाएगा, पर ऐसा भिक्षु द्रव्य-भिक्षु (नाम मात्र से भिक्षु) होगा। भाव-भिक्षु (वास्तविक भिक्षु) तो वह होगा जो तपरूपी कुल्हाड़े से संयुक्त हो। वैसे ही जो याचक तो है पर अविरत है—वह भाव-भिक्षु नहीं द्रव्य-भिक्षु है।

जो भीख मांगकर तो खाता है पर स-दार और आरंभी है वह भाव-भिक्षु नहीं, द्रव्य-भिक्षु है।

जो मांगकर तो खाता है पर मिथ्या-दृष्टि है, त्रस-स्थावर जीवों का नित्य वध करने में रत है वह भाव-भिक्षु नहीं, द्रव्य-भिक्षु है।

जो मांगकर तो खाता है पर संचय करने वाला है, परिग्रह में मन, वचन, काया और कृत, कारित, अनुमोदन रूप से निरत—आसक्त है वह भाव-भिक्षु नहीं, द्रव्य-भिक्षु है।

जो मांगकर तो खाता है पर सचित्त-भोजी है, स्वयं पकाने वाला है, उद्दिष्ट-भोजी है वह भाव-भिक्षु नहीं, द्रव्य-भिक्षु है।

जो मांगकर तो खाता है पर तीन करण तीन योग से आत्म, पर और उभय के लिए सावद्य प्रवृत्ति करता है तथा अर्थ-अनर्थ पाप में प्रवृत्त है वह भाव भिक्षु नहीं, द्रव्य-भिक्षु है।

प्रश्न है—फिर भाव-भिक्षु (सद्-भिक्षु) कौन है?

उत्तर है—जो आगमतः उपयुक्त और भिक्षु के गुणों को जानकर उनका पालन करता है, वही भाव-भिक्षु है।

वे गुण कौन से हैं ? इस अध्ययन में इसी प्रश्न का उत्तर है ।

इस अध्ययन का नाम 'स-भिक्षु' या 'सद्-भिक्षु' है[1] । यह प्रस्तुत सूत्र का उपसंहार है । पूर्ववर्ती ९ अध्ययनों में वर्णित आचारों का पालन करने के लिए जो भिक्षा करता है वही भिक्षु है, केवल उदर-पूर्ति करने वाला भिक्षु नहीं है—यह इस अध्ययन का प्रतिपाद्य है । 'स' और 'भिक्खु' इन दोनों के योग से भिक्षु शब्द एक विशेष अर्थ में रूढ़ हो गया है । इसके अनुसार भिक्षाशील व्यक्ति भिक्षु नहीं है किन्तु जो धार्मिक जीवन के निर्वाह के लिए भिक्षा करता है वही भिक्षु है । इससे भिखारी और भिक्षु के बीच की भेद-रेखा खींची जाती है । इस अध्ययन की २१ गाथाएं हैं । सबके अन्त में 'सभिक्षु' शब्द का प्रयोग है । उत्तराध्ययन के पन्द्रहवें अध्ययन में भी ऐसा ही है । उसका नाम भी यही है । विषय और पदों की भी कुछ समता है । संभव है शय्यम्भवसूरि ने दसवें अध्ययन की रचना में उसे आधार माना हो ।

भिक्षु-वर्ग विश्व का एक प्रभावशाली संगठन रहा है । धर्म के उत्कर्ष के साथ धार्मिकों का उत्कर्ष होता है । धार्मिकों का नेतृत्व भिक्षु-वर्ग के हाथ में रहा । इसलिए सभी आचार्यों ने भिक्षु की परिभाषाएं दीं और उसके लक्षण बताए । महात्मा बुद्ध ने भिक्षु के अनेक लक्षण बताए हैं । 'धम्मपद' में 'भिक्खुवग्ग' के रूप में उनका संकलन भी है । उसकी एक गाथा 'स-भिक्खु' अध्ययन की १५वें श्लोक से तुलनीय है :

हत्थसञ्ञतो पादसञ्ञतो, वाचासञ्ञतो सञ्ञतुत्तमो ।
अज्झत्तरतो समाहितो, एको सन्तुसितो तमाहु भिक्खुं ।। (धम्म० २५.३)
हत्थ-संजए पाय-संजए, वाय-संजए, संजइंदिए ।
अज्झप्परए सुसमाहियप्पा, सुत्तत्थं च वियाणई जे स भिक्खू ।। (दश० १०.१५)

भिक्षु-चर्या की दृष्टि से इस अध्ययन की सामग्री बहुत ही अनुशीलन योग्य है । वोसट्ठचत्तदेहे (श्लोक १३), अन्नायउंछं (श्लोक १६), और पुलनिप्पुलाए (श्लोक १८) आदि-आदि शब्द यहां प्रयुक्त हुए हैं, जिनके पीछे श्रमणों का त्याग और विचार-धारा का इतिहास भरा पड़ा है ।

यह नवें पूर्व की तीसरी वस्तु से उद्धृत हुआ है[2] ।

दसमं अज्झयणं : दशम अध्ययन

स-भिक्खु : सभिक्षु

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१—निक्खम्ममाणाए[1] बुद्धवयणे निच्चं चित्तसमाहिओ हवेज्जा । इत्थीण वसं न यावि गच्छे वंतं नो पडियायई जे स भिक्खू ॥	निष्क्रम्याज्ञया बुद्धवचने, नित्यं समाहितचित्तो भवेत् । स्त्रीणां वशं न चापि गच्छेत्, वान्तं न प्रत्यापिबति (प्रत्यावते) यः स भिक्षुः ॥१॥	१—जो तीर्थङ्कर के उपदेश से[1] निष्क्रमण कर (प्रव्रज्या ले[2]), निर्ग्रंथ-प्रवचन में[3] सदा समाहित-चित्त[4] होता है, जो स्त्रियों के अधीन नहीं होता, जो वमे हुए को वापस नहीं पीता[5] (त्यक्त भोगों का पुन: सेवन नहीं करता)—वह भिक्षु[6] है ।
२—[7]पुढविं न खणे न खणावए सीओदगं न पिए न पियावए । अगणिसत्थं जहा सुनिसियं तं न जले न जलावए जे स भिक्खू ॥	पृथ्वीं न खनेन्न खानयेत्, शीतोदकं न पिबेन्न पाययेत् । अग्निशस्त्रं यथा सुनिशितं, तन्न ज्वलेन्न ज्वलयेद् यः स भिक्षुः ॥२॥	२—जो पृथ्वी का खनन न करता है[8] और न कराता है, जो शीतोदक[9] न पीता है और न पिलाता है[10], शस्त्र के समान सुतीक्ष्ण[11] अग्नि को न जलाता है और न जलवाता है[12]—वह भिक्षु है ।
३—अनिलेण न वीए न वीयावए हरियाणि न छिंदे न छिंदावए । बीयाणि सया विवज्जयंतो सच्चित्तं नाहारए जे स भिक्खू ॥	अनिलेन न व्यजेन्न व्यजयेत्, हरितानि न छिन्द्यान्न छेदयेत् । बीजानि सदा विवर्जयन्, सचित्तं नाहरेद् यः स भिक्षुः ॥३॥	३—जो पंखे आदि से[13] हवा न करता है और न कराता है[14], जो हरित का छेदन न करता है और न कराता है[15], जो बीजों का सदा विवर्जन करता है (उनके संस्पर्श से दूर रहता है), जो सचित्त का आहार नहीं करता[16]—वह भिक्षु है ।
४—वहणं तसथावराण होइ पुढवितणकट्ठनिस्सियाणं । तम्हा उद्देसियं न भुंजे नो वि पए न पयावए जे स भिक्खू ॥	हननं त्रसस्थावराणां भवति, पृथ्वीतृणकाष्ठनिःश्रितानाम् । तस्मादौद्देशिकं न भुञ्जीत, नो अपि पचेन्न पाचयेत् । यः स भिक्षुः ॥४॥	४—भोजन बनाने में पृथ्वी, तृण और काष्ठ के आश्रय में रहे हुए त्रस-स्थावर जीवों का वध होता है, अतः जो औद्देशिक[17] (अपने निमित्त बना हुआ) नहीं खाता तथा जो स्वयं न पकाता है और न दूसरों से पकवाता है[18]—वह भिक्षु है ।
५—रोइय नायपुत्तवयणे अत्तसमे मन्नेज्ज छप्पि काए । पंच य फासे महव्वयाइं पंचासवसंवरे जे स भिक्खू ॥	रोचयित्वा ज्ञातपुत्रवचनम्, आत्मसमान् मन्येत षडपि कायान् । पञ्च च स्पृशेन्महाव्रतानि, पञ्चास्रवान् संवृणुयाद् यः स भिक्षुः ॥५॥	५—जो ज्ञातपुत्र के वचन में श्रद्धा रखकर छहों कायों (सभी जीवों) को आत्म-सम मानता है[19], जो पाँच महाव्रतों का पालन करता है[20], जो पाँच आस्रवों का संवरण करता है[21]—वह भिक्षु है ।

१२—पडिमं पडिवज्जिया मसाणे
नो भायए भयभेरवाइं दिस्स ।
विविहगुणतवोरए य निच्चं
न सरीरं चाभिकंखई जे स भिक्खू ॥

प्रतिमां प्रतिपद्य श्मशाने,
नो बिभेति भयभैरवाणि दृष्ट्वा ।
विविधगुणतपोरतश्च नित्यं,
न शरीरं चाभिकांक्षति
य: स भिक्षु: ॥१२॥

१२—जो श्मशान में प्रतिमा को ग्रहण कर[४३] अत्यन्त भयजनक दृश्यों को देखकर नहीं डरता, जो विविध गुणों और तपों में रत होता है[४४], जो शरीर की आकांक्षा नहीं करता[४५]—वह भिक्षु है।

१३—असइं वोसट्ठचत्तदेहे
अक्कुट्ठे व हए व लूसिए वा ।
पुढवि समे मुणी हवेज्जा
अनियाणे अकोउहल्ले य जे स
भिक्खू ॥

असकृद् व्युत्सृष्टत्यक्तदेह:,
आक्रुष्टो वा हतो वा लूषितो वा ।
पृथ्वीसमो मुनिर्भवेत्,
अनिदानोऽकौतूहलो
य: स भिक्षु: ॥१३॥

१३—जो मुनि बार-बार देह का व्युत्सर्ग और त्याग करता है[४६], जो आक्रोश देने, पीटने और काटने पर पृथ्वी के समान सर्वसह[४७] होता है, जो निदान नहीं करता[४८], जो कुतूहल नहीं करता—वह भिक्षु है।

१४—अभिभूय काएण परीसहाइ
समुद्धरे जाइपहाओ अप्पयं ।
विइत्तु जाइमरणं महब्भयं
तवे[५२] रए सामणिए जे स भिक्खू ॥

अभिभूय कायेन परीषहान्,
समुद्धरेज्जातिपथादात्मकम् ।
विदित्वा जातिमरणं महाभयं,
तपसि रत: श्रामण्ये य: स भिक्षु: ॥१४॥

१४—जो शरीर से[४९] परीषहों को[५०] जीतकर जाति-पथ (संसार)[५१] से अपना उद्धार कर लेता है, जो जन्म-मरण को महाभय जानकर श्रमण-सम्बन्धी तप में रत रहता है—वह भिक्षु है।

१५—हत्थसंजए पायसंजए
वायसंजए संजइंदिए ।
अज्झप्परए सुसमाहियप्पा
सुत्तत्थं च वियाणई जे स भिक्खू ॥

हस्तसंयत: पादसंयत:,
वाक्संयत: संयतेन्द्रिय: ।
अध्यात्मरत: सुसमाहितात्मा,
सूत्रार्थं च विजानाति य: स भिक्षु: ॥१५॥

१५—जो हाथों से संयत है, पैरों से संयत[५३] है, वाणी से संयत[५४] है, इन्द्रियों से संयत[५५] है, अध्यात्म[५६] में रत है, भलीभांति समाधिस्थ है और जो सूत्र और अर्थ को यथार्थ रूप से जानता है—वह भिक्षु है।

१६—उवहिम्मि अमुच्छिए अगिद्धे
अन्नायउंछंपुल निप्पुलाए ।
कयविक्कयसन्निहिओ विरए
सव्वसंगावगए य जे स भिक्खू ॥

उपधौ अमूर्च्छितोऽगृद्ध:,
अज्ञातोञ्छपुलो निष्पुलाक: ।
क्रयविक्रयसन्निधितो विरत:,
सर्वसङ्गापगतो य: स भिक्षु: ॥१६॥

१६—जो मुनि वस्त्रादि उपधि में मूर्च्छित नहीं है, जो अगृद्ध है[५७], जो अज्ञात कुलों से भिक्षा की एषणा करने वाला है, जो संयम को असार करने वाले दोषों
रहित है[५८], जो क्रय-विक्रय और
से[५९] विरत[६०] है, जो सब प्रकार के
से रहित है (निर्लेप है)[६१]—वह भिक्षु है।

१७—अलोल भिक्खू न रसेसु गिद्धे
उंछं[६२] चरे जीविय नाभिकंखे ।
इड्ढिं च सक्कारण पूयणं च
चए ठियप्पा अणिहे जे स भिक्खू ॥

अलोलो भिक्षुर्न रसेषु गृद्ध:,
उञ्छं चरेज्जीवितं नाभिकाङ्क्षेत् ।
ऋद्धिं च सत्कारणं पूजनञ्च,
त्यजति स्थितात्मा अनिभो
य: स भिक्षु: ॥१७॥

१७—जो अलोलुप है[६३], रसों में
नहीं है, जो उञ्छचारी है (अज्ञात
थोड़ी-थोड़ी भिक्षा लेता है), जो
जीवन की आकांक्षा नहीं करता, जो ऋद्धि[६४],
सत्कार और पूजा की स्पृहा को त्यागता है
जो स्थितात्मा[६५] है, जो अपनी शक्ति
गोपन नहीं करता—वह भिक्षु है।

१८—न परं वएज्जासि अयं कुसीले
जेणन्नो कुप्पेज्ज न तं वएज्जा ।
जाणिय पत्तेयं पुण्णपावं
अत्ताणं न समुक्कसे जे स भिक्खू ॥

न परं वदेदयं कुशीलः,
येनान्यः कुप्येन्न तद् वदेत् ।
ज्ञात्वा प्रत्येकं पुण्यपापं,
आत्मानं न समुत्कर्षयेद्यः स भिक्षुः ॥१८॥

१८—प्रत्येक व्यक्ति के पुण्य-पाप पृथक्-पृथक् होते हैं[16]—ऐसा जानकर जो दूसरे को[17] "यह कुशील (दुराचारी)[18] है" ऐसा नहीं कहता, जिससे दूसरा कुपित हो ऐसी बात नहीं कहता, जो अपनी विशेषता पर उत्कर्ष नहीं लाता—वह भिक्षु है ।

१९—न जाइमत्ते न य रूवमत्ते
न लाभमत्ते न सुएणमत्ते ।
मयाणि सव्वाणि विवज्जइत्ता
धम्मज्झाणरए जे स भिक्खू ॥

न जातिमत्तो न च रूपमत्तः,
न लाभमत्तो न श्रुतेन मत्तः ।
मदान् सर्वान् विवर्ज्य,
धर्मध्यानरतो यः स भिक्षुः ॥१९॥

१९—जो जाति का मद नहीं करता, जो रूप का मद नहीं करता, जो लाभ का मद नहीं करता, जो श्रुत का मद नहीं करता, जो सब मदों को[19] वर्जता हुआ धर्म-ध्यान में रत रहता है—वह भिक्षु है ।

२०—पवेयए अज्जपयं महामुणी
धम्मे ठिओ ठावयई परं पि ।
निक्खम्म वज्जेज्ज कुसीललिंगं
न यावि हस्सकुहए जे स भिक्खू ॥

प्रवेदयेदार्यपदं महामुनिः,
धर्मे स्थितः स्थापयति परमपि ।
निष्क्रम्य वर्जयेत् कुशीललिङ्गं,
न चापि हास्यकुहको यः स भिक्षुः ॥२०॥

२०—जो महामुनि आर्यपद (धर्मपद)[20] का उपदेश करता है, जो स्वयं धर्म में स्थित होकर दूसरे को भी धर्म में स्थित करता है, जो प्रव्रजित हो कुशील-लिङ्ग का[21] वर्जन करता है, जो दूसरों को हँसाने के लिए कुतूहल पूर्ण चेष्टा नहीं करता—[22] वह भिक्षु है ।

२१—तं देहवासं असुइं असासयं
सया चए निच्चहियट्ठियप्पा ।
छिंदित्तु जाईमरणस्स बंधणं
उवेइ भिक्खू अपुणागमं गइं ॥

तं देहवासमशुचिमशाश्वतं,
सदा त्यजेन्नित्यहितस्थितात्मा ।
छित्त्वा जातिमरणस्य बन्धनम्,
उपैति भिक्षुरपुनरागमां गतिम् ॥२१॥

त्ति बेमि ॥

इति ब्रवीमि ।

२१—अपनी आत्मा को सदा शाश्वत हित में सुस्थित रखने वाला भिक्षु इस अशुचि और अशाश्वत देहवास को[23] सदा के लिए त्याग देता है और वह जन्म-मरण के बन्धन को छेदकर अपुनरागम-गति (मोक्ष)[24] को प्राप्त होता है ।

ऐसा मैं कहता हूँ ।

श्लोक १ :

१. (निक्खम्ममाणाए [क]) :

यहाँ मकार अलाक्षणिक है।

२. तीर्थंकर के उपदेश से (आणाए [क]) :

आज्ञा का अर्थ वचन, सन्देश[1], उपदेश[2] या आगम है[3]। इसका पाठान्तर 'आदाय' है। उसका अर्थ है ग्रहणकर अर्थात् तीर्थङ्करों की वाणी को स्वीकार कर[4]।

३. निष्क्रमण कर (प्रव्रज्या ले) (निक्खम्म [क]) :

निष्क्रम्य का भावार्थ—

अगस्त्य चूर्णि[5] में घर या आरम्भ-समारम्भ से दूर होकर, सर्वसंग का परित्याग कर किया है।

जिनदास चूर्णि[6] में गृह से या गृहस्थभाव से दूर होकर द्विपद आदि को छोड़कर किया है।

टीका[7] में द्रव्य-गृह और भाव-गृह से निकल (प्रव्रज्या ग्रहण कर) किया है।

द्रव्य-गृह का अर्थ है—घर। भाव-गृह का अर्थ है गृहस्थ-भाव—गृहस्थ-सम्बन्धी प्रपंच और सम्बन्ध। इस तरह चूर्णिकार और टीकाकार के अर्थ में कोई अन्तर नहीं है। टीकाकार ने चूर्णिकार के ही अर्थ को गूढ रूप में रखा है।

४. निर्ग्रन्थ-प्रवचन में (बुद्धवयणे) :

तत्त्वों को जानने वाला अथवा जिसे तत्त्वज्ञान प्राप्त हुआ हो, वह व्यक्ति बुद्ध कहलाता है। जिनदास महत्तर यहाँ एक प्रश्न उपस्थित करते हैं। शिष्य ने कहा कि 'बुद्ध' शब्द से शाक्य आदि का बोध होता है। आचार्य ने कहा—यहाँ द्रव्य-बुद्ध-पुरुष (और द्रव्य-भिक्षु) का नहीं, किन्तु भाव-बुद्ध-पुरुष (और भाव-भिक्षु) का ग्रहण किया है। जो ज्ञानी कहे जाते हैं पर सम्यक्-दर्शन के अभाव में जीवाजीव

१—अ० चू० : आणा वयणं संदेसो वा।

२—हा० टी० प० २६५ : 'आज्ञया' तीर्थकरगणधरोपदेशेन।

३—जि० चू० पृ० ३३८ : आणा वा आणत्ति वाय उववायोत्ति वा उवदेसोत्ति वा आगमोत्ति वा एगट्ठा।

४—जि० चू० पृ० ३३७ : अथवा आदाय, 'बुद्धवयणं' बुद्धा —तीर्थंकरा: तेषां वचनमादाय गृहीत्वेत्यर्थः।

५—अ० चू० : निक्खम्म निक्खमिऊण निग्गच्छिऊण गिहातो आरंभातो वा।

६—जि० चू० पृ० ३३७ : निष्क्रम्य, तीर्थंकरगणधराज्ञया निष्क्रम्य सर्वसंगपरित्यागं कृत्वेत्यर्थः ..... निक्खम्म नाम गिहाओ गिहत्थभावाओ वा दुपदादीणि य चइऊण।

७—हा० टी० प० २६५ : 'निष्क्रम्य' द्रव्यभावगृहात् प्रव्रज्यां गृहीत्वेत्यर्थः।

के भेद को नहीं जानते और पृथ्वी आदि जीवों की हिंसा करते हैं, वे द्रव्य-बुद्ध (और द्रव्य-भिक्षु) हैं—नाम मात्र के बुद्ध (और नाम के भिक्षु) हैं। जो पृथ्वी आदि जीवों को जानकर उनकी हिंसा का परिहार करते हैं, वे भाव-बुद्ध (और भाव-भिक्षु) कहलाते हैं। वे ही वास्तव में बुद्ध हैं[1] (और वे ही वास्तव में भिक्षु हैं)। इसलिए यहाँ बुद्ध का अर्थ तीर्थङ्कर या गणधर है[2]। चूर्णिकार ने इस[...] में तत्कालीन प्रसिद्धि को प्रधानता दी है। महात्मा गौतम बुद्ध उत्तरकाल में बुद्ध के नाम से प्रसिद्ध हो गए। जैन साहित्य में प्राचीन[...] से ही तीर्थंकर या आगम-निर्माता के अर्थ में बुद्ध शब्द का प्रचुर मात्रा में प्रयोग होता रहा है।

बुद्ध-वचन का अर्थ द्वादशाङ्गी (गणिपिटक) है[3]। द्वादशाङ्गी और उसके आधारभूत धर्मशासन के लिए 'निर्ग्रन्थ-प्रवचन' आगम निरूढ़ है। इसलिए हमने 'बुद्धवयणे' का अनुवाद यही किया।

(१) पुत्र विदेश जाता है तब पिता उसे शिक्षा देता है। कर्तव्य की विस्मृति न हो जाए, इसलिए वह अपनी शिक्षा की कई आवृत्तियां कर देता है।

(२) संभ्रम या स्नेहवश पुनरुक्ति की जाती है, जैसे—सांप है—आ, आ, आ।

(३) रोगी को बार-बार औषधि दिया जाता है।

(४) मंत्र का जप तब तक किया जाता है जब तक वेदना का उपशम नहीं होता। इन सबमें पुनरावर्तन है पर उनकी उपयोगिता है, इसलिए ये पुनरुक्त नहीं माने जाते। वही पुनरावर्तन या पुनरुक्ति दोष माना जाता है जिसकी कोई उपयोगिता न हो।

लौकिक और वैदिक-साहित्य में भी अनेक पुनरुक्तियां मिलती हैं। तात्पर्य यही है कि प्रकृत विषय की स्पष्टता, उसके समर्थन या *अधिक महत्त्व देने के लिए उसका उल्लेख किया जाता है, वह दोष नहीं है।*

पृथ्वी का खनन न करता है (पुढवि न खणे [क]):

पृथ्वी जीव है[1]। उसका खनन करना हिंसा है। जो पृथ्वी का खनन करता है, वह अन्य त्रस-स्थावर जीवों का भी वध करता है। खनन यहां सांकेतिक है। इसका भाव है—मन, वचन, काया से ऐसी कोई भी क्रिया न करना, न कराना और न अनुमोदन करना जिससे पृथ्वी जीव की हिंसा हो।

देखिए- ४ सू० १८, ५ १.३, ६.२७, २८, २९, ८.४. ५।

० शीतोदक (सीओदगं [ख]):

जो जल शस्त्र-हत नहीं होता (सजीव होता है) उसे शीतोदक कहते हैं[2]। इसी सूत्र के चौथे अध्ययन (सू० ५) में कहा है—'आऊ चित्तमंतमक्खाया·····अन्नत्थ सत्थ परिणएणं।'

१. न पीता है और न पिलाता है (न पिए न पियावए [ख]):

पीना-पिलाना केवल सांकेतिक शब्द हैं। इनका भावार्थ है—ऐसी कोई क्रिया या कार्य नहीं करना चाहिए जिससे जल की हिंसा हो।

देखिए—४ सू० १९; ६.२९, ३०, ३१; ७.३६; ८ ६, ७,५१,६२।

२. शस्त्र के समान सुतीक्ष्ण (सुनिसियं [ग]):

जैसे शस्त्र की तेज धार घातक होती है, वैसे ही अग्नि छह जीवकाय की घातक है। इसलिए इसे 'सुनिशित' कहा जाता है[3]।

३. न जलाता है और न जलवाता है (न जले न जलावए [घ]):

'जलाना' केवल सांकेतिक शब्द है। भाव यह है कि ऐसी कोई भी क्रिया नहीं करनी चाहिए जिससे अग्नि का नाश हो।

देखिए—४ सू० २०; ६.३२, ३३, ३४, ३५; ८ ८।

श्लोक ३ :

१४. पखे आदि से (अनिलेण):

चूर्णिद्वय में 'अनिल' का अर्थ वायु[4] और टीका में उसका अर्थ 'अनिल' के हेतुभूत वस्त्र-कोण आदि किया है[5]।

१—दश० ४ सू० ४ : पुढवी चित्तमंतमक्खाया ·········अन्नत्थ सत्थपरिणएणं।

२—(क) अ० चू० : सीतोदगं अविगतजीवं।

(ख) जि० चू० पृ० ३३९ : 'सिओदगं' नाम उदगं असत्थहयं सजीवं सीतोदगं भण्णइ।

(ग) हा० टी० प० २६५ : 'शीतोदक' सचित्त पानीयम्।

३—अ० चू० : जधा खग्गपरसुछुरिगादि सत्थमणुधारं छेदगं तधा समततो दहणक्कं।

४—(क) अ० चू० : अणिलो वायू।

(ख) जि० चू० पृ० ३४० : अनिलो वाऊ भण्णइ।

५—हा० टी० प० २६५ : 'अनिलेन' अनिलहेतुना चेलकर्णादिना।

१५. हवा न करता है और न कराता है (न वीए न वीयावए [क]) :

हवा लेना केवल सांकेतिक है। ऐसी कोई क्रिया नहीं करनी चाहिए जिससे वायु का हनन हो।
देखिए— ४ सू० २१; ६.३६, ३७, ३८, ३९; ८.९

१६. छेदन न करता है और कराता है (न छिंदे न छिंदावए [ख]) :

छेदन शब्द केवल सांकेतिक है। ऐसी कोई क्रिया नहीं करनी चाहिए जिससे वनस्पतिकाय का हनन हो।
देखिए—४.२२; ६.४१, ४२, ४३; ८.१०, ११।

रखे, भीतर पकाए और स्वयं पकाए को खाए उसे दुक्कट का दोष हो और द्वार पर पकाए तो दोष नहीं, बाहर रखे, बाहर पकाए किन्तु दूसरों द्वारा पकाए का भोजन करे तो दोष नहीं[1]।"

एक बार राजगृह में दुर्भिक्ष पड़ा। बाहर रखने से दूसरे ले जाते थे। बुद्ध ने भीतर रखने की अनुमति दी। भीतर रखवाकर बाहर पकाने में भी ऐसी ही दिक्कत थी। बुद्ध ने भीतर पकाने की अनुमति दी। दूसरे पकाने वाले बहु भाग ले जाते थे। बुद्ध ने स्वयं पकाने की अनुमति दी। नियम हो गया—"भिक्षुओ ! अनुमति देता हूँ भीतर रखे, भीतर पकाए और हाथ से पकाए को[2]।"

श्लोक ४ :

१८. औद्देशिक (उद्देसियं [ग]) :

इसके अर्थ के लिए देखिए दश० ३.२ का अर्थ और टिप्पण।

१९. न पकाता है और न पकवाता है (नो वि पए न पयावए [घ]) :

'पकाते हुए को अनुमोदना नहीं करता' इतना अर्थ यहाँ और जोड़ लेना चाहिए। पकाने और पकवाने में त्रस-स्थावर दोनों प्रकार के प्राणियों की हिंसा होती है अत: मन, वचन, काया से तथा कृत, कारित, अनुमोदन से पाक का वर्जन किया गया है।

श्लोक २ और ३ में स्थावर जीव (पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय और वनस्पतिकाय) का खनन आदि क्रियाओं द्वारा वध करने का निषेध किया गया है। श्लोक ४ में ऐसे कार्यों का निषेध आ जाता है, जिसमें त्रस-स्थावर जीवों का घात हो। त्रस जीवों के घात का वर्जन भी अनेक स्थलों पर आया है।

देखिए—४ सू० २३, ६.४३,४४,४५।

श्लोक ५ :

२०. आत्म-सम मानता है (अत्तसमे मन्नेज्ज [ख]) :

जैसे दुःख मुझे अप्रिय है वैसे ही छह ही प्रकार के जीव-निकायों को अप्रिय है—जो ऐसी भावना रखता है तथा किसी जीव की हिंसा नहीं करता, वही सब जीवों को आत्मा के समान मानने वाला होता है। इसी आगम में साधु को बार-बार 'छसु संजए'—छह ही प्रकार के जीवों के प्रति संयमी रहने वाला—कहा गया है।

देखिए—४ सू० १०; ६.८,९,१०; ७.५६; ८.२,३।

२१. पालन करता है (फासे [ग]) :

'स्पर्श' शब्द का व्यवहार साधारणत: 'छूने' के अर्थ में होता है। आगम-साहित्य में इसका प्रयोग पालन या आचरण के अर्थ में होता है[3]। यहाँ 'स्पृश्' धातु पालन या सेवन के अर्थ में व्यवहृत है[4]।

२२. पाँच आस्रवों का संवरण करता है (पंचासवसंवरे [घ]) :

पाँच आस्रवों की गिनती दो प्रकार से की जाती है :

१. मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग।

२. स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र।

१—वि० पि० म० ३.८।

२—वि० पि० म० ६।

३—उत्त० १०.२०।

४—हा० टी० प० २६५ : सेवते महाव्रतानि।

यहाँ पाप आस्रव से सावद्य आदि विवक्षित है[1]। अगस्त्य चूर्णि में 'संवरे' पाठ है और जिनदास चूर्णि एवं टीका में वह 'संवर' के रूप में व्याख्यात है[2]।

श्लोक ६ :

दुःखदायी होते हैं अतः कर्कश शब्द आदि ग्राम-कण्टक (इन्द्रिय-कण्टक) कहलाते हैं[1]। जो व्यक्ति ग्राम में काँटे के समान चुभने वाले हैं उन्हें ग्राम-कण्टक कहा जा सकता है। संभव है ग्राम-कण्टक की भांति चुभन उत्पन्न करने वाली स्थितियों को 'ग्राम-कण्टक' कहा हो। यह शब्द उत्तराध्ययन (२.२५) में भी प्रयुक्त हुआ है :

सोच्चाणं फरुसा भासा, दारुणा गामकंटगा ।
तुसिणीओ उवेहेज्जा ण ताओ मणसीकरे ॥

४०. आक्रोश वचनों, प्रहारों, तर्जनाओं (अक्कोसपहारतज्जणाओ [ख]) :

आक्रोश का अर्थ गाली है। चाबुक आदि से पीटना, प्रहार[2] और 'कर्मों से डर साधु बना है'—इस प्रकार भर्त्सना करना तर्जना कहलाता है। जिनदास चूर्णि और टीका में आक्रोश, प्रहार, तर्जना को ग्राम-कण्टक कहा है[4]।

४१. वैताल आदि के अत्यन्त भयानक शब्दयुक्त अट्टहासों को (भयभेरवसद्दसंपहासे [ग]) :

भय-भैरव का अर्थ अत्यन्त भय उत्पन्न करने वाला है। 'अत्यन्त भयोत्पादक शब्द से युक्त संप्रहास उत्पन्न होने पर'—इस अर्थ में 'भयभेरवसद्दसप्पहासे' का प्रयोग हुआ है[5]। टीका में 'संप्रहास' को शब्द का विशेषण मान कर व्याख्या की है—जिस स्थान में भय और भयानक प्रहास सहित शब्द हों, उस स्थान में[1]।

मिलाइए सुत्तनिपात की निम्नलिखित गाथाओं से—

भिक्खुनो विजिगुच्छतो भजतो रित्तमासनं ।
रुक्खमूलं सुसानं वा पब्बतानं गुहासु वा ॥
उच्चावचेसु सयनेसु कीवन्तो तत्थ भेरवा ।
येहि भिक्खु न वेधेय्य निग्घोसे सयनासने ॥ (५४.४-५)

४२. सहन करता है (सहइ [घ]) :

आक्रोश, प्रहार, भय आदि परीषहों को साधु जिस तरह सहन करे, उसके लिए देखिए - उत्तराध्ययन २.२४-२७।

गुहा में स्थित हो श्मशान में ध्यान करने की परम्परा जैन मुनियों में रही है। इसका सम्बन्ध उसी से है[1]।

श्मशानिकाङ्ग बौद्ध-भिक्षुओं का ग्यारहवाँ धुताङ्ग है। देखिए—विशुद्धिमार्ग पृ० ७५, ७६।

४४ जो विविध गुणों और तपों में रत होता है (विविहगुणतवोरए [ग]) :

अगस्त्य चूर्णि के अनुसार बौद्ध-भिक्षुओं को श्मशानिक होना चाहिए। उनके आचार्यों का ऐसा उपदेश है[2]। जिनदास चूर्णि के अनुसार रक्त वस्त्रधारी सन्यासी श्मशान में रहते हैं वे भी नहीं डरते। केवल श्मशान में रहकर नहीं डरना ही कोई बड़ी बात नहीं है। उसके साथ-साथ विविध गुणों और तपों में नित्य रत भी रहना चाहिए[3]। निर्ग्रन्थ भिक्षु के लिए यह विशिष्ट मार्ग है।

४५ जो शरीर की आकांक्षा नहीं करता (न सरीरं चाभिकंखई [घ]) :

भिक्षु शरीर के प्रति निस्पृह होता है[4]। उसे कभी भी यह नहीं सोचना चाहिए कि मेरा शरीर उपसर्गों से बच निकले, मेरे शरीर को दुःख न हो, वह विनाश को प्राप्त न हो[5]।

श्लोक १३ :

४६ जो मुनि बार-बार देह का व्युत्सर्ग और त्याग करता है (असइं वोसट्ठचत्तदेहे [क]) :

जिसने शरीर का व्युत्सर्ग और त्याग किया हो, उसे व्युत्सृष्ट-त्यक्त देह कहा जाता है[6]। व्युत्सर्ग और त्याग—ये दोनों ... समानार्थक हैं फिर भी आगमों में इनका प्रयोग विशेष अर्थ में रूढ़ है। अभिग्रह और प्रतिमा स्वीकार कर शारीरिक-क्रिया का ... के अर्थ में व्युत्सर्ग का और शारीरिक परिकर्म (मर्दन, स्नान और विभूषा) के परित्याग के अर्थ में त्याग शब्द का प्रयोग होता ...[7]

जिनदास महत्तर ने वोसट्ठ को केवल पर्याय-शब्द दिया है[8]। जो कायोत्सर्ग, मौन और ध्यान के द्वारा शारीरिक ... निवृत्त होना चाहता है, वह 'वोसिरइ' क्रिया का प्रयोग करता है[9]।

हरिभद्रसूरि ने प्रतिबन्ध के अभाव के साथ व्युत्सृष्ट का सम्बन्ध जोड़ा है[10]। व्यवहार भाष्य की ... मिलता है[11]।

१—दशा० ७।

२—अ० चू० : अया सक्कभिक्खूण एस उवदेसो मासाणिएण भवितव्वं। ण य ते तम्मि बिभेंति ...

३—जि० चू० पृ० ३४४ : जहा रत्तपडादीवि सुसाणेसु अच्छंति, ण य बीहिंति, तप्पडिसेधणत्थमिद ...

४—हा० टी० प० २६७ : न शरीरमभिकाङ्क्षते निस्पृहतया वर्तमानिकं भावि च।

५—जि० चू० पृ० ३४४ : ण य सरीरं तेहिं उवसग्गेहिं बाहिज्जमाणोऽवि अभिकखइ, जहा ... न वा विणस्सिज्जेज्जा।

६—अ० चू० : वोसट्ठो चत्तोय देहो जेण सो वोसट्ठचत्तदेहो।

७—अ० चू० : वोसट्ठो पडिमादिसु विनिवृत्तकिरियो। ण्हाणुमद्दणातिविभूसाविरहितो ...

८—जि० चू० पृ० ३४४ : वोसट्ठ ति वा वोसिरियत्ति वा एगट्ठा।

९—आव० ४ : ठाणेणं, मोणेणं, झाणेणं, अप्पाणं वोसिरामि।

१०—हा० टी० प० २६७ : व्युत्सृष्टो भावप्रतिबन्धाभावेन त्यक्तो विभूषाकरणे ...

११—व्य० भा० टी० : व्युत्सृष्टः प्रतिबन्धाभावत.

…रूप मानते हैं। उनमें मतभेद दिखाने के लिए भी 'काय' का प्रयोग हो सकता है[2]। जैन-दृष्टि यह है कि जैसे मन का नियन्त्रण आवश्यक है, वैसे काया का नियन्त्रण भी आवश्यक है और सच तो यह है कि काया को समुचित प्रकार से नियन्त्रित किए बिना मन को नियन्त्रित करना …र एक के लिए सम्भव भी नहीं है[1]।

५०. परीषहों को (परीसहाइं [क]) :

निर्जरा (आत्म-शुद्धि) के लिए और मार्ग से च्युत न होने के लिए जो अनुकूल और प्रतिकूल स्थितियां और मनोभाव सहे जाते हैं, …परीषह कहलाते हैं[3]। वे क्षुधा, प्यास आदि बाईस हैं[4]।

५१. जाति-पथ (संसार) से (जाइपहाओ [ख]) :

दोनों चूर्णियों में 'जातिवह' और टीका में 'जातिपह'—ऐसा पाठ है। 'जातिवह' का अर्थ जन्म और मृत्यु[5] तथा 'जातिपथ' का अर्थ संसार किया है[6]। 'जातिपथ' शब्द अधिक प्रचलित एवं गम्भीर अर्थवाला है, इसलिए मूल में यही स्वीकृत किया है।

५२. (तवे [ग]) :

चूर्णिद्वय में 'भवे' और टीका में 'तवे' पाठ है। यह सम्भवतः लिपिदोष के कारण वर्ण-विपर्यय हुआ है। श्रामण्य में रत रहता है यह सहज अर्थ है। किन्तु 'तवे' पाठ के अनुसार—श्रमण-सम्बन्धी तप में रत रहता है[7]—यह अर्थ करना पड़ा। श्रामण्य को तप का विशेषण माना है, पर वह विशेष अर्थवान् नहीं है।

श्लोक १५ :

५३. हाथों से संयत, पैरों से संयत (हत्थसंजए पायसंजए [क]) :

जो प्रयोजन न होने पर हाथ-पैरों को कूर्म की तरह गुप्त रखता है और प्रयोजन पर प्रतिलेखन, प्रमार्जन कर सम्यक् रूप से व्यवहार करता है, उसे हाथों से संयत, पैरों से संयत कहते हैं[8]।

देखिए—'संजइंदिए' का टिप्पण ५१।

१—(क) अ० चू० : परीसहा पायेण कायेण सहणीया अतो कायेणेति भण्णति। जे बौद्धादयो चित्तमेवणियंतव्वमिति तप्पडिसेधणत्थं कायग्गहणं।

(ख) जि० चू० पृ० ३४५ : सक्काण चेतवेतमिता धम्मा इति तं णिसेहणत्थमिदमुच्चते।

२—हा० टी० प० २६७ : 'कायेन' शरीरेणापि, न भिक्षुसिद्धान्तनीत्या मनोवाग्भ्यामेव, कायेनानभिद्रोहे तत्त्वतस्तदनभिद्रवात्।

३—तत्त्वा० ९.८ : मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिसोढव्या: परीषहा:।

४—उत्त० २।

५—(क) अ० चू० : जातिवधो पुव्वभणितो।

(ख) जि० चू० पृ० ३४५ : जातिग्गहणेण जम्मणस्स गहणं कयं, वधग्गहणेण मरणस्स गहणं कयं।

६—हा० टी० प० २६७ : 'जातिपथात्' संसारमार्गात्।

७—(क) अ० चू० : भवे रते सामणिए—समणभावो सामणियं तम्मि रतो भवे।

(ख) जि० चू० पृ० ३४५ : सामण्णिए रते भवेज्जा, सामणभावो सामण्णियं भण्णइ।

(ग) हा० टी० प० २६७ : 'तपसि रत' तपसि सक्त:, किंभूत इत्याह—'श्रामण्ये' श्रमणानां संबन्धिनि, शुद्ध इति भाव:।

८—(क) जि० चू० पृ० ३४५ : हत्थपाएहिं कुम्मो इव णिक्कारणे जो गुत्तो अच्छइ, कारणे पडिलेहिय पमज्जिय वावारं कुव्वइ, एवं कुव्वमाणो हत्थसंजओ पायसंजओ भवइ।

(ख) हा० टी० प० २६७ : हस्तसंयत: पादसंयत इति-कारणं विना कूर्मवल्लीन आस्ते कारणे च सम्यग्गच्छति।

५४. वाणी से संयत (वायसंजए [ग]) :

जो अकुशल वचन का निरोध करता है और कार्य होने पर कुशल वचन की उदीरणा करता है, उसे वाणी से संयत कहते हैं।

देखिए—'संजइंदिए' का टिप्पण ५५।

५५. इन्द्रिय से संयत (संजइंदिए [ग]) :

जो श्रोत्र आदि इन्द्रियों को विषयों में प्रविष्ट नहीं होने देता तथा विषय प्राप्त होने पर जो उनमें राग-द्वेष नहीं करता, उसे इन्द्रियों से संयत कहते हैं।

जिनदास महत्तर ने 'पुल' को 'पुलाक' शब्द मानकर 'पुलाक निष्पुलाक' की व्याख्या इस प्रकार की है —मूलगुण और उत्तरगुण में दोष लगाने से संयम निस्सार बनता है, वह भावपुलाक है। उससे रहित 'पुलाक निष्पुलाक' कहलाता है अर्थात् जिससे संयम पुलाक (सार रहित) बनता हो, वैसा अनुष्ठान न करने वाला[1]।

टीकाकार ने भी 'पुल' को 'पुलाक' शब्द मानकर 'पुलाक निष्पुलाक' का अर्थ संयम को निस्सार बनाने वाले दोषों का सेवन न करने वाला किया है[2]।

हलायुध कोश में 'पुलक' और 'पुलाक' का अर्थ तुच्छ धान्य किया है। मनुस्मृति में इसी अर्थ में 'पुलाक' शब्द का प्रयोग हुआ है[3]।

५९. सन्निधि से (सन्निहिओ ग) :

अशन आदि को रातवासी रखना सन्निधि कहलाता है[4]।

६०. जो क्रय-विक्रय से ... विरत (कयविक्कय... विरए ग) :

क्रय-विक्रय को भिक्षु के लिए अनेक जगह वर्जित बताया है। बुद्ध ने भी अपने भिक्षुओं को यही शिक्षा दी थी[5]।

६१. जो सब प्रकार के संगों से रहित है (निर्लेप है) (सव्वसंगावगए घ) :

संग का अर्थ है इन्द्रियों के विषय[6]। सर्वसंगापगत वही हो सकता है जो बारह प्रकार के तप और सतरह प्रकार के संयम में लीन हो।

श्लोक १७ :

६२. जो अलोलुप है (अलोल क) :

जो अप्राप्त रसों की अभिलाषा नहीं करता, उसे 'अलोल' कहा जाता है[7]। दश० ९.३.१० में भी यह शब्द आया है। यह शब्द बौद्ध-पिटकों में भी अनेक जगह प्रयुक्त हुआ है।

मिलाएँ—

चक्खूहि नेव लोलस्स, गामकथाय आवरये सोतं।
रसे च नानुगिज्झेय्य, न च ममायेथ किञ्चि लोकस्मि ॥ सुत्तनिपात ५२.८

६३. (उंछं ख) :

पिछले श्लोक में 'उंछ' का प्रयोग उपधि के लिए हुआ और इस पद्य मे आहार के लिए हुआ है। इसलिए पुनरुक्त नहीं है[8]।

६४. ऋद्धि (इड्ढि ग) :

यहाँ इड्ढि—ऋद्धि का अर्थ योगजन्य विभूति है। इसे लब्धि भी कहा जाता है। ये अनेक प्रकार की होती हैं[9]।

१—जि० चू० पृ० ३४६ : जेण मूलगुणउत्तरगुणपदेण पडिसेविएण णिस्सारो संजमो भवति सो भावपुलाओ, एत्थ भावपुलाएण अहिगारो, सेसा उच्चारियसरिसत्तिकाऊण परूविया, तेण भावपुलाएण निपुलाए भवेज्जा, णो तं कुव्वेज्जा जेण पुलागो भवेज्जत्ति।

२—हा० टी० प० २६८ : पुलाकनिष्पुलाक' इति संयमासारतापादकदोषरहित।

३—१०.१२५ : पुलाकाश्चैव धान्यानां जीर्णाश्चैव परिच्छदा।

४—जि० चू० पृ० ३४६ : 'सण्णिही' असणादीण परिवासणं भण्णइ।

५—सु० नि० ५२.१५ : 'कयविक्कये' न तिट्ठेय्य।

६—जि० चू० पृ० ३४६ : संगोत्ति वा इंदियत्थोत्ति वा एगट्ठा।

७—(क) जि० चू० पृ० ३४६ : अइ तित्तकडुअकसायाई रसे अपत्ते णो पत्थेइ से अलोले।

(ख) हा० टी० प० २६८ : अलोलो नाम नाप्राप्तप्रार्थनपरः।

८—हा० टी० प० २६८ : तत्रोपधिमाश्रित्योक्तमिह त्वाहारमित्यपौनरुक्त्यम्।

९—जि० चू० पृ० ३४७ : इड्ढि-विउव्वणमादि।

श्लोक २० :

७०. आर्यपद (धर्मपद) (अज्जपयं [क]) :

चूर्णियों में इसके स्थान पर 'अज्जवयं' पाठ है और इसका अर्थ ऋजुभाव है[1]। 'अज्जवयं' की अपेक्षा 'अज्जपयं' अधिक अर्थ-संग्राहक है, इसलिए मूल में वही स्वीकृत किया है[2]।

७१. कुशील-लिङ्ग का (कुसीललिंगं [ग]) :

इसका अभिप्राय यह है कि पारलौकिक या आचार-रहित स्वलौकिक साधुओं का वेष धारण न करे। इसका दूसरा अर्थ है जिस आचरण से कुशील है, ऐसी प्रतीति हो, वैसे आचरण का वर्जन करे[3]। टीका के अनुसार कुशीलों द्वारा चेष्टित आरम्भ आदि का वर्जन करे[4]।

७२. जो दूसरों को हँसाने के लिए कुतूहलपूर्ण चेष्टा नहीं करता (न यावि हस्सकुहए [घ]) :

कुहक शब्द 'कुह्' धातु से बना है। इसका प्रयोग विस्मय उत्पन्न करने वाला, ऐन्द्रजालिक, वञ्चक आदि अर्थों में होता है। यहाँ पर विस्मित करने के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। हास्यपूर्ण कुतूहल न करे अथवा दूसरों को हँसाने के लिए कुतूहलपूर्ण चेष्टा न करे—ये दोनों अर्थ अगस्त्यसिंह स्थविर करते हैं[5], जिनदास महत्तर और हरिभद्रसूरि केवल पहला[6]।

दश० ६.३.१० में 'अकुहए' शब्द प्रयुक्त हुआ है। वहाँ इसका अर्थ इन्द्रजाल आदि न करने वाला[7] तथा वादित्र न बजाने वाला किया है[8]।

श्लोक २१ :

७३. अशुचि और अशाश्वत देहवास को (देहवासं असुइं असासयं [क]) :

अशुचि अर्थात् अशुचिपूर्ण और अशुचि से उत्पन्न। शरीर की अशुचिता के सम्बन्ध में सुत्तनिपात अ० ११ में निम्न अर्थ की गाथाएँ मिलती हैं :

"हड्डी और नस से संयुक्त, त्वचा और मांस का लेप चढ़ा तथा चाम से ढँका यह शरीर जैसा है वैसा दिखाई नहीं देता।

१—(क) अ० चू० : ऋजुभाव दरिसिज्जति।
(ख) जि० चू० पृ० ३४८ : अज्जवग्गहणेण अहिंसाइलक्खणस्स एयारिसस्स धम्मस्स गहणं कयं, तं आयरियं धम्मपदं गिहीणं साधूण य पवेदेज्जा।

२—हा० टी० प० २६६ : 'आर्यपदम्' शुद्धधर्मपदम्।

३—अ० चू० : पडुरंगादीण कुसीलाणंलिंग वज्जेज्जा। अणायारादिवा कुसीललिंगं न रक्खए।

४—(क) जि० चू० पृ० ३४८ : कुसीलाण पडुरंगाईण लिंग ···अयवा जेण आयरिएण कुसीलो संभाविज्जति त।
(ख) हा० टी० प० २६६ : 'कुशीललिङ्गम्' आरम्भादिकुशीलचेष्टितम्।

५—अ० चू० : हस्सामेव कुहगं, तं जस्स अत्थि सो हस्सकुहतो। तधा न भवे। हस्सनिमित्तं वा कुहग सधाकरेति जधा परस्स हस्समुप्पज्जति। एवं ण यावि हस्सकुहए।

६—(क) जि० चू० पृ० ३४८ : हासकुहए णाम ण ताणि कुहगाणि कुज्जा जेण अन्ने हसंतीति।
(ख) हा० टी० प० २६६ : न हास्यकारिकुहकयुक्तः।

७—(क) अ० चू० : इंद-जाल-कुहेडगादीहिं ण कुहावेति णति कुहाविज्जति अकुहए।
(ख) जि० चू० पृ० ३२१ : कुहगं—इंदजालादीय न करेइत्ति अकुहएत्ति।
(ग) हा० टी० प० २५४।

८—जि० चू० पृ० ३२२ : अहवा

"इस शरीर के भीतर है—आंत, उदर, यकृत, वस्ति, हृदय, फुप्फुस, वक्क—तिल्ली, नासा-मल, लार, पसीना, मेद, लोहू, लसिका, पित्त और चर्बी।

"इसके नौ द्वारों से हमेशा गन्दगी निकलती रहती है। आँख से आँख की गन्दगी निकलती है और कान से कान की गन्दगी।

"नाक से नासिका-मल, मुख से पित्त और कफ, शरीर से पसीना और मल निकलते हैं।

"इसके सिर की खोपड़ी गूदा से भरी है। अविद्या के कारण मूर्ख इसे शुभ मानता है।

"मृत्यु के बाद जब यह शरीर सूजकर नीला हो श्मशान में पड़ा रहता है तो उसे बन्धु-बांधव भी छोड़ देते हैं।"

ज्ञाता धर्मकथा सूत्र में शरीर की अशाश्वतता के बारे में कहा गया है कि 'यह देह जल के फेन की तरह अध्रुव है; बिजली के चमत्कार की तरह अशाश्वत है; दर्भ की नोक पर ठहरे हुए जल-बिन्दु की तरह अनित्य है।" देह जीवरूपी-पक्षी का अस्थिरवास बसेरा है अर्थात् जल्दी या देर से इसे छोड़ना ही पड़ता है।

पढमा चूलिया

रइवक्का

प्रथम चूलिका

रतिवाक्य

आमुख

इस चूलिका का नाम 'रतिवाक्या-अध्ययन' है। असंयम में सहज ही रति और संयम में अरति होती है। भोग में जो सहज आकर्षण होता है वह त्याग में नहीं होता। इन्द्रियों की परितृप्ति में जो सुखानुभूति होती है वह उनके विषय-निरोध में नहीं होती।

भिन्न लोग कहते हैं—'भोग सहज नहीं है, सुख नहीं है।' साधना से दूर जो हैं वे कहते हैं—'यह सहज है, सुख है।' पर वस्तुतः सहज क्या है? सुख क्या है? यह चिन्तनीय रहता है। खुजली के कीटाणु शरीर में होते हैं तब खुजलाने में सहज आकर्षण होता है और वह सुख भी देता है। स्वस्थ आदमी खुजलाने को न सहज मानता है और न सुखकर भी। यही स्थिति-भेद है और उसके आधार पर अनुभूति-भेद होता है। यही स्थिति साधक और असाधक की है। मोह के परमाणु सक्रिय होते हैं तब भोग सहज लगता है और वह सुख की अनुभूति भी देता है। किन्तु मन्द-मोह या निर्मोह व्यक्ति को भोग न सहज लगता है और न सुखकर भी। इस प्रकार स्थिति-भेद से दोनों मान्यताओं का अपना-अपना आधार है।

आत्मा की स्वस्थदशा मोहशून्य स्थिति या वीतराग भाव है। इसे पाने का प्रयत्न ही संयम या साधना है। मोह अनादिकालीन रोग है। वह एक बार के प्रयत्न से ही मिट नहीं जाता। इसकी चिकित्सा जो करने चलता है वह सावधानी से चलता है किन्तु कहीं-कहीं बीच में वह रोग उभर आता है और साधक को फिर एक बार पूर्व स्थिति में जाने को विवश कर देता है। चिकित्सक कुशल होता है तो उसे सम्हाल लेता है और उभार का उपशमन कर रोगी को आरोग्य की ओर ले चलता है। चिकित्सक कुशल न हो तो रोगी की डांवाडोल मनोदशा उसे पीछे ढकेल देती है। साधक मोह के उभार में न डगमगाए, पीछे न खिसके—इस दृष्टि से इस अध्ययन की रचना हुई है। यह वह चिकित्सक है जो संयम से डिगते चरण को फिर से स्थिर बना सकता है और भटकते मन पर अंकुश लगा सकता है।

इसीलिए कहा है—"हयरस्सिगयंकुसपोयपडागाभूयाइं इमाइं अट्ठारसट्ठाणाइं"—इस अध्ययन में वर्णित ये अठारह स्थान—घोड़े के लिए लगाम, हाथी के लिए अंकुश और पोत के लिए पताका जैसे हैं। इसके वाक्य संयम में रति उत्पन्न करने वाले हैं, इसलिए इस का नाम 'रतिवाक्या' रखा गया है[1]।

प्रस्तुत अध्ययन में निर्वचन के अठारह सूत्र हैं। उनमें गृहस्थ-जीवन की अनेक दृष्टियों से अनुपादेयता बतलाई है। जैन और वै-परम्परा में यह बहुत बड़ा अन्तर है। वैदिक व्यवस्था में चार आश्रम हैं। उनमें गृहस्थाश्रम सब का मूल है और सर्वाधिक महत्वपूर्ण गया है। स्मृतिकारों ने उसे अति महत्व दिया है। गृहस्थाश्रम उत्तरवर्ती विकास का मूल है। यह जैन-सम्मत भी है। किन्तु वह मूल है इसलिए सबसे अधिक महत्वपूर्ण है, यह अभिमत जैनों का नहीं है। समाज-व्यवस्था में इसका जो स्थान है, वह निर्विवाद है। आध्यात्मिक चिन्तन में इसकी उत्कर्षपूर्ण स्थिति नहीं है। इसलिए 'गृहवास बन्धन है और संयम मोक्ष'[2], यह विचार स्थिर रूप पा सका।

"पुण्य-पाप का कर्तृत्व और भोक्तृत्व अपना-अपना है।" "किए हुए पाप-कर्मों को भोगे बिना अथवा तपस्या के द्वारा उनको निर्जीर्ण किए बिना मुक्ति नहीं मिल सकती[3]—" ये दोनों विचार अध्यात्म व नैतिक परम्परा के मूल हैं।

जर्मन-दार्शनिक काण्ट ने जैसे आत्मा, उसका अमरत्व और ईश्वर को नैतिकता का आधार माना है वैसे ही जैन-दर्शन सम्यग्-दर्शन को अध्यात्म का आधार मानता है। आत्मा है, वह ध्रुव है, कर्म (पुण्य-पाप) की कर्ता है, भोक्ता है, सुचीर्ण और दुश्चीर्ण कर्म का फल है, मोक्ष का उपाय है और मोक्ष है—ये सम्यग्-दर्शन के अंग हैं। इनमें से दो-एक अंगों को यहाँ वस्तु-स्थिति के सम्यक् निरीक्षण के लिए प्रस्तुत किया गया है। संयम का बीज वैराग्य है। पौद्गलिक पदार्थों से राग हटता है तब आत्मा में लीनता होती है, यही विराग है। "काम-भो

१—हा० टी० प० २७० : 'धर्मे' चारित्ररूपे 'रतिकारकाणि' 'रतिजनकानि तानि च वाक्यानि येन कारणेन 'अस्यां' चूडायां निमित्तेन रतिवाक्यैषा चूडा, रतिकर्तृणि वाक्यानि यस्यां सा रतिवाक्या।

२—चू० १, सूत्र १, स्था० १२ : बंधे गिहवासे मोक्खे परियाए।

३—चू० १, सूत्र १, स्था० १८ : पावाणं च खलु भो! कडाणं कम्माणं पुव्विं दुच्चिण्णाणं दुप्पडिक्कंताणं वेयइत्ता मोक्खो, नत्थि अवेयइत्ता, तवसा वा झोसइत्ता।

जन-साधारण के लिए सुलभ हैं। किन्तु संयम वैसा सुलभ नहीं है। मनुष्य का जीवन अनित्य है।" ये वाक्य वैराग्य की धारा को वेग देने के लिए हैं। इस प्रकार के अठारह स्थान बहुत ही अर्थवान् और स्थिरीकरण के अमोघ आलम्बन हैं। इनके बाद संयम-धर्म से भ्रष्ट होने वाले मुनि की अनुतापपूर्ण मनोदशा का चित्रण मिलता है।

भोग अतृप्ति का हेतु है या अतृप्ति ही है। तृप्ति संयम में है। भोग का आकर्षण साधक को संयम से भोग में घसीट लेता है। वह चला जाता है। जाता है एक आकांक्षा के लिए। किन्तु भोग में अतृप्ति बढ़ती है, संयम का सहज आनन्द नहीं मिलता तब पूर्व दशा से हटने का अनुताप होता है। इस स्थिति में ही संयम और भोग का यथार्थ मूल्य समझ में आता है।

"आकांक्षा-हीन व्यक्ति के लिए संयम देवलोक सम है और आकांक्षावान् व्यक्ति के लिए वह नरकोपम है।"

इस मनोवैज्ञानिक-पद्धति से संयम की उपयोगिता दिखा संयम में रमण करने का उपदेश जो दिया है, वह सहसा मन को छू लेता है। आकांक्षा का उन्मूलन करने के लिए अनेक आलम्बन बताए हैं। उनका उत्कर्ष "चइज्ज देहं न हु धम्मसासणं"—शरीर को त्याग दे पर धर्म-शासन को न छोड़े—इस वाक्य में प्रस्फुटित हुआ है। समग्र-दृष्टि से यह अध्ययन अध्यात्म-आरोह का अनुपम सोपान है।

रइवक्का : रतिवाक्या

मूल

इह खलु भो ! पव्वइएणं, उप्पन्न-दुक्खेणं, संजमे अरइसमावन्नचित्तेणं, ओहाणुप्पेहिणा अणोहाइएणं चेव, हयरस्सि-गयंकुस-पोयपडागाभूयाइं इमाइं अट्ठारस ठाणाइं सम्मं संपडिलेहियव्वाइं भवंति । तंजहा—

१—हं भो ! दुस्समाए दुप्पजीवी ।

२—लहुस्सगा इत्तरिया गिहीणं कामभोगा ॥

३—भुज्जो य साइबहुला मणुस्सा ॥

४—इमे य मे दुक्खे न चिरकालोवट्ठाई भविस्सइ ॥

५—ओमजणपुरक्कारे ॥

६—वंतस्स य पडियाइयणं ॥

७—अहरगइवासोवसंपया ॥

८—दुल्लभे खलु भो ! गिहीणं धम्मे गिहिवासमज्झे वसंताणं ॥

९—आयंके से वहाय होइ ॥

१०—संकप्पे से वहाय होइ ॥

संस्कृत छाया

इह खलु भोः ! प्रव्रजितेन उत्पन्नदुःखेन संयमेऽरतिसमापन्नचित्तेन अवधानोत्प्रेक्षिणा अनवधावितेन चैव हयरश्मिगजाङ्कुशपोतपताकाभूतानि इमा न्यष्टादशस्थानानि सम्यक् संप्रतिलेखितव्यानि भवन्ति । तद्यथा :—

(१) हं हो ! दुष्षमायां दुष्प्रजीविनः ।

(२) लघुस्वका इत्वरिका गृहिणां कामभोगाः ।

(३) भूयश्च साचि(ति)बहुला मनुष्याः ।

(४) इदं च मे दुःखं न चिरकालोपस्थायि भविष्यति ।

(५) अवमजनपुरस्कारः ।

(६) वान्तस्य च प्रत्यापानम् (दानम्) ।

(७) अधरगतिवासोपसंपदा ।

(८) दुर्लभः खलु भो ! गृहिणां धर्मो गृहवासमध्ये वसताम् ।

(९) आतङ्कस्तस्य वधाय भवति ।

(१०) सङ्कल्पस्तस्य वधाय भवति ।

हिन्दी अनुवाद

मुमुक्षुओ ! निर्ग्रन्थ-प्रवचन में जो प्रव्रजित है किन्तु उसे मोहवश दुःख उत्पन्न हो गया[1], संयम में उसका चित्त अरति-युक्त हो गया, वह संयम को छोड़ गृहस्थाश्रम में चला जाना चाहता है, उसे संयम छोड़ने से पूर्व अठारह स्थानों का भलीभाँति आलोचन करना चाहिए । अस्थिरात्मा के लिए इनका वही स्थान है जो अश्व के लिए लगाम, हाथी के लिए अंकुश और पोत के लिए पताका[3] का है । अठारह स्थान इस प्रकार हैं :

(१) ओह ![4] इस दुष्षमा (दुःख-बहुल पाँचवें आरे) में लोग बड़ी कठिनाई से जीविका चलाते हैं[5] ।

(२) गृहस्थों के काम-भोग स्वल्प-सार-सहित[6] (तुच्छ) और अल्पकालिक हैं ।

(३) मनुष्य प्रायः माया बहुल होते हैं ।

(४) यह मेरा परीषह-जनित दुःख चिरकाल स्थायी नहीं होगा ।

(५) गृहवासी को नीच जनों का पुरस्कार करना होता है—सत्कार करना होता है ।

(६) संयम को छोड़ घर में जाने का अर्थ है वमन को वापस पीना ।

(७) संयम को छोड़ गृहवास में जाने का अर्थ है नारकीय-जीवन का अङ्गीकार ।

(८) ओह ! गृहवास[8] में रहते हुए गृहियों के लिए धर्म का स्पर्श निश्चय ही दुर्लभ है ।

(९) वहाँ आतङ्क[9] वध के लिए होता है ।

(१०) वहाँ सङ्कल्प[10] वध के लिए होता है ।

३—जया य वंदिमो होइ
पच्छा होइ अवंदिमो।
देवया व चुया ठाणा
स पच्छा परितप्पइ ॥

यदा च वन्द्यो भवति,
पश्चाद् भवत्यवन्द्यः।
देवतेव च्युता स्थानात्,
स पश्चाद् परितप्यते ॥३॥

३—प्रव्रजित काल में साधु वंदनीय होता है, वही जब उत्प्रव्रजित होकर अवन्दनीय हो जाता है तब वह वैसे ही परिताप करता है जैसे अपने स्थान से च्युत देवता।

४—जया य पूइमो होइ
पच्छा होइ अपूइमो।
राया व रज्जपब्भट्ठो
स पच्छा परितप्पइ ॥

यदा च पूज्यो भवति,
पश्चाद् भवत्यपूज्यः।
राजेव राज्यप्रभ्रष्टः,
स पश्चात्परितप्यते ॥४॥

४—प्रव्रजित काल में साधु पूज्य होता है, वही जब उत्प्रव्रजित होकर अपूज्य हो जाता है तब वह वैसे ही परिताप करता है जैसे राज्य-भ्रष्ट राजा।

५—जया य माणिमो होइ
पच्छा होइ अमाणिमो।
सेट्ठि व्व कब्बडे छूढो
स पच्छा परितप्पइ ॥

यदा च मान्यो भवति,
पश्चाद् भवत्यमान्यः।
श्रेष्ठीव कर्वटे क्षिप्त,
स पश्चात्परितप्यते ॥५॥

५—प्रव्रजित काल में साधु मान्य होता है, वही जब उत्प्रव्रजित होकर अमान्य हो जाता है तब वह वैसे ही परिताप करता है जैसे कर्वट (छोटे से गाँव) में[१५] [illegible] किया हुआ श्रेष्ठी[१६]।

६—जया य थेरओ होइ
समइक्कंतजोव्वणो।
मच्छो व्व गलं गिलित्ता
स पच्छा परितप्पइ ॥

यदा च स्थविरो भवति,
समतिक्रान्तयौवनः।
मत्स्य इव गलं निगलित्वा,
स पश्चात्परितप्यते ॥६॥

६—यौवन के बीत जाने पर जब उत्प्रव्रजित साधु बूढ़ा होता है, तब वह [illegible] ही परिताप करता है जैसे काँटे को [illegible] वाला मत्स्य।

७—जया य कुकुडुंबस्स
कुतत्तीहिं विहम्मइ।
हत्थी व बंधणे बद्धो
स पच्छा परितप्पइ ॥

यदा च कुकुटुम्बस्य,
कुतप्तिभिर्विहन्यते।
हस्तीव बन्धने बद्धः,
स पश्चात्परितप्यते ॥७॥

७—वह उत्प्रव्रजित साधु जब [illegible] दुश्चिन्ताओं से प्रतिहत होता है तब वैसे ही परिताप करता है जैसे बन्धन में [illegible] हुआ हाथी।

८—पुत्तदारपरिकिण्णो
मोहसंताणसंतओ।
पंकोसन्नो जहा नागो
स पच्छा परितप्पइ ॥

पुत्रदारपरिकीर्णः,
मोहसन्तानसन्ततः।
पङ्कावसन्नो यथा नागः,
स पश्चात्परितप्यते ॥८॥

८—पुत्र और स्त्री से घिरा [illegible] मोह की परम्परा से परिव्याप्त[१७] वह वैसे परिताप करता है जैसे पंक में फँसा [illegible] हाथी।

१५ इमस्स ता नेरइयस्स जंतुणो
दुहोवणीयस्स किलेसवत्तिणो।
पलिओवमं झिज्जइ सागरोवमं
किमंग पुण मज्झ इमं मणोदुहं?॥

अस्य तावन्नारकस्य जन्तोः,
उपनीतदुःखस्य क्लेशवृत्तेः।
पल्योपमं क्षीयते सागरोपमं,
किमङ्ग पुनर्ममेदं मनोदुःखम्॥१५॥

१५—दुःख से युक्त और क्लेशमय जीवन बिताने वाले इन नारकीय जीवों की पल्योपम और सागरोपम आयु भी समाप्त हो जाती है तो फिर यह मेरा मनोदुःख कितने काल का है?

१६—न मे चिरं दुक्खमिणं भविस्सई
असासया भोगपिवास जंतुणो।
न चे सरीरेण इमेणवेस्सई
अविस्सई जीवियपज्जवेण मे॥

न मे चिरं दुःखमिदं भविष्यति,
अशाश्वती भोगपिपासा जन्तोः।
न चेच्छरीरेणानेनापैष्यति,
अपैष्यति जीवित-पर्ययेण मे॥१६॥

१६—यह मेरा दुःख चिर काल तक नहीं रहेगा। जीवों की भोग-पिपासा अशाश्वत है। यदि वह इस शरीर के होते हुए न मिटी तो मेरे जीवन की समाप्ति के समय[३३] तो वह अवश्य मिट ही जाएगी।

१७—जस्सेवमप्पा उ हवेज्ज निच्छिओ
चएज्ज देहं न उ धम्मसासणं।
तं तारिसं नो पयलेंति इंदिया
उवेंतवाया व सुदंसणं गिरिं॥

यस्यैवमात्मा तु भवेन्निश्चितः,
त्यजेद्देहं न तु धर्मशासनम्।
तं तादृशं न प्रचालयन्तीन्द्रियाणि,
उपयद्वाता इव सुदर्शनं गिरिम्॥१७॥

१७—जिसकी आत्मा इस प्रकार निश्चित होती है (दृढ संकल्पयुक्त होती है)—"देह को त्याग देना चाहिए पर धर्म-शासन को नहीं छोड़ना चाहिए"—उस दृढ़-प्रतिज्ञ साधु को इन्द्रियाँ उसी प्रकार विचलित नहीं कर सकतीं जिस प्रकार वेगपूर्ण गति से आता हुआ महावायु सुदर्शन गिरि को।

१८—इच्चेव संपस्सिय बुद्धिमं नरो
आयं उवायं विविहं वियाणिया।
काएण वाया अदु माणसेणं
तिगुत्तिगुत्तो जिणवयणमहिट्ठिज्जासि॥

त्ति बेमि॥

इत्येवं संदृश्य बुद्धिमान्नरः,
आयमुपायं विविधं विज्ञाय।
कायेन वाचाऽथ मानसेन,
त्रिगुप्तिगुप्तो जिनवचनमधितिष्ठेत्॥१८॥

इति ब्रवीमि।

१८—बुद्धिमान् मनुष्य इस प्रकार सम्यक् आलोचना कर तथा विविध प्रकार के लाभ और उनके साधनों को[३४] जानकर तीन गुप्तियों (काय, वाणी और मन) से गुप्त होकर जिनवाणी का आश्रय ले।

ऐसा मैं कहता हूँ।

बताया है कि समर्थ व्यक्तियों के लिए भी जीविका का निर्वाह कठिन है तब औरों की बात ही क्या ? राज्याधिकारी, व्यापारी और नौकर—ये सब अपने-अपने प्रकार की कठिनाइयों में फंसे हुए हैं[1]।

६. स्वल्प-सार-रहित (तुच्छ) (लहुस्सगा) :

जिन वस्तुओं का स्व (आत्म-तत्त्व) लघु (तुच्छ या असार) होता है, उन्हें 'लघुस्वक' कहा जाता है । चूर्णि और टीका के अनुसार काम-भोग कदलीगर्भ की तरह[2] और टीका के शब्दों में तुषमुष्टि की तरह असार हैं[3]।

७. माया-बहुल होते हैं (साइबहुला) :

'साचि' का अर्थ कुटिल है[4]। 'बहुल' का प्रयोग चूर्णियों के अनुसार प्राय:[5] और टीका के अनुसार प्रचुर के अर्थ में है[6]। 'साइ' असत्य-वचन का तेरहवाँ नाम है[7]। प्रश्न व्याकरण की वृत्ति मे उसका अर्थ अविश्वास किया है[8]। असत्य-वचन अविश्वास का हेतु है, इस लिए 'साइ' को भी उसका नाम माना गया। टीका मे इसका संस्कृत रूप 'स्वाति' किया है। डा० वाल्टर शुब्रिंग ने 'स्वाति' को त्रुटिपूर्ण माना है[9]। 'स्याह' का एक अर्थ कलुषता है[10]। चूर्णि और टीका मे यही अर्थ है ।

'साय' (सं—स्वाद) का अर्थ भी माया हो सकता है। हमने इसका संस्कृत रूप 'साची' किया है। 'साची' तिर्यक् का पर्यायवाची नाम है[11]।

'साइबहुला' का आशय यह है कि जो पारिवारिक लोग हैं, वे एक दूसरे के प्रति विश्वस्त नहीं होते, वैसी स्थिति मे जाकर मैं क्या सुख पाऊँगा—ऐसा सोच धर्म में रति करनी चाहिए। संयम को नहीं छोड़ना चाहिए[12]।

१—(क) अ० चू० : दुक्खं एव पजीव सायणाणि संपातिज्जतीति ईसरेहिं किं पुण सेसेहिं ? रायादियाण चिंतासरेहिं, वणियाण भंडविणएहिं, सेसाण पेसणेहि य जीवणसंपादणं दुक्खं ।

(ख) जि० चू० पृ० ३५३ : दुप्पजीवी नाम दुक्खेण प्रजीवण, आजीविआ ।

(ग) हा० टी० प० २७२ : दु खेन—कृच्छ्रेण प्रकर्षेणोदारभोगापेक्षया जीवितुं शीला दुष्प्रजीविनः ।

२—अ० चू० : लहुसगाइत्तरकाला कदलीगब्भवदसारगा जम्हा गिहत्थ भोगे चतिऊण रतिं कुणइ धम्मे ।

३—हा० टी० प० २७२ : सन्तोऽपि 'लघव' तुच्छाः प्रकृत्यैव तुषमुष्टिवदसारा. ।

४—अ० चू० : साति कुडिलं ।

५—(क) अ० चू० : बहुलमिति पायो वृत्ति ।

(ख) जि० चू० पृ० ३५४ · बहुला इति पायसो ।

६—हा० टी० प० २७२ : 'स्वातिबहुला' मायाप्रचुरा ।

७—प्रश्न० आस्रवद्वार २ ।

८—प्रश्न० आस्रवद्वार २ : साति—अविश्रम्भ. ।

९—दसवेआलिय सुत्त पृ० १२६ : साय-बहुल=स्वाति (wrong for स्वाति) बहुल, मायाप्रचुर H. I think that tl sense of this phrase is as translatad

१०—A Dictionary of Urdu, Classical Hindi and English, Page 691 : Blackness, The black part of the heart.

११—अ० चि० ६.१२१ : तिर्यक् साचि: ।

१२—(क) अ० चू० : पुणो २ कुडिल हियया प्रायेण भुज्जो सातिबहुला मणुस्सा ।

(ख) जि० चू० पृ० ३५४ : सातिकुडिला, बहुला इति पायसो, कुडिलहियओ पाएण भुज्जो य साइबहुला मणुस्सा ।

(ग) हा० टी० प० २७२ : न स्वातिरविश्रम्भहेतुत्वोऽसौ, तद्रहितानां च कीदृक्सुखम् ? तथा मायाबंधहेतुत्वेन दारुणतरो इति किं गृहाश्रमेणेति सम्प्रत्युपेक्षितव्यमिति ।

१३. मुनि-पर्याय (परियाए सू० स्था० ११) :

पर्याय का अर्थ प्रव्रज्याकालीन-दशा या मुनि-व्रत है[1]। प्रव्रज्या में चारों ओर से (परित:) गुण का आगमन होता है, इसलिए इसे पर्याय कहा जाता है। अगस्त्य चूर्णि के अनुसार यह प्रव्रज्या शब्द का अपभ्रंश है[2]।

१४. भोग लेने पर अथवा तप के द्वारा उनका क्षय कर देने पर ही मोक्ष होता है (वेयइत्ता मोक्खो, नत्थि अवेयइत्ता, तवसा वा झोसइत्ता सू० १ स्था० १८) :

किया हुआ कर्म भुगते बिना उससे मुक्ति नहीं होती यह कर्मवाद का ध्रुव सिद्धान्त है। बद्ध कर्म की मुक्ति के दो उपाय हैं— स्थिति परिपाक होने पर उसे भोगकर अथवा तपस्या के द्वारा उसे क्षीण-वीर्य कर नष्ट कर देना। सामान्य स्थिति यह है कि कर्म अपनी स्थिति पकने पर फल देता है, किन्तु तपस्या के द्वारा स्थिति पकने से पहले ही कर्म को भोगा जा सकता है। इससे फल-शक्ति मन्द हो जाती है और वह फलोदय के बिना ही नष्ट हो जाता है।

१५ श्लोक (सिलोगो सू० १ स्था० १८) :

श्लोक शब्द जातिवाचक है, इसलिए इसमें अनेक श्लोक होने पर भी विरोध नहीं आता[3]।

श्लोक १ :

१६. अनार्य (अणज्जो [ग]) :

अनार्य का अर्थ म्लेच्छ है। जिसकी चेष्टाएँ म्लेच्छ की तरह होती हैं, वह अनार्य कहलाता है[4]।

१७. भविष्य को (आयइ [घ]) :

आयति का अर्थ भविष्यकाल है[5]। चूर्णि में इसका वैकल्पिक अर्थ 'गौरव'[6] व 'आत्महित'[7] भी किया है।

श्लोक ५ :

१८. कर्वट (छोटे से गाँव) में (कव्वडे [ग]) :

कर्वट के अनेक अर्थ हैं :

१. कुनगर जहाँ क्रय-विक्रय न होता हो[8]।

२. बहुत छोटा सन्निवेश[9]।

३. वह नगर जहाँ बाजार हो।

१—हा० टी० प० २७३ : प्रव्रज्या पर्याय:।

२—अ० चू० : परियातो समंततो गुणागमणं, पव्वज्जासद्दस्सेव अवब्भंसो परियातो।

३—हा० टी० प० २७४ : श्लोक इति च जातिपरो निर्देश, तत: श्लोकजातिरनेकभेदा भवतीति प्रभूतश्लोकोपन्यासे[illegible]।

४—(क) जि० चू० पृ० ३५६ : अणज्जा मेच्छादयो, जो तहाठिओ अणज्ज इव अणज्जो।

(ख) हा० टी० प० २७४, २७५ : 'अनार्य' इत्यनार्य इवानार्यो—म्लेच्छचेष्टित.।

५—हा० टी० प० २७५ : 'आयतिम्' आगामिकालम्।

६—अ० चू० : आतती आगामीकाल तं आततिहितं आयति समभिरयंति··· स्थेयो भण्णति—[illegible]

७—जि० चू० पृ० ३५६ : 'आयती' [illegible] तं······ अथवा आयतीहित आत्मनो [illegible]

८—जि० चू० पृ० ३६० : कव्वडं कुनगर, [illegible] पमुहमवविचित्तभंडविणियोगो जत्थ [illegible]।

९—हा० टी० प० २७५ : 'कर्बटं' [illegible]

४. जिले का प्रमुख नगर[1]।

चूर्णियों के कर्बट का मूल अर्थ माया, कूटसाक्षी आदि अप्रामाणिक या अनैतिक व्यवसाय का आरम्भ किया है[2]।

१९. श्रेष्ठी (सेट्ठि ग) :

जिसमें लक्ष्मी देवी का चित्र अंकित हो वैसा वेष्टन बांधने की जिसे राजा के द्वारा अनुज्ञा मिली हो, वह श्रेष्ठी कहलाता है[3]।

'हिन्दू राजतन्त्र' में लिखा है कि इस सभा (पौर सभा) का प्रधान या सभापति एक प्रमुख नगर-निवासी हुआ करता था जो साधारणतः कोई व्यापारी या महाजन होता था। आजकल जिसे मेयर कहते हैं, हिन्दुओं के काल में वह 'श्रेष्ठिन्' या प्रधान कहलाता था[4]।

२२. बहुश्रुत (बहुस्सुओ [ग]) :

बहुश्रुत का अर्थ है—द्वादशाङ्गी (गणिपिटक) का जानकार[1] या बहुआगमवेत्ता[2]।

२३. होता (हुंतो [क]) :

'अभविष्यत्' और 'भवन' इन दोनों के स्थान में 'हुंतो' रूप बनता है[3]। अनुवाद में 'अभविष्यत्' का अर्थ ग्रहण किया है। 'भवन' के अनुसार इसका अनुवाद इस प्रकार होगा—आज मैं भावितात्मा और बहुश्रुत गणी होऊँ, यदि जिनोपदिष्ट श्रमण पर्याय—चारित्र में रमण करूँ।

श्लोक १२ :

२४. चारित्र-रूपी श्री से (सिरिओ [क]) :

जिनदास महत्तर ने इसका अर्थ श्रामण्यरूपी लक्ष्मी या शोभा और हरिभद्रसूरि ने तप रूपी लक्ष्मी किया है[4]।

२५. निस्तेज (अप्पतेयं [ख]) :

इसमें अल्प शब्द अभाववाची है। अल्पतेज अर्थात् निस्तेज[5]। समिधा, चर्बी, रुधिर, मधु, घृत आदि से हुत अग्नि जैसे दीप्त होती है और हवन के अन्त में बुझकर वह निस्तेज हो जाती है, वैसे ही श्रमण-धर्म की श्री को त्यागने वाला मुनि निस्तेज हो जाता है[6]।

२६ दुर्विहित साधु को (दुव्विहियं [ग]) :

जिसका आचरण या विधि-विधान दुष्ट होता है, उसे दुर्विहित कहा जाता है। सामाचारी का विधिवत् पालन करने वाले भिक्षुओं के लिए सुविहित और उसका विधिवत् पालन न करने वालों के लिए दुर्विहित शब्द का प्रयोग होता है[7]।

२७. निन्दा करते हैं (हीलंति [ग]) :

चूर्णिद्वय के अनुसार 'हील्' धातु का अर्थ लज्जित करना है और यह नामधातु है[8]। टीका में इसका अर्थ कदर्थना करना किया है[9]।

श्लोक १३ :

२८. चरित्र को खण्डित करने वाला साधु (संभिन्नवित्तस्स [घ]) :

वृत्त का अर्थ शील या चारित्र है। जिसका शील संभिन्न—खण्डित हो जाता है, उसे संभिन्न-वृत्त कहा जाता है[10]।

१—जि० चू० पृ० ३६१ : 'बहुस्सुओ'त्ति जइ ण ओहावतो तो दुवालसंगगणिपिडगाहिज्जणेण अज्ज बहुस्सुओ।

२—हा० टी० प० २७६ : 'बहुश्रुत' उभयलोकहितबह्वागमयुक्तः।

३—हैम० ८.३.१८०,१८१।

४—(क) जि० चू० पृ० ३६३ : सिरी सद्दो सोभा वा, सा पुण जा समणभावाणुरूवा सामण्णसिरी।

(ख) हा० टी० प० २७६ : 'श्रियोऽपेतं' तपोलक्ष्म्या अपगतम्।

५—हा० टी० प० २७६ : अल्पशब्दोऽभावे, तेजःशून्यं भस्मकल्पमित्यर्थः।

६—अ० चू० : अधाजयमुहेसुसमिधासमुदायवसारुहिरमहुघतादीहिं हूयमाणो अग्गी समाबदित्तोओ अचिरं विज्झति हवणावसाणे परिविज्झाण मुम्मुरंगारारूपो भवति।

७—(क) अ० चू० : विहितो उप्पादितो, दुट्ठु विधितो—दुव्विहितो।

(ख) हा० टी० प० २७६ : 'दुर्विहितम्' उन्निष्क्रमणादेव दुष्टानुष्ठायिनम्।

८—(क) अ० चू० : ह्री इति लज्जा, ह्रपणयति हीलेंति, यदुक्तम्—ह्रेपयंति।

(ख) जि० चू० पृ० ३६३ : ह्री इति लज्जा, लज्जं णयति हीलति—ह्रेपयति।

९—हा० टी० प० २७६ : 'हीलयन्ति' कदर्थयन्ति, पतितस्त्वमिति पद्धत्यपसारणादिना।

१०—(क) अ० चू० : वृत्त शील।

(ख) हा० टी० प० २७७ : 'संभिन्नवृत्तस्य च' अखण्डनीयखण्डितचारित्रस्य च।

२९. अधर्म (अधम्मो [क]) :

श्रमण-जीवन को छोड़ने वाला व्यक्ति छह काय के जीवों की हिंसा करता है, श्रमण-गुण की हानि करता है, इसलिए श्रमण-जीवन के परित्याग को अधर्म कहा है[1]।

३०. अयश (अयसो) :

'यह पुण्यहीन श्रमण है'—इस प्रकार दोष-कीर्तन अयश कहलाता है[2]। टीकाकार ने इसका अर्थ 'अपराक्रम से उत्पन्न न्यूनता' किया है[3]।

श्लोक १४ :

बिइया चूलिया : द्वितीय चूलिका

विवित्तचरिया विविक्तचर्या

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१—चूलियं तु[1] पवक्खामि सुयं केवलिभासियं। जं सुणित्तु सपुण्णाणं धम्मे उप्पज्जए मई॥	चूलिकां तु प्रवक्ष्यामि, श्रुतां केवलिभाषिताम्। यां श्रुत्वा सपुण्यानां, धर्मे उत्पद्यते मतिः॥१॥	१—मैं उस चूलिका को कहूँगा जो सुनी हुई है, केवली-भाषित है[2], जिसे सुन भाग्य-शाली जीवों को[3] धर्म में मति उत्पन्न होती है।
२—अणुसोयपट्ठिएबहुजणम्मि पडिसोयलद्धलक्खेणं। पडिसोयमेव अप्पा दायव्वो होउकामेणं॥	अनुस्रोतः प्रस्थिते बहुजने, प्रतिस्रोतो लब्धलक्ष्येण। प्रतिस्रोत एवात्मा, दातव्यो भवितुकामेन॥२॥	२—अधिकांश लोग अनुस्रोत में प्रस्थान कर रहे हैं[4]—भोग-मार्ग की ओर जा रहे हैं। किन्तु जो मुक्त होना चाहता है, जिसे प्रतिस्रोत[5] में गति करने का लक्ष्य प्राप्त है[6], जो विषय-भोगों से विरक्त हो संयम की आराधना करना चाहता है[7], उसे अपनी आत्मा को स्रोत के प्रतिकूल ले चाहिए—विषयानुरक्ति में प्रवृत्त नहीं चाहिए।
३—अणुसोयसुहोलोगो पडिसोओ आसवो सुविहियाणं। अणुसोओ संसारो पडिसोओ तस्स उत्तारो॥	अनुस्रोतः सुखो लोकः, प्रतिस्रोत आश्रवः सुविहितानाम्। अनुस्रोतः संसारः, प्रतिस्रोतस्तस्योत्तारः॥३॥	३—जन-साधारण को स्रोत के चलने में सुख की अनुभूति होती है, किन्तु जो सुविहित साधु हैं उसका आश्रव (इन्द्रिय-विजय) प्रतिस्रोत होता है। अनुस्रोत संसार है[8] (जन्म-मरण की परम्परा है) और प्रतिस्रोत उसका उतार है[9] (जन्म-मरण का पार पाना है)।
४—तम्हा आयारपरक्कमेण संवरसमाहिबहुलेणं। चरिया गुणा य नियमा य होंति साहूण दट्ठव्वा॥	तस्मादाचारपराक्रमेण, संवरसमाधिबहुलेन। चर्या गुणाश्च नियमाश्च, भवन्ति साधूनां द्रष्टव्याः॥४॥	४—इसलिए आचार में पराक्रम करने वाले[11], संवर में प्रचुर समाधि रखने वाले[12] साधुओं को चर्या[13], गुणों[14] तथा नियमों की[15] ओर दृष्टिपात करना चाहिए।
५—अणिएयवासो समुयाणचरिया अन्नायउंछं पइरिक्कया य। अप्पोवही कलहविवज्जणा य विहारचरिया इसिणं पसत्था॥	अनिकेतवासः समुदानचर्या, अज्ञातोञ्छं प्रतिरिक्तता च। अल्पोपधिः कलहविवर्जना च, विहारचर्या ऋषीणां प्रशस्ता॥५॥	५—अनिकेतवास[16] (गृहवास का त्याग), समुदान चर्या (अनेक कुलों से भिक्षा लेना), अज्ञात कुलों से भिक्षा लेना[17], एकान्तवास[18], उपकरणों की अल्पता[19] और कलह का वर्जन—यह विहार-चर्या[20] (जीवन-चर्या) ऋषियों के लिए प्रशस्त है।

१२—जो पुव्वरत्तावररत्तकाले
संपिक्खई अप्पगमप्पएणं।
किं मे कडं किं च मे किच्चसेसं
किं सक्कणिज्जं न समायरामि॥

यः पूर्वरात्रापररात्रकाले,
संप्रेक्षते आत्मकमात्मकेन।
किं मया कृतं किं च मे कृत्यशेषं,
किं शक्यनीयं न समाचरामि॥१२॥

१२—जो साधु रात्रि के पहले और पिछले प्रहर में अपने-आप अपना आलोचन करता है—मैंने क्या किया? मेरे लिए क्या कार्य करना शेष है? वह कौन सा कार्य है जिसे मैं कर सकता हूँ पर प्रमादवश नहीं कर रहा हूँ?

१३—किं मे परो[11] पासइ किं व अप्पा
किं वाहं खलियं न विवज्जयामि।
इच्चेव सम्मं अणुपासमाणो
अणागयं नो पडिबंध कुज्जा॥

किं मम परः पश्यति किं वात्मा,
किं वाहं स्खलितं न विवर्जयामि।
इत्येवं सम्यगनुपश्यन्,
अनागतं नो प्रतिबन्धं कुर्यात्॥१३॥

१३—क्या मेरे प्रमाद को कोई दूसरा देखता है अथवा अपनी भूल को मैं स्वयं देख लेता हूँ? वह कौन सी स्खलना है जिसे मैं नहीं छोड़ रहा हूँ? इस प्रकार सम्यक्-प्रकार से आत्म-निरीक्षण करता हुआ मुनि अनागत का प्रतिबन्ध न करे—असंयम में न बंधे, निदान न करे।

१४—जत्थेव पासे कइ दुप्पउत्तं
काएण वाया अदु माणसेणं।
तत्थेव धीरो पडिसाहरेज्जा
आइन्नओ खिप्पमिव क्खलीणं॥

यत्रैव पश्येत् क्वचित् दुष्प्रयुक्तं,
कायेन वाचाऽथ मानसेन।
तत्रैव धीरः प्रतिसंहरेत्,
आकीर्णकः क्षिप्रमिव खलिनम्॥१४॥

१४—जहाँ कहीं भी मन, वचन और काया को दुष्प्रवृत्त होता हुआ देखे तो धीर साधु वहीं सम्हल जाए। जैसे जातिमान् अश्व लगाम को खींचते ही सम्हल जाता है।

१५—जस्सेरिसा जोग जिइंदियस्स
धिईमओ सप्पुरिसस्स निच्चं।
तमाहु लोए पडिबुद्धजीवी
सो जीवइ संजमजीविएणं॥

यस्येदृशा योगा जितेन्द्रियस्य,
धृतिमतः सत्पुरुषस्य नित्यम्।
तमाहुर्लोके प्रतिबुद्धजीविनं,
स जीवति संयमजीवितेन॥१५॥

१५—जिस जितेन्द्रिय, धृतिमान् सत्पुरुष के योग सदा इस प्रकार के होते हैं उसे में प्रतिबुद्धजीवी कहा जाता है। जो ऐसा होता है, वही संयमी जीवन जीता है।

१६—अप्पा खलु सययं रक्खियव्वो
सव्विंदिएहिं सुसमाहिएहिं।
अरक्खिओ जाइपहं उवेइ
सुरक्खिओ सव्वदुहाण मुच्चइ॥
त्ति बेमि।

आत्मा खलु सततं रक्षितव्यः,
सर्वेन्द्रियैः सुसमाहितैः।
अरक्षितो जातिपथमुपैति,
सुरक्षितः सर्वदुःखेभ्यो मुच्यते॥१६॥
इति ब्रवीमि।

१६—सब इन्द्रियों को सुसमाहित कर आत्मा की सतत रक्षा करनी चाहिए। अरक्षित आत्मा जाति-पथ (जन्म-मरण) को प्राप्त होता है और सुरक्षित आत्मा सब दुःखों से मुक्त हो जाता है।

ऐसा मैं कहता हूँ।

विविक्तचर्या : द्वितीय चूलिका

श्लोक १ :

१०. प्रतिस्रोत उसका उत्तार है (पडिसोओ तस्स उत्तारो [घ]) :

प्रतिस्रोत-गमन संसार-मुक्ति का कारण है। अभेद-दृष्टि से कारण को कार्य मान उसे संसार से उत्तरण या मुक्ति कहा है। [illegible] में 'उत्तारो' के स्थान में 'निग्गारो' पाठ है। उसका भावार्थ यही है[1]।

श्लोक ४ :

श्लोक ५ :

१६. अनिकेतवास (अणिएयवासो [क]) :

निकेत का अर्थ घर है। व्याख्याकारों के अनुसार भिक्षु को घर में नहीं, किन्तु उद्यान आदि एकान्त स्थान में रहना चाहिए[1]। आगम-साहित्य में सामान्य भिक्षुओं के उद्यान, शून्यगृह आदि में रहने का वर्णन मिलता है। यह शब्द उसी स्थिति की ओर संकेत करता है। इसका तात्पर्य 'विविक्त शय्या' से है। मनुस्मृति में मुनि को अनिकेत कहा है[2]। 'अनिकेतवास' का अर्थ गृह-त्याग भी हो सकता है। चूर्णि और टीका में इसका अर्थ अनियतवास—सदा एक स्थान में न रहना भी किया है[3]।

१७. अज्ञात कुलों से भिक्षा लेना (अन्नायउंछं [ग]) :

पूर्व परिचित पितृ-पक्ष और पश्चात् परिचित श्वसुर-पक्ष से गृहीत न हो किन्तु अपरिचित कुलों से प्राप्त हो, उस भिक्षा को अज्ञातोञ्छ कहा जाता है[4]। टीकाकार ने इसका अर्थ विशुद्ध उपकरणों का ग्रहण किया है[5]।

१८. एकान्तवास (पइरिक्कया [ग]) :

इसका अर्थ है—एकान्त स्थान, जहाँ स्त्री, पुरुष, नपुंसक, पशु आदि रहते हों वहाँ भिक्षु-भिक्षुणियों की साधना में विघ्न उपस्थित हो सकता है, इसलिए उन्हें विजन-स्थान में रहने की शिक्षा दी गई है[6]।

१९. उपकरणों की अल्पता (अप्पोवही [ग]) :

अल्पोपधि का अर्थ उपकरणों की अल्पता या अक्रोध-भाव—ये दोनों हो सकते हैं[7]।

२०. विहार-चर्या (विहारचरिया [घ]) :

विहार चर्या का अर्थ वर्तन या जीवन-चर्या है[8]। जिनदास चूर्णि और टीका में इसका अर्थ विहार—पाद-यात्रा की चर्या किया है[9]। पर यह विहार-चर्या शब्द इस श्लोक में उक्त समस्त चर्या का संग्राहक है, इसलिए अगस्त्य चूर्णि का अर्थ ही अधिक संगत लगता है। कुल विवरण में भी विहार का यही अर्थ मिलता है[10]।

१—जि० चू० पृ० ३७० : अणिएयवासोत्ति निकेत—घर तमि ण वसियव्वं, उज्जाणाइवासिणा होयव्वं।

२—म० स्मृ० अ० ६.४३ : अनग्निरनिकेतः स्यात्।

३—(क) अ० चू० : अणिययवासो वा अतो ण निच्चमेगत्थ वसियव्वं किन्तु विहरितव्वं।

(ख) जि० चू० पृ० ३७० : अणिययवासो वा अनिययवासो, निच्चं एगत्थे न वसियव्वं।

(ग) हा० टी० प० २८० : अनियतवासो मासकल्पादिना 'अनिकेतवासो वा' अगृहे उद्यानादौ वासः।

४—जि० चू० पृ० ३७० : पुव्वपच्छासंथवादीहिं ण उप्पाइयमिति भावओ, अन्नायं उंछं।

५—हा० टी० प० २८० : 'अज्ञातोञ्छं' विशुद्धोपकरणग्रहणविषयम्।

६—(क) जि० चू० पृ० ३७० : पइरिक्कं विवित्तं भण्णइ, दव्वे जं विजणं भावे रागाइ विरहितं, सपक्खपरपक्खे माणवज्जियं वा, तब्भावो पइरिक्कयाओ।

(ख) हा० टी० प० २८० : 'पइरिक्कया य' विजनैकान्तसेविता च।

७—(क) अ० चू० : उवधाणमुवधि। तत्थ दव्व अप्पोवधी जं एगेण वत्थेण परिवुसित एवमादि। भावतो अप्पकोधादी धारण सपक्खपरपक्खगतं।

(ख) जि० चू० पृ० ३७० : पहाणमुवही अ एगवत्थपरिच्चाए एवमादि, भावओ अप्पं कोहादिवारण सपक्खपरपक्खे गतं।

८—अ० चू० : सव्वा वि एसा विहारचरिया इसिणं पसत्था—विहरणं विहारो जं एव पवत्तियव्वं। एतस्स विहारस्स विहारचरिया।

९—(क) जि० चू० पृ० ३७१ : विहरणं विहारो, सो य मासकप्पाइ, तस्स विहारस्स चरणं विहारचरिया।

(ख) हा० टी० प० २८० : 'विहारचर्या' विहरणस्थितिर्विहरणमर्यादा।

१०—हा० कु० चतुर्थ विवरण : विहरणं विहारः—सम्यक्समस्तप्रतिक्रियाकरणम्।

श्लोक ६ :

श्लोक ७ :

२५. मद्य और मांस का अभोजी (अमज्जमंसासि) क :

चूर्णिकारों ने यहाँ एक प्रश्न उपस्थित किया है—"पिण्डैषणा—अध्ययन (५.१.७३) में केवल बहु-अस्थि वाले मांस लेने का निषेध किया है और यहाँ मांस-भोजन का सर्वथा वर्जन किया है यह विरोध है ?" और इसका समाधान ऐसा किया है—"यह उत्सर्ग सूत्र है तथा वह कारणिक—अपवाद सूत्र है। तात्पर्य यह है कि मुनि मांस न ले सामान्य विधि यही है किन्तु विशेष कारण की दशा में लेने को हो तो परिशाटन-दोषयुक्त (देखें ५.१.७४) न ले[1]।"

यह चूर्णिकारों का अभिमत है। टीकाकार ने यहाँ उसकी चर्चा नहीं की है। चूर्णिगत उल्लेखों से भी इतना स्पष्ट है कि बौद्ध भिक्षुओं की भाँति जैन-भिक्षुओं के लिए मांस भोजन सामान्यतः विहित नहीं किन्तु अत्यन्त निषिद्ध है। अपवाद विधि कब से हुई— अन्वेषणीय विषय है। आज का जैन-समाज का बहुमत इस अपवाद को मान्य करने के लिए प्रस्तुत नहीं है।

२६. बार-बार विकृतियों को न खाने वाला (अभिक्खणं निव्विगइं गया ख) :

मद्य और मांस भी विकृति हैं[2]। कुछ विकृति-पदार्थ भक्ष्य हैं और कुछ अभक्ष्य। चूर्णियों के अनुसार भिक्षु के लिए मद्य-मांस का जैसे अत्यन्त निषेध है वैसे दूध-दही आदि विकृतियों का अत्यन्त निषेध नहीं है[3]। फिर भी प्रतिदिन विकृति खाना उचित नहीं होता, इसलिए भिक्षु बार-बार निर्विकृतिक (विकृति रहित रूखा) भोजन करने वाले होते हैं।

चूर्णियों में पाठान्तर का उल्लेख है—'केचित्पठति'—अभिक्खणिव्विलिय जोगया य (अ० चू०) इसका अर्थ यही है कि भिक्षु बार-बार निर्विकृतिक-योग स्वीकार करना चाहिए[4]।

२७. बार-बार कायोत्सर्ग करने वाला (अभिक्खणं काउस्सग्गकारी ग) :

गमनागमन के पश्चात् मुनि ईर्यापथिक (प्रतिक्रमण-कायोत्सर्ग)[5] किए बिना कुछ भी न करे—यह टीका का आशय है[6]।

चूर्णियों के अनुसार कायोत्सर्ग में स्थित मुनि के कर्म-क्षय होता है, इसलिए उसे गमनागमन, विहार आदि के पश्चात् बार-बार कायोत्सर्ग करना चाहिए[7]।

मिलाए—१०.१३।

१—(क) अ० चू० : पिण्डेसणाए भणितं—बहुअट्ठितं पोग्गल, अणिमिसं वा बहुकंटगं (५.१) इति तत्थ बहुअट्ठितं निसिद्धं सव्वहा। विरुद्धमिह परिहरणं, सेइमं उस्सग्ग सुत्तं। तं कारणीयं अताकारणे गहणं तदा परिसाडी परिहरणत्थं घेतव्वं ण बहुअट्ठितमिति।

(ख) जि० चू० पृ० ३७२ : अमज्जमंसासी भवेज्जा एवमादि, आह-णणु पिंडेसणाए भणियं 'बहुअट्ठियं पोग्गलं अणिमिसं बहुकंटगं', आयरिओ आह—तत्थ बहुअट्ठियं णिसिद्धमितिऽत्थ सव्वं णिसिद्धं, इमं उस्सग्ग सुत्तं, तं तु कारणीयं, कारणे गहणं तदा पडिसाडिपरिहरणत्थं सुत्तं घेत्तव्वं न बहुअ(अट्ठि)यमिति।

२—प्रश्न० संवरद्वार ४ भावना ५।

३—(क) अ० चू० : अभिक्खणं मिति पुणो पुणो निव्विइयं करणीय। ण जधामज्जमंसाणं अच्चत पडिसेधो तधा विगतीणं।

(ख) जि० चू० पृ० ३७२ : 'अभिक्खणं निव्विगतं गया य' त्ति अप्पो कालविसेसो अभिक्खणमिति, अभिक्खणंनिव्विति करणीयं-जहा मज्जमंसाणं अच्चतपडिसेधो (न) तहा सेसाणं।

४—जि० चू० पृ० ३७२ : केई पढति—'अभिक्खणं णिव्वितीया जोगो पडिवज्जियव्वो' इति।

५—देखिए ५.१.८८ में 'इरियावहियमायाय, आगओ य पडिक्कमे' का टिप्पण।

६—हा० टी० प० २८१ : 'कायोत्सर्गकारी भवेत्' ईर्यापथप्रतिक्रमणमकृत्वा न किञ्चिदन्यत् कुर्याद्, तदशुद्धतापत्तेः।

७—(क) अ० चू० : काउस्सग्गेसुट्ठितस्स कम्मनिज्जराभवतीति गमणागमणविहारादिसु अभिक्खणं काउस्सग्गकारिणा भवितव्वं।

(ख) जि० चू० पृ० ३७२ : काउस्सग्गे ठियस्स कम्मनिज्जरा भवइ, गमणागमणविहाराईसु अभिक्खणं काउस्सग्गो 'काउस्सग्गिय' पडियव्वा यावा।

२८. स्वाध्याय के लिए विहित तपस्या में (सज्झायजोगे [4]) :

स्वाध्याय के लिए योग-वहन (आचामाम्ल आदि तपोनुष्ठान) करने की एक विशेष विधि है। आगम अध्ययन के समय मुनि उस तपोयोग को वहन करते हैं[1]। इसकी विशेष जानकारी के लिए देखिए—विधिप्रपा।

श्लोक ६ :

गया है[1]। जिनदास महत्तर और हरिभद्रसूरि का अभिमत भी यही है। चूर्णिकार 'अवि' को सम्भावनार्थक मानते हैं[2]। इसके अनुसार कारण विशेष की स्थिति में उत्कृष्ट-काल मर्यादा से अधिक भी रहा जा सकता है 'अवि' शब्द का यह अर्थ है। हरिभद्रसूरि 'अवि' शब्द के द्वारा एक मास का सूचन करते हैं[3]। आचाराङ्ग में ऋतुबद्ध और वर्षाकाल के कल्प का उल्लेख है। किन्तु वर्षाकाल और शेषकाल में एक जगह रहने का उत्कृष्ट कल्प (मर्यादा) कितना है, इसका उल्लेख वहाँ नहीं है। वर्षावास का परम-प्रमाण चार मास का काल है[4] और शेषकाल का परम-प्रमाण एक मास का है[5]। यहाँ बतलाया गया है कि जहाँ उत्कृष्ट काल का वास किया हो वहाँ दूसरी बार वास नहीं करना चाहिए और तीसरी बार भी। तीसरी बार का यहाँ स्पष्ट उल्लेख नहीं है किन्तु यहाँ चकार के द्वारा वह प्रतिपादित हुआ है, ऐसा चूर्णिकार का अभिमत है[6]। तात्पर्य यह है कि जहाँ मुनि एक मास रहे वहाँ दो मास अन्यत्र बिताए बिना न रहे। इसी प्रकार जहाँ चातुर्मास करे वहाँ दो चातुर्मास अन्यत्र किए बिना चातुर्मास न करे।

श्लोक १२ :

३३. (किं मे) :

यहाँ 'मे' पद में तृतीया के स्थान में षष्ठी विभक्ति का प्रयोग है[7]।

श्लोक १६ :

३४. आत्मा की सतत रक्षा करनी चाहिए (अप्पा खलु सययं रक्खियव्वो)

इस चरण में कहा गया है कि आत्मा की सतत रक्षा करनी चाहिए। कुछ लोग देह-रक्षा को मुख्य मानते हैं। उनकी धारणा है कि आत्मा को गँवाकर भी शरीर की रक्षा करनी चाहिए। शरीर आत्म-साधना करने का साधन है। किन्तु यहाँ इस मत का खण्डन किया गया है और आत्म-रक्षा को सर्वोपरि माना गया है। महाव्रत के ग्रहण काल से मृत्यु पर्यन्त आत्म-रक्षा में लगे रहना चाहिए। आत्मा मरती नहीं, अमर है फिर उसकी रक्षा का विधान क्यों? यह प्रश्न हो सकता है, किन्तु इसका उत्तर भी स्पष्ट है। यहाँ आत्म से संयमात्मा [संयम-जीवन] का ग्रहण अभिप्रेत है। संयमात्मा की रक्षा करनी चाहिए। श्रमण के लिए कहा भी गया है कि वह संयम से जीता है[8]। संयमात्मा की रक्षा कैसे हो? इस प्रश्न के सम्बन्ध में बताया गया है—इन्द्रियों को सुसमाहित करने से—उनकी विषयोन्मुखी या बहिर्मुखी वृत्ति को रोकने से आत्म-रक्षा होती है।

१—अ० चू० : संवच्छर इति कालपरिमाणं। स पुण णेह बारसमासिगसंवच्छरातो किंतु वरिसारत्त चातुम्मासितं। स एव जेट्ठोग्गहं

२—(क) अ० चू० : अपि सद्दो कारण विसेसं दरिसयति।

(ख) जि० चू० पृ० ३७४ : अविसद्दो संभावणे, कारणे अच्छिज्जइत्ति एवं संभावयति।

३—हा० टी० प० २८३ : अपिशब्दान्मासमपि।

४—बृहत्० भा० १.३६।

५—बृहत्० भा० १.६७८।

६—अ० चू० : बितियं च वास—बितिय ततो अणंतर च सद्देण ततियमवि जतो भणितं तद्दुगुण, दुगणेण अपरिहरित्ता ण वट्टति बितिय ततिय च परिहरिऊण चउत्थे होज्जा।

७—हा० टी० प० २८३ : 'किं मे कृतं' मिति छान्दसत्वात् तृतीयार्थे षष्ठी।

८—दश० चू० २.१५ : सो जीवइ संजमजीविएणं।

परिशिष्ट

१. टिप्पण-अनुक्रमणिका

परिशिष्ट-१ : टिप्पण-अनुक्रमणिका

परिशिष्ट-२

पद्यानुक्रमणिका

पदानुक्रमणिका

परिशिष्ट-२ : पदानुक्रमणिका

परिशिष्ट-२ : पदानुक्रमणिका

परिशिष्ट-२ : पदानुक्रमणिका

परिशिष्ट-३

सूक्त और सुभाषित

ज्ञान या अज्ञान से कोई अधर्म-कार्य कर बैठो तो अपनी आत्मा को उससे तुरन्त हटा लो, फिर दूसरी बार वह कार्य मत करो।

अणायारं परक्कम्म।
नेव गूहे न निण्हवे। (८।३२)

अपने पाप को मत छिपाओ।

जरा जाव न पीलेइ वाही जाव न वड्ढई।
जाविंदिया न हायंति ताव धम्मं समायरे॥ (८।३५)

जब तक जरा पीड़ित न करे, व्याधि न बढ़े और इन्द्रियाँ क्षीण न हों, तब तक धर्म का आचरण करे।

कोहं माणं च मायं च लोभं च पाववड्ढणं।
वमे चत्तारि दोसे उ इच्छंतो हियमप्पणो॥ (८।३६)

क्रोध, मान, माया और लोभ—ये पाप को बढ़ाने वाले हैं। आत्मा का हित चाहने वाला इन चारों दोषों को छोड़े।

कोहो पीइं पणासेइ माणो विणयनासणो।
माया मित्ताणि नासेइ लोहो सव्वविणासणो॥ (८।३७)

क्रोध प्रीति का नाश करता है, मान विनय का नाश करने वाला है, माया मित्रों का विनाश करती है और लोभ सब (प्रीति, विनय और मैत्री) का नाश करने वाला है।

उवसमेण हणे कोहं माणं मद्दवया जिणे।
मायं चज्जवभावेण लोभं संतोसओ जिणे॥ (८।३८)

उपशम से क्रोध का हनन करो, मृदुता से मान को जीतो, ऋजुभाव से माया को जीतो और सन्तोष से लोभ को जीतो।

राइणिएसु विणयं पउंजे। (८।४०)

बड़ों का सम्मान करो।

निद्दं च न बहुमन्नेज्जा। (८।४१)

नींद को बहुमान मत दो।

बहुस्सुयं पज्जुवासेज्जा। (८।४३)
बहुश्रुत की उपासना करो।

अपुच्छिओ न भासेज्जा
भासमाणस्स अंतरा॥ (८।४६)

बिना पूछे मत बोलो, बीच में मत बोलो।

पिट्ठिमंसं न खाएज्जा। (८।४६)

चुगली मत करो।

अप्पत्तियं जेण सिया आसु कुप्पेज्ज वा परो।
सव्वसो तं न भासेज्जा भासं अहियगामिणिं॥ (८।४७)

जिससे अप्रीति उत्पन्न हो और दूसरा शीघ्र कुपित हो ऐसी अहितकर भाषा सर्वथा न बोलो।

दिट्ठं मियं असंदिद्धं पडिपुन्नं वियं जियं।
अयंपिरमणुव्विग्गं भासं निसिर अत्तवं॥ (८।४८)

आत्मवान् दृष्ट, परिमित, असंदिग्ध, प्रतिपूर्ण, व्यक्त, परिचित, वाचालता रहित और भय-रहित भाषा बोले।

आयारपन्नत्तिधरं दिट्ठिवायमहिज्जगं।
वइविक्खलियं नच्चा न तं उवहसे मुणी॥ (८।४९)

आचारांग और प्रज्ञप्ति को धारण करने वाले तथा दृष्टिवाद को पढ़ने वाला मुनि बोलने में स्खलित हुआ है (उसने लिंग और वर्ण का विपर्यास किया है) यह जानकर भी उसका उपहास न करे।

गिहिसंथवं न कुज्जा। (८।५२)

गृहस्थ से परिचय मत करो।

कुज्जा साहूहि संथवं। (८।५२)

भलों की संगत करो।

हत्थपायपडिच्छिन्नं कण्णनासविगप्पियं।
अवि वाससइं नारिं बंभयारी विवज्जए॥ (८।५५)

जिसके हाथ-पैर कटे हुए हों, जो कान-नाक से बेंगी हो, सौ वर्ष की बूढ़ी नारी से भी ब्रह्मचारी दूर रहे।

न यावि मोक्खो गुरुहीलणाए। (९।१।७)

बड़ों की अवज्ञा करने वाला मुक्ति नहीं पाता।

जस्संतिए धम्मपयाइ सिक्खे
तस्संतिए वेणइयं पउंजे।
सक्कारए सिरसा पंजलीओ
कायग्गिरा भो मणसा य निच्चं॥ (९।१।१२)

जिसके समीप धर्मपदों की शिक्षा लेता है उसके विनय का प्रयोग करे। शिर को झुकाकर, हाथों को (पञ्चांग वन्दन कर) काया, वाणी और मन से सदा करे।

लज्जा दया संजम बंभचेरं।
कल्लाणभागिस्स विसोहिठाणं॥ (९।१।१३)

विशोधी के चार स्थान हैं—लज्जा, दया, ब्रह्मचर्य।

सुस्सूसए आयरियप्पमत्तो। (९।१।१७)

आचार्य की सुश्रूषा करो।

धम्मस्स विणओ मूलं। (९।२।२)

धर्म का मूल विनय है।

विवत्ती अविणीयस्स संपत्ती विणियस्स य।
जस्सेयं दुहओ नायं सिक्खं से अभिगच्छइ॥ (९।२।२१)

अविनीत के विपत्ति और विनीत के सम्पत्ति—ये दोनों जिसे ज्ञात हैं, वही शिक्षा को प्राप्त होता है।

असंविभागी न हु तस्स मोक्खो। (९।२।२२)

संविभाग के बिना मुक्ति नहीं।

आयारमट्ठा विणयं पउंजे। (९।३।२)

चरित्र-विकास के लिये अनुशासित बनो।

जो सुहावना है, वह संसार है।

पडिसोओ तस्स उत्तारो (चू०२।३)

प्रतिस्रोत मोक्ष का पथ है—प्रवाह के प्रतिकूल चलना मुक्ति का मार्ग है।

असंकिलिट्ठेहिं समं वसेज्जा। (चू०२।९)

क्लेश न करने वालों के साथ रहो।

संपिक्खई अप्पगमप्पएणं। (चू०२।१२)

आत्मा से आत्मा को देखो।

तमाहु लोए पडिबुद्धजीवी
सो जीवइ संजमजीविएणं। (चू०२।१५)

वही प्रतिबुद्धजीवी है, जो संयम से जीता है।

अप्पा खलु सययं रक्खियव्वो।
सव्विंदिएहिं सुसमाहिएहिं।
अरक्खिओ जाइपहं उवेइ
सुरक्खिओ सव्वदुहाण मुच्चइ॥ (चू० २।१६)

सब इन्द्रियों को सुसमाहित कर आत्मा की
करनी चाहिए। अरक्षित आत्मा जाति-पथ (जन्म
प्राप्त होता है और सुरक्षित आत्मा सब दुःखों से म
जाता है।

प्रयुक्त ग्रन्थ एवं संकेत-सूची

ग्रन्थ संकेत	प्रयुक्त ग्रन्थ नाम
	अंगविज्जा
अंग० चू०	अंगपण्णत्ति चूलिका
अन्त०	अंतगडदसा
अ० चू०	अगस्त्यसिंह चूर्णि (दशवैकालिक)
अ० वे०	अथर्ववेद
अनु०	अनुयोगद्वार
अनु० वृ०	अनुयोगद्वार वृत्ति
अन्त०	अन्तकृद्दशा
	अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका
अ० चि०	अभिधान चिन्तामणि
अमर०	अमरकोश
अ० प्र०	हारिभद्रीय अष्टक प्रकरण
	अष्टाध्यायी (पाणिनि)
आ० अ०	आगम अष्टोत्तरी
आ०	आचारांग
आ० चू०	आचारचूला
आचा० नि०	आचाराङ्ग निर्युक्ति
आचा० नि० वृ०	आचाराङ्ग निर्युक्ति वृत्ति
आचा० वृ०	आचाराङ्ग वृत्ति
आव०	आवश्यक
आ० नि०	आवश्यक निर्युक्ति
आ० हा० वृ० } आव० हा० वृ० }	आवश्यक हारिभद्रीय वृत्ति
	आह्निक प्रकाश
उत्त०	उत्तराध्ययन
उत्त० चू०	उत्तराध्ययन चूर्णि
उत्त० नि०	उत्तराध्ययन निर्युक्ति
उत्त० ने० वृ०	उत्तराध्ययन नेमिचन्द्रीय वृत्ति
उत्त० बृ० } उत्त० बृ० वृ० } बृ० वृ० }	उत्तराध्ययन बृहद् वृत्ति
उत्त० स०	उत्तराध्ययन सर्वार्थसिद्धि टीका
उपा०	उपासकदशा
उपा० टी०	उपासकदशा टीका

ग्रन्थ संकेत	प्रयुक्त ग्रन्थ नाम
	ऋग्वेद
ओ० नि० } ओघ० नि० }	ओघनिर्युक्ति
ओ० नि० भा०	ओघनिर्युक्ति भाष्य
ओ० नि० वृ०	ओघनिर्युक्ति वृत्ति
औप०	औपपातिक
औप० टी०	औपपातिक टीका
	कठोपनिषद् (शाङ्कर भा
कल्प०	कल्पसूत्र
	कात्यायनकृत पाणिनि क
	कालीदास का भारत
कौटि० अर्थ०	कौटिल्य अर्थशास्त्र
कौ० अ०	कौटलीय अर्थशास्त्र
	गच्छाचार
गीता० शा० भा०	गीता (शाङ्करभाष्य)
गोभिल स्मृ०	गोभिल स्मृति
च०	चरक
चरक सिद्धि०	चरक सिद्धिस्थान
च० सू०	चरक सूत्रस्थान
चू० (दश०)	चूलिका (दशवैकालिक
छान्दो०	छान्दोग्योपनिषद्
छान्दो० शा० भा०	छान्दोग्योपनिषद् (
जम्बू०	जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति
ज० ध० } धवला }	जय धवला
जा० प्र० ख०	जातक प्रथम खण्ड
जि० चू०	जिनदास चूर्णि (दशवै
जीवा० वृ० } जी० वृ० }	जीवाभिगम वृत्ति
जै० भा०	जैन भारती (साप्ताहि
	जैन सत्य प्रकाश (
जै० सि० दी० } जै० सि० }	जैन सिद्धान्त दीपिका
ज्ञात०	ज्ञाताधर्मकथा

ग्रंथ संकेत	प्रयुक्त ग्रंथ नाम
	यजुर्वेद
	रत्नकरण्ड श्रावकाचार
	रसतरंगिणी
	लघुहारीत
व० चं०	वनस्पति चन्द्रोदय
व० स्मृ० वशिष्ठ०	वशिष्ठ स्मृति
वि० पि०	विनय पिटक
	विनय पिटक महावग्ग
	" " चुल्लवग्ग
	" भिक्खुनी पातिमोक्ख छलवग्ग
	" भिक्खु पातिमोक्ख
	भि० पातिमोक्ख
	विशुद्धि मार्ग भूमिका
वि० पु०	विष्णु पुराण
वृ० गौ० स्मृ०	वृद्ध गौतम स्मृति
व्य० व्यव०	व्यवहार
व्य० भा०	व्यवहार भाष्य
व्य० भा० टी०	व्यवहार भाष्य टीका
शा० नि० भू० शा० नि० शालि० नि०	शालिग्राम निघंटु भूषण
शु० शुक्र० नी०	शुक्रनीति
श्रमण०	श्रमण सूत्र
	श्री महावीर कथा
	षड्भाषाचन्द्रिका
सं० नि०	संयुक्त निकाय
	संदेह विषौषधि
सम०	समवायाङ्ग
सम० टी० सम० वृ०	समवायाङ्ग टीका
	सामाचारी शतक
	सभीसाजनो उपदेश(गो.जी.पटेल)
	सिद्ध चक्र (पत्रिका)

ग्रन्थ संकेत	प्रयुक्त ग्रन्थ नाम
सु० नि०	सुत्त निपात
सु० नि० (गुज०)	सुत्त निपात (गुजराती)
सु०	सुश्रुत
सु० चि०	सुश्रुत चिकित्सा स्थान
सु० सू०	सुश्रुत सूत्र स्थान
सू०	सूत्रकृताङ्ग
सू० चू०	सूत्रकृताङ्ग चूर्णि
सू० टी०	सूत्रकृताङ्ग टीका
	स्कन्द पुराण
स्था० टी० स्था० वृ०	स्थानाङ्ग टीका
स्मृ० अ०	स्मृति अर्थशास्त्र
हल० हला०	हलायुध कोष
हा० टी०	हारिभद्रीय टीका (दशवैकालिक)
	हिन्दू राज्यतन्त्र (दूसरा खण्ड)
हैम० हैमश०	हैम शब्दानुशासन
	A Dictionery of Urdu, Classical Hindi & F
	A Sanskrit English D
	Dasavealiya Sutra By K. V. Abhy
	Dasvaikalika Sutra : A By M. V. Patwardh
	History of Dharmashas By P. V. Kane, M. A
	Journal of the Bihar & Research Society
	The Book or Gradual Translated by E.
	The Book of the Discipl *(Sacred Books of the B* (Vol. XI)
	The Uttaradhyayan By J. Charpentier, P

कषाय

ब्रह्मचर्य की साधना और उसके साधन